विचार, दृष्टिकोण एवं संकेत

[विभिन्न विद्वानों के निबन्धों का संकलन]

सम्पादक
पद्मचन्द्र अग्रवाल, एम० ए०
रजिस्ट्रार
केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा
एवं
डा० महावीरसरन जैन, एम० ए०, डी० फिल्०
प्राध्यापक
स्नातकोत्तर शिक्षण एवं शोध हिन्दी विभाग
भाषा एवं शोधसंस्थान
जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर

विनोद पुस्तक मन्दिर
हास्पिटल रोड, आगरा

अपनी बात

पिछले दो दशकों में हिन्दी साहित्य की विभिन्न विधाओं पर इतना कार्य हुआ है कि सबका समवेत अध्ययन समय, परिश्रम एवं धन की अपेक्षा रखता है। स्नातकोत्तर कक्षाओं के अधिकांश विद्यार्थी हिन्दी में उपलब्ध प्रचुर शोध प्रबन्धों एवं उपाधि-निरपेक्ष शोध ग्रन्थों की विपुलता से शायद संत्रस्त हो, एक दम "बाजारू" स्तर की "किताबों" का अध्ययन करने लगते हैं, जिसके कारण उन्हें परम्परागत दृष्टिकोण से अभिव्यक्त, पिष्ट-पेष्टित एवं चर्वित सामग्री तो मिल जाती है; किन्तु उनसे उन्हें वह दृष्टि प्राप्त नहीं हो पाती जिससे वे अध्येय कृतियों का सम्यक् मूल्यांकन कर सकें, उनके साहित्यिक-सौन्दर्य के बारे में चिन्तन कर सकें तथा साहित्य की नवीन प्रवृत्तियों एवं विधाओं से परिचित हो सकें। यही कारण है कि जो कुछ उन्हें "नोट्स" में मिलता है उसे वे वेद-वाक्यों की भाँति कंठस्थ कर लेते हैं, किन्तु उनसे उनकी चिन्तन-शक्ति कुंठित हो जाती है और वे परमुखापेक्षी हो जाते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक का सम्पादन करते समय यह दृष्टिकोण सम्मुख रहा है कि इसमें हिन्दी साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों, उसके कालों, प्रमुख कृतिकारों एवं कृतियों तथा इसी से सम्बन्धित अन्य विषयों—यथा लोक साहित्य एवं भाषा शास्त्र—पर कुछ विचार प्रस्तुत किये जा सकें, जिनका अध्ययन करके स्नातक एवं स्नातकोत्तर कक्षाओं के छात्र साहित्य को परखने की मौलिक दृष्टि प्राप्त कर सकें। निबन्धों का आकलन करते समय इस बात पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है कि वे किसी विषय का सर्वांगपूर्ण विशद अध्ययन प्रस्तुत करते हैं या नहीं, (यह अपेक्षा इस प्रकार के ग्रन्थ से की भी नहीं जा सकती) अपितु इस बात को आवश्यक समझा गया है कि उसमें तत्सम्बन्धित जो कुछ प्रतिपादित हो, वह "बाजारू नोट्स" के धरातल का न हो; प्रत्युत उसका स्तर ऐसा हो जिससे अध्येता को उस विषय के सम्बन्ध में एक "दृष्टि" मिल सके तथा उससे (भले ही सूत्र रूप में ही सही) वह कुछ संकेत ग्रहण करके उस विषय के विस्तृत अध्ययन की ओर अग्रसर हो सके।

यह पुस्तक हिन्दी साहित्य के उच्चस्तरीय अध्ययन में प्रविष्ट होने वाले विद्यार्थियों के लिए एक पृष्ठभूमि का निर्माण कर सके, उनके साधना-पथों को प्रकाश की एक किरण से प्रशस्त कर सके, यही इसका लक्ष्य एवं साध्य है। इस उद्देश्य की इस पुस्तक से किञ्चित भी पूर्ति हो सकी तथा यह बाजारू नोट्स पढ़ने वाले विद्यार्थियों के दृष्टिकोण को थोड़ा भी उन्नत कर सकी तो हम अपने इस प्रयास को सफल समझेंगे।

कुछ व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण कुछ विषयों से सम्बन्धित निबन्ध अधिक विस्तार पा गये हैं तथा कतिपय प्रमुख विषय छूट भी गये हैं। इसके लिए हम क्षमा-प्रार्थी हैं। जिन विषयों पर इस संग्रह में निबन्ध संकलित नहीं हो पाये थे, उनमें से प्रमुख रूप से मलिक मुहम्मद जायसी, आचार्य केशव-दास, बिहारी, रत्नाकर, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', सुमित्रानन्दन पन्त, एवं नयी कविता से सम्बन्धित निबन्धों का अभाव हमें विशेष रूप से खटक रहा था। इनमें से कुछ विषयों के अभाव की पुष्टि डा० हरिहरनाथ जी टंडन ने ग्रन्थ की "भूमिका" में की है। अतः उनकी "भूमिका" को पढ़कर इस अभाव की पूर्ति किसी सीमा तक जायसी, सुमित्रानन्दन पन्त एवं नयी कविता पर लिखे निबन्धों को 'परिशिष्ट' में जोड़कर की गई है। इन निबन्धों के लेखकों—डॉ० हरिहरनाथ टंडन, डॉ० प्रेम स्वरूप गुप्त, एवं डॉ० विद्यानिवास मिश्र—के हम विशेष रूप से आभारी हैं। हमारे आग्रह एवं अनुरोध को वरेण्यता देकर और अल्प समय में ही निबन्ध भेजने की कृपा करके, इन्होंने इस संग्रह को और भी लाभदायक बनाने में योग दिया है।

इस ग्रन्थ के सम्पादन करने की मूल प्रेरणा हमें आदरणीय भाई श्री महावीरप्रसाद अग्रवाल, प्राचार्य, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, मन्दसौर से प्राप्त हुई थी। उसके लिए हम उनके हृदय से आभारी हैं।

जबलपुर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष आदरणीय डाक्टर उदयनारायण तिवारी ने हमें यह सुझाव दिया था कि निबन्ध-संग्रह में हिन्दी साहित्य के विभिन्न पक्षों से इतर कुछ ऐसे निबन्ध भी होने चाहिए, जिससे हिन्दी का विद्यार्थी अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य की प्रवृत्तियों और लोक साहित्य एवं भाषा शास्त्र से सम्बन्धित विषयों का भी कुछ संकेत पा सकें। उनके इस सुझाव से ही प्रेरणा ग्रहण कर हमने तत्सम्बन्धित कुछ निबन्धों का संकलन किया है।

निबन्धों के संकलन में प्रियवर श्री कमल किशोर अग्रवाल, प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, दिल्ली कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय ने हमारी बहुत सहायता की है।

सेण्ट जॉन्स कॉलेज, आगरा के हिन्दी विभागाध्यक्ष आदरणीय डाक्टर हरिहरनाथ टंडन ने इस ग्रन्थ की भूमिका लिखकर इसका गौरव बढ़ाया है। इसके लिए हम उनके कृतज्ञ हैं।

हमारे जो मित्र इस ग्रन्थ को शीघ्रातिशीघ्र प्रकाशित देखने के समुत्सुक रहे हैं, उनमें से डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया (अलीगढ़), डॉ० अम्बाप्रसाद सुमन (मद्रास), श्री लक्ष्मीनारायण मित्तल (लन्दन), श्री कमलकिशोर अग्रवाल (दिल्ली), डा० भगवानदास तिवारी (धूलिया), डा० वी० एल० कोतमिरे (बेलगाँव), डा० मोतीलाल गुप्त (जोधपुर), डा० पी० एल० शर्मा 'पलाश' (देहरादून), श्री श्रीचन्द जैन (जबलपुर), श्री प्रवीण नायक (नरसिंहपुर) एवं डा० त्रिलोचन पाण्डेय (गोरखपुर) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। हमें विश्वास है कि हमारे ये तथा अन्य समस्त मित्र इस ग्रन्थ को प्रकाशित देखकर अत्यन्त प्रसन्न होंगे।

अन्त में, हम उन समस्त मित्रों एवं साहित्य-सेवियों के प्रति कृतज्ञता से आपूर्ण हैं जिनके निबन्धों से यह संग्रह गौरवान्वित हुआ है।

गंगा दशहरा
८-६-६५

पद्मचन्द्र अग्रवाल
महावीरसरन जैन

भूमिका

भारतीय विश्वविद्यालयों में हिन्दी भाषा और साहित्य के अध्ययन की व्यवस्था को हुए आज लगभग पचास वर्ष हो रहे हैं, पर हिन्दी की उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए विविध प्रकार के उच्चस्तरीय निबन्धों के एक उत्तम संग्रह की आवश्यकता की पूर्ति अभी तक ठीक ठीक नहीं हो पाई है। यह संग्रह इस अभाव को मिटाने की दिशा में एक प्रयत्न है। यों तो कुछ दिनों से ऐसे कई और संग्रह प्रकाशित होते रहे हैं और अपने-अपने ढंग से उन सबका उद्देश्य भी यही है।

हिन्दी में अच्छे निबन्धों का अभाव है, इसे कोई नहीं मानेगा। ठोस, विचार-पूर्ण सामग्री प्रस्तुत करने वाले बहुत से निबन्ध लिखे जा चुके हैं और लिखे जा रहे हैं। पर इन निबन्धों में निबन्ध-लेखक के व्यक्तित्व की अमिट छाप है और उसके अध्ययन और मनन की छाया भी है। वास्तव में ऐसे ही निबन्ध उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों की मानसिक तृप्ति का साधन बन सकते हैं, अन्यथा निबन्ध को पढ़ने के पश्चात् भी पाठक अतृप्त रहता है। "सो श्रम बादि बाल कबि करहीं।"

इस संग्रह के निबन्धों का संकलन करने में इस सिद्धान्त को ध्यान में रखा गया है तथा विषयों की विविधता का लक्ष्य रखते हुए ऐसे निबन्धों का चयन किया गया है जिन्हें पढ़कर कुछ ठोस उपलब्धि हो सके। प्रत्येक निबन्ध इस दृष्टि से पूर्ण है। यह संग्रह थोड़े में भारतीय भाषाओं के साहित्य से पाठक का परिचय कराकर, फिर चन्दबरदाई से लेकर आधुनिक हिन्दी साहित्य की कविता, नाटक, उपन्यास, एकांकी, आदि सभी विधाओं का ज्ञान कराने की सामर्थ्य रखता है। इसकी उपयोगिता को अधिक से अधिक बढ़ाने के लिए इसमें काव्यशास्त्र, लोक साहित्य एवं भाषाशास्त्र से सम्बन्धित कुछ प्रमुख विषयों पर भी निबन्ध संकलित किये गये हैं।

इस संग्रह का पहला लेख समस्त भारतीय भाषाओं के साहित्य की प्रवृत्तियों का तुलनात्मक एवं समन्वयात्मक रूप प्रस्तुत करता है। इसका दूसरा लेख महाकवि चन्द के सम्बन्ध में फैली अनेक भ्रान्तियों का खंडन

है और ठोस आधार पर हिन्दी के इस आदि काव्य पर अधिक चिन्तन और मनन की ओर अग्रसर करता है।

तीसरे लेख से बारहवें लेख तक (पृष्ठ २३ से १४४ तक) भक्ति युग की प्रमुख प्रवृत्तियों, धाराओं एवं कृतियों पर विचार किया गया है। तीसरे लेख में मध्ययुगीन साधना के धार्मिक रूप का विश्लेषण किया गया है तथा उसमें निहित मानव के चरित्रोत्कर्ष में सहायक नैतिक तत्वों की ओर संकेत किया गया है। व्यक्तिगत, सामाजिक और आध्यात्मिक तीनों स्तर अलग-अलग भी हैं और संश्लिष्ट भी। हिन्दी के भक्ति काव्य में तीनों स्तरों की विवेचना की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना, इस लेख का मूल मंत्र है। इस संग्रह का चौथा एवं पाँचवाँ लेख सन्त काव्य के बारे में नया और संतुलित दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है तथा कबीर के काव्य में निहित योग-तत्वों का विश्लेषण करता है। अगला लेख भारतीय प्रेमाख्यानों की परम्परा का संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत करता है। सूफी प्रेमाख्यानों के उद्‌भव तथा उनमें निहित भारतीयता की खोज के लिए भारतीय प्रेमाख्यानों की परम्परा का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। जिस प्रकार सन्त काव्य की सामान्य प्रवृत्तियों के विवेचन के बाद 'कबीर' पर एक स्वतन्त्र लेख है, उसी प्रकार भारतीय प्रेमाख्यानों की परम्परा के विवेचन के पश्चात् जायसीकृत 'पद्मावत' पर भी एक स्वतन्त्र लेख होता, तो अधिक उपयुक्त होता।

हिन्दी का सगुण भक्ति साहित्य सूरदास, नन्ददास, तुलसीदास एवं मीरा की रचनाओं में अपने सर्व श्रेष्ठ रूप में प्रकट हुआ है। इन सगुण भक्त कवियों के परिचय के माध्यम से ही राम-भक्ति साहित्य और कृष्ण-भक्ति साहित्य का सम्यक् परिचय प्राप्त किया जा सकता है। इस संग्रह के इन चारों कवियों पर लिखे गये निबन्ध इन कवियों के काव्य तथा युगीन धाराओं को समझने में सहायक सिद्ध होंगे।

भक्तिकालीन सभी सामान्य भक्ति-तत्वों का स्रोत-ग्रन्थ श्रीमद्‌भागवत है। इसलिए समस्त भक्ति-तत्व को समझने के लिए उसके मूलाधार इस ग्रन्थ का सामान्य परिचय अत्यन्त आवश्यक है। कृष्ण-भक्ति साहित्य ने तो इससे अक्षय प्रेरणा ग्रहण की है। इस दृष्टि से "मध्ययुगीन कृष्ण-भक्ति साहित्य को प्रभावित करने वाले श्रीमद्‌भागवत के सामान्य तत्व" शीर्षक निबन्ध सगुण भक्ति साहित्य तथा कृष्ण-भक्ति साहित्य के अध्ययन में सहायक सिद्ध होगा तथा उसके मूल को सुलभ करेगा। अगला निबन्ध सूर की भक्ति-भावना के क्रमिक विकास का विश्लेषण करता है। यह निबन्ध सूरदास की साधना के बढ़ते हुए पगों की सूक्ष्मतम ध्वनियों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करेगा।

मीरा के पद गीति-तत्व की पुष्टि से अन्यतम हैं। अत: गीति-काव्य परम्परा में मीरा के पदों का अध्ययन एवं गीति-तत्वों की दृष्टि से उनका विवेचन मीरा-साहित्य के साहित्यिक मूल्यांकन के लिए सबसे अधिक आवश्यक है। अगला निबन्ध नन्ददास कृत 'रास पंचाध्यायी' पर है। कृष्ण काव्य में रास लीला की आध्यात्मिक एवं नैतिक पृष्ठभूमि के मध्य नन्ददास के काव्य का अच्छा मूल्यांकन हुआ है। इसके बाद के दो निबन्ध तुलसी पर हैं। इनमें से पहला निबन्ध विविध दार्शनिक सम्प्रदायों का विवेचन करते हुए, स्पष्ट रूप में तुलसी दर्शन को 'तुलसी मत' के रूप में प्रतिष्ठित करता है। तुलसीदास जी महात्मा और कवि होने के अतिरिक्त एक प्रबल समाज-सुधारक भी थे। लोक-हित उनके काव्य का प्रधान स्वर है। मानवतावाद उनका आदर्श रहा है। उन्होंने रूढ़ियों एवं सामाजिक भ्रष्टाचार का खंडन भी किया है। उनके इस रूप का विश्लेषण 'तुलसी में सामाजिक विद्रोह की भावना' शीर्षक निबन्ध में किया गया है। तुलसी का यह विश्लेषण अपने ढंग का है तथा तुलसी-साहित्य को नये दृष्टिकोण से देखने का प्रयास है।

भक्तिकाल के पश्चात् इस संग्रह में रीतिकाल से सम्बन्ध रखने वाले तीन निबन्ध हैं, जिनमें से दो निबन्धों में रीतिकाल की श्रृंगार-भावना को केवल तात्कालिक परिस्थितियों की उपज न मानकर सदियों से चली आने वाली एक परम्परा के रूप में दिखाया गया है। इन दोनों निबन्धों में उन कारणों पर प्रकाश डाला गया है, जिनसे आलोचक रीतिकालीन साहित्य का सम्यक् मूल्यांकन नहीं कर सके हैं। इसके बाद रीतिकालीन श्रृंगार-भावना को परम्परा से आयी हुई बताकर रीतिकालीन साहित्य एवं रीति युग के पुनर्मूल्यांकन की दिशा की ओर संकेत किया गया है। तीसरा निबन्ध रीति-मुक्त कवि-श्रेष्ठ घनानन्द के काव्य एवं उनके व्यक्तित्व का विशद अध्ययन प्रस्तुत करता है।

इसके पश्चात् इस संग्रह में आधुनिक हिन्दी साहित्य के चोटी के काव्य ग्रन्थों पर आलोचनात्मक निबन्ध हैं, जिनकी पृष्ठ संख्या लगभग सौ है और जिनमें मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, निराला, महादेवी की रचनाओं पर विचार किया गया है। अच्छा होता यदि इस पंचायत में पन्तजी को भी स्थान मिल जाता, क्योंकि पन्त के अध्ययन के बिना वर्तमान हिन्दी कविता का अध्ययन अधूरा ही कहा जायेगा। इसी प्रकार छायावादोत्तर हिन्दी कविता की प्रवृत्तियों का विश्लेषण एवं उसका मूल्यांकन करने वाला भी कोई निबन्ध होता तो प्रस्तुत संग्रह आदि काल के काव्य से नयी कविता तक की प्रमुख प्रवृत्तियों एवं प्रमुख कृतियों से परिचय कराने में पूर्ण रूप से समर्थ सिद्ध होता।

आधुनिक खड़ी बोली काव्य के महाकवियों की रचनाओं और उनकी विशेषताओं का अध्ययन ही खड़ी बोली कविताओं की विशेषताओं का अध्ययन है, क्योंकि इनमें से प्रत्येक कवि युग-प्रदर्शक और युग-स्रष्टा है। आधुनिककाल से सम्बन्ध रखने वाले निबन्धों में प्रथम लेख में साकेत की रामचरित मानस से तुलना की गई है और कवि की मौलिक उद्भावनाओं को पृथक करके दिखलाया गया है। लेखक ने अधिकतर उद्धरण केवल साकेत से ही दिए हैं। तुलनात्मक अध्ययन की सुगमता के लिए तुलसीकृत राम चरितमानस से भी समानान्तर उद्धरण यदि यथास्थान दे दिए गए होते तो विचारों की तुलना में सुविधा होती। इसका अगला लेख छायावाद पर आंग्ल साहित्य का प्रभाव स्पष्ट करने के लिए संग्रहीत है। इस लेख में यह स्पष्ट किया गया है कि छायावादी काव्य धारा पाश्चात्य कविता से काफी प्रभावित है और उस पर अंग्रेजी के रोमांटिक कवियों की कविताओं का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है। इसके पश्चात् प्रसाद जी के भक्ति और दर्शन सम्बन्धी विचारों पर एक लेख है। लेखक ने यह सिद्ध किया है कि प्रसाद ने अपने काव्य में ऐसे दार्शनिक विचारों का समर्थन किया है जिनमें भौतिकता और आध्यात्मिकता दोनों हैं और जो ऐसे सिद्धान्तों का संग्रह हैं, जिन पर चलने से अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों इसी संसार में उपलब्ध हो जाते हैं। इसके बाद वाले लेख में महाकाव्य कामायनी की भावभूमि एवं रस योजना पर नये ढंग से विचार किया गया है। लेखक ने यह स्पष्ट किया है कि कामायनी में जो रसाभिव्यक्ति हुई है, वह परम्परागत रस की पृष्ठभूमि से किसी न किसी सीमा में भिन्न है तथा कहीं रस के साथ बौद्धिक अतिरेक के कारण उद्भूत द्वन्द्व, अनास्था, उद्वेग आदि वृत्तियों का वर्णन है तो कहीं रस को दर्शन ने आच्छादित कर रखा है। आगे के तीन लेख महाकवि निराला से सम्बन्धित हैं। पहले लेख में निराला के काव्य में आलोक के पर्यायवाची शब्दों की अधिकता, उनकी प्रतीकात्मकता इत्यादि पर विचार किया गया है। दूसरे लेख में उनकी कविता की भाषा की विवेचना है। भाषा एवं शिल्प के क्षेत्र में निराला ने नये नये प्रयोग किये हैं, उस दृष्टि से इस लेख का अपना महत्व है तथा कवि की काव्य-भाषा की वैज्ञानिक विवेचना का अच्छा प्रयास है। तीसरे लेख में उनकी काव्य कृति "राम की शक्ति पूजा" से सम्बन्धित कुछ प्रश्न उठाये गये हैं। अगले दो लेखों में महादेवी वर्मा के काव्य के सम्बन्ध में विचार किया गया है। पहले लेख में उनकी काव्य-पीड़ा का विश्लेषण किया गया है तथा पीड़ा का उन्होंने अपने काव्य में किस प्रकार उदात्तीकरण करते हुए उसे आध्यात्मिक स्वरूप

दिया है, इसका विवेचन किया गया है। दूसरा लेख उनकी "दीप शिखा" की भावभूमि को स्पष्ट करता है।

इसके पश्चात् आठ निबन्ध गद्य साहित्य की विभिन्न विधाओं से सम्बन्धित है। लगभग सौ पृष्ठों में उपन्यास, नाटक, एकांकी, निबन्ध आदि की प्रवृत्तियों पर विचार किया गया है। गद्य साहित्य की दृष्टि से सबसे अधिक ऐतिहासिक महत्व द्विवेदी युग का है। इस युग में गद्य के विविध रूपों में नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, और समालोचना का विकास प्रचुर मात्रा में हुआ है। इन सबका परिचय बड़े सुन्दर एवं सरल ढंग से "हिन्दी गद्य साहित्य के निर्माण में द्विवेदी युग की महत्ता" शीर्षक निबन्ध में मिल जाता है। इसके बाद अलग अलग विधाओं पर एवं प्रमुख साहित्यकारों पर निबन्ध संग्रहीत हैं। नाटकों में जयशंकर प्रसाद के नाटकों पर, एवं लक्ष्मीनारायण मिश्र कृत समस्या नाटक 'सिन्दूर की होली' पर विचार किया गया है। जयशंकर प्रसाद के नाटकों के भाव-स्तर एवं शिल्प-स्तर की विवेचना करते हुए लेखक ने यह बताया है कि उनके नाटकों का भाव-स्तर जितना महान है, उसके अनुरूप वे अपने नाटकों के शिल्प का निर्माण नहीं कर पाये हैं। आधुनिक समय में इब्सन एवं बर्नार्डशॉ आदि के प्रभाव के फलस्वरूप ऐसे नाटक लिखे जाते हैं जिनमें हमारे जीवन की समस्याएँ अभिव्यक्त हों। इस दृष्टि से अगले निबन्ध में समस्या नाटकों का सैद्धान्तिक विवेचन करते हुए 'सिन्दूर की होली" में वर्णित समस्याओं का विशलेषण किया गया है। एकांकी पर अँग्रेजी एकांकी का प्रभाव, विदेशों में एकांकी का उद्भव और विकास, हिन्दी में एकांकी का आरम्भ, हिन्दी एकांकीकारों का परिचय आदि पर विचार हुआ है। इसी में "एकांकी" विधा को पूर्णरूपेण स्पष्ट करने के लिए एकांकी एवं कहानी तथा एकांकी एवं नाटक के अन्तर को स्पष्ट किया गया है तथा एकांकी के नये रूपों—रेडियो नाटक, फैन्टेसी आदि की भी संक्षेप में चर्चा की गयी है। इसके बाद एक लेख उपन्यास-सम्राट प्रेमचन्द के साहित्य में अभिव्यक्त उनके जीवन-दर्शन की व्याख्या करता है तथा दूसरा लेख प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यास की प्रवृत्तियों की विवेचना करता है। प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यासों का विश्लेषण करते हुए लेखक ने उन्हें व्यक्ति-केन्द्रित एवं समाज-केन्द्रित रूपों में बाँटा है, तथा इन भिन्न धाराओं के उद्भव के कारणों, उनकी अपनी विशेषताओं, परिमितियों एवं सम्भावनाओं पर विचार किया है। तत्पश्चात् डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबन्धों की भाषा-शैली पर विचार किया गया है। हिन्दी निबन्धकारों में डॉक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी का अपना अलग स्थान है तथा उनके निबन्धों की भाषा एवं शैली का यह अध्ययन उनके

निबन्धों की तत्सम्बन्धित विष्टिताओं की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है ।

पाँच निबन्धों में काव्य शास्त्र एवं साहित्यालोचन से सम्बन्धित विषयों पर विचार किया गया है । यह बात निश्चित है कि आचार्य शुक्ल ने ही सर्व प्रथम हिन्दी में सर्वांगीरण समीक्षा का सूत्रपात किया है । पहले निबन्ध में उनकी आलोचना सम्बन्धी मान्यताओं एवं स्थापनाओं की चर्चा हुई है । दूसरे निबन्ध में रस सिद्धान्त के क्रमिक विकास पर प्रकाश डाला गया है । रस सिद्धान्त काव्य का एक मान्य सिद्धान्त है और भारतीय काव्य को आत्मसात् करने के लिए उस सिद्धान्त से परिचित होना आवश्यक है । अगले निबन्ध में भारतीय साहित्य शास्त्र के सभी सम्प्रदायों के परिप्रेक्ष्य में कुछ मौलिक प्रश्न उठाये गये हैं । लेखक का दावा है कि काव्य-शास्त्र के छहों सम्प्रदायों (१) अलंकार सम्प्रदाय (२) रीति सम्प्रदाय (३) वक्रोक्ति सम्प्रदाय (४) रस सम्प्रदाय (५) ध्वनि सम्प्रदाय एवं (६) औचित्य सम्प्रदाय—में से प्रत्येक ने काव्य की सम्पूर्ण प्रक्रिया पर विचार किया है । लेखक ने सविस्तार विवेचन किया है कि सभी सम्प्रदायों में उपादान-उपकरण प्राय: एक ही हैं केवल उनकी मान्यताओं में एवं काव्य-तत्वों के क्रम-विधान में ही अन्तर है । आगे हिन्दी-उर्दू के छन्द-शास्त्र की तुलना की गयी है । छन्दशास्त्र की दृष्टि से हिन्दी काव्य एवं उर्दू काव्य के छन्दों का तुलनात्मक अध्ययन करने का यह अच्छा प्रयास है । अगले लेख में भारतीय आचार्यों की काव्य-सम्बन्धी मान्यताओं के साथ साथ पाश्चात्य आचार्यों की तत्सम्बन्धी धारणाओं के सन्दर्भ में हिन्दी के महाकवि तुलसीदास के काव्य-सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है ।

इसके बाद तुलनात्मक अध्ययन की समस्याओं वाले निबन्ध में भारतीय भाषाओं के साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन की आवश्यकता पर बल दिया गया है तथा हिन्दी-तेलुगु साहित्यों के तुलनात्मक अध्ययन की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की गयी है ।

"लोक साहित्य अथवा जन साहित्य" शीर्षक निबन्ध में लोक साहित्य एवं जन साहित्य की एकताओं पर विचार करते हुए लेखक ने एक मौलिक मत प्रतिपादित किया है कि भारतवर्ष की सामाजिक परिस्थितियों में लोक साहित्य की अपेक्षा "जन साहित्य" शब्द का प्रयोग अधिक उपयुक्त है ।

आगे के चार निबन्ध भाषाशास्त्र से सम्बिन्धित हैं तथा इनमें भाषा-शास्त्र के कुछ प्रमुख विषयों से सम्बन्धित नयी जानकारी दी गयी है । पहले निबन्ध में भाषा की परिभाषा, उसका स्वरूप, भाषा-शास्त्र की सीमाएँ, भाषा-विज्ञान तथा भाषा-शास्त्र का अन्तर, भाषा-शास्त्र के विभिन्न रूप तथा

भाषा-शास्त्र की शाखाओं के बारे में विचार किया गया है। दूसरे निबन्ध में ध्वनिग्राम-शास्त्र एवं पदग्राम-शास्त्र में प्रयुक्त होने वाले कुछ प्रमुख पारिभाषिक शब्दों—स्वन्, वाग्ध्वनि, ध्वनिग्राम, परिपूरक वितरण, व्यतिरेकी वितरण एवं मुक्त वितरण पद एवं पदग्राम, पदग्राम एवं शब्द का अन्तर, पदग्रामिक विश्लेषण एवं पदग्रामिक वर्गबन्धन आदि की विवेचना की गयी है। इस विवेचना के बाद ध्वनिग्राम-शास्त्र एवं पदग्राम-शास्त्र के स्वरूप का वैज्ञानिक एवं स्पष्ट आभास पाठक को हो जाता है तथा इसको समझने के बाद वह अपने अध्ययन को आगे बढ़ा सकता है। तीसरे निबन्ध में बोली विज्ञान से सम्बन्धित अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इस निबन्ध में बोली एवं भाषा का अन्तर, भाषा के अन्दर वर्णगत एवं क्षेत्रीय बोलियों की स्थापना, बोलियों पर कार्य करने की विधि तथा बोली विज्ञान से सम्बन्धित कुछ तकनीकी शब्दों पर विचार किया गया है। अगला एवं अन्तिम निबन्ध 'लिपि' पर है जिसमें लिपि के उद्गम और विकास की संक्षिप्त एवं सारगर्भित विवेचना की गयी है।

संक्षेप में, प्रस्तुत निबन्ध-संग्रह हिन्दी साहित्य की विभिन्न विधाओं, प्रमुख प्रवृत्तियों, साहित्यकारों एवं रचनाओं तथा लोक साहित्य एवं भाषा-शास्त्र से सम्बन्धित अत्यंत महत्वपूर्ण सामग्री एक ही स्थान पर पाठकों को प्रदान करता है। मुझे विश्वास है कि सहृदय पाठक इस पुस्तक को पढ़कर प्रसन्न होंगे तथा हिन्दी की ऊँची कक्षाओं के छात्र इस पुस्तक में अत्यन्त उपयोगी सामग्री पायेंगे जो उनकी साहित्य-परख-शक्ति का निर्माण कर सकेगी तथा उन्हें बहुत कुछ 'नया' प्रदान कर सकेगी। मैं इस पुस्तक का स्वागत करता हूँ—

आगरा
२६-५-६५

—हरिहरनाथ टंडन

विषय-सूची

विषय पृष्ठ

१. आधुनिक भारतीय भाषाओं का साहित्य :
परिचय एवं प्रमुख प्रवृत्तियाँ
—डॉ० राजकिशोर पांडेय १

२. पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता
—डॉ० हरिहरनाथ टंडन
एवं
—श्री पद्मचन्द्र अग्रवाल १५

३. मध्ययुगीन साधना का स्वरूप
—डॉ० कृष्णचन्द्र शर्मा २३

४. सन्त काव्य का पुनर्मूल्यांकन
—श्री सुरेशकुमार वर्मा २९

५. योग दर्शन और कबीर
—श्री पद्मचन्द्र अग्रवाल ३३

६. भारतीय प्रेमाख्यानों की परम्परा
—डॉ० रामकिशोर मौर्य ३९

७. मध्ययुगीन कृष्ण-भक्ति साहित्य को प्रभावित करने वाले
श्रीमद्भागवत के सामन्य तत्व
—डा० विश्वनाथ शुक्ल ४८

८. सूर की विकासात्मक भक्ति
—डा० शरणबिहारी गोस्वामी ६९

९. गीतिकाव्य परम्परा में मीरा
—डा० भगवानदास तिवारी ८१

१०. नन्ददास कृत रासपंचाध्यायी
—श्री रामस्वरूप शर्मा १०५

११. तुलसी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि
—डा० महेशप्रसाद चतुर्वेदी ११७

१२. तुलसी-साहित्य में सामाजिक विद्रोह की भावना
—डा० शम्भुनाथ सिंह १२६

१३. आलोचकों की दृष्टि में रीतिकाल : एक अनुदृष्टि
—डा० रमेशचन्द्र शर्मा १४५

१४. रीतिकाल को उत्तराधिकार में प्राप्त शृङ्गार-भावना
—डा० रमेशचन्द्र शर्मा १६१

१५. घनानन्द : एक विवेचन
—डा० पी० एल० शर्मा 'पलाश' १७७

१६. साकेत की मानस से तुलना एवं मौलिकता
—डा० त्रिलोचन पांडेय १९३

१७. छायावाद पर पाश्चात्य प्रभाव
—श्री रमेशचन्द्र गुप्त २१०

१८. प्रसाद साहित्य में भक्ति और दर्शन
—डा० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना २२०

१९. कामायनी में भाव एवं रस योजना
—डा० महावीरसरन जैन २३२

२०. आलोक के कवि निराला
—श्री मानिकलाल गोविंद दत्त चतुर्वेदी २४१

२१. महाकवि निराला की काव्य भाषा
—डा० अम्बाप्रसाद 'सुमन' २४९

२२. राम की शक्ति पूजा : कुछ विचार
—श्री गौतम सचदेव 'सुमन' २५८

२३. महादेवी के काव्य की पीड़ा में निहित प्रेमतत्त्व
—डा० महावीरसरन जैन २६९

२४. 'दीपशिखा' की भाव भूमि
—श्री कमलकिशोर अग्रवाल २७८

२५. हिन्दी गद्य-साहित्य के निर्माण में द्विवेदी युग की महत्ता
—डा० बी० एल० कोतमिरे २९१

२६. नाट्य परम्पराएं एवं प्रसाद के नाटकों का वस्तु एवं शिल्प-स्तर
—डा० महावीर सरन जैन ३०१

२७. समस्या नाटक और सिन्दूर की होली
—श्री कमलकिशोर अग्रवाल ३१२

२८. हिन्दी एकांकी
—डा० हरिहरनाथ टंडन ३३५

२९. प्रेमचन्द : जीवन-दर्शन
—श्री सत्येन्द्र वर्मा ३५३

३०. हिन्दी उपन्यास : प्रगति की दो दिशाएँ
—डा० एस० एन० गणेशन ३६४

३१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के निबन्धों की भाषा-शैली
—डा० कैलाशचन्द्र भाटिया ३७४

३२. आचार्य शुक्ल : एक रसज्ञ आलोचक
—डा० कृष्णदेव झारी ३८५

३३. रस सिद्धान्त का विकास
—श्री मथुरेश नन्दन कुलश्रेष्ठ ३९७

३४. अलंकार और अलंकार्य के सम्प्रदाय
—डा० शंकरदेव अवतरे ४२५

३५. हिन्दी उर्दू छन्द : शास्त्र की तुलना
—डा० अम्बाप्रसाद सुमन ४३८

३६. तुलसी के काव्य सिद्धान्त
—श्री दर्शन लाल सेठी ४५७

३७. तुलनात्मक अध्ययन की समस्याएँ
—डा० भीमसेन निर्मल ४६२

३८. लोक साहित्य अथवा जन साहित्य
—डा० त्रिलोचन पांडेय ४७६

३९. भाषा और भाषाशास्त्र
—डा० उदय नारायण तिवारी ४८८

४०. ध्वनिग्राम शास्त्र एवं पदग्रामशास्त्र :
—डा० महावीर सरन जैन ५०४

४१. बोली विज्ञान
—डा० महावीरसरन जैन ५१०

४२. लिपि का उद्गम और विकास
—डा० उदयनारायण तिवारी ५१९

परिशिष्ट—

४३. **महाकवि जायसी का प्रकृति चित्रण एवं प्रेम तत्व** ५२७
—डा० हरिहरनाथ टंडन

४४. **सुमित्रानन्दन पन्त की काव्य दिशाएँ**
—डा० प्रेमस्वरूप ५३५

४५. **नयी कविता**
—डा० विद्यानिवास मिश्र ५४७

लेखक परिचय ५५७

१

आधुनिक भारतीय भाषाओं का साहित्य

परिचय एवं प्रमुख प्रवृत्तियाँ

●

यह बात उलझन में डालने वाली है कि महाद्वीप जैसे विशाल भारतवर्ष में, गत हज़ारों वर्षों में जो साहित्य सृजन हुआ है, उसमें कुछ अपवादों को छोड़कर चिन्तन-एकता की परम्परा मिलती है। वस्तुतः भारतीय भाषाओं का साहित्य राष्ट्रीय एकता का सबसे बड़ा प्रमाण है। भारतीय साहित्यकारों के प्रेरणा स्रोत का उद्गम वह महान् वैदिक और लौकिक संस्कृत-साहित्य है, जो किसी प्रान्त-विशेष की सम्पत्ति नहीं, बल्कि जिससे सारा देश समान रूप से प्रभावित है।

आदान-प्रदान की परम्परा

प्राचीन काल में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाएँ अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार की माध्यम रहीं। देश में राजनैतिक एकता न रहने पर भी इन भाषाओं ने देश के एक छोर से दूसरे छोर तक भारतीय जीवन में धार्मिक और सामाजिक दृष्टि से समरसता कायम रखी। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के बाद हिन्दी ने देश की एकता की कड़ी को जोड़ा।

सत्य की खोज

भारतवर्ष ने संसार के दूसरे आकर्षणों की अपेक्षा **'सत्य की खोज'** को सर्वदा अधिक महत्व दिया है। वेदों, उपनिषदों, ब्राह्मणों, एवं आरण्यक ग्रन्थों में बौद्ध-धर्म और जैन-धर्म के विशाल साहित्य में महान् सत्य के उन विभिन्न अंगों का दर्शन होता है, जिनकी उपलब्धि भारतीय प्रतिभा ने समय-समय पर की।

ईसा के बाद के करीब एक हजार वर्ष का समय धार्मिक आन्दोलनों का युग है। एक ओर जैन और बौद्ध-धर्म प्रचारक अपने धर्म के सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए काव्य के विविध रूपों का प्रयोग कर रहे थे, दूसरी ओर प्राचीन शैव-मत के पुनरुत्थान का प्रयत्न किया जा रहा था। इन एक हजार वर्षों की अन्तिम कुछ शताब्दियों में कुछ ऐसे भी सन्त हुए जिन्होंने विभिन्न धर्मों के सिद्धान्तों के समन्वय करने का सशक्त प्रयत्न किया है।

जैन साहित्य—इन शताब्दियों में तमिल में इंगलो मुनि कृत 'शिलप्पि-धिकारम' एवं तिरूत्तक्कदेवर मुनि कृत 'जीवक चिन्तामणि', एवं कन्नड़ में शिवकोटाचार्य की कन्नड़ साहित्य की उपलब्ध प्राचीनतम गद्य रचना 'बड्डाराधनम्', पंप कवि कृत 'आदि पुराण', रत्न कवि की 'अजित तीर्थङ्कर' जैसे प्रसिद्ध साहित्यिक ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। उत्तरी भारत के पश्चिमी प्रदेशों में भी जैन साहित्य की रचना हुई, जिसको मुख्यतः चार भागों में बाँटा जा सकता है :—

(१) प्रथमानुयोग, (२) करणानुयोग,
(३) चरणानुयोग, एवं (४) द्रव्यानुयोग।

बौद्ध साहित्य—तमिल साहित्य में महापंडित शीत्तलैचत्तनार का लिखा हुआ **'मणिमँखलै'** बहुत लोकप्रिय है। ईसा की छठी शताब्दी के बाद कई सौ वर्षों तक भारतवर्ष के पूर्वी प्रदेश बंगाल और बिहार, बौद्धों की वज्रयानी शाखा के केन्द्र रहे, जहाँ मुक्तक काव्यों के रूप में बौद्ध साहित्य मिलता है।

शैव साहित्य—तमिल साहित्य में जिस समय जैन और बौद्ध आचार्य अपनी रचनाएँ कर रहे थे, उसी समय बहुत से शैव आचार्य शंकर, पार्वती, कार्तिकेय, और शैव-तीर्थ स्थानों के महत्व का प्रतिपादन गेय पदों में कर रहे थे।

भक्ति-भावना

धार्मिक आन्दोलनों के साथ भारतवर्ष की आधुनिक भाषाओं में मध्य काल में भक्ति-भावना की धारा विशेष प्रबल रही। यह धारा, जिसका समय

६०० से ९०० तक का है—आधुनिक भाषाओं में सर्वप्रथम तमिल साहित्य में दिखाई पड़ती है। तमिल साहित्य में भक्ति की धारा दो उपधाराओं में विभक्त होकर प्रवाहित हुई। एक धारा 'शैव भक्तों' की है, दूसरी 'वैष्णव भक्तों' की। शैव भक्तों ने, जिन्हें 'नायन्मार' कहते हैं, गेय छन्दों में शिव-भक्ति की कविताएँ लिखकर भक्ति-काव्य को नया रूप दिया। उन्होंने भगवान शंकर के प्रति उसी प्रकार प्रगल्भ भावनाओं की अभिव्यक्ति की, जो कृष्ण-भक्ति धारा के कवियों में दिखाई पड़ती है।

शैव भक्तों (नायन्मारों) की भाँति, वैष्णव-भक्त (आलवारों) ने भी गेय छन्दों में भक्ति-भावना से ओत-प्रोत छन्दों की रचना की। दूसरी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक बारह आलवार भक्त हुए जिन्होंने कुल मिलाकर चार हजार गेय पदों की रचना की। आलवार भक्तों की रचनाओं का यह वृहत् संग्रह 'नालियर दिव्य प्रबन्धम्' के नाम से प्रसिद्ध है। आलवार भक्तों में पेरियालवार, आण्डाल, तिरुमंगै आलवार, और नम्मालवार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

तदनन्तर, ग्यारहवीं शताब्दी में महाकवि कम्बन् ने 'श्रीमद् रामायण की रचना की। यह काल 'कम्बन्' की काव्य-शैली से इतना प्रभावित हुआ कि यह काल ही 'कम्बन्-काल' के नाम से प्रसिद्ध हो गया। इस काल में तमिल-साहित्य में रामायण और महाभारत के आधार पर कई महाकाव्यों का निर्माण हुआ। इस काल के बहुत से कवियों ने महाभारत, भागवत् एवं कूर्म, मत्स्य और विष्णु पुराणों का संस्कृत से तमिल में अनुवाद किया।

छठी शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक तमिल साहित्य में कृष्ण, राम और शिव-भक्ति की जो त्रिवेणी प्रवाहित हुई, उससे देश का कोना-कोना आप्लावित हुआ। मलयालम साहित्य पर यह प्रभाव इतने व्यापक रूप से पड़ा कि आठवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक का मलयालम साहित्य 'द्रविड़-प्रभाव काल' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस काल में राम पणिक्कर ने वाल्मीकि रामायण के आधार पर 'रामायणम्' तथा चेरुर शेरि नम्पूतिरि ने श्रीमद्-भागवत् के दशम स्कन्ध की कथा के आधार पर गीतों के रूप में 'कृष्ण-पाट्टू' नामक काव्य की रचना की।

सन् १००० से सन् १५०० तक का समय तेलुगू साहित्य में 'पुराण-युग' के नाम से प्रसिद्ध है। तेलुगू के 'पुराण-युग' में प्रायः वे सभी प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं, जो तमिल साहित्य के भक्तिकाल और कम्बनकाल में दिखाई पड़ती हैं। इस काल के शिव भक्तों में 'पालकुरिकि सोमनाथ' विशेष रूप में उल्लेख-

नीय हैं, जिन्होंने 'बसव-पुराण' एवं 'पंडिताराध्य चरित' नाम के दो काव्यों की रचना की। तिकन्ना एवं नन्नय भट्ट ने महाभारत का अनुवाद किया।

दशवीं शताब्दी के आरम्भ से सोलहवीं शताब्दी तक कन्नड़ साहित्य में भक्ति की धारा प्रवाहित होती रही। कन्नड़-साहित्य के इतिहासकारों ने इस काल को तीन उपविभागों में बाँटा है। सन् १००० से ११५० तक का समय 'पंप-युग'; सन् ११५० से १३३६ तक का समय 'वीर शैव-युग'; तथा सन् १३३६ से १६०० तक का समय 'विजयनगर युग' के नाम से प्रसिद्ध है। 'पंप-युग' के 'पम्प कवि', 'वीर शैव-युग' के 'बसवेश्वर' तथा 'विजयनगर युग' के वैष्णव भक्त कवि 'पुरन्दरदास' अधिक प्रसिद्ध हैं।

मराठी साहित्य में भक्ति की भागीरथी का स्रोत सर्वप्रथम वारकरी सम्प्रदाय के महात्माओं की रचनाओं में दिखाई पड़ता है। इस पंथ के प्रवर्त्तक संत ज्ञानेश्वर (सन् १२७५—९६) थे। महाराष्ट्र में भक्ति परम्परा के अन्य कवियों में—एकनाथ, तुकाराम, रामदास विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

उत्तर भारत की भाषाओं में भी भक्ति-भावना की ये प्रवृत्तियाँ थोड़े-बहुत अन्तर से दिखाई पड़ती हैं। गुजराती में पन्द्रहवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी तक, हिन्दी में चौदहवीं शताब्दी से सत्रहवीं शताब्दी तक, और बंगला में चौदहवीं शताब्दी से सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक भक्ति की भागीरथी अपने पूरे वेग से प्रवाहित होती रहीं। गुजराती में—नरसिंह मेहता, मीरा, भालण एवं दयाराम; हिन्दी में—कबीर, दादु, नानक, सूरदास, नन्ददास, तुलसीदास; एवं बंगला में—चंडीदास, कृत्तिवास, और मालाधर बसु विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार मध्य-काल में भारतीय भाषाओं में राम और कृष्ण-भक्ति के स्निग्ध कगारों का चुम्बन करते हुए साहित्य की जो धारा बही, उसने सारे देश में नवजीवन का संचार किया। इस काल में राम-कृष्ण भक्ति-धारा के साथ शिव-भक्ति की धारा भी दक्षिण में समानान्तर रूप से बहती रही। किन्तु उत्तर भारत में शिव-भक्ति की धारा उतनी प्रबल नहीं थी।

प्रेमाख्यानक काव्यों की परम्परा

प्रेमाख्यानक काव्यों की परम्परा की रचनाएँ दक्षिण भारत की भाषाओं में उपलब्ध नहीं हैं। उत्तर भारत की भाषाओं में भी केवल सिंधी, हिन्दी, पंजाबी और बंगाली में प्रेमाख्यानक काव्यों की परम्परा मिलती है। इस परम्परा के अधिकांश साहित्यकार सूफी सन्त थे जिन्होंने अपने काव्यों में प्रचलित प्रेम कथाओं का वर्णन करके आध्यात्मिक प्रेम का संकेत किया।

सिंधी के सूफी संतों में काजी काजन, शाह अब्दुल लतीफ एवं सचल 'सरमस्त'; हिन्दी के प्रेमाख्यानक कवियों में मंझन (मधुमालती), मलिक मोहम्मद जायसी (पद्मावत), उस्मान (चित्रावली) एवं नूर मुहम्मद (इन्द्रावती); पंजाबी के प्रेमाख्यानक धारा प्रवाहित करने वाले सूफी सन्तों में बुल्लेशाह और हाशिम वारिस शाह; तथा बंगला के 'प्रेम की पीर' की भावना से प्रभावित होकर काव्य रचना करने वालों में अलाउल और दौलत काजी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

शौर्य एवं प्रणय-सम्बन्धी काव्य

आधुनिक भारतीय भाषाओं के पूर्ववर्ती अपभ्रंश साहित्य में श्रृंगार और शौर्य सम्बन्धी रचनाएँ फुटकर रूप में कहीं-कहीं प्राप्त होती हैं। शालिभद्र सूरि का 'भरत बाहुबलि रास' और 'भविसयत्त कहा' आदि कुछ ऐसे चरित्र काव्य भी प्राप्त हैं, जिनमें युद्धों का सजीव वर्णन है और कहीं-कहीं श्रृंगार का पुट है।

हिन्दी साहित्य में सन् १००० से १३०० तक का समय 'वीरगाथा-काल' के नाम से प्रसिद्ध है। देश की अन्य भाषाओं में शौर्य सम्बन्धी काव्य नहीं लिखे गये—ऐसी बात नहीं है, किन्तु हिन्दी का वीरगाथा-कालीन साहित्य हिन्दी क्षेत्र की तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का परिणाम है और वीर-गाथाओं की जो प्रवृत्ति हिन्दी में दिखाई पड़ती है, वह दूसरी भाषाओं के साहित्य में बहुत कम दिखाई पड़ती है।

तमिल साहित्य (ईसा की दूसरी शताब्दी तक) में बहुत से ऐसे ग्रन्थों की रचना हुई जिनमें राजाओं के युद्धों, उनके वैभव और राजाओं के युद्धों में जाने के पश्चात् उनकी स्त्रियों के वियोग का सुन्दर वर्णन है। मलयालम साहित्य में रामायण और महाभारत के कथानकों के आधार पर कुछ वीर-काव्यों की रचना हुई। बारहवीं शताब्दी में लिखा हुआ त्रावनकोर नरेश रामवर्मा रचित 'रामचरितम्' उल्लेखनीय है। उत्तर भारत की भाषाओं में असमिया साहित्य में वीर-गाथाओं की परम्परा 'बुरंजी काल' (सन् १६५०-१८८५) में दिखाई पड़ती है। इस काल के ग्रन्थों में 'कामरूप बुरंजी', 'कछारी-बुरंजी', 'कलि-भारत बुरंजी' और 'बेलिमार बुरंजी' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। बुरंजी-साहित्य में अधिकांश साहित्य गद्य में है। इनमें असम प्रदेश का मध्य युग का इतिहास बहुत ही विस्तृत और व्यवस्थित रूप में सुरक्षित है।

रीति-कालीन प्रवृत्तियाँ

हिन्दी साहित्य के इतिहास में सन् १६५० से १८५० तक का समय 'रीति-काल' के नाम ने प्रसिद्ध है। यह वह समय था, जब हिन्दी साहित्य में

भक्ति-भावना का स्थान श्रृङ्गार-भावना ले रही थी; भावनाओं की गहराई और हृदय की अनुभूति के स्थान पर कथन के चमत्कारपूर्ण ढंग पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा था।

तमिल साहित्य में रीति-कालीन प्रवृत्तियाँ मध्यकाल (सन् १४००–१८००) के साहित्य में दिखाई पड़ती है। तमिल साहित्य के इस युग के कवियों में शैली के विविध रूपों के प्रयोग और पांडित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति अधिक दिखाई पड़ती है। हिन्दी के रीतिकाल को भाँति तमिल साहित्य के मध्य युग में प्रबन्ध-काव्य बहुत कम लिखे गये और बहुत से टीका ग्रन्थ लिखे गये, जिनसे प्राचीन साहित्य के अध्ययन और मनन में सहायता मिली। इस काल के टीकाकारों में नच्चिनार्किनियर और पेरिय वाच्चान् पिल्लै विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कुमर गुरुपरर् (१७००वीं शताब्दी) की "मीनाक्षिपिल्लै तमिल" और "तिरुमलै मुरुगन पिल्लै तमिल" आदि रचनाओं में उनके भाषा-ज्ञान, काव्य-चातुर्य और पांडित्य का परिचय मिलता है। तायुमानवर् (१८०० वीं शताब्दी) की कविताओं में संस्कृत शब्दों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग और आशु कवि कालमेगम् की रचनाओं में हास्य और विनोद के साथ भाषा के चमत्कार का सौन्दर्य है।

तेलुगू साहित्य में प्रबन्ध युग (सन् १५१०-१६३०) के बाद 'क्षीण-युग' (सन् १६३१—१८६०) आया। 'क्षीण युग' में लगभग वही प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं जो हिन्दी के रीतिकाल में हैं। इस काल में 'यक्ष-गान,' 'नृत्य-गीत' और 'अभिनय गीतों' को रचना हुई और शतक साहित्य की परम्परा आगे बढ़ी। रघुनाथ नायक के पुत्र विजय राघव नायक और पौत्र मन्नारदास ने बहुत से यक्ष गानों की रचना की। प्रसिद्ध गीतकार क्षेत्रय्या ने अभिनयात्मक नृत्य गीतों की रचना की।

सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी मराठी साहित्य में 'पंडित कवियों' का युग है। इस युग के कवियों ने संस्कृत रीति का प्रयोग मराठी साहित्य के लिए करके मराठी साहित्य को समृद्ध बनाया। मराठी साहित्य के इस युग के कवियों में वामन पंडित, रघुनाथ, और मोरोपंत विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मोरोपंत पंडित युग के कवियों में सर्वश्रेष्ठ कवि समझे जाते हैं। इनकी तुलना हिन्दी के प्रसिद्ध कवि केशवदास के साथ की जा सकती है। इन्होंने रामायण और महाभारत के कथानकों के आधार पर कई प्रबन्ध काव्यों की रचना की और अपने काव्यों में संस्कृतनिष्ठ मराठी और संस्कृत छन्दों का प्रयोग किया।

उड़िया साहित्य में सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी में बहुत से ऐतिहासिक, पौराणिक और काल्पनिक कथानकों के आधार पर प्रबन्ध-काव्यों की रचना हुई। गीति-काव्यों की परम्परा आगे बढ़ी और कुछ आचार्य कवियों ने लक्षण-

ग्रन्थों की रचना की। कृष्ण की लीलाओं को आधार मानकर बहुत सी। रचनाएँ हुईं। इन रचनाओं में शृंगार का पुट अधिक है। कहीं-कहीं वर्णन में अश्लीलता भी आ गयी है। सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और उसके बाद उड़िया में बहुत से ऐसे कवि हुए, जिन्होंने अपनी रचनाओं में छन्दों की विविधता और अलंकारों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया। त्रिविक्रम भंज के 'कनकलता' नाम के काव्य में, जिसका कथानक काल्पनिक है, अलंकारों का प्रचुर प्रयोग हुआ है तथा उसकी भाषा चमत्कारपूर्ण है। श्रीधर, विष्णुदास, दीन कृष्ण, भूपति, आदि कवियों की रचना में संस्कृत शब्दों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग और काव्यगत् कलात्मकता है। उपेन्द्रभंज (सन् १६७०-१७२८) उड़िया साहित्य में कवि-सम्राट् माने जाते हैं। इन्होंने कुल ४२ ग्रन्थों की रचना की, जिनमें ऐतिहासिक, पौराणिक एवं काल्पनिक कथाओं पर आधारित प्रबन्ध-काव्य, मुक्तक कविताएँ, अलंकार-ग्रन्थ और कोश-ग्रन्थ एवं अन्य प्रकार की रचनाएँ सम्मिलित हैं। हिन्दी के रीतिकालीन कवियों की भाँति उपेन्द्रभंज की रचनाओं में काव्य-क्रीड़ा के विविध रूप दिखाई पड़ते हैं। इनके 'कोटि ब्रह्माण्ड सुन्दरी' नाम के काव्य में प्रत्येक पद के सभी अक्षरों को पढ़ने से वर्षाऋतु का वर्णन, आदि के एक अक्षर को छोड़कर पढ़ने से शीत ऋतु का वर्णन, और आदि के दो अक्षरों को छोड़कर पड़ने से ग्रीष्म ऋतु का वर्णन प्राप्त होता है।

बंगला साहित्य के "चैतन्य परवर्ती-युग" (सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी) में बंगाली कविता लोक जीवन के अधिक समीप आयी। इस काल में बहुत से 'मंगल' काव्यों की रचना हुई, 'विद्या सुन्दर' की कहानी को लेकर काव्य लिखे गये, 'श्याम संगीत' और 'पैरोडी गीतों' का निर्माण हुआ तथा कवियालों ने लोकगीतों की रचना की। श्यामदास एवं द्विज हरिदास कृत 'कृष्ण-मंगल' एवं कवि कंकड मुकुन्दराम कृत 'चंडी-मंगल' अधिक उल्लेखनीय हैं। इस काल के कवियों में भारतचन्द्र (१८ वीं शताब्दी) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनका 'अन्नदा मंगल' काव्य बंगला साहित्य का बड़ा लोकप्रिय काव्य है। यह एक काल्पनिक काव्य है, जिसमें शृंगार की प्रधानता है। इस काव्य में सुन्दर शब्द-याजना, आलंकारिक भाषा, और घटनाओं के सूक्ष्म एवं स्वाभाविक वर्णन से कवि की प्रतिभा का पता चलता है।

आधुनिक युग का आरम्भ

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध को हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने 'भारतेन्दु-युग' नाम दिया है। यह वह समय था, जब हिन्दी साहित्य में नयी प्रवृत्तियों का आरम्भ हुआ और साहित्य की सरिता भक्ति और शृंगार के

उर्दू साहित्य में राष्ट्रभक्ति की भावनाएँ सबसे पहले हाली (मृत्यु सन् १९१४) की रचनाओं में दिखाई पड़ती हैं। उनकी 'हुब्बेवतन' नाम की नज़्म और 'मुसद्दसे हाली' में राष्ट्रीय भावना बड़ी सुन्दरता के साथ व्यक्त हुई है। 'हाली' की रचनाओं में जो राष्ट्रीय भावना पल्लवित हुई, उसका विकास इकबाल (मृत्यु सन् १९३८), अकबर (मृत्यु सन् १९२१) और चकबस्त (मत्यु सन् १९३६) की रचनाओं में दिखलाई पड़ती है।

हिन्दी साहित्य में जो युग 'द्विवेदी-युग' के नाम से प्रसिद्ध है, करीब वही युग उड़िया साहित्य में 'सत्यवादी साहित्य' का युग है। इस युग में लिखित श्री गोपबन्धु की 'बन्दी-आत्मकथा', कारा कविता', और 'धर्मपद' आदि रचनाओं में स्वदेश प्रेम की ऊँची भावना दिखाई पड़ती है। इसी युग में पं० नीलकण्ठ दास ने 'कोणार्क' नाम के अपने काव्य में उड़ीसा के गौरवमय इतिहास का सिंहावलोकन किया और पं० गोदावरीश मिश्र ने अपनी सुन्दर और आकर्षक शैली में राष्ट्रीय नाटक, कविताएँ और वीरगाथाएँ लिखीं।

तमिल साहित्य में महाकवि सुब्रह्मण्य भारती ने राष्ट्रीय काव्य-धारा का प्रतिनिधित्व किया। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम कुछ वर्षों में भारती, तमिल साहित्य में एक महान् राष्ट्रकवि के रूप में पैदा हुए। अपने 'भारत-समुदायम्' शीर्षक गीत में उन्होंने देश में स्थापित होने वाली राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक समता का सुन्दर चित्र खींचा है।

तेलुगू के राष्ट्रीय-धारा के कवियों में वीरेश लिंगम् पंतलु (१८१८-१९१९), गुरुजाड़ अप्पाराव (१८६१-१९१५), तुम्मल सीताराम मूर्ति और कोडालि सुब्बाराव विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। वीरेश लिंगम् पंतलु ने -सत्यराज पूर्व देश यात्रलु' नाम के काव्य में भारतीय समाज की दुर्बलताओं का चित्रण किया। गुरुजाड़ अप्पाराव ने अपने गीतों में राष्ट्रीय भावनाओं की अभिव्यक्ति की। श्री कोडालि सुब्बाराव ने आन्ध्र के अतीत वैभव का वर्णन किया और विजयनगर के खंडहरों पर आँसू बहाये।

छायावादी प्रवृत्तियाँ

हिन्दी साहित्य में बीसवीं शताब्दी के दूसरे और तीसरे दशक "छायावादी युग" नाम से प्रसिद्ध हैं। तेलुगू साहित्य में यह युग 'भावकविता का युग' और मराठी साहित्य में यह युग "सौन्दर्यवादी कवियों का युग' है। भारतीय साहित्य में छायावादी प्रवृत्तियों का आरम्भ आधुनिक काल के साहित्य में एक तीसरा बड़ा मोड़ था।

छायावादी कविता की कुछ प्रवृत्तियाँ सर्वप्रथम बंगला साहित्य में माइकेल मधुसूदन दत्त की रचनाओं में दिखाई पड़ती है। ये अँग्रेजी सभ्यता,

संस्कृति और साहित्य से बड़े प्रभावित थे। इसलिए उनकी रचनाओं में छायावादी प्रवृत्तियाँ बहुत कुछ अंशों में अँग्रेजी रोमांटिक कविता के बंगाली संस्करण के रूप में आयीं। छायावादी कविता की प्रवृत्तियाँ अपने प्रौढ़ रूप में सर्वप्रथम रवीन्द्रनाथ टैगोर की रचनाओं में दिखाई पड़ती हैं। इन्होंने अँग्रेजी के रोमांटिक कवियों की भाँति मानव-मन पर प्रकृति के प्रभाव को ही केवल स्वीकार नहीं किया, बल्कि आत्म-चेतना और वेदना में उसे एकाकार भी कर दिया। इनकी 'गीतांजलि' ने भारतीय काव्य-धारा को छायावाद की ओर मोड़ने में बड़ा योग दिया।

तमिल साहित्य में छायावादी प्रवृत्तियाँ देशि कवि नायकम् पिल्लै, भारतीदासन्, और कम्बदासन् की रचनाओं में दिखाई पड़ती हैं। इस दृष्टि से नायकम् पिल्लै की 'शेफालिका', एवं भारतीदासन् की 'हँसी जूही' उल्लेखनीय हैं।

तेलुगू साहित्य में आचार्य रायप्रोलु सुब्बाराव 'भाव-कविता' के जनक कहे जाते हैं। देउलपल्ली कृष्णशास्त्री, शिवशंकर शास्त्री, नंडूरिसुब्बाराव ने तेलुगू साहित्य में भाव-कविता की परम्परा को आगे बढ़ाया। देउलपल्ली कृष्णशास्त्री के काव्यों में 'उर्वशी', 'प्रवासमु' और 'कृष्ण-पक्षम्' तथा नंडूरि सुब्बाराव की रचनाओं में 'एंकिपाटलु' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

मलयालम साहित्य में भावगीतों की परम्परा का प्रौढ़ रूप सर्वप्रथम जी० शंकर कुरुप की रचनाओं में दिखाई पड़ता है। इनके गीतों में कल्पना का सौन्दर्य और प्रतीकों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग है। इनकी रचनाओं का एक संग्रह "साहित्य-कौस्तुभ" नाम से तीन भागों में प्रकाशित हुआ है। भावगीतों की परम्परा के दूसरे कवि चङ्पुषा कृष्ण पिल्लई हैं।

मराठी साहित्य के सौन्दर्यवादी कवियों में चन्द्रशेखर, गोविन्दाग्रज, तांबे और माधव ज्युलियन विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

गुजराती साहित्य में छायावादी प्रवृत्तियाँ श्री सुन्दरम्, श्री उमाशंकर जोशी, श्री राजेन्द्र शाह, श्री निरंजन भगत और श्री उशनस की रचनाओं में दिखलाई पड़ती हैं।

हिन्दी साहित्य में श्री जयशंकर प्रसाद, श्री सुमित्रानंदन पन्त, एवं श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' छायावादी धारा के प्रमुख कवि हैं। प्रसाद की 'कामायनी' विश्व-साहित्य को एक देन है।

पंजाबी साहित्य में छायावादी प्रवृत्तियाँ जिन कवियों में दिखाई पड़ती हैं, उनमें वीरसिंह (१८७२-१९५७) और धनीराम चातक विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

उर्दू साहित्य में 'रोमांटिक शायरी' का सुन्दर रूप 'जोश मलीहाबादी, अख्तर शीरानी, असगर, और 'जिगर' आदि की रचनाओं में दिखाई पड़ता है।

प्रगतिवाद या पुरोगमनवाद

बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक के समाप्त होते-होते भारतीय साहित्य की धारा में एक और मोड़ आया, जिसके कारण विषय, भाषा, शैली और चिन्तन परम्परा की दृष्टि से भारतीय साहित्य में बड़ा परिवर्तन हुआ। चौथे दशक के बाद हिन्दी साहित्य में जो नयी प्रवृत्तियाँ पैदा हुई उन्हें हिन्दी साहित्य में 'प्रगतिवाद'; तेलुगू में 'अभ्युदय कवित्व', मलयालम में 'पुनरोगमनवाद' और मराठी साहित्य में 'नवमतवाद' नाम दिया गया है।

प्रगतिवादी साहित्यकारों ने कुछ निश्चित मान्यताओं और जीवन-सिद्धान्तों के आधार पर साहित्य का निर्माण किया है। प्रगतिवादी साहित्यकार जीवन की सभी समस्याओं में आर्थिक समस्या को विशेष प्रधानता देता है और समाज के भौतिक विकास में विश्वास रखता है। वह साहित्य और कला को वर्गहीन समाज की स्थापना का सहायक मानता है और उसका विश्वास है कि प्रयत्न करके ऐसे आदर्श समाज का निर्माण किया जा सकता है, जिसमें शोषकों एवं शोषितों के वर्ग न हों।

भारतवर्ष में सन् १९३५ में 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना हुई। प्रगतिशील लेखकों के संगठन ने साहित्य में जीवन की समस्याओं, विशेषत: आर्थिक समस्याओं का नारा बुलन्द किया। साहित्य का मुख्य उद्देश्य — किसानों-मजदूरों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना समझा जाने लगा।

देश की विभिन्न भाषाओं में प्राय: उन साहित्यकारों ने प्रगतिवादी साहित्य के निर्माण में योग दिया, जिन्होंने छायावादी प्रवृत्तियों को समृद्ध किया था। तमिल साहित्य में भारतीदासन्, कम्बदासन्, और कोत्तमंगल श्री सुब्बु ने प्रगतिवादी साहित्य के निर्माण में योग दिया।

तेलुगू साहित्य में प्रगतिवादी आन्दोलन का आरम्भ श्री 'श्री' की उन कविताओं से हुआ, जिनमें उन्होंने भाव-कविता की धारा के विरुद्ध विचार प्रकट किए। इनके अतिरिक्त श्री दाशरथी, नारायण रेड्डी और रमण रेड्डी आदि ने प्रगतिवादी धारा की समृद्धि में योग दिया। इनकी रचनाओं में आदर्श समाज के निर्माण का दृढ़ संकल्प है और पतितों और शोषितों के लिए अगाध सहानुभूति का भाव है।

मलयालम साहित्य के सुप्रसिद्ध आलोचक सर्वश्री जोसेफ मुण्डरशेरी, एम० पी० पाल, और ए० बालकृष्ण पिल्लई ने अपने आलोचना-ग्रन्थों में

'पुरोगमन प्रस्थानं', "जीवित साहित्य प्रस्थानं' और 'यथातथ्य प्रस्थानं' का नारा बुलन्द किया। वल्लतोल नारायण मेनन और जी० शंकर कुरुप ने, जिनकी प्रारम्भिक कविताओं में छायावादी प्रवृत्तियाँ दिखलाई पड़ती है, बाद में प्रगतिवाद आन्दोलन को बल दिया। मलयालम के अन्य प्रगतिवादी कवियों में राघवन पिल्ला, श्री केटामंगलं पप्पु कुट्टि और वोधेश्वरन् विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

कन्नड़ साहित्य के इतिहासकार सन् १९३९ के बाद कन्नड़ साहित्य में प्रगतिवादी साहित्य का आरम्भ मानते हैं। हुइल-गोल और अनन्त मूर्ति जैसे प्रतिभाशाली लेखकों ने कथा-साहित्य में प्रगतिवादी प्रवृत्तियों का सूत्रपात किया। कविता के क्षेत्र में पुट्टप्प ने अपने अतुकान्त महाकाव्य 'रामायण' को पूरा किया और विनायक ने अपने 'समुद्र गीत' में मुक्त छन्द कविता के नये प्रयोग किये।

मराठी साहित्य के इतिहासकार सन् १९३६ के बाद मराठी साहित्य में "नवमतवाद" का प्रारम्भ मानते हैं। कविता के क्षेत्र में 'नवमतवाद' की प्रवृत्तियाँ 'अनिल', 'कुसुमाग्रज' आदि की कविताओं में अपने प्रौढ़ रूप में दिखाई पड़ती हैं। अनिल ने युक्त छन्द का निर्माण एवं प्रचार किया। 'कुसुमाग्रज' के 'विशाखा' नामक कविता-संग्रह में समाज के दलितवर्ग के प्रति सहानुभूति की भावना व्यक्त की गयी और साम्राज्यवाद के विरोध में आवाज उठायी गयी। मर्ढेकर, मुक्तिबोध आदि की कविताओं में वर्ग-संघर्ष के द्वारा साम्यवाद की स्थापना का संदेश है।

हिन्दी में छायावादी कवि—निराला और पन्त ने प्रगतिवादी धारा के निर्माण में योग दिया। इनके अतिरिक्त प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों के माध्यम से समाज का यथार्थ चित्रण प्रतुस्त किया। कविता के क्षेत्र में शमशेर, नरेन्द्र-शर्मा, प्रभाकर माचवे, रामविलास शर्मा, शिव मंगल 'सुमन' आदि प्रसिद्ध प्रगतिवादी साहित्यकार हैं।

पंजाबी साहित्य में 'पंजदरिया' नाम के पत्र ने प्रगतिवादी साहित्य को लोगों के सामने लाने का महत्वपूर्ण कार्य किया। इसके सम्पादक 'मोहनसिंह' की 'कच-सच' रचना उल्लेखनीय है।

उर्दू साहित्य के इतिहासकार सन् १९३५ के बाद उर्दू साहित्य में 'तरक्की-पसन्द अदब' का आरम्भ मानते हैं। जोश १९३५ के बाद प्रगतिवादी साहित्य लिखने लगे। उन्होंने खुदा, मजहब और पुरानी रूढ़ियों के विरुद्ध आवाज उठायी और अपनी शायरी में भूखों, गरीबों और दलितों के प्रति

सहानुभूति की भावना व्यक्त की। इनके अतिरिक्त मख्दूम-मुहीउद्दीन, सरदार जाफरी, अब्दुल मजीद, सालिक आदि साहित्यकारों की रचनाओं में सशक्त यथार्थवाद है।

स्वातन्त्र्योत्तर-कालीन साहित्य

सन् १९४७ में देश की स्वतन्त्रता के बाद भारतीय साहित्य की सरिता में जो नया मोड़ आया है, उसका मूल्यांकन करना अभी कठिन है। इधर अनुवाद-साहित्य पर्याप्त मात्रा में लिखा जा रहा है। दूसरी भाषाओं की उत्कृष्ट कृतियों का अनुवाद विभिन्न भाषाओं में हो रहा है, अन्य भाषाओं के परिचयात्मक इतिहास लिखे जा रहे हैं और नयी पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन आरम्भ हुआ है।

भाषा और शैली की दृष्टि से भारतीय भाषाओं के साहित्य में व्यापक प्रयोग हो रहे हैं। आँचलिक साहित्य के निर्माण की प्रवृत्ति, प्रयोगवादी आन्दोलन—जिसका सूत्रपात हिन्दी साहित्य में हो चुका है, नव्य क्लासिकवादी आन्दोलन, जिसके कारण तेलुगू साहित्य में एक नया मोड़ आ रहा है, इन प्रयोगों की रूपरेखा का कुछ अंश प्रस्तुत करते हैं।

भारतीय साहित्यकारों का एक बड़ा वर्ग, साहित्य के महत्व को उसके पूर्ण रूप में अनुभव करने को उत्सुक है और वह रूप—यथार्थ और कल्पना का, सत्य और सौन्दर्य का —सर्वोत्तम सार संकेत है।

२

पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता

●

हिन्दी साहित्य के महान् ग्रन्थ 'पृथ्वीराज रासो' को प्रामाणिक मानने न मानने का द्वन्द्व बहुत दिन से चल रहा है। यदि हम 'पृथ्वीराज रासो' को ऐतिहासिक ग्रन्थ मानकर चलें तो हमारा इस पर विचार करना अत्यावश्यक हो जाता है। अधिकतर विद्वानों ने तो इसे इसीलिए अप्रामाणिक ठहराया है कि इसमें वर्णित घटनाओं, संवतों का मेल इतिहास से नहीं खाता। इसकी भाषा ने भी इसको अप्रामाणिक ठहराने में कुछ कम योग नहीं दिया है। जो भी हो, हमें इसकी परीक्षा करनी है।

इस ग्रन्थ में हिन्दुओं के अन्तिम सम्राट् पृथ्वीराज का चरित वर्णित है। अतः इसमें उस समय के इतिहास की बहुत-सी सामग्री मिलने की आशा की जाती थी। बंगाल की 'रॉयल एशियाटिक सोसाइटी' ने इसी दृष्टि से इसका प्रकाशन कराया था। परन्तु डा० बूलर को काश्मीर में 'पृथ्वीराज-विजय' की एक खंडित प्रति मिल गई, जिसमें पृथ्वीराज से सम्बन्धित घटनाओं, तिथियों तथा सामंतों के नामादि पृथ्वीराज सम्बन्धी प्रशस्तियों तथा शिलालेखों से मिल जाते थे। 'रासो' में यह नहीं पाया गया। अतः 'पृथ्वीराज-विजय' को इतिहास

की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण ठहराया गया और डा० बूलर की सम्मति पर रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ने 'रासो' का प्रकाशन बन्द करवा दिया।

'पृथ्वीराज विजय' के आधार पर डा० बूलर ने लिखा कि "काश्मीरी कवि जयानक पृथ्वीराज का समकालीन और राज्य-कवि था। उसका लिखा हुआ चौहानों का वृत्तान्त चन्द के वृत्तान्त के विरुद्ध है और विक्रम सं० १०३० और १२२६ के शिलालेखों से मिल जाता है। उसमें दी हुई वंशावली मालवा और गुजरात के शिलालेखों से भी मिल जाती है।"

'पृथ्वीराज-विजय' में पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर के विषय में यह लिखा है कि इसका विवाह राजकन्या कपूरदेवी से हुआ था। उसके हरिराज और पृथ्वीराज नाम के दो बालक थे। अजमेर की गद्दी पर बैठने के कुछ समय पीछे ही सोमेश्वर मर गया और पृथ्वीराज के बाल्य-काल में उसकी माता अपने मंत्री कादंबवास की सहायता के काम चलाती थी। इसमें यह बात कहीं नहीं लिखी है कि पृथ्वीराज देहली के अनंगपाल की कन्या से उत्पन्न हुआ था और उसे अनंगपाल ने गोद लिया था। पृथ्वीराज को मुसलमान लेखक भी अजमेर का ही मानते हैं। जयानक का कथन इसकी पुष्टि करता है, इसलिए रासोकार का कथन अप्रामाणिक प्रतीत होता है। 'रासो' के भीतर हुई मुख्य-मुख्य घटनाओं की जाँच करने पर भी बहुत-सी ऐतिहासिक घटनाएँ कपोल-कल्पित और निराधार प्रमाणित होती हैं। 'रासो' के अनुसार अग्नि-वंशी क्षत्रियों की उत्पत्ति से प्रतिहार, चालुक्य, परमार और चौहान आदि चारों क्षत्रिय जातियाँ अग्निवंशी हैं। बहुतेरे राजपूत भी यही मानते हैं। पर विक्रम सं० ९०० के आस-पास के ग्वालियर के महाराज प्रतिहार राजा 'भोजदेव' की प्रशस्ति से कवि 'राजशेखर' की पुस्तकों से, और शेखावाटी के 'हरखनाथ' की प्रशस्ति से यह सभी कुल सूर्यवंशी हैं।

१२वीं शताब्दी के एक दानपत्र में चालुक्यों को चंद्रवंशतिलक लिखा है। 'ढाई दिन के झोंपड़े' में जो शिलालेख है उसके अनुसार चौहान लोग सूर्य-वंशी प्रसिद्ध हैं, 'पृथ्वीराज-विजय' और 'हम्मीर काव्य' भी इसकी पुष्टि करते हैं। शिलालेख और साहित्य-ग्रन्थ इस बात को प्रमाणित करते हैं कि 'रासो में' दी हुई चौहानों की वंशावली कृत्रिम और जाली है।

'पृथ्वीराज-रासो' का लेखक पृथ्वीराज की माता का नाम 'कमलादेवी' लिखता है। रासोकार ने यह भी लिखा है कि अनंगपाल पृथ्वीराज को दिल्ली का राज्य देकर 'बद्रिकाश्रम' चला गया था। शिलालेखों से प्रकट है कि पृथ्वीराज की माता का नाम कमलादेवी नहीं, कपूरदेवी था।

सबसे अधिक चीड़फाड़ महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने की। उन्होंने लिखा कि "पृथ्वीराज रासो बिलकुल अनैतिहासिक ग्रन्थ है। इसमें चौहानों, परिहारों और सोलंकियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध की कथा चौहानों की वंशावली, पृथ्वीराज की माता, भाई, बहिन और पुत्र और रानियों आदि के विषय की कथाएँ तथा बहुत-सी घटनाओं के संवत् और प्रायः घटनाओं तथा सामंतों के नाम अशुद्ध और कल्पित हैं, कुछ सुनी-सुनाई बातों के आधार पर उक्त वृहद् काव्य की रचना की गई है। यदि पृथ्वीराज रासो पृथ्वीराज के समय में लिखा जाता तो इतनी बड़ी अशुद्धियों का होना असम्भव था। भाषा की भी दृष्टि से यह ग्रन्थ प्राचीन नहीं दीखता। इसकी डिंगल से जो कहीं-कहीं प्राचीनता का आभास होता है वह तो डिंगल की विशेषता ही है। आज की डिंगल में भी ऐसा आभास मिलता है जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण बीसवीं सदी में बना हुआ सूर्यमल का 'वंशभास्कर' है।"

ओझाजी की राय में पहले राजस्थानी में फारसी शब्दों का प्रयोग बिलकुल नहीं होता था, पीछे से कुछ-कुछ होने लगा होगा। इसलिए फारसी शब्दों की अधिकता भी इसके प्राचीन होने में बाधक है। वे लिखते हैं, "वस्तुतः पृथ्वीराज रासो सं० १६०० के आसपास लिखा गया है।" विक्रम सं० १५१७ की प्रशस्ति में रासो का कहीं उल्लेख नहीं है। पीछे से सं० १६३२ की प्रति में इसका स्पष्ट उल्लेख है। ओझाजी लिखते हैं कि यह भ्रम फैलाना भी ठीक नहीं है कि रासो अपने मूलरूप में छोटा रहा होगा; क्योंकि चन्द के ही वंशज करौली के राजा के राज्यकवि जदुनाथ ने उसमें १,०५,००० श्लोकों का होना लिखा है।

१२२६ के बिजोलिया के शिलालेख में 'सोमेश्वर के बड़े भाई' विग्रहराज चतुर्थ का दिल्ली और हाँसी विजय करना लिखा है।

'तबकाते नासिरी' में पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन की अन्तिम लड़ाई में दिल्ली के राजा गोविन्दराज की मृत्यु का उल्लेख है।

'सुरजन-चरित्र' १७ वीं शताब्दी का ग्रन्थ है। उसमें भी पृथ्वीराज की माता का नाम कर्पूरदेवी लिखा है।

इसके अतिरिक्त विद्वानों का यह भी कहना है कि यदि रासो राजकवि चन्द का लिखा होता तो निम्नलिखित घटनाएँ भी इस प्रकार अत्यन्त असत्य रूप में कभी भी नहीं लिखी जातीं। रासो के अनुसार पृथ्वीराज की बहिन पृथा का विवाह मेवाड़ के राना समरसिंह के साथ हुआ था, जो पृथ्वीराज के पक्ष में लड़ता हुआ (शहाबुद्दीन से) लड़ाई में मारा गया था। यह बात भी

इतिहास से प्रमाणित नहीं होती। अपने इस रूप में वह सर्वथा इतिहास से विरुद्ध दीख पड़ती है। पृथ्वीराज की मृत्यु सम्वत् १२४८ में हो गई और समरसिंह एक शताब्दी पीछे चित्तौर के राजसिंहासन पर बैठा था और उसका पुत्र रत्नसिंह १४ वीं शताब्दी तक वर्तमान था। समरसिंह का पृथ्वीराज की मृत्यु से १०९ वर्ष बाद तक जीवित रहना पाया जाता है। इसलिए पृथ्वीराज की बहिन पृथा का विवाह समरसिंह से होना अप्रामाणिक ठहरता है।

रासो के अनुसार गुजरात के राजा भीम ने पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर को मारा और पृथ्वीराज ने भीम को मारकर पिता की मृत्यु का बदला लिया, पर इतिहास के अनुसार भीमदेव सं० १२३५ में गद्दी पर बैठा था, उस समय उसकी आयु बहुत कम थी। सोमेश्वर की मृत्यु सं० १२३६ में हुई थी, इसलिए यह कथन भी असत्य है। स्वयं भीम को पृथ्वीराज ने नहीं मारा। गुजरात के इस भीमदेव के संवत् १२६५ तक के शिलालेख मिले हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि पृथ्वीराज (सं० १२४८) के बहुत पीछे तक वह जीवित था।

रासो के अनुसार पृथ्वीराज ने ग्यारह वर्ष की अवस्था से लेकर छत्तीस वर्ष की अवस्था तक चौदह विवाह किए। तीस वर्ष की अवस्था से पहिले ही पृथ्वीराज का स्वर्गवास हो जाना ऐतिहासिक बात है। रासो में लिखा है कि आबू के राजा जैतराव की बहन इच्छिनी से पृथ्वीराज का विवाह हुआ था, पर उस समय आबू में किसी दूसरे वंश का राज्य था। 'सलख' नाम के राजा का आबू के इतिहास में पता ही नहीं।

'पद्मावती-समय' की कथा अर्थात् ११३६ अनन्द सम्वत् में अथवा १२३० विक्रम सम्वत् में समुद्र शिखिर के यादवराजा विजयपाल की पुत्री पद्मावती का विवाह भी अनैतिहासिक है।

ग्वालियर के राजा बीरमदेव के राज्य कवि जयचन्द ने 'हम्मीर' महाकाव्य में पृथ्वीराज की और 'रम्भा मञ्जरी' में जयचन्द की बड़ी प्रशंसा की है, परन्तु उनके आपसी युद्ध, राजसूययज्ञ और संयोगिता स्वयम्वर का इन पुस्तकों में कहीं उल्लेख भी नहीं है। 'पृथ्वीराज रासो' की एक भी घटना का समर्थन किसी भी ऐतिहासिक काव्य अथवा पुस्तक द्वारा नहीं होता।

'रासो' का कोई सम्वत् ठीक नहीं है। इसके संवतों की गतिविधि ठीक मिलाने के लिए डा० श्यामसुन्दरदास को अनन्द संवत् की कल्पना करनी पड़ी। इस संवत् के अनुसार रासो में दिये हुए संवतों में ९१ वर्ष जोड़कर विक्रम संवत् निकलता है। श्यामसुन्दरदास जी का कथन है कि यह इक्यानवे वर्ष नवनन्दों के राज्य करने का समय है। नन्द वृषल थे इसलिए उनका राज्यकाल विक्रम संवत् से निकाल डाला गया है। इस अद्भुत कल्पना को ठीक

मान लेने पर भी रासो के संवत् ठीक नहीं बैठते, जैसे रासो के अनुसार पृथ्वीराज का जन्म १११५ संवत् में हुआ था। इस अनन्द संवत् में इक्यानवे जोड़ने से १२०६ विक्रम संवत् होगा। परन्तु १२०६ में पृथ्वीराज का पिता बालक था। उसका विवाह भी न हुआ होगा; पृथ्वीराज के जन्म की बात तो दूर रही। ऐतिहासिक खोजों से पता चलता है कि पृथ्वीराज का जन्म संवत् १२२० के आस-पास हुआ होगा।

रासो को अप्रामाणिक मानने वाले विद्वानों में श्री श्यामलदास, मुरारिदान, डा० बूलर, गौरीशंकर-हीराचन्द ओझा, मु० देवीप्रसाद आदि हैं जो ऐतिहासिकता के आधार पर रासो को १६ वीं या १७ वीं शताब्दी का लिखा हुआ अप्रामाणिक ग्रन्थ मानते हैं।

दूसरी ओर श्री मोहनलाल विष्णुलाल पण्डया, डा० श्यामसुन्दरदास, मिश्रबन्धु आदि ने इसे ऐतिहासिकता के आधार पर प्रामाणिक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

सर्वप्रथम हमको यह देखना है कि अप्रामाणिक सिद्ध करने वाले विद्वानों की राय में कौन तथ्य अप्रामाणिक हैं। अप्रामाणिक मानी जाने वाली बातें ये ही हो सकती हैं—

(अ) पृथ्वीराज रासो का मूलरूप क्या है ?

(ब) मूल पृथ्वीराज रासो कब रचा गया ?

(स) क्या चंदवरदायी नाम का कोई कवि था जिसने मूल रासो लिखा ?

(द) क्या मूल रासो का रचयिता पृथ्वीराज का समकालीन था ?

एक-एक प्रश्न का उत्तर लें। विद्वानों का कहना है कि रासो की चार वाचनाएँ मिली हैं—

(१) वृहद् रूपान्तर—इसमें ६४ से ६९ समय हैं। पद्य संख्या १३ से १७ हजार तक है।

(२) मध्यम रूपान्तर—इसमें ४० से ४७ तक समय हैं, और श्लोक संख्या ९ से १२ हजार तक है।

(३) लघु रूपान्तर—इसमें श्लोक संख्या ३५०० है, और पद्य १९० से २००० तक हैं।

(४) लघुत्तम रूपान्तर—इसमें १३०० के लगभग श्लोक हैं और समयों का विभाजन नहीं है।

नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'रासो' का आधार यही वृहद् रूपान्तर है और इसी रूपान्तर को लेकर प्रामाणिकता का द्वन्द्व चला है।

अब प्रश्न यह है कि प्रामाणिक किसको माना जाय ? प्रत्येक रूपान्तर को किसी न किसी विद्वान् का समर्थन प्राप्त है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने "संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो" में आदि पर्व, इंछिनि-विवाह प्रसंग, इंछिनि-ब्याह कथा, शशिव्रता विवाह प्रस्ताव, कैमास-करनाटी प्रसंग, कनवज्ज समय, बड़ी लड़ाई समय और बानवेध समय को ही शायद प्रामाणिक मानकर अपने ग्रंथ का संपादन किया है। श्री मथुराप्रसाद दीक्षित मध्यम रूपान्तर वाली प्रति को ही असली मानकर प्रकाशित कर रहे हैं। दीक्षित जी का कहना है कि रासोकार ने स्वयं अपने ग्रन्थ की श्लोक संख्या सात हजार दी है—

सत्त सहस नष सिष सरस, सकल आदि मुनि दिष्ष।
घट बढ़ मत्तइ कुह पढ़ै, मोहि दूषन न विषिष्ष॥

यह छन्द रासो के प्रथम समय में ही आया है। अतः शंका उठती है कि रासो के रचयिता को यह कैसे पता चल गया कि उसका ग्रन्थ सात हजार छन्दों में ही समाप्त हो जायगा। 'रासो' के लेखक को कौन सी ऐसी अद्भुत शक्ति प्राप्त थी जिससे उसे पहले से ही आभास हो गया था कि यदि ग्रन्थ घट-बढ़ जाये तो मुझे दोष नहीं लगे ? फिर 'सत्त सहस' का अर्थ 'शत सहस' एक लाख का भी हो सकता है। रासो को तो परम्परा से एक लाख पाँच हजार श्लोकों वाला ग्रन्थ माना भी जाता है। अतः 'सत सहस' के आधार पर किसी प्रति को मूल रासो मानना ठीक नहीं प्रतीत होता। डा० दशरथ शर्मा, अगरचन्द नाहटा, मीनाराम रंगा तथा मूलराज जैन लघु रूपान्तरों को ही मूल रासो मानते हैं। इनके मूल रासो मानने का प्रमाण यही है कि इनमें ऐतिहासिक अशुद्धियाँ नहीं है। यह कोई ठोस प्रमाण नहीं है।

(१) सभी रूपान्तरों में आए समान प्रसंगों को भी मूल रासो कहना कहाँ तक ठीक होगा, कह नहीं सकते। केवल "कैमास वध" का छोड़कर और कोई घटना 'पृथ्वीराज रासो' की नहीं हो सकती क्योंकि इसको "पृथ्वीराज विजय" और "पुरातन प्रबन्ध संग्रह" का समर्थन प्राप्त है। लघुतम रासो को भी मूल रासो नहीं कहा जा सकता। हाँ, यह हस्तलिखित प्रतियों में सबसे प्राचीनतम रूप अवश्य कहा जा सकता है।

(२) मुनि जिनविजय जी ने 'पुरातन प्रबन्ध-संग्रह' के चार छप्पयों को रासो में भी ढूँढ़ निकाला। इससे यह भी अनुमान होता है कि रासो मूलरूप में अपभ्रंश-काव्य था। इन छप्पयों ने कम से कम यह तो सिद्ध कर ही दिया है कि 'पृथ्वीराज रासो' एक दम जाली नहीं है।

यह तो निर्विवाद कहा जा सकता है कि 'पृथ्वीराज रासो' नाम का ग्रंथ अवश्य रहा होगा, पर उसके मूल रूप को खोज निकालना आज असम्भव

नहीं तो दुष्कर अवश्य है। इन रूपान्तरों के अवलोकन से यह भी निष्कर्ष निकलता है कि इसमें प्रक्षेप बहुत अधिक है। यह ग्रन्थ अपने वर्तमान रूप में किसी एक काल और व्यक्ति की रचना नहीं कहा जा सकता। व्रजविलास श्रीवास्तव के शब्दों में यह—"विकसनशील महाकाव्य है।"

फिर ऐतिहासिकता का जो द्वन्द्व उठा वह भी तो कुछ अंशों में परिस्थिति को ध्यान में रखकर नहीं उठा। प्राचीन भारत में आज के अर्थों में इतिहास लिखने की परम्परा कहाँ थी ? हर्षचरित को ही ले लें। वह कवि के आश्रयदाता का जीवन चरित है। पर इसमें भी इतिहास की अपेक्षा काव्य प्रधान हो उठा है। इतिहास लेखक को इससे हर्ष के सभा-मण्डल का ठाट-बाट और रहन-सहन आदि का पता चल सकता है। पर इसमें भी इतिहास लेखक को सावधानी से काम करना होगा। कौन जाने कवि ने किस हद तक कल्पना का सहारा लिया हो। 'पद्मावत' को ही ले लीजिए। इतिहास और कल्पना का मिश्रण हो गया है। इसी प्रकार 'रासो' को आज की ऐतिहासिक दृष्टि से देखकर अनैतिहासिक घटनाओं के आधार पर अप्रामाणिक सिद्ध करना भारतीय परम्परा और काव्य का गला घोंटना होगा। अतः 'रासो' नाम का ग्रन्थ था अवश्य, परन्तु उसके मूलरूप का पता लगाना दुष्कर हो गया है।

ग्रन्थ के रचना-काल का ठीक पता नहीं चलता। मौखिक रूप में आए 'पृथ्वीराज रासो' का संग्रहकाल ही सम्भव हो सकता है। सर्वप्रथम 'पृथ्वीराज-रासो' का उल्लेख सं० १७०७ में दलपति मिश्र द्वारा रचित 'जसवंत उद्योत' में मिलता है। सं० १६३५ में रचित "सुरजन चरित" ग्रन्थ में इसके रचयिता चन्द्रशेखर ने पृथ्वीराज के साथ चन्द का नाम दिया है, पर चन्द को रासो-कार नहीं कहा गया है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि सुरजन चौहान-वंशी बूँदी नरेश था। इससे पता चलता है कि स्वयं पृथ्वीराज के वंशजों को 'पृथ्वीराज रासो' का पता नहीं था। अतः अकबर के शासन काल से पहले 'पृथ्वीराज रासो' के होने का पता नहीं चलता। श्री नरोत्तमदास स्वामी का अनुमान है कि अकबर की अधीनता स्वीकार कर लेने पर मेवाड़ के राजघराने ने पृथ्वीराज से अपना सम्बन्ध स्थापित किया और पृथ्वीराज की पृथा नामक बहिन की कल्पना की गई। इस सब को काव्य रूप दिया गया और परम्परागत 'पृथ्वीराज रासो' में मिला दिया गया। इस प्रकार इसको लिपिबद्ध रूप में संग्रह कराया गया। इसका अन्तिम संग्रह अमरसिंह द्वितीय के राज्यकाल सं० १७५५-६७ वि० हुआ।

अब प्रश्न उठता है कि क्या चंद नाम का कोई कवि था ? 'पृथ्वीराज-विजय' के अनुसार पृथ्वीराज के मुख्य भाट का नाम पृथ्वीभट्ट था। उधर

मुनि जिनविजय ने 'पुरातन प्रबन्ध-संग्रह' के चार छप्पयों का रचयिता चन्द बलद्दिक बताया है। 'बलद्दिक' को स्वीकार करने वालों ने भी बलद्दिक अथवा बलद्दिय का 'वरदायी' कर दिया है। इसकी पुष्टि उस प्रसंग से भी होती है जिसमें जयचंद ने चंद के 'बलद्द' विरुद्ध पर व्यंग करके पूछा—"क्यों दूबरो बरद्द ?" पुरातन प्रबन्ध के छप्पयों का रचना-काल सम्भवतः सं० १२९० से १५२८ के बीच में ही हुआ होगा। इनसे केवल यही कहा जा सकता है कि चन्द 'बलद्दिक' या 'बलद्दिय' नाम का कोई कवि अवश्य था जिसने पृथ्वीराज के विषय में काव्य रचना की थी। वह कैसा काव्य था अथवा उसे 'रासो' नाम दिया गया था अथवा नहीं, कुछ नहीं कहा जा सकता।

चन्द और पृथ्वीराज के समकालीन होने का भी कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता। 'रासो' के वृहद् रूपान्तर के आधार पर इतना ही कहा जा सकता है कि चन्द और पृथ्वीराज एक ही दिन जन्मे और एक ही दिन गज़नी में एक-दूसरे को कटार से मारकर मरे। बस, इन सब बातों से यही निष्कर्ष निकलता है कि चन्द और पृथ्वीराज का बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध था।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि पृथ्वीराज चौहान के दरबार में चन्द नाम का कोई कवि अवश्य था जिसने पृथ्वीराज-विषयक काव्य-रचना की। पर इस ग्रन्थ में कितना अंश चंद कृत है और कितना नहीं, यह कह सकना दुष्कर है। चन्द कृत काव्य पीढ़ियों से बृहद् रूप धारण करता रहा, जिसको ऐतिहासिकता के आधार पर अप्रामाणिक नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि यह काव्य है, इतिहास नहीं।

३

मध्ययुगीन साधना का स्वरूप

किसी युग की धर्म-साधना का स्वरूप उस काल की आवश्यकताओं के अनुरूप होता है। बौद्ध महायान के परवर्त्ती मत-मतान्तरों के प्रचार-प्रसार से मध्य युग की जनता विक्षुब्ध थी। इसलिए आचार्यों ने जन-भावना के अनुकूल एक ऐसे धर्म का निर्माण किया जो सर्वग्राह्य हो सकता था। जिसमें कठिन तथ्य-जिज्ञासा एवं चक्र-साधना न थी और जो सर्वथा मानवीय भावनाओं से सम्पन्न था। भावना-प्रधान जनसाधारण में धर्म कठिन तथ्य-जिज्ञासा की अपेक्षा इन्द्रजाल अथवा रक्षिका शक्ति के प्रति आस्था का रूप ही ले सकता है। मानव-मन साक्षात्कार का भूखा है।[1] वह सगुण-साकार से तो लगा रहता है, निर्गुण-निराकार को ग्रहण नहीं कर पाता। ऐसी दशा में भक्ति ही उसका साधन बनती है। वह बिना असमञ्जस उस शक्ति को आत्म-समर्पण करता है जिसने आश्वस्त किया है—

> "**यदा-यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारतः।**
> **अभ्युत्थानम धर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥**
> **परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।**
> **धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे॥**"—(गीता ४।७-८)

1. "....the only God worthy of the name must be finite."
—*Willium Johns.*

यही कारण था कि मध्ययुग में विन्ध्याचल के उस पार से जो भक्ति-स्रोत उमडा उसने शीघ्र ही समस्त उत्तर भारत को रसाप्लावित कर दिया, स्वामी रामानन्द के शिष्यों ने उसे बिना किसी भेदभाव के जन सुलभ बना डाला। इस सम्बन्ध में प्रसिद्धो है—

> "भक्ति द्राविडी ऊपजी, लाये रामानन्द।
> परगट करी कबीर ने, सात द्वीप नौ खंड॥"

कुछ सही, 'वेद विरोधी स्वर'[1] का यह जनता के लिये अनुकूल ही परिणाम था। इसमें जाति-पाँति का विभेद, कर्म का कठोर जाल एवं निषेध और वर्जन न था। यह जनता का धर्म था जिसे जन-नेताओं का समर्थन प्राप्त था। आरम्भ में विरोध एवं विद्रोह अवश्य प्रबल था। वह भी मिथ्याचार तथा आडम्बर का उन्मूलन करने के लिए। उसमें सत्य-स्वरूप के दर्शन का उत्साह था। सत्य-स्वरूप व्यक्ताव्यक्त उभर्य प्रकार होता है। वह गहन अनुभवगम्य है। कबीर ने अपनी साखियों में उसका अनुभव प्रगट किया है, जिसे आधुनिक समय में गाँधी जी ने 'सत्य के प्रयोग' से पुकारा था। इन तत्त्व शोधकों ने अपनी तत्त्व-साधना के द्वारा जो बड़ा तथ्य प्राप्त किया वह अभेद[2] की अनन्यानुभूति थी, जो ऐहिक तथा आमुष्मिक जगत का सेतुबन्ध बन गई। इस दशा में कबीर ने उपनिषद् के 'अणोरणीयान एवं महतो महीयान' का महत्त्व पहिचाना और कहा—

> "अला एकै नूर उपाया, ताकी कैसी निन्दा।
> ता नूर थें सब जग कीया, कौन भला कौन मन्दा॥"[3]

इस भाँति मानवमात्र की एकता घोषित करने में वह असीम और ससीम के भेद को भुला बैठे, उनको दिखाई दिया—

> "खालिक खलक, खलक में खालिक; सब घट रह्यौ समाई।"

इस प्रकार मध्य युग के इस प्रथम गुरु के द्वारा एक बन्द द्वार खुला। फिर क्या था? सेवा, सहानुभूति व परोपकार के त्रिवर्तिक प्रकाश में प्रेमस्वरूप प्रियतम का अतृप्त नयनों को दर्शन प्राप्त हुआ, जिसे आगे चलकर रसखान ने गाया—

> "प्रेम हरि का रूप है, त्यों हरि प्रेमस्वरूप।
> एक होय दो यों लसै, ज्यौं सूरज अरु धूप॥"

तात्पर्य यह है कि इस प्रकार मध्य युग का 'भाव गृहीत रूप' निष्ठावान्

---

१. **'मध्य युग की धर्म-साधना'**—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी।
२. **'बाबा कोई नहीं है गैर'**—कबीर।
३. **कबीर ग्रन्थावली।**

साधकों के द्वारा अगुन, सगुन[1] उभय रूप में प्रतिष्ठित हुआ। जिसका उन्होंने अपने भाव-दीप के प्रकाश में प्रत्यक्ष दर्शन किया तथा जन-कल्याण के हेतु 'समता' में उस सिद्ध कवच का प्रचार किया जिसे गीता में 'आत्मौपम्य दृष्टि' बतलाया गया है। इतना ही नहीं, समत्व की प्राप्ति के लिए उन्होंने 'संतों की रहनी' में उसका स्पष्ट मार्ग दिखला दिया। भक्ति की आधार शिला इस प्रकार रखी गई—भव्य भक्ति-भवन का निर्माण पीछे हुआ, पहले देवमूर्ति की हृदय कोटर में प्रतिष्ठा हुई।

• सूर और तुलसी—उत्तर मध्ययुग के दो प्रबल प्रचारक हुए हैं। इनमें सूर का बड़ा महत्त्व इसलिये है कि उन्होंने मानव की कोमल वृत्तियों को उदात्त रूप प्रदान कर उसे न केवल वासना के गर्त में गिरने से बचा लिया, अपितु उसे उन्होंने भक्ति के उस 'राजपथ' पर ला रखा, जिस पर निर्द्वन्द्वता-पूर्वक बढ़कर मानव अलौकिक आनन्द का अधिकारी बन, दिव्य रास-मंडल में प्रवेश पाने का अधिकार पा जाता है। भक्ति के लिए जिस प्रेम एवं उत्सर्ग की अपेक्षा है वह 'सूर सागर' में प्रत्येक चरित्र में निहित है तथा कल्मष निवारण के लिए महा-भावा राधा की विरहाग्नि क्या कम है? प्रेमी सब कुछ उत्सर्ग कर भी कितना दीन, कैसा विनम्र, फिर अहम् खोकर भी किस सीमा का आत्माभिमानी होता है, यह कवि-कुल गुरु सूर ने प्रेम नाम की वृत्ति के साङ्गोपाङ्ग वर्णन में मानव हृदय की सूक्ष्म भावनाओं द्वारा दिखला दिया है।

यह मध्य-युगीन साधना का द्वितीय उत्थान था। जिसमें भक्ति के सर्वथा मनोवैज्ञानिक आधार की अनुभूति जनसुलभ कर दी गई। वैष्णव मतवाद की यही विशेषता है। महात्मा शिशिर कुमार घोष के अनुसार—

"...The emotional side of humae nature, as it has been examined by the Hindus and analysed, developed and utilized for purpose of salvation is perheps altogether unknown..."[2]

मानवीय भावनाओं के ऐसे उन्नयन का परिणाम 'उस' (प्रियतम) से तथा उसके द्वारा सबसे आत्मिक सम्बन्ध स्थापना ही तो है। तभी श्याम रंग रंगी गोपियों को ऐसा लगा था कि—

"देखियत कालिन्दी अति कारी।
कहियो पथिक जाय हरि सों ज्यों, भई विरह जुर जारी॥[3]"

---

१. कबीर ने ही जहाँ—'मैं कहा जानौ राम को'
वहाँ—'गुन बिहून का पेखिये'—(क० ग्रं०, पृ० २३८)

२. 'Lord Gaurang'—भूमिका भाग।

३. भ्र० गी० सार, सं०—रा० च० शुक्ल—२७८।

सहानुभूति के इस जड़-चेतन विस्तार में तत्त्व की एकता का अनुभव भला कैसे न होगा ? दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि परम भागवत सूर ने भी भक्ति तत्त्व का अनुभव नैतिक आचरण की उत्कृष्टता में ही किया था। उनका मार्ग यद्यपि प्रेम का मार्ग है परन्तु उदारमना प्रेमी में सात्त्विकता की कमी कहाँ रहती है ? उसके सारे काम ही जब 'श्रीकृष्णार्पण' होते हैं; तो उसे 'मन्दिर की नीराजना' तथा 'भक्त की पनहीं' साफ करने में क्या अन्तर पड़ता है ? बस, बात इतनी है कि सूर की भक्ति-भावना के वृत्त में प्रेम का सर्वोत्कृष्ट रूप 'वात्सल्य' और प्रगट हो गया है जो संसार का एकमात्र पोषण-कारी भाव है। जिसमें दया, करुणा, क्षमा, स्नेह—सभी निहित हैं। इस प्रकार यह ईश्वर साधना—लोक साधना से किसी भाँति भिन्न न थी। इस विषय में स्टीड महाशय ने अपने एक लेख में लिखा है—

"All that you know eartly love—the love of mother for the child, the love of bridegroom for bride, the love of husband and wife, all earthly love and ecsatries of affection are but the alphabet of the language of heaven. And the more ideally and unselfishly you love, the more you understand God and have God in you......"[1]

भक्ति का तृतीय उत्थान भक्त प्रवर महामानव तुलसी का प्रवचन है। तुलसी ने भक्ति के चार आधार स्तम्भ खड़े किये थे—(१) विनय भावना, (२) संत समागम, (३) नामजप, (४) हरि, गुरु सेवा।—सियाराम के अनन्य उपासक थे वह। दशरथी राम के रूप के अतिरिक्त किसी के समक्ष झुकने को उनकी इच्छा न थी। क्यों, 'ऐसो दूसरो कोउ होय' तभी तो यह हो सकता है। किन्तु ऐसा महान्, ऐसा शीलवान्, इतना उदार दूसरा कहाँ ? उनको 'राम की ठौर साहिबी होती' दीख पड़ती थी और वह सर्वशक्तिमान इस व्यक्त विराट में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता था—

"सिय राममय सब जग जानि। करौं प्रणाम जोरि जुग पानि।"

जब इस प्रकार चराचर में उसके अतिरिक्त कोई नहीं, तो सभी उनके और वह सबके हुए। धर्म की यही सार-अनुभूति प्राप्त कर तुलसी ने 'बहुजन-हिताय, बहुजन सुखाय'—('स्वान्तः सुखाय' भी, क्योंकि स्व और पर में भेद कहाँ ?) अपनी नैतिकता-परक भक्ति का उपदेश किया तथा धर्म का समस्त सार एक शब्द 'दया' में समेट कर रख दिया—

---

1. 'Bordsland'—Oct., 1897.

"दया में बसत देव सकल धाम" और भक्ति का मूल मन्त्र बतलाया—"सर्वभूत हित निर्व्यलीक चित भक्ति प्रेम दृढ़ नेम एक रस।"[१] परन्तु "तुलसीदास यह होई तबहि, जब द्रवै ईस जेहि हतौ सीस दस॥"

नैतिक आचार का पालन, गोस्वामी जी कहते हैं कोई सहज बात नहीं है। यह तभी हो सकता है जब इन्द्रियों के प्रतीक स्वरूप दशानन का वध करने वाले राम करुणा द्रवित हों अर्थात् इन्द्रियों के विषय से विरत मन प्रभु के चरणों में जा लगे। निश्चय ही यह स्थिति पहुँचने पर 'सर्वभूत हित निर्व्यलीक चित' की प्राप्ति सम्भव है जो 'एक रस भक्ति के दृढ़ नेम' का पालन करने में सहायक होती है। आचार्य शुक्ल का मत समीचीन है कि—"गोस्वामी जी की श्रुति-सम्मत भक्ति वही है, जिसका लक्षण शील है। और शील हृदय की वह स्थायी स्थिति है जो सदाचार की प्रेरणा आप ही आप करती है।" इसी सम्बन्ध में श्री आर० डी० रानाडे ने लिखा है—

"The whole discussion of Tulsi's Bhakti is just the problem of an analytical study of Ethics—an enumeration and elucidation of the different virtues and vices and the sympathetical with the building up of a theory of Ethics theorm....."[२]

श्रीमद्भगवद्गीता और तुलसी के अनुसार भगवद् भक्ति ही परम गुण है जो पहले गिनाये गए साधन चतुष्टय से प्राप्त होता है; तथा जिसका स्वरूप उपर्युक्त प्रकार है। यद्यपि उन्होंने जीव को कड़ी चेतावनी देते हुए यह भी बतलाया है कि—

"कीट मनोरथ दारु शरीरा। जेहि न लाग घुन को मति धीरा॥
सुत वित दार ईषण तीनी। तेहि की मति इन कृत न मलीनी॥"[३]

परन्तु साथ ही इस 'सर्परज्जु' अथवा 'धुआँ के धोरहर' से भयमुक्त होने का उपाय भी बताया है—

"राम कहतु चल, राम कहतु चल, राम कहत चल भाई रे।
नाहिं तो भव बेगार में परिहौ, छूटत अति कठिनाई रे॥"[४]

मन को इस भाँति एकाग्र कर जो जीव सर्वत्र प्रभु की लीला देखता है उसको यह 'संसार' नहीं सताता। उसको फिर अनन्तकाल तक इस पृथ्वी पर कर्मशील चिर जीवन की इच्छा जागती है। यथा—

---

१. विनय-पत्रिका, २४६।
२. 'Pathway To God', p. 88.
३. उ० का०, पृ० ६३४।३—गीता प्रेस संस्करण (मझला साइज)।
४. विनय-पत्रिका।

'तुलसी मोहि नीको भावत, जग जीवन राम गुलाम को।'

परोपकार से अधिक मानव जीवन की सार्थकता और किस बात में है। तुलसी की भक्ति-भावना में वे सभी प्रवृत्तियाँ हैं जो व्यक्ति और समाज के विकास में सहायक होती हैं। धर्म के व्युत्पत्यर्थ 'ध्रियते लोकोऽनेन धरति लोकं, ना धृन्मन्' कहे गये हैं। इस कसौटी पर तुलसी की विनम्र भक्ति तथा सूर की मधुरा भक्ति कैसी खरी उतरती है।

मध्य युग की साधना का स्वरूप उपर्युक्त विवेचना के प्रकाश में सुगमता पूर्वक निश्चित किया जा सकता है। मेरी सम्मति में यही वह समय था जबकि शाश्वत धर्म के मूलाधार[1] स्थिर किये गये थे। यही इस युग की सबसे बड़ी देन है। साधना सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक उभय रूप लेती है। इनमें मध्ययुग की साधना में व्यवहार पर अधिक बल दिया गया—मध्य-युगीन संत भक्तों की वाणी से यह सिद्ध है। उन्होंने अपने-अपने मतानुसार धर्म का कथन अवश्य किया है; फिर भी अनजाने में वह मानव मात्र के लिये एक वृहद् नीतिशास्त्र का प्रणयन कर गये हैं—

"It is true that the Hindu Saints (कबीर, सूर, तुलसी) have not written a formal treatise on Ethics but their constitution to this science nevertheless remains truly remarkable for the analytical point of view."[२]

इस प्रकार मध्य युग में मन्दिर, देवल तथा देवविग्रहों की प्रतिष्ठा, पूजा, अर्चा के लम्बे विधान तथा विभिन्न सम्प्रदायों के नित्य और नैमित्तिक आचार उत्सवादि मध्ययुगीन साधना में उतने महत्व की बात नहीं है, जितने कि मानव के चरित्रोत्कर्ष में सहायक उन गुण और वृत्तियों के उन्नयन का संकेत है जिनसे व्यष्टि और समष्टि —दोनों को आनन्द व सुख-लाभ की सम्भावना ठहरती है। इस युग के साधकों ने व्यक्तिगत, सामाजिक एवं आध्यात्मिक—तीनों ही स्तर पर उपदेश किये थे।

मेरी दृष्टि में मध्ययुगीन साधना का वही प्रखरतम रूप है—जिसमें संयम, सेवा, दया, प्रेम, परोपकार आदि का प्रवचन किया गया है। किसी ने उचित ही कहा है—

"काम आ खल्के खुदा के, कि खुदा के नजदीक।
इससे बढ़के न हुइ है, न इबादत होगी॥"

आज हमको इसी ज्ञान की महती आवश्यकता है।

---

1. Norms of Religion.
2. '*Pathway to God*'—G. D. Ranade, p 88.

४

सन्तकाव्य का पुनर्मूल्यांकन

ऐसी कविता, जिसमें ब्रह्म के निराकार स्वरूप का निरूपण हो, हिन्दी-संसार में 'निर्गुण काव्य' के नाम से पुकारी जाती है। दर्शन के क्षेत्र में ब्रह्म का 'निर्गुण' स्वरूप भले ही कोई महत्व रखता हो, किन्तु काव्य की सीमाओं में प्रविष्ट होकर ब्रह्म निर्गुण नहीं हो सकता। वहाँ ब्रह्म सदैव एक भावात्मक सृष्टि है; वह गुणों से अलंकृत एवं विशिष्टताओं से विभूषित है। तभी समाज के बीच उसका कुछ उपयोग भी है। सन्तों ने हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य बनाये रखने के लिए आध्यात्मिक क्षेत्र में अद्वैतवादी ब्रह्म को एकेश्वरवाद के निकट खींचने का प्रयत्न किया अवश्य, पर वे इससे ही सन्तुष्ट नहीं रह सकते थे। वे प्रगतिशील समाज की अग्रिम पंक्ति में थे, इसलिए उस ब्रह्म का दूसरा उपयोग भी उन्होंने किया। उन्होंने कल्पना की—वह एक विशाल वट वृक्ष है, जिसकी छाया में संत्रस्त विश्व शीतल परिवेश पा सकता है। परमतत्व से साक्षात्कार एवं मिलन के पीयूष-वर्षण में सांसारिक जर्जरता, रुज एवं आधियों का अस्त होता है। यह एक गुण तो उसमें है ही। इस प्रतीक-योजना के परिप्रेक्ष्य से अलग, आत्मतत्व एवं परमतत्व के मिलन को देखना, सन्तकाव्य की सामाजिकता पर सन्देह की प्रस्तावना लिखना है। इसीलिए अनुच्छेद के आरम्भ में

हमने बहुत सावधानी से कहा था कि सन्तकाव्य में निरूपित ब्रह्म 'निर्गुण' नहीं है। उसे 'निराकार' मानना उचित है। इसलिए हम कहें कि सन्तकाव्य 'निर्गुण काव्य' नहीं, 'निराकार काव्य' है।

सन्तकाव्य जीवन और जगत् से सत्पक्ष को उद्घाटित करने वाला काव्य है। वह भावना के आवेश और कल्पना के उन्मेष की हिमानी शीतलता से परे हटकर, विवेक की दृढ़ आधार शिला की छाया में खड़ा है। वह बुद्धि के उत्ताप से कमलकलेवरा कविता को झुलसा देता है, और इसी कारण हिन्दी साहित्य के इतिहास में जब ऐसे काव्य की चर्चा होती है, जो ऊबड़-खाबड़ हो, उद्देश्य-प्रधानता, सामाजिक न्याय और नैतिक मूल्यों का हठ लिये हो, तो अनायास अनेक संकेत सन्तकाव्य की ओर बढ़ने को मचल उठते हैं। और जब कोई उस काव्य की प्रवृत्तियों को पकड़ने की चेष्टा करता है, तो वे उसकी उंगलियों से पारद की भाँति फिसलने लगते हैं। वस्तुतः सन्तकाव्य एक अव्यवस्थित काव्य है, और उसके बीच किसी एक प्रवृत्ति को पूर्णता से पा लेना कठिन है।

इस कविता को यदा-कदा प्रखर आलोचना का आघात सहना पड़ा है और इसके लिए उत्तरदायी है, उसके सैद्धान्तिक पक्ष की दुर्बलता। किसी एक सिद्धान्त को दृढ़ता से पकड़ने के बजाय सन्तकवि एक शिला से दूसरी शिला पर कूदते-फिरते हैं, और कभी शैवाल की स्निग्धता में फिसल भी जाते हैं। यद्यपि आज हिन्दी-जगत् के सभी कोणों से यह आवाज आती है कि सभी सन्त निर्गुणिए थे, तो भी इसे सिद्ध करने में सारे स्वर दुर्बल भी पड़ जाएँगे, क्योंकि उन्होंने बहुत सी ऐसी बातें भी लिख दी हैं, जिन्हें सगुण काव्य में बड़े धूमधाम से प्रतिष्ठा मिली है। अवतारवाद का खण्डन, सार्वभौमिक ब्रह्म की एकात्मक प्रतिष्ठा, पूजा, व्रत-विधान का निरास, शास्त्रीय ज्ञान के विरोध आदि को देखकर ही क्या हम हठात् यह धारणा बना सकते हैं कि सन्तों के स्वरों में निर्गुण ब्रह्म का उद्घोष है, और यह कि ब्रह्म के किसी अन्य स्वरूप के प्रति मात्र उनमें औदासीन्य है। परमात्मा के प्रति आत्मा की ललक में एक वियोगी नायिका की तड़प, जैसी गोपियों में कृष्ण के प्रति थी, नायिका की आकुल प्रतीक्षा, जैसी मीरा के हृदय में 'गिरधर नागर' के लिए मचल रही थी, एक नायिका की मिलनोत्कंठा, जो घनानन्द की आत्मा को सराबोर कर रही थी, यह सब तत्व—तड़प, प्रतीक्षा और उत्कंठा—कबीर, धरनीदास, रैदास आदि की आत्माओं को शरीरी साकारता नहीं प्रदान करते हैं? क्या ये परामात्मा को धरती पर उतार कर, उससे आत्माओं का प्रणय-निवेदन स्वीकार नहीं कराते हैं? और इन प्रश्नों से बड़ा प्रश्न-चिन्ह बनाने वाला जो प्रश्न है, वह यह कि क्या आत्मा-परमात्मा के सूक्ष्म सम्बन्ध को जोड़ने के लिए स्थूल

उपचार आवश्यक था ? जिस सीमा तक सूक्ष्म का स्थूल विवेचन आवश्यक था, उस सीमा तक सगुण-धर्म निर्गुण के अधिकार-क्षेत्र में प्रविष्ट हो गया है। फिर योग-प्रक्रिया की चरम सीमा में अनहदनाद की ध्वनि क्या सूक्ष्म की स्थूल अभिव्यक्ति नहीं है ? और साधना के इन अलभ्य क्षणों में क्यों श्रवण-प्रक्रिया एकदम आन्तरिक है, ब्रह्म के अन्तर्दर्शन की भाँति, जिसमें दृष्टा और दृश्य एकाकार रहते हैं ? वास्तव में, इस लौकिक जगत् में सूक्ष्म की भौतिक अनुभूति ही अधिक सम्भव है। आध्यात्मिक सम्बन्ध, अलौकिक मिलन एवं अभौतिक वियोग—ये सब लौकिक आधारभूमि चाहते हैं, जो उन्हें भावनापन्न, मधुर एवं आर्द्र बनाते हैं। इसीलिए निराकार काव्य को सगुण काव्य के अन्तर्तत्वों से एकदम विगल करना उचित नहीं है।

वास्तव में, सगुण-मार्ग की पद्धति अत्यन्त आकर्षक, बोधगम्य एवं सहज-संवेद्य है, और योग-मार्ग की विवेचना में भी उसके स्पर्श का लोभ संवरण नहीं किया जा सका है। तभी भक्त मीरा ने जिस पद में "गली तो चारों बन्द हुई ......" में विशुद्ध योग-पद्धति का आख्यान किया है, उसमें 'पति' और 'प्रियतम' शब्दों के प्रयोग द्वारा उस सूक्ष्म को स्थूल साकारता भी प्रदान कर दी है। आत्मा-परमात्मा का सूक्ष्म विवेचन भी हुआ है, पर स्थूल विवेचन काव्य में इसलिए आवश्यक होता है क्योंकि दैनिक जीवन के उपमानों, उसकी अनुभूतियों और भावनाओं के परिपेक्ष्य में वह अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है। फिर सन्तकवि जो सिर्फ समाज के लिए ही कविता लिख रहे थे, और उनमें भी कबीर, जिनके सम्बन्ध में ईवलिन अंडरहिल के लिखा है—"फिर भी विश्व के असीम एवं उल्लासपूर्ण दर्शन में, कबीर कभी भी दैनिक जीवन का स्पर्श नहीं छोड़ते, कभी भी सामान्य जीवन को विस्मृत नहीं करते। उनके पैर पृथ्वी पर दृढ़ता से जमे रहते हैं।"[1]

आध्यात्म या दर्शन-क्षेत्र की माया के काव्यात्मक निरूपण में भी सन्तों ने इसी भौतिकीकरण की पद्धति को अपनाया है। दर्शन की माया ने भी यहाँ साकारता ग्रहण की है। वह स्त्री बन गई और स्त्री के समस्त आकर्षणों से सुसज्जित कर दी गई। दार्शनिकों ने कतिपय स्थलों पर माया को स्त्री की कल्पना अवश्य दी, पर स्त्री को माया कभी नहीं माना। इसी प्रकार शस्यश्यामला भूमि, स्वर्ण, अपत्य, स्नेह आदि पर माया को आरोपित नहीं

---

1. "Yet in this wide and rapturous vision of the universe, Kabir never loses touch with diurnal existence, never forgets the common life. His feet are firmly planted upon earth."
—Introduction : *One Hunderd Poems of Kabir*.

किया गया। आध्यात्म-भूमि पर आत्मा को परमात्मा से अलग करने वाली अविद्या शक्ति अथवा अज्ञान की सत्ता के रूप में उसे मान्यता मिली थी; सन्तों ने साधना-भूमि पर चलने वाले साधकों के लिए भी उसे बाधक-मान लिया। साधना और साधक के बीच वह एक अवरोध बनकर खड़ी हो गई। इस प्रकार हमें माया-सम्बन्धी धारणा में एक विकास दिखाई देता है। सर्वप्रथम माया का विवेचन दार्शनिक पद्धति पर किया गया। फिर उसकी स्त्रीमूलक कल्पना की गई, और तब माया और स्त्री पर्यायवाची शब्द बन गये। भूमि, स्वर्ण, द्रव्य आदि भौतिक आकर्षणों ने भी माया का आवरण प्राप्त कर लिया। आत्मा-परमात्मा में भेद उत्पन्न करने के लिए माया को जब निन्दित होना पड़ा, तो उसके सभी पर्यायवाची रूप भी निन्दित हुए। इसीलिए यद्यपि नारी-निन्दा सन्तों का कदापि उद्देश्य नहीं था, फिर भी 'तुरय रोग हरि माथे जाय' के अनुसार माया का दण्ड उसके समानरूपी लोगों को भी भोगना पड़ा।

हम सोच भी नहीं सकते कि इन प्रगतिशील विचारकों के मन में स्त्री-निन्दा की लहर भी उठी होगी। समाज को अपनी सम्पूर्णता में उत्थान की ऊँचाइयों में पहुँचाने का लक्ष्य रखकर चलने वाले सन्तों ने कभी उसके आधे अंग को निन्दित और प्रताड़ित करने का निश्चय किया होगा। यह तो उनकी माया-सम्बन्धी धारणा थी, जिसके चपेट में मध्ययुग की स्त्री पिस गई। तुलसी के काव्य को इसी पृष्ठभूमि पर रखकर देखने से स्त्री-निन्दा का परिहार आप ही हो जाता है। सन्तों ने एक बड़ी भूल यह की कि दर्शन-क्षेत्र की माया को सामाजिक भूमि पर उतार दिया, और दूसरी यह कि उसके प्रतीक रूप में सम्पूर्ण नारी-जाति को खड़ा कर शक्ति, सीता, लक्ष्मी तक को माया घोषित कर दिया।

सन्तकवियों ने बार-बार कहा है कि अहं आत्मा को जीव बनाता है और यह अहं ही परमात्मा और उसके बीच भेद उत्पन्न करता है। इस अहंकार को गलाना आध्यात्मिक पक्ष में तो महत्व रखता ही है, इसका एक सामाजिक पक्ष भी है। मनुष्य का अहं ही उसमें अन्य से अधिक ऊँचा समझने की भावना उत्पन्न करता है। यदि यह तत्व सम्पूर्ण समाज से अलग हो जाय, तो उसके सभी वर्ग एक धरातल पर आ जायेंगे। वर्ण-व्यवस्था ने ऊँची जातियों में अहं की प्रभूत मात्रा भर दी थी। समाज में विषमता अर्थमूलक ही नहीं थी; अर्थ तो प्रत्येक युग के प्रत्येक देश में वैषम्य का कारण रहा है, किन्तु वर्ण-व्यवस्था भारतीय समाज-संविधान की जड़ में समा गई थी। इसी के उन्मूलन के लिए सन्त आगे बढ़े। वे कहीं-कहीं तो सीधे अहं पर प्रहार करने लगे और कहीं इस सामाजिक अहं को गलाने के लिए उन्होंने आध्यात्म का रास्ता पकड़ा।

५

योगदर्शन और कबीर

●

योग के सम्बन्ध में दार्शनिक पतंजलि का नाम भले ही लें, पर योग का नाम इतना प्रचलित हो गया है कि हर एक साधू योगी कहलाने लगा है। योग का प्रचलित अर्थ है—मन को बाह्य झंझटों से हटाकर अपने वश में करना। भारतीय साधना-क्षेत्र में मन को ही सब सुख-दुख का मूल माना जाता है। इस संसार से यदि मन विमुख हो जाय तो सुख-दुख ही क्यों हों ? वैसे भी योग की धारणा बहुत प्राचीन है। अथर्ववेद में योग द्वारा अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त करने का विश्वास पाया जाता है। कठ, तैत्तिरीय और मैत्रायणी उपनिषदों में योग का पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग हुआ है। यह कहा जाता है कि बुद्ध के समय में यौगिक क्रियाएँ प्रचलित थीं। गीता और महाभारत में सांख्य और योग का नाम साथ-साथ लिया जाता है। जैन धर्म और बौद्ध धर्म—दोनों योग की व्यावहारिक योग्यता में विश्वास रखते हैं।

पर पंतजलि के योग दर्शन में योग-सम्बन्धी बिखरे हुए विचारों का वैज्ञानिक ढंग से संग्रह हुआ है। उनके योग-सूत्रों की शैली बड़ी सरस है।

राधाकृष्णन ने अपनी पुस्तक 'भारतीय दर्शन' (द्वितीय खंड) में लिखा है कि योग के भिन्न-भिन्न अर्थ हैं। योग का अर्थ 'ढंग' (Method) है। इसका अर्थ 'अप्यय' 'जोड़ने' (yoking) का होता है। दूसरे शब्दों में इसकी निष्पत्ति "युज्" धातु से होने के कारण इसका अर्थ "समाधि" है। भगवद्-गीता और उपनिषदों में बताया गया है कि जिस समय आत्मा परमात्मा से

वियुक्त होती है उस समय उसका रूप सांसारिक तथा पापयुक्त होता है। इस दु:ख और पाप का मूल यह वियोग है। दु:ख और पाप से छुटकारा पाने के लिए हमें आध्यात्मिक तादात्म्य की प्राप्ति करनी होगी। इन दो के एकाकार होने को 'योग' कहते हैं। पर पतंजलि का अर्थ—एकाकार अथवा तादात्म्य से नहीं है। उनका अर्थ 'योग' से 'प्रयत्न' का है। दूसरे शब्दों में उनका अर्थ है—'पुरुष' का 'प्रकृति' से वियोग। इसी को वे 'योग' कहते हैं। इस अवस्था की प्राप्ति के लिए 'योग' में रास्ता बताया गया है। अतः इसकी प्राप्ति में जो प्रयत्न करना पड़ता है उसी को योग कहते हैं; अर्थात् इन्द्रियों और मन को वश में करने के साधनों को 'योग' नाम दिया गया है। उसका एक सूत्र ही इस प्रकार है—

"योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः।"

पर वृत्तिनिरोध ज्ञानमूलक होना चाहिए। "योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः" के साथ "तदा द्रष्टु स्वरूपेऽवस्थानम्" को जोड़ देने से हुए वृत्ति-निरोध को 'योग' कहते हैं।

सांख्य में जो 'महत्' है वही योग में 'चित्त' है। योग में 'चित्त' प्रकृति का प्रथम रूप (Product) है जो बड़े विस्तृत अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। राधाकृष्णन कहते हैं कि "It includes intellect, self consciousness and mind." यह तीनों गुणों के घेरे में रहता हैं। इस प्रकार योग का लक्ष्य रज और तम को दबाकर चित्त को उसके मूल में ले जाना है जिसको 'कारण-चित्त' कहते हैं। योग में इस प्रकार 'चित्त' का महत्वपूर्ण स्थान है।

योग में नैतिकता—योग में यम और नियम का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अस्तेय और अपरिग्रह—इसके आवश्यक अंग हैं। नियम में पवित्रता, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान आते हैं।

योग में आसन—इसमें आसनों का महत्व शरीर को संयम में रखने के लिए है। इससे ध्यान को सहायता मिलती है। हम पदार्थ पर अपना ध्यान दौड़ते हुए या सोते हुए केन्द्रित नहीं कर सकते। उसके लिए हमें उपयुक्त आसन की आवश्यकता होगी। पतंजलि का तो कहना सिर्फ इतना ही है कि आसन दृढ़, सुखदायक और आसान होना चाहिए। खान-पान का भी हमें विचार रखना चाहिए।

समाधि—योग में 'समाधि' का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण है। 'समाधि' वह दशा है जिसमें विक्षेपों को हटाकर चित्त एकाग्र हो जाता है। यह वह दशा है जब बाह्य संसार से संसर्ग छूट जाता है। यह योग का ध्येय है जिसमें आत्मा अपना क्षणिक, परिवर्तनशील रूप छोड़कर साधारण, शाश्वत और पूर्ण जीवन

प्राप्त करती है। 'पुरुष' शाश्वतता प्राप्त करता है। इसमें चित्त के कार्यों की समाप्ति हो जाती है। चित्त बिल्कुल अकेला रह जाता है। इस पर बाह्य संसार के पदार्थों का प्रभाव नहीं पड़ता। ध्यानावस्थित होने के कारण इसमें रहस्य का उदय हो जाता है। यह रहस्य-दशा बड़े महत्व की है। इसको संसार के मनीषियों ने भी स्वीकार किया है। योग के अनुसार हर एक आत्मा ईश्वरीय (Divine) है। यह ईश्वरीयता बाह्य और अन्तर के नियंत्रण से स्वप्रकाशित होती है।

स्वतंत्रता—योग में स्वतन्त्रता (Freedom) को 'कैवल्य' कहते हैं। यह पूर्ण स्वतन्त्रता है। जब पुरुष का प्रकृति से पूर्ण विच्छेद हो जाता है तब उसको कैवल्य कहते हैं। इसमें 'पुरुष' अपने विशुद्ध चैतन्य स्वरूप में आ जाता है। यही "कैवल्य" योग का ध्येय है।

ईश्वर—पतंजलि ने ईश्वर-भक्ति को योग के सहायकों में से एक माना है। ईश्वर राह के रोड़ों को हटाकर ध्येय को प्राप्त करने में सहायता देता है। पतंजलि का कार्य व्यक्तिगत (Personal) ईश्वर से चल जाता है। ईश्वर को इसमें रक्षक और नियंता नहीं माना जाता। वह मनुष्य के कार्यों के लिए इनाम व दंड नहीं देता। पर योग का 'ईश्वर' भक्तों को संतुष्ट नहीं कर सका और बाद में भी ईश्वर का और ऊँचा स्थान योग में नहीं बन पाया।

योग तत्त्व—उपनिषद् में योग चार प्रकार का कहा गया है—मंत्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग। पतंजलि का योग 'राजयोग' है। मंत्रयोग विश्वास से रोग-निरोध बताता है। भक्तियोग मंत्रयोग का ही रूपान्तर है। ध्येय में वासनाओं का लय करना ही लय है। मन का लय नाद के श्रवण या ज्योति के दर्शन से सम्भव होता है। हठयोग को स्पष्ट करते हुए 'हठयोग-प्रदीपिका' के टीकाकार रामस्वामी ने लिखा है कि 'ह' का अर्थ 'चन्द्र' है और 'ठ' का सूर्य। सूर्य और चन्द्र से क्रमशः दक्षिण स्वर और वाम स्वर का प्रतीकात्मक अर्थ भी लिया जाता है। इन्हीं दोनों को समता का नाम 'हठयोग' है। हठयोगी का सिद्धान्त है कि स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर का ही परिणाम है। क्योंकि स्थूल शरीर का प्रभाव सूक्ष्म शरीर पर पड़ा करता है, इसलिए स्थूल शरीर की साधना से सूक्ष्म शरीर को प्रभावित करना चाहिए। इसलिए स्थूल शरीर की विविध साधना के सहारे सूक्ष्म शरीर पर प्रभाव डालकर चित्तवृत्ति-निरोध करते हैं। यही हठयोग है। यह राजयोग प्राप्त करने का प्रमुख साधन है।

कबीर में हठयोग—कबीर का सारा जीवन सत्य के प्रयोगों में बीता था। उनके सत्य के प्रयोग सभी क्षेत्रों में होते रहते थे। परन्तु योग के क्षेत्र में उनकी विशेष अधिकता रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि वे जीवन भर विविध

प्रचलित योग-पद्धतियों का परीक्षण और प्रयोग ही करते रहे। अतः उनकी योग-साधना का क्रमिक विकास हुआ। उनके योग-सम्बन्धी विचारों को स्थूल रूप से दो भागों में बाँटा जा सकता है—एक वे हैं जो योग के सच्चे स्वरूप की खोज में किए गए हैं, दूसरे वे जिनमें योग के अन्तिम उनके द्वारा स्वीकृत स्वरूप का वर्णन मिलता है। प्रथम प्रकार की उक्तियों में हम विशृङ्खलता, शिथिलता तथा अस्पष्टता पाते हैं परन्तु दूसरी प्रकार की उक्तियों में अनुभवजन्य दृढ़ता है। पहली प्रकार की उक्तियाँ वर्णन-प्रधान हैं और दूसरी प्रकार की उक्तियों में योग के असत् रूप का खंडन और सत् रूप का मंडन है।

दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि कबीर का सारा जीवन धर्म के असत् और विकृत रूप का खंडन करने में बीता। उनका लक्ष्य हमेशा ही अनेकता में एकता, जटिलता में सरलता स्थापित करना था। योग-क्षेत्र में भी कबीर जटिलता से सरलता की ओर उन्मुख हुए हैं। तीसरी बात यह भी है कि कबीर के समय में नाथपंथी योगियों और रामानन्दी योगियों की अधिकता थी। ये दोनों प्रकार के योगी 'अवधूत' कहलाते थे। पर इनमें योग के सच्चे स्वरूप को भूलकर आडम्बर अधिक आ गया था। अतः कबीर जैसे सत्य के पारखी इन 'अवधूतों' पर तरस खाए बिना न रह सके। उन्होंने इनको तरह-तरह से समझाया। अतः उनकी उक्तियाँ अधिकतर 'अवधूत' को सम्बोधित करके लिखी गई हैं।

इतना कहने के बाद अब कबीर के हठयोग पर आते हैं। कबीर की रचनाओं को पढ़ने से ज्ञात होता है कि उन्होंने सबसे पहले हठयोग के जटिलतम स्वरूप को अपनाया था। इसी अवस्था में उन्होंने पूरक, रेचक, कुम्भक, धौति, नेति, वस्ति, वायुसंचालन के १६ आधार, कुंडलिनी-उत्थापन तथा अनेकानेक चक्रों का वर्णन किया है। इसी अवस्था से सम्बन्धित उक्तियों में १० दरवाजे, ५२ कोठरी, १४ चन्दा, ६४ दिया, ७ सुरति, १६ सेख तथा ७२ लड़ियों की चरचा की है। हठयोग का यह रूप पिष्टपेषण तो है ही; साथ ही इसमें नाथ-पंथ और तंत्र की अनेक गुह्य बातें भी आ गई हैं। कुंडलिनी-उत्थापन की क्रिया को तो विद्वान् जानते ही हैं। यह कबीर की प्रथम दृढ़ यौगिक अवस्था है जिसमें वे हमारे सामने जटिलतम रूप में आते हैं।

दूसरी अवस्था में वे सरल और स्पष्ट हो गये हैं। इसमें इन्होंने षट्चक्र-भेदन की बात कही है, त्रिवेणी स्नान का आदेश दिया है और भजन (ब्रह्माण्ड) के अमृतपान करने का उपदेश दिया है। नीचे के पद से यह बात स्पष्ट हो जायगी। इसमें पहली जैसी अस्पष्टता और जटिलता भी नहीं है—

कदली कुसुम दल भींतरा,
तहां दस आंगुल का बीच रे ।
तहाँ दुवादस खोजि ले,
जनम होत नहीं मींच रे ।
बंक नालि के अंतरै,
पछिम दिशा की बाट ।
नीझर झरै रस पीजिए,
तहाँ भँवर गुफा के घाट रे ।
त्रिवेणी मनाह न्हवाइये,
सुरति मिलै जौ हाथि रे ॥

—(कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८८)

कबीर के अन्तिम तथा तृतीय विकास में सरल हठयोग से प्रेम के साथ सामंजस्य मिलता है—

हिंडोलनां तहां झूलै आतम रांम ।
प्रेम भगति हिंडोलनां, सब संतनि कौ विश्राम ॥
चंद-सूर दोइ खंभवा, बंक नालि की डोरि ।
झूलें पंच पियारियाँ, तहाँ झूलै जीय मोरि ॥ —आदि ।

—(कबीर ग्रन्थावली, पृ० ९४)

कबीर का लययोग— आगे चलकर कबीर हठयोग की प्रक्रियाओं से घृणा करने लगे और उनका रुझान लययोग की ओर हुआ । यह कबीर पंथियों में "शब्द-सुरतियोग" के नाम से प्रसिद्ध है । महात्मा कबीर 'शब्द-ब्रह्म' में पूर्ण आस्था रखते थे । वे कभी तो 'राम नाम' को निरंजन शब्द-ब्रह्म रूप ध्वनित करते हैं और कभी 'अनहद' शब्द की चिन्ता करने का आदेश देते हैं । उन्होंने शब्द-ब्रह्म के प्रतीक ओ३म् को भी अत्यन्त महत्व दिया है ।

कबीर का सहजयोग—कबीर पंथी कबीर के 'शब्द-सुरतियोग' को उनका अन्तिम मत मानते हैं; किन्तु कबीर का योग इससे भी आगे बढ़ा हुआ है । कबीर का योग मनोयोग है जिसे वे 'सहजयोग' कहते हैं । **'सहजयोग'** वह योग है जिसमें साधक को किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं करना पड़ता । "सहजे होय सो होय" । सहजयोग का वास्तविक स्वरूप निरूपित करते हुए कबीर कहते हैं—

अवधू जोगी जग थैं न्यारा ।
मुद्रा निरति सुरति करि सींगी,
नाद न षंडै धारा ।

बसै गगन मैं दुनीं न देखै,
चेतनि चौकी बैठा ।
चढ़ि अकास आसन नहीं छाड़ै,
पीवै महारस मींठा । —आदि
—(कबीर ग्रन्थावली, पृ० १०९)

हम देखते हैं कि इनमें सहजयोग अन्त में सरलतम रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार कबीर ने मन-साधना को ही महत्त्व दिया है। वस्तुतः कबीर का हठयोग, लययोग में होता हुआ धीरे-धीरे राजयोग में परिणत हो जाता है जिसे उन्होंने 'सहजयोग' कहा है। यही योग भक्तियोग का रूप धारण कर लेता है। दूसरे शब्दों में सहज-समाधि ही उनका मत है।

कबीर और रहस्य—कबीर वैसे तो रहस्यवादी कहे ही जाते हैं, पर योग में भी रहस्य के दर्शन हो ही जाते हैं। पतंजलि ने तो रहस्य को योग में स्थान नहीं दिया है, पर कबीर में इसके दर्शन होते हैं। कबीर को कहीं-कहीं गगन घंटे का गहराना सुनाई पड़ता है। कहीं पर वे मोतियों की उत्पत्ति होती देखते हैं, और कहीं अनहद नूर चमकता हुआ देखते हैं। पर यह रहस्य यौगिक होते हुए भी मधुर है।

कबीर में योग के और अंगों का भी अति सुन्दर वर्णन है। उसमें आसनों तथा सात्विक खान-पान का वर्णन भी है। कबीर ने अहिंसा पर भी अधिक जोर दिया है।

कबीर के ईश्वर—कबीर एकेश्वरवादी हैं। वैसे तो साधना-क्षेत्र में वे व्यष्टिवादी हैं, पर उनका ईश्वर योग के सहायकों के रूप में ही नहीं है; अर्थात् उनका ईश्वर केवल व्यक्तिगत ईश्वर नहीं है। वह संसार का रक्षक और नियंता भी है। वह बहुदेववाद के समर्थक भी नहीं थे। अतः उनका ईश्वर एक ही है।

निष्कर्ष—मनोवृत्तियों के नष्ट होने पर शरीर की सत्ता भी साधक के लिये नष्ट हो जाती है और वह ब्रह्ममय हो जाता है। इसी को समरसत्व, सहजावस्था, राजयोग, जीवन्मुक्ति आदि नामों से अभिहित किया गया है। कबीर ने भी इस अवस्था की ओर संकेत किया है, पर उसे सत्ताहीन नहीं माना। अतः उन्होंने योग को प्रेम से आसिक्त करके, ज्ञान और योग को पूर्ण न मानकर, हरि-प्रेम में ही उनकी पूर्णता मानी है।

६

भारतीय प्रेमाख्यानों की परम्परा

•

प्रस्तुत निबन्ध भारतीय प्रेमाख्यानों के विविध एवं विकास के विषय में सरसरी रूप से किया गया एक अध्ययन है। प्रायः सभी देशों की प्रेम कहानियों के कथानक या उनके अभिप्रायों (Motives) में समानता होने से यह विद्वानों के विवाद का विषय रहा है कि प्रेमाख्यानों का मूल उद्गम कब तथा कहाँ से हुआ है? भारत में इनकी लोक तथा साहित्यिक अभिव्यक्ति की एक दीर्घ-कालीन परम्परा विद्यमान होने के कारण कुछ विद्वानों ने भारत को ही इनके उद्गम का मूल देश माना है। भारतीय प्रेमाख्यानों की यह परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। पं० परशुराम चतुर्वेदी, डा० हरिकान्त श्रीवास्तव, तथा एम० एम० पेञ्ज़र आदि जैसे प्रभृति विद्वान् इसका प्रारम्भ वैदिक साहित्य के 'ऋग्वेद' के कुछ संवादों; यथा—यम-यमी, पुरुरवा-उर्वशी, श्यावश्य-रथवीति आदि से और इसका विकास संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश तथा रासो आदि ग्रन्थों की प्रेम-कथाओं से मानते हैं। वैदिक साहित्य के अन्तर्गत पाये जाने वाले स्रोतों की वास्तविकता का पता नहीं चलता है। वैदिक कहानियाँ देवता और मानव, अप्सरा और मानव, तथा ऋषि और राजकन्या के प्रेम से सम्बन्धित हैं। इनकी अधूरी तथा अव्यवस्थित कथाओं में जहाँ यम-यमी के संवाद में स्त्रियों के

समानाधिकार की भावना का द्योतन होता है, वहाँ पुरुरवा एवं उर्वशी में मर्यादा-रक्षा तथा श्यावाश्व एवं रथवीति में प्रेम की सिद्धि के लिए आत्म-त्याग। डा० सत्येन्द्र का विचार है कि—"ऋग्वेद में हमें वे बीज और बिन्दु तथा किसी सीमा तक उनका विकास मिलता है जो संसार की लोकवार्ता और लोक-कहानी के एक विशद् भाग का मूलाधार हैं। अनेक लोक-कहानियों का मूल, वेदों के द्वारा सौर देवताओं में पाया जा सकता है, पाया भी गया है।"[1] किन्तु बाद में इनकी एक लम्बी परम्परा पौराणिक प्रेमाख्यानों के अन्तर्गत चल पड़ी मिलती है। 'ऋग्वेद' के सूत्रों में प्रेम का यह बीज उतना प्रस्फुटित नहीं था जितना आगे चलकर पौराणिक साहित्य में मिलता है।

पौराणिक प्रेमाख्यानों में महाभारत, रामायण, हरिवंश पुराण, विष्णु-पुराण, ब्रह्म-पुराण, शतपथ-ब्राह्मण, श्रीमद्भागवत आदि के अन्तर्गत प्रेम-कथाओं का रूप अनेक प्रकार का दीख पड़ता है। इनमें वैदिक कहानियों के उपयोग के साथ अन्य अनेक पौराणिक कहानियों के आधार पर इनकी रचना हुई। इन वैदिक तथा अन्य पौराणिक कथाओं के अतिरिक्त इनके प्रेम-कथाओं का अन्य कोई आधार उपलब्ध नहीं होता; और न इनका कोई पृथक् स्वतन्त्र अस्तित्व ही है। इनका अपना एक निश्चित उद्देश्य रहा है। वैदिक कहानियों की तुलना में इनकी संख्या बहुत बड़ी है तथा इनमें अपेक्षाकृत घटनाओं के विस्तार एवं आकृति आदि में नवीनता लाई गई है। इनमें प्रेम-भाव की जागृति केवल प्रत्यक्ष-दर्शन पर ही अवलम्बित नहीं मिलती; बल्कि स्वप्न-दर्शन एवं चित्र-दर्शन जैसे साधनों की भी सहायता ली जाने लगती है तथा गुण-श्रवण कराने का माध्यम हंस जैसे पक्षियों को भी बनाया जाने लगता है। इन प्रेमाख्यानों में विरह-यातना के अनेक दृष्टान्त मिलते हैं जो प्रायः उनकी स्वाभाविक दशा का ही परिचय देते हैं। इनके द्वारा नीति एवं धर्म का प्रचार तथा समकालीन समाज का न्यूनाधिक परिचय दिया गया है। इनमें ऊषा-अनिरुद्ध की कथा, नल-दमयंती की कथा, श्रीकृष्ण-रुक्मिणी की कथा, प्रद्युम्न और मायावती की कथा, अर्जुन एवं सुभद्रा की कथा, भीम-हिडिम्बा की कथा आदि प्रसिद्ध हैं। उपनिषदों में अधिकतर वर्णनात्मक कहानियाँ ही मिलती हैं। महाभारत, रामायण, तथा वृहत्कथा-साहित्य तो प्रेम-कथाओं के अक्षय-भण्डार हैं। महाभारत तो कहानियों का वृहत् कोष ही है। इनमें एकानेक उद्देश्य एवं अभिप्राय वाली अनेकानेक कहानियाँ हैं जो नीति, धर्म, राजनीति, समाज तथा इतिहास आदि अनेक तरह

---

१. 'मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोक-तात्त्विक अध्ययन'—पृ० १४७, १९६० ई०।

के काव्यों के लिए अखण्ड सामग्री और प्रेरणा प्रदान करती हैं। संस्कृत-साहित्य की पौराणिक रचनाओं में भी इन प्रेम-कथाओं का बाहुल्य दीख पड़ता है।

पौराणिक साहित्य के अतिरिक्त जैन-साहित्य में गुणाढ्य का पैशाची भाषा में लिखित लोक-कहानियों का वृहत् संग्रह 'वृहत्कथा' है। इसका मूल रूप अब प्राप्त नहीं है; पर इसका संस्कृत रूपान्तर सोमदेव के 'कथासरित्सागर' तथा क्षेमेन्द्र के 'वृहत्कथामंजरी' में उपलब्ध है। दोनों रचनाएँ एक ही ढंग तथा एक ही उद्देश्य से की गई हैं; फिर भी कथासरित्सागर अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत है। यह अति प्राचीन लोक-कहानियों की कथाओं का संग्रह है। इसमें १८ लम्बक तथा १२४ अध्याय हैं। इन दोनों में भारतीय कहानियों के प्रायः सभी तन्तु-सूत्र मिल जाते हैं। अपने उपलब्ध रूप में यह अति रोचक एवं महत्वपूर्ण है। इनकी कहानियाँ अपने समय के सामाजिक रीति-रिवाजों एवं विश्वासों का सुन्दर परिचय देती हैं। 'वृहत्कथामंजरी' को कीथ महोदय ने अपने समय की अत्यन्त लोक प्रचलित कथाओं का कोश कहा है।[1]

ये एक युग से दूसरे युग में संस्कृत के पश्चात् प्राकृत और अपभ्रंश के माध्यम से साहित्य में जीवित रही हैं। हिन्दी साहित्य के आरम्भ काल में चन्द आदि चारण कवियों ने इन कथाओं का पर्याप्त सहारा लिया है; किन्तु भक्ति-काल में इनकी उपेक्षा होने लगी है। ये शैव तथा शाक्त जैसी साम्प्रदायिक भावनाओं से मुक्त नहीं हैं। इनके अतिरिक्त जैन विद्वान् पूर्णभद्र सूरि का संस्कृत में लिखा 'पंचतंत्र' तो और भी लोकप्रिय हुआ है। भवि सयत्तकहा, जसहरचरिउ, आदि जैन चरित-काव्य धर्मकथा होते हुए भी प्रेमाख्यानों की कोटि में आ जाते हैं। इन समस्त जैन कथाओं में मानव के स्थान पर पशु-पक्षियों की कहानियों की बाहुल्यता मिलती है। इनमें आश्चर्य-तत्वों के द्वारा मनुष्यों को शिक्षा देने की प्रवृत्ति विशेष लक्षित होती है। अधिकांश जैन चरित-काव्य लोक-कथाओं के आधार पर ही लिखे गए हैं। इनमें धार्मिक एवं नैतिक उपदेश भी दिया गया है। ऐन्द्रिय सुख की ओर वीतराग होने से इन जैन मुनियों ने प्रेम-तत्व को सत्य, अहिंसा, अस्तेय एवं ब्रह्मचर्य के आवरण में परिवेष्टित कर दिया है।

---

1. "As the Sanskrit Panchatantra or Tantrakbyayika heads the history of the beast fable, through the creation of a new literary genere, so the Brihatktha of Guradhya in Paishachi Prakrit heads the literature of Tale······Gundhya drew freely on the travelleres, Tales and the popular narratives of this day."—A.B. Keith ; *Classical Sanskrit Literature*, p. 69, 1923.

डा० रामसिंह तोमर के अनुसार, "धर्म और साहित्य का अद्भुत सफल मिश्रण जैन कवियों ने किया है। जिस समय जैन कवि काव्य-रस की ओर झुकता है तो उसकी कृति सरस काव्य का रूप धारण कर लेती है और जब धर्मोपदेश का प्रसंग आता है तो वह पद्यबद्ध धर्मोपदेशात्मक कृति बन जाती है जो कभी-कभी नीरस भी हो जाती है। इस उपदेश-प्रधान साहित्य में भी भारतीय जीवन के एक विशेष पक्ष के दर्शन होते हैं और इस दृष्टि से वह महत्त्वपूर्ण है।"[1]

इस तरह जैनाचार्यों द्वारा लिखे गये कथा-ग्रन्थ धर्म-प्रधान होते हुए भी प्रेम एवं शृंगार रस से पूर्ण तथा लोकोपयोगी हैं। फलतः इनकी रचनाओं में मदनमहोत्सवों के वर्णन तथा वसंत-क्रीड़ाओं आदि के प्रेम-पूर्ण चित्र उपस्थित किए गये हैं। ज्ञान पंचमी कहा, सुरसुन्दरी चरित, तथा कुमारपालचरित में जहाँ-तहाँ प्रेम और शृंगार-रस-प्रधान उक्तियाँ दिखाई देती हैं। 'रयणसेह्वरी कहा' विप्रलम्भ और संयोग का एक सरस आख्यान है। जैनियों के चरित-काव्यों और पुराणों में साहित्यिक सौन्दर्य के साथ-साथ ब्राह्मण और बौद्ध-गाथाओं की कथाबद्ध-सम्बन्धी विशेषताएँ भी मिलती हैं।

बौद्ध साहित्य तो जातक कहानियों का संग्रह है। ये कहानियाँ पाली भाषा में हैं। इन कहानियों में भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्म की कथाएँ हैं जिनमें तत्कालीन मानव-समाज या मानव-स्वभाव और पशु-पक्षियों से सम्बन्धित कथाएँ मिलती हैं। पशु-पक्षियों के अतिरिक्त आश्चर्य-तत्व; जैसे—गन्धर्व, किन्नर, सर्प आदि का योग भी उद्देश्य सिद्धि के लिए किया गया है। बुद्ध के समय तक भारतीय साहित्य में गद्य तथा पद्यमय जितने भी वर्णनात्मक प्रेमाख्यानक काव्य थे, इन बौद्धों ने इन आख्यानों को अपने धर्म-प्रचार की दृष्टि से रंगकर नये रूप में जनता के सामने रखा। इनमें कथा-साहित्य—रामायण, महाभारत आदि को भी स्थान दिया गया है। महाभारत की बहुत-सी कथाओं का उलट-फेर हम जातक कथाओं में पाते हैं। कुछ विद्वानों की धारणा है कि रामायण में भी कुछ प्राचीन कहानियाँ मिलती हैं; जैसे—दशरथ जातक की कहानी।

इस तरह जैन एवं बौद्ध कथाओं में नैतिक एवं धार्मिक उपदेश के साथ शृंगारिक रचनाओं को भी महत्त्व दिया गया है। इनके पात्र अधिकतर वे ही प्रयुक्त हुए हैं, जो या तो मध्यम श्रेणी के सेठ आदि हैं अथवा निम्न वर्ग के व्यक्ति। केवल राज-परिवारों या परियों तथा देवताओं को ही इनमें स्थान

---

१. **'प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य'—पृ० ६६, १९६४ ई०।**

नहीं मिलता है। इसका कारण यह हो सकता है कि इनकी कथाएँ प्रायः लोक-कथा के स्रोतों से सम्बन्ध रखती हैं। इनके अतिरिक्त जैन तथा बौद्ध लेखकों ने पाली, प्राकृत या अपभ्रंश को अपनी रचनाओं का माध्यम बनाया जिससे साधारण तथा निम्न वर्ग के व्यक्ति भी समझ सकते थे। इस तरह इनके कथा-साहित्य—कथासरित्सागर, बृहत् कथा-मंजरी, जातक कथाओं आदि में प्रेम-कथाओं की कमी नहीं है। ये अपने पूर्व की कथाओं को सम्मिलित करके उनके रूपों में कुछ आवश्यक परिवर्तन कर, या नवीनता जोड़कर इन्हें साधारण कहानियों के स्तर पर ला दिए हैं।[1]

इन उपर्युक्त कथा-साहित्य के अतिरिक्त प्रेमाख्यानक रचनाएँ संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं के विभिन्न काव्य-ग्रन्थों से होती आई हैं। इनके कथानकों को लेकर साहित्य में विविध रूपों की रचना होती रही है। संस्कृत के ललित साहित्य में प्रेमाख्यानों की कमी नहीं है। बाणभट्ट की 'कादम्बरी' जन्म-जन्मान्तर से प्रचलित प्रेम की चमत्कारपूर्ण गाथा है। कालिदास का 'कुमार सम्भव, मेघदूत, अभिज्ञान शाकुन्तल, विक्रमोर्वशीयम्'; हर्ष का महाकाव्य 'नैषधीयम्', त्रिविक्रम का 'नलचम्पू', सुबंधु की 'वासवदत्ता'; भवभूति का 'मालती-माधव' आदि अनेक रचनाएँ प्रेम-कथाओं के ज्वलन्त उदाहरण हैं। इन रचनाओं में कथा की अपेक्षा वर्णन और रचना-शैली की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। ऐसे काव्य-ग्रन्थों की रचनाओं के लिए कुछ विशेष नियम हुआ करते हैं—जिससे उनमें साहित्यिक गुणों की प्रचुरता आ जाती है, पर कथा-साहित्य में ऐसा कोई कठोर बन्धन नहीं है।

प्राकृत कथा-साहित्य का काल ईसवी सन् की लगभग चौथी शताब्दी से लेकर साधारणतया १६ वीं या १७ वीं तक माना जाता है। इसमें कथा, उपकथा, अन्तर्कथा, आख्यान, आख्यायिका, उदाहरण, दृष्टान्त, वृत्तान्त, चरित आदि के भेद से कथाओं के अनेक रूप दृष्टिगोचर होते हैं। हरिभद्र सूरि का 'समराइच्चकहा, धूर्ताख्यान'; सोमप्रभ सूरि का 'कुमारपाल प्रतिबोध'; जिनेश्वर सूरि का 'कथाकोष प्रकरण'; नेमिचन्द्र सूरि तथा वृत्तिकार आमदेव सूरि का 'आख्यानमणिकोष'; धर्मदास मणि का 'उपदेश माला', गुणचन्द्र मणि का 'कथारत्नकोष' तथा 'प्राकृत-कथा संग्रह' आदि रचनाएँ प्राकृत कथा-साहित्य की निधि हैं। प्राकृत कथा-संग्रह में सुन्दरी देवी का आख्यान एक सुन्दर प्रेमाख्यान कहा जा सकता है। इन विविध ग्रन्थों में कथाओं को मनोरंजक बनाने के

---

१. **'भारतीय प्रेमाख्यान की परम्परा'**—पं० परशुराम चतुर्वेदी; पृ० ४२-४३, १९५६ ई०।

लिए विविध-संवादों, वाक्कौशल्य, प्रश्नोत्तर बुद्धि-परीक्षा, प्रहेलिका, समस्यापूर्ति, कहावत, सूक्ति-सुभाषित, गीत, गाथा-चर्चरी, छन्द आदि का उपयोग किया गया है।'[१]

इस तरह सम्पूर्ण प्राकृत-कथा-साहित्य के दो रूप उपलब्ध होते हैं—पहला उसका पूर्व रूप, जोकि संस्कृत से प्रभावित है। दूसरा उसका बाद का रूप जो मौलिक है। यही धाराएँ आगे चलकर अपभ्रंश में मिलती हैं। इनमें धार्मिक तथा अनेक लौकिक कथाएँ हैं।

अपभ्रंश साहित्य की रचनाएँ ७ वीं से १६ वीं शताब्दी तक मिलती हैं; किन्तु इनका वैभव-काल १० वीं से १२ वीं शताब्दी तक ही रहा है। सिद्ध, तन्त्र तथा सूक्ति के अतिरिक्त पुराण और चरित-काव्य अपभ्रंश के पुष्ट अंग हैं। चरित-काव्य प्रेमाख्यानों के ढंग के काव्य हैं। प्रेम की इन मधुर कथाओं में उपदेश एवं धर्मतत्व को मिलाकर रचयिताओं ने इन्हें धर्म-कथा बना दिया है। अपभ्रंश-साहित्य की सारी रचनाएँ धार्मिकता का पुट लिए हुए हैं। सोमप्रभ-कृत कुमारपाल प्रतिबोध तथा भविष्यत्तकहा, महापुराण, सुदर्शन-चरित्र, नागकुमार चरित, करकण्डचरिउ, जसहरचरिउ, पउमचरिउ—आदि प्रमुख आख्यान हैं। इनके कथानकों के संयोजन में कतिपय रूढ़ियों का अनुसरण तथा आदर्श चरित्रों का निर्माण किया गया है। इसलिए लौकिक गाथाओं में पारलौकिकता का संकेत विशेष रूप से लक्षित होता है क्योंकि इनके पूर्व जैनियों ने भी ऐसी कथाओं का निर्माण अपने धर्म प्रचार के लिए किया था।

अपभ्रंश-साहित्य तथा हिन्दी भाषा के सम्बन्ध का अनुमान हम इसी से लगा सकते हैं कि हिन्दी के प्रायः सभी इतिहासकारों ने आदिकाल के अन्तर्गत अपभ्रंश को ही रखा है। यह अपभ्रंश धारा हिन्दी के साथ चिरकाल तक समानान्तर रूप में चलती रही है, इसलिए इसका परम्परागत रूप आज हमें हिन्दी साहित्य में दिखाई देता है। देश-काल के प्रभाव से इस धारा का बाह्य-रूप भले ही परिवर्तित होता रहा और उसमें अनेक प्रवृत्तियाँ आविर्भूत एवं प्रतिष्ठित होती रहीं; किन्तु इसका मूल उद्गम या आन्तरिक रूप ज्यों का त्यों पूर्ववत् ही अबाधगति से प्रवाहित मिलता है। इसलिए हिन्दी प्रेमाख्यानक-काव्य-धारा के कथानक प्राकृत, अपभ्रंश या इनके पूर्व से एक जैसे प्रयुक्त होने से बहुत ही लोक-प्रचलित हैं। इनको हिन्दी कवियों की मौलिक खोज एवं कल्पना नहीं कह सकते।

---

१. **'प्राकृत-साहित्य का इतिहास'**—डॉ० जगदीशचन्द्र जैन; पृ० ३५९, १९६१ ई०।

हिन्दी कवियों के कथानक शैली पर भी इन अपभ्रंश काव्यों का बहुत कुछ प्रभाव यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होता है। भाव, भाषा, शैली, छन्द आदि के पारस्परिक आह्वान-प्रदान या प्रेरणा से प्रभावित होना भी स्वाभाविक है। हिन्दी के चरित-काव्यों, रासक रचनाओं, प्रेमाख्यानों, स्फुट पदों तथा दोहा—सभी के मूलाधार अपभ्रंश में प्राप्त हैं। अनेक रूपों में व्यवहृत भावधारा भी अपभ्रंश साहित्य में मिल जाती है। कुछ में बाह्य रूप तो अपनाया गया है; पर वर्ण्य विषय अन्य स्रोतों से लिया गया है। जहाँ तक काव्य के विविध रूपों की मोटी रेखाओं का प्रश्न है, वे सब किसी न किसी रूप में अपभ्रंश में मिलती हैं। प्रेम-कथाओं के अतिरिक्त अन्य काव्य-धाराओं पर अपभ्रंश-काव्य के कथानकों का प्रभाव प्रायः नहीं प्रतीत होता।

अपभ्रंश साहित्य के बाद हिन्दी प्रेमाख्यानों के दो रूप—(१) सूफी, तथा (२) असूफियों का मिलता है। असूफी प्रेमाख्यानों में—ढोला मारूरा दूहा, बीसलदेव रास, सदयवत्ससावलिंगा, लखमसेन-पद्मावती, छिताई-वार्ता, नल-दमयंती, माधवानल-कामकंदला, सत्यवती कथा; चतुर्भुजदास कृत 'मधुमालती, रूपमंजरी, रस रतन, प्रेम प्रगास, पुहुपावती, वेलिक्रिसन रुक्मिणीरी' आदि हैं। इनके अधिकांश कथानकों का पूर्व रूप वैदिक, पौराणिक, जैन, बौद्ध, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश या लोक-कथाओं में मिलता है; किन्तु मूल कथानकों के अतिरिक्त विभिन्न अभिप्रायों या आध्यात्मिक अभिव्यंजना के लिए ये सूफी साहित्य से भी प्रभावित रही हैं।[१] जानकवि (न्यामत खाँ) के भी २८ प्रेमाख्यानों[२] की हस्त-

---

१. **'हिन्दी साहित्य इन प्रेमाख्यानों के लिए अपभ्रंश-साहित्य का ऋणी है, किन्तु इन कथाओं के व्यंग्य-विधान अथवा आध्यात्मिक अभिव्यंजना के लिए वह सूफी साहित्य का आभारी और मसनवियों से प्रभावित है।'**
—अपभ्रंश-साहित्य : डॉ० हरिवंश कोछड़, पृ० ३८८।

२. **२८ प्रेमाख्यान ये हैं—(१) कथा कलावंती, (२) कथा कवलावती, (३) कथा कनकावती, (४) कथा कौतूहली, (५) कथा कामलता, (६) कथा-पुहुपबरिषा, (७) कथा रूपमंजरी, (८) कथा रतन-मंजरी, (९) कथा-रतनावती, (१०) कथा मोहनी, (११) कथा छबिसागर, (१२) कथा नल-दमयंती, (१३) कथा सुभतराइ, (१४) कथा तमीम अंसारी, (१५) कथा कामरानी वा पीतम दास, (१६) कथा अरदसेर पतिसाह, (१७) ग्रन्थ लैलै-मजनूं (१८) कथा बिजरखा देवल दे, (१९) कथा कलंदर, (२०) ग्रन्थ बांदी नावा, (२१) कथा सतवंती, (२२) कथा सीलवंती, (२३) कथा चन्द्रसेन राजा सील-निधान, (२४) कथा मधुकर-मालती, (२५) कथा छीता, (२६) कथा कुलवंती, (२७) कथा निरमल, (२८) कथा बलूकिया विरही।**

लिखित प्रतियाँ हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग तथा राजस्थान के अन्य संग्रहालयों में उपलब्ध हुई हैं जो इन्हीं असूफियों के ढंग की हैं । हिन्दी के सूफी प्रेमाख्यान–पद्मावत, मृगावती; मंझनकृत 'मधुमालती, चित्रावली, अनुराग बाँसुरी, ज्ञानदीप'; कुतुबमुश्तरी आदि के कथानकों के उद्गम अरबी, फारसी या लोक-साहित्य रहे हैं । फारसी के सूफी प्रेमाख्यानों में प्रेम-निरूपण की जो भाव-भूमियाँ हैं—वे हिन्दी प्रेमाख्यानों के रचयिताओं को प्रेरणा देती रही हैं; यद्यपि दोनों के परिपेक्ष्य में पर्याप्त अन्तर है । दक्खिनी हिन्दी में लिखने वाले कवियों ने भी फारसी आदर्श को ही अपनाया ।

इस तरह अपभ्रंश तथा फारसी स्रोतों के अतिरिक्त हिन्दी प्रेमाख्यानों के कथाओं का उद्गम स्रोत बहुत कुछ इस देश की प्रचलित लोक-कहानियाँ हैं । इन लोक-कहानियों की परम्परा बहुत प्राचीन रही है । अपभ्रंश साहित्य की लोक कहानियों का हिन्दी की कहानियों पर बहुत प्रभाव रहा है । यहाँ प्रश्न है कि—क्या इन लोक-कथाओं की केवल मौखिक तथा लौकिक परम्परा ही मिलती है या इनका कोई साहित्यक रूप भी रहा है ? वस्तुतः इसका निर्णय करना बहुत कठिन है कि—कोई कहानी कब तक जनप्रिय एवं लोक-प्रचलित रही और कब वह साहित्यकारों द्वारा अपनाकर साहित्यिक परम्परा के अन्तर्गत आई । पर इसके सम्बन्ध में विद्वानों में दो वर्ग हैं—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, 'हरिऔध' एवं श्याम सुन्दर दास जैसे भिज्ञ विद्वान् इन कहानियों की एक साहित्यिक परम्परा मानते हैं, जबकि पाश्चात्य विद्वान्—विशेषकर ए० जी० शिरेफ इसको लोक-ग्रहीत और मौखिक मानते हैं ।[1] प्रसंगानुसार थोड़े हेर-फेर के साथ सूफी कवियों ने प्रायः इन्हें ज्यों का त्यों अपने ढंग से अपनाया और आवश्यकतानुसार आध्यात्मिक संदेश भी दिया । कुछ विद्वानों की धारणा है कि लोक-कथाओं का आधार लेकर ऐसे काव्यादि लिखने की परम्परा सूफी कवियों ने भी चलाई थी; किन्तु यह संगत नहीं है । डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी का यह मत उल्लेखनीय है कि—"लौकिक निजन्धरी कहानियों को आश्रय करके धर्मोपदेश देना इस देश की चिराचरित प्रथा है । हमारे साहित्य के इतिहास में एक गलत और बेबुनियाद बात यह चल पड़ी है कि लौकिक प्रेम-कथाओं का आश्रय करके धर्म-भावनाओं का उपदेश देने का कार्य सूफी कवियों ने आरम्भ

---

1. 'Most of these accept the view that jaise is refering to premious Literary Sources, but the evidence is not convincing.'—A. G. Shirreff : *'Padmawati-Sfoot-Note,* 114. (L.L.)

किया था। बौद्धों, ब्राह्मणों और जैनों के अनेक आचार्यों ने नैतिक और धार्मिक उपदेश देने के लिए लोक-कथाओं का आश्रय लिया था।"[१]

इस तरह संक्षेप में यही भारतीय प्रेमाख्यानों की परम्परा रही है। यद्यपि इन प्रेमाख्यानों के कथानक लम्बी परम्परा के अन्तर्गत अनेक बार दुराए गये मिलते हैं, फिर भी इनका वास्तविक रूप नवीन ही लगता है। विभिन्न काल में कवियों ने अपने-अपने समय एवं परिस्थिति के अनुसार कुछ न कुछ नवीन रंग चढ़ाने की चेष्टा की है और अपनी कल्पना के बल पर कभी-कभी उनमें बहुत सुन्दर कलात्मक परिवर्तन भी कर दिए हैं, जिससे इनमें नीरसता नहीं दीखती।

---

१ 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल'—पृ० ११, १९५७ ई०।

७

मध्ययुगीन कृष्णभक्ति साहित्य

को प्रभावित करने वाले

'श्रीमद्भागवत के सामान्य तत्त्व'

●

श्रीमद्भागवत महापुराण का व्यावहारिक दर्शन भक्ति-दर्शन है। किन्तु इस पुराण में वर्णित भक्ति तत्त्व इतना व्यापक और विशाल है कि उसके एक देश का भी सम्यक् निरूपण करना दुष्कर कार्य है। इसी प्रकार इस पुराण का ज्ञानपक्ष भी इतना दुरूह, गम्भीर, विशाल और समन्वयी है कि 'मुह्यन्ति यत्सूरयः' की उक्त का उस पर सर्वथा चरितार्थ होती है। सूत्र रूप में, श्रीमद्भागवत का आचार-पक्ष और विचार-पक्ष—दोनों ही अतिशय शक्तिशाली हैं और इन दोनों ही पक्षों का गहरा प्रभाव समस्त मध्ययुगीन भारतीय भक्ति-साहित्य पर पड़ा है। प्रस्तुत पंक्तियों में, विशेषकर मध्ययुगीन हिन्दी कृष्ण-भक्ति साहित्य के सन्दर्भ में श्रीमद्भागवत के उन तत्त्वों के निरूपण की चेष्टा की गई है, जिनका स्पष्ट प्रभाव हम भक्ति-साहित्य पर प्रथम स्थूल दृष्टिपात में ही अनुभव कर सकते हैं। इन भागवतीय तत्त्वों को हम दो श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं—१. सामान्य, और २. विशिष्ट। सामान्य तत्त्व न केवल हिन्दी के ही सगुण कृष्णभक्ति और रामभक्ति साहित्य को प्रभावित करते

हैं, अपितु अन्य भारतीय भाषाओं के सगुण भक्ति-साहित्य के अतिरिक्त उनके निर्गुण भक्ति-साहित्य पर भी उनका गहरा प्रभाव देखा जा सकता है। उदाहरणार्थ—नाम महिमा को लीजिए। भगवन्नाम की अमोघ शक्ति के सम्बन्ध में निर्गुण भक्त कबीर[1], सगुण कृष्णभक्त सूर[2] और सगुण रामभक्त तुलसी[3]—तीनों ही एकमत हैं। इस प्रकार 'नाम माहात्म्य' वह सामान्य भक्ति-तत्त्व सिद्ध होता है, जो समस्त मध्ययुगीन भारतीय भक्ति-साहित्य का एक प्रमुख वर्ण्य-विषय है। इसी प्रकार स्तुति-गान, गुरुमहिमा, सत्संग, वैराग्य आदि वे तत्त्व हैं जो सामान्यतया समस्त भारतीय भक्ति-साहित्य में पाए जाते हैं। भारतीय भक्ति-साहित्य में ये तत्त्व केवल श्रीमद्भागवत से ही आए हैं, हमारी यह स्थापना नहीं है। श्रीमद्भागवत से पूर्व भारतीय साहित्य में उनका अस्तित्व हो, यह बात भी नहीं है। भक्तिमार्ग की श्रेष्ठता का ख्यापन गीता में अत्यन्त ओजस्वी शब्दों में हो चुका था; किन्तु फिर भी भक्ति के पक्ष का जो प्रबल समर्थन श्रीमद्भागवत के द्वारा हुआ—उसके कारण भागवत को मध्यकाल में सबसे प्रभावशाली भक्ति-ग्रन्थ माना गया। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में—'इस काल की समाप्ति के आसपास ही परम शक्तिशाली भागवत पुराण का अभ्युदय होता है। उत्तरकालीन धर्ममत और साहित्य को इस पुराण ने अधिक प्रभावित किया है।'[4] वास्तव में बात यह है कि श्रीमद्भागवत पुराण में हमें समस्त पुरातन आध्यात्मिक भारतीय वाङ्मय का अद्भुत समन्वय प्राप्त होता है। यह पुराण समस्त पूर्वालोचित सिद्धान्तों एवं तत्त्व-चिन्तन का एक विकसित रूप प्रस्तुत करता है। अतः यह स्वीकार करना अनुचित नहीं है कि भक्तिकालीन सामान्य भक्ति-तत्त्वों का स्रोत श्रीमद्भागवत ही है।

---

१. **कबीर सुमिरन सार है, और सकल जंजाल।**
आदि अन्त सब सोधिया, दूजा देखौं काल॥
—कबीर ग्रन्थावली (ना०प्र० सभा, १९४७)—सं० श्या०सु० दास, पृ०५।

२. **को को न तर्‌यौ हरिनाम लिएँ।**
सुवा पढ़ावत गनिका तारी, ब्याध तर्‌यौ सरघात किएँ।
अन्तर दाह जु मिट्यौ व्यास कौ, इक चित ह्वै भागवत किएँ॥
—सूरसागर (ना० प्र० सभा, काशी), पद ८९।

३. **ब्रह्म राम तें नामु बड़, बरदायक बरदानि।**
रामचरित सतकोटि महँ, लिय महेस जिय जानि॥
—रामचरितमानस, बालकाण्ड (ग्रन्थोपक्रम)

४. **मध्यकालीन धर्म-साधना**—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ३९।

विशिष्ट तत्त्वों के अन्तर्गत हम प्रमुख रूप से कृष्ण-भक्ति साहित्य को प्रभावित करने वाले भागवतोक्त तत्त्वों को ग्रहण करेंगे। इनको विशिष्ट कृष्णभक्ति-सम्प्रदायों में दीक्षित कवियों ने विशेष रूप से और स्वतन्त्र कृष्णभक्त कवियों ने सामान्य रूप से ग्रहण किया है। उदाहरणार्थ—'कृष्णलीला' को लीजिए। यद्यपि हरिवंशपुराण और विष्णुपुराण में श्रीकृष्ण की कतिपय बाल और कैशोर लीलाओं का वर्णन है तथापि कृष्ण की बाल, पौगण्ड, कैशोर और प्रौढ़ लीलाओं का जो सांगोपांग, क्रमिक, विस्तृत और मनोरम वर्णन श्रीमद्-भागवत में है—वह समस्त भारतीय साहित्य में अद्वितीय है, और इसीलिए श्रीमद्भागवत को ही हम कृष्णलीला का आकर-ग्रंथ मानना उचित समझते हैं। यद्यपि मध्यकालीन कृष्णभक्त कवियों ने श्रीमद्भागवत में वर्णित कृष्ण लीलाओं के अतिरिक्त अन्य ग्रंथों में वर्णित कृष्ण लीलाओं का गान भी किया है किन्तु वह अत्यल्प है। **'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति'** इस न्याय से कृष्णलीला का गान करने वाले भक्त कवियों का प्रधान उपजीव्य श्रीमद्भागवत ही ठहरता है। कृष्णलीला के अतिरिक्त गोपी-प्रेम, कृष्ण का अलौकिक रूप-माधुर्य, वेणुमाधुर्य आदि वे विशेष तत्त्व हैं जिनके एकमात्र निधान श्रीकृष्ण हैं। श्रीमद्भागवत में इन तत्त्वों का जैसा अद्भुत चित्रण है, वैसा अन्यत्र अप्राप्य है। अतः श्रीमद्-भागवत को इन तत्त्वों के प्रधान भाण्डागार के रूप में स्वीकार करना भी न्याय्य एवं समीचीन कहा जायगा। जैसा कि आरम्भ में कहा गया है, निम्न पंक्तियों में केवल सामान्य तत्त्वों के निरूपण का ही प्रयास होगा। अतः उनका क्रमशः संक्षिप्त विवेचन किया जाता है—

(१) **भक्ति का सर्वश्रेष्ठत्व**—भक्ति की अपरिसीम महत्ता की स्वीकृति श्रीमद्भागवत में जिस आस्था के साथ पाई जाती है, वैसी अन्यत्र अप्राप्य है। विस्तार में न जाकर हम केवल एक उद्धरण देना ही पर्याप्त समझते हैं—

यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत् ।
योगेनदानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि ॥
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा ।
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथंचिद्यदि वाञ्छति ॥
न किंचित्साधवो धीरा भक्ताह्येकान्तिनो मम ।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम् ॥[1]

अर्थात्—स्वयं श्रीकृष्ण कहते हैं कि "कर्म, तप, ज्ञान, वैराग्य, योग, दान-धर्म तथा अन्यान्य श्रेय साधनों से जो कुछ स्वर्ग, अपवर्ग, अथवा मेरा परम-

---

१. **श्रीमद्भागवत**, ११।२०।३२–३४।

धाम आदि प्राप्त होते हैं, वह सब यदि इच्छा करे तो मेरा भक्त मेरी भक्ति द्वारा ही सुगमता से प्राप्त कर सकता है। मेरे अनन्य भक्त मेरे देने पर भी भक्ति के अतिरिक्त कैवल्य की भी कामना नहीं करते।" हिन्दी भक्ति-साहित्य में सर्वत्र इन विचारधारा का समर्थन प्राप्त होता है, यह स्पष्ट ही है।

(७) स्तुति—भगवत्-स्तवन भक्ति का ही एक प्रमुख अंग है। आर्त होकर भगवान् की असीम शक्ति, अपनी अत्यन्त शक्तिहीनता, भगवान् की भक्तवत्सलता और अपनी कल्मषपरता का ऋजुभाव से कथन करने से जीव को परमशान्ति का अनुभव होता है। भगवान् भी परितुष्ट होते हैं—'स्तोत्रं कस्य न तुष्टये।' वैदिक ऋचाएँ स्तुति के अतिरिक्त और क्या हैं? आदि मानव ने सबसे पहले स्तुति को ही अपनी वाञ्छा सिद्धि का साधन बनाया। संस्कृत का स्तोत्र-साहित्य कितना समृद्ध एवं मनोरम है, सुधीजनों को यह बताने की आवश्यकता नहीं है। स्तोत्र साहित्य में कितने ही ऐसे अमूल्य रत्न भरे पड़े हैं, जो भक्तों को महाकाव्यों के रसास्वादन से भी अधिक अपने भक्तिरस के आस्वादन की ओर आकर्षित करते हैं। स्तुति की महती शक्ति का उल्लेख करते हुए उपमन्यु ने अपनी शिव-स्तुति में कहा है कि—'हे प्रभो! तुम्हारी तो स्मृति ही पतितपावनी है। यदि कहीं उसमें स्तुति का योग और हो जाय तो कहना ही क्या है? दुग्ध तो स्वभाव से ही मधुर होता है, यदि कहीं उसमें सफेद शक्कर और मिल जाय तो उसका स्वाद कितना मधुर और हृद्य हो जायगा!'[१]

श्रीमद्भागवत में भी कहा गया है कि बिना स्तुति-युक्त वैधी भक्ति के भगवान् की प्रेमलक्षणा भक्ति प्राप्त होना सम्भव नहीं है।[२] भक्ति के साधनों में स्तुतिगान एक प्रमुख और अनिवार्य साधन बताया गया है।[३] श्रीमद्भागवत में भगवान् की जितनी अधिक संख्या में और जितनी सुन्दर स्तुतियाँ हैं, वैसी अन्य पुराणों में दुर्लभ हैं, सम्भवतः अलभ्य हैं। ऐसा लगता है मानो यह पुराण भगवत्स्तुति के उद्देश्य से ही रचा गया है। भगवद् गुणानुवाद के लिए प्रणीत मानो यह पुराण एक विशाल स्तोत्र ही है। समस्त ग्रन्थ आदिमध्यावसान में स्तुतिपरक ही है। नारद मुनि के प्रस्ताव और व्यासदेव की प्रतिज्ञा

त्वदनुस्मृतिरेव पावनी स्तुतियुक्ता नहि वक्तुमीश सा।
मधुरं हि पयः स्वभावतो ननु कीदृक् सित शर्करान्वितम्॥
—उपमन्युकृत 'शिवस्तवन', श्लोक ५।

२. श्रीमद्भागवत, ७।९।५०।

३. परिनिष्ठा च पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम।
—श्रीमद्भागवत, ११।१९।२०।

से तो यही सत्य जान पड़ता है। ग्रन्थकार का मत है कि बुद्धिशाली महापुरुषों ने मनुष्य के तप, वेदाध्ययन, यज्ञानुष्ठान, सत्कथन, ज्ञान और दान आदि समस्त सत्कर्मों का एकमात्र अक्षय फल भगवान् का गुणगान करना ही बतलाया है![1] भागवतकार को जहाँ भी अवसर मिलता है, किसी-न-किसी पात्र के मिष से, किसी भी रूप में स्थित भगवान् की स्तुति करने लगता है। स्तुति का फल शुद्ध बुद्धि की प्राप्ति है।[2] श्रीमद्भागवत की स्तुतियों की गणना करने पर छोटी-बड़ी समस्त स्तुतियों की संख्या लगभग एक सौ चालीस ठहरती है। इनमें से अनेक बहुत बड़ी और अनेक केवल एक-एक श्लोक आकार वाली लघुकाय हैं। इनमें से अनेक स्तुतियाँ गद्यात्मक भी हैं।[3] इन स्तुतियों में सगुण एवं निर्गुण उभय रूप ब्रह्म का निरूपण है।

नीचे भागवत की समस्त स्तुतियों का उल्लेख किया जाता है—

प्रथम स्कन्ध—

कुन्तीकृत भगवत्स्तुति	—अध्याय ८
भीष्मकृत कृष्ण स्तुति	,, ९

द्वितीय स्कन्ध—

शुकदेवकृत भगवत्स्तुति	—अध्याय ४
ब्रह्माकृत भगवत्स्तुति	,, ९

---

१. इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धि दत्तयोः।
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो यदुत्तमश्लोक गुणानुवर्णनम्॥

—श्रीमद्भागवत, १।५।२२

अत्रानुवर्ण्यतेऽभीक्ष्णं विश्वात्मा भगवान्हरिः।

—वही, १२।५।१

पुराण संहितामेतामश्रौष्म भवतो वयम्।
यस्यां खलूत्तमश्लोको भगवाननुवर्ण्यते॥

—वही, १२।६।४

आदिमध्यावसानेषु वैराग्याख्यान संयुतम्।
हरिलीला कथाव्रातामृतानन्दित सत्सुरम्॥

—वही, १२।१३।११

२. ये मां स्तुवन्त्यनेनांग प्रतिबुध्य निशात्यये।
तेषां प्राणात्यये चाहं ददामि विमलां मतिम्॥

—वही, ८।४।२५

३. यथा—स्कन्ध ५, अध्याय ३; स्कन्ध ६, अध्याय ९;
स्कन्ध १२, अध्याय ६—आदि।

तृतीय स्कन्ध—

ब्रह्माकृत भगवत्स्तुति	–अध्याय ९
मरीच्यादि ऋषिगणकृत वराह स्तुति	,, १३
सनकादिकृत भगवत्स्तुति	,, १६
देवगणकृत वराह स्तुति	,, १९
कर्दम ऋषिकृत भगवत्स्तुति	,, २१
देवहूतिकृति कपिल स्तुति	,, २५
जीवकृत भगवत्स्तुति	,, ३१
देवहूतिकृत कपिल स्तुति	,, ३३

चतुर्थ स्कन्ध—

अत्रिकृत त्रिदेव स्तुति	–अध्याय १
देवगणकृत नरनारायण स्तुति	,, १
दक्षकृत शिवस्तुति	,, ७
दक्षकृत विष्णु स्तुति	,, ७
ऋत्विग्गणकृत विष्णु स्तुति	,, ७
सदस्यगणकृत विष्णु स्तुति	,, ७
रुद्रकृत विष्णु स्तुति	,, ७
भृगुकृत विष्णु स्तुति	,, ७
ब्रह्माकृत विष्णु स्तुति	,, ७
इन्द्रकृत विष्णु स्तुति	,, ७
यज्ञपत्नीगणकृत विष्णु स्तुति	,, ७
ऋषिगणकृत विष्णु स्तुति	,, ७
सिद्धगणकृत विष्णु स्तुति	,, ७
यजमानीकृत विष्णु स्तुति	,, ७
लोकपालगणकृत विष्णु स्तुति	,, ७
योगेश्वरगणकृत विष्णु स्तुति	,, ७
शब्दब्रह्मकृत विष्णु स्तुति	,, ७
अग्निकृत विष्णु स्तुति	,, ७
देवगणकृत विष्णु स्तुति	,, ७
गन्धर्वगणकृत विष्णु स्तुति	,, ७
विद्याधरगणकृत विष्णु स्तुति	,, ७
विप्रगणकृत विष्णु स्तुति	,, ७
ध्रुवकृत विष्णु स्तुति	,, ९

बन्दीजनकृत पृथु स्तुति	—अध्याय १६
पृथ्वीकृत पृथु स्तुति	,, १७
पृथुकृत विष्णु स्तुति	,, २०
रुद्रकृत विष्णु स्तुति	,, २४
प्रचेतागणकृत विष्णु स्तुति	,, ३०

पंचम स्कन्ध—

राजा रहूगणकृत भगवत्स्तुति	—अध्याय १२
शिवकृत भगवत्स्तुति	,, १७
भद्रश्रवागणकृत हयग्रीव स्तुति	,, १८
प्रह्लादकृत नृसिंह स्तुति	,, १८
लक्ष्मीकृत भगवत्स्तुति	,, १८
मनुकृत मत्स्यावतार स्तुति	,, १८
अर्यमाकृत कूर्मावतार स्तुति	,, १८
पृथ्वीकृत वराहावतार स्तुति	,, १८
हनुमत्कृत राम स्तुति	,, १९
नारदकृत नरनारायण स्तुति	,, १९
हंसादि चतुर्वर्णकृत सूर्य स्तुति	,, २०
श्रुतधरादि चतुर्वर्णकृत चन्द्र स्तुति	,, २०
कुशलादि चतुर्वर्णकृत अग्नि स्तुति	,, २०
पुरुषादि चतुर्वर्णकृत जलदेवता स्तुति	,, २०
ऋतव्रतादि चतुर्वर्णकृत वायुदेवता स्तुति	,, २०
पुष्करद्वीपवासिकृत ब्रह्म स्तुति	,, २०
नारदकृत संकर्षण स्तुति	,, २५

षष्ठ स्कन्ध—

प्रजापति दक्षकृत भगवत्स्तुति (हंसगुह्य स्तोत्र)	—अध्याय ४
शबलाश्वादिकृत भगवत्स्तुति	,, ५
विश्वरूपोपदिष्ट भगवत्स्तुति (नारायण कवच)	,, ८
देवगणकृत भगवत्स्तुति	,, ९
वृत्रासुरकृत भगवत्स्तुति	,, ११
नारदकृत संकर्षण स्तुति	,, १६
चित्रकेतुकृत संकर्षण स्तुति	,, १६
शुकदेवोपदिष्ट विष्णु स्तुति	,, १९
शुकदेवोपदिष्ट लक्ष्मीनारायण स्तुति	,, १९

सप्तम स्कन्ध—

ब्रह्माकृत नृसिंह स्तुति	—अध्याय ८
रुद्रकृत• नृसिंह स्तुति	,, ८
इन्द्रकृत नृसिंह स्तुति	,, ८
ऋषिगणकृत नृसिंह स्तुति	,, ८
पितृगणकृत नृसिंह स्तुति	,, ८
सिद्धगणकृत नृसिंह स्तुति	,, ८
विद्याधरगणकृत नृसिंह स्तुति	,, ८
नागगणकृत नृसिंह स्तुति	,, ८
मनुगणकृत नृसिंह स्तुति	,, ८
प्रजापतिगणकृत नृसिंह स्तुति	,, ८
गंधर्वगणकृत नृसिंह स्तुति	,, ८
चारणगणकृत नृसिंह स्तुति	,, ८
यक्षगणकृत नृसिंह स्तुति	,, ८
किम्पुरुषगणकृत नृसिंह स्तुति	,, ८
वैतालिकगणकृत नृसिंह स्तुति	,, ८
किन्नरगणकृत नृसिंह स्तुति	,, ८
विष्णुपार्षदगणकृत नृसिंह स्तुति	,, ८
प्रह्लादकृत नृसिंह स्तुति	,, ९
ब्रह्माकृत नृसिंह स्तुति	,, १०

अष्टम स्कन्ध—

गजेन्द्रकृत भगवत्स्तुति	—अध्याय ३
ब्रह्माकृत भगवत्स्तुति	,, ५
ब्रह्माकृत भगवत्स्तुति	,, ६
प्रजापतिगणकृत शिव स्तुति	,, ७
शिवकृत भगवत्स्तुति	,, १२
कश्यपोपदिष्ट भगवत्स्तुति	,, १६
अदितिकृत भगवत्स्तुति	,, १७
ब्रह्माकृत भगवत्स्तुति	,, १८
राजा सत्यव्रतकृत मत्स्यावतार स्तुति	,, २४

नवम स्कन्ध—

अम्बरीषकृत सुदर्शनचक्र स्तुति	—अध्याय ५
अंशुमान्‌कृत कपिल स्तुति	,, ८

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)—

ब्रह्माशिवादिकृत भगवत्स्तुति	—अध्याय २
वसुदेवकृत भगवत्स्तुति	,, ३
देवकीकृत भगवत्स्तुति	,, ३
नलकूबर एवं मणिग्रीवकृत कृष्ण स्तुति	,, १०
ब्रह्माकृत कृष्ण स्तुति	,, १४
नागपत्नीगणकृत कृष्ण स्तुति	—अध्याय १६
इन्द्रकृत कृष्ण स्तुति	,, २७
सुरभिकृत कृष्ण स्तुति	,, २७
वरुणकृत कृष्ण स्तुति	,, २८
गोपीगणकृत कृष्ण स्तुति	,, २६
गोपीगणकृत कृष्ण स्तुति (गोपीगीत)	,, ३१
नारदकृत कृष्ण स्तुति	,, ३७
अक्रूरकृत कृष्ण स्तुति	,, ४०
सुदामा मालीकृत कृष्ण स्तुति	,, ४१
अक्रूरकृत कृष्ण स्तुत	,, ४८

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)—

मुचुकुन्दकृत कृष्ण स्तुति	-अध्याय ५१
जाम्बवान्कृत कृष्ण स्तुति	,, ५६
पृथ्वीकृत कृष्ण स्तुति	,, ५९
माहेश्वर ज्वरकृत कृष्ण स्तुति	,, ६३
श्री रुद्रकृत कृष्ण स्तुति	,, ६३
राजा नृगकृत कृष्ण स्तुति	,, ६४
यमुनाकृत बलराम स्तुति	,, ६५
कौरवगणकृत बलरान स्तुति	,, ६८
नारदकृत कृष्ण स्तुति	,, ६९
राजागणकृत कृष्ण स्तुति	,, ७०
नारदकृत कृष्ण स्तुति	,, ७०
राजागणकृत कृष्ण स्तुति	,, ७३
पाण्डवगणकृत कृष्ण स्तुति	,, ८३
मुनिगणकृत कृष्ण स्तुति	,, ८४
वसुदेव कृत कृष्ण स्तुति	,, ८५
बलिकृत कृष्ण स्तुति	,, ८५

राजा बहुलाश्वकृत कृष्ण स्तुति —अध्याय ८६
श्रुतदेवकृत कृष्ण स्तुति " ८६
वेदकृत कृष्ण स्तुति " ८७

एकादश स्कन्ध—

देवगणकृत नरनारायण स्तुति —अध्याय ४
करभाजनोपदिष्ट भगवत्स्तुति " ५
देवगणकृत कृष्ण स्तुति " ६
उद्धवकृत कृष्ण स्तुति " १६

द्वादश स्कन्ध—

याज्ञवल्क्यकृत आदित्य स्तुति —अध्याय ६
मार्कण्डेयकृत भगवत्स्तुति " ८
मार्कण्डेयकृत शिवस्तुति " १०
सूतोपदिष्ट कृष्ण स्तुति " ११
सूतोपदिष्ट कृष्ण स्तुति " १३

श्रीमद्भागवतोक्त स्तुतियों का सारांश

परब्रह्म परमेश्वर समस्त भूतप्राणियों के बाहर-भीतर अलक्षित भाव से स्थित है। वह अनादि, अनन्त, अखण्ड और अविनाशी है।[1] वह महामहिम अलक्ष्य गति परम पुरुष जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय रूप लीला के लिए सत्व, रज और तम रूप तीन शक्तियों का आश्रय लेकर ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र—तीन रूप धारण करता है है।[2] ब्रह्म का साकार नारायण रूप समस्त अवतारों का मूल उद्भव स्थान है जिसे उसने सदनुग्रहार्थं धारण किया है। ब्रह्म का जो आनन्दमात्र निर्विकल्प और अखण्ड तेजोमय निर्गुण स्वरूप है, वह साकार सगुण रूप से किंचित् भी भिन्न नहीं है। वह वस्तुतः अजन्मा होकर भी स्वनिर्मित देव तिर्यङ् मनुष्य आदि योनियों में स्वेच्छा से शरीर धारण कर धर्म मर्यादा की रक्षा के लिए अनासक्त भाव से विविध क्रीड़ाएँ करता है।[3] समस्त जीव उसकी माया से बराबर जन्म लेकर संसार चक्र में भ्रमण कर रहे हैं। किन्तु बुद्धिमान् लोग भवरोग-निवृत्ति के लिए उस भगवान् की अनन्य

---

१. श्रीमद्भागवत, १।८।१८।

२. नमः परस्मै पुरुषाय भूयसे सदुद्भवस्थाननिरोधलीलया।
गृहीतशक्तित्रितयाय देहिनामन्तर्भवायानुपलक्ष्य वर्त्मने॥
—श्रीमद्भागवत, ४।१।१२।

३. श्रीमद्भागवत, ३।६।

भक्ति का आश्रय लेकर अकुतोभय हो जाते हैं।[१] भगवान् की महिमा अनन्त है। उसकी माया के प्रभाव और गुणों का अन्त ब्रह्मा, सनकादि नारद और स्वयं दश-सहस्र फणावली मण्डित शेष भी नहीं जानते।[२] पृथ्वी के रजः कणों को गिनना सम्भव है किन्तु भगवान् के गुणों और पराक्रमों की गणना असम्भव है।[3] आदिपुरुष नारायण क्रीड़ार्थ—मत्स्य, कूर्म, वराह, हयग्रीव, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, बलराम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि आदि रूप धारण करता है। उनके प्रभाव से समस्त लोक निःशोक होकर उनकी लीलाओं का गान करता हुआ आनन्द प्राप्त करता है।[४]

हिन्दी भक्ति-साहित्य में जो ईश विनय, प्रार्थना, वन्दना आदि का काव्य है उसमें भी प्रमुखतया उपर्युक्त विचारों का ही समावेश पाया जाता है, यह स्पष्ट है।

(३) **नाम महिमा**—समस्त भक्ति-साहित्य में भगवन्नाम की अनन्त महिमा की प्रतिष्ठा के विषय में थोड़ी चर्चा पहले की जा चुकी है। यद्यपि निर्गुण ब्रह्म का स्वरूप अचिन्त्य है और नाम रूप की अपेक्षा रखता है, तथापि मध्ययुग के सभी निर्गुण भक्त साधकों ने अपने हृद्देश में अनुभूत उस परम तत्त्व का नाम द्वारा संकेत किया है। सगुण भक्त तो स्पष्ट ही साकार ब्रह्म के उपासक होने के कारण उसके नाम का माहात्म्य स्वीकर करते हैं—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में—......"मध्ययुग के भक्तों में भगवान् के नाम का माहात्म्य बहुत अधिक है। मध्ययुग की समस्त धर्म-साधना को 'नाम की साधना' कहा जा सकता है। चाहे सगुण मार्ग के भक्त हों चाहे निर्गुण मार्ग के, नाम-जप के बारे में किसी को कोई सन्देह नहीं। इस अपार भवसागर में एकमात्र नाम ही नौका रूप है।"[५] गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस

---

१. **श्रीमद्भागवत** १०।८७।३२।

२. **नान्तं विदाम्यहममी मुनयोऽग्रजास्ते। मायाबलस्य पुरुषस्य कुतोऽपरे ये।**
गायन् गुणान् दशशतानन आदिदेवः शेषोऽधुनाऽपि समवयस्यति नास्य पारम्॥
—श्रीमद्० २।७।४१।

न ह्यन्तस्त्वद्विभूतीनां सोऽनन्त इतिगीयसे॥ —वही, ४।३०।३१।

३. **श्रीमद्भागवत** २।७।३९, ४० तथा ११।४-२।

४. **वही**, १०।४०।

५. **मध्यकालीन धर्मसाधना**—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ५।

कृष्णाय नम इत्येष मंत्रः सर्वार्थ साधकः।
भक्तानां जपतां भूयः स्वर्गमोक्षफलप्रदः॥
—श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धु (पद्मपुराण का वचन), पृ० ५९।

में 'राम न सकहिं नाम गुन गाई'—कहकर नाम का अनन्त माहात्म्य स्वीकार किया है। महाप्रभु चैतन्य के सम्प्रदाय में नाम संकीर्तन पर सर्वाधिक बल दिया गया है। सभी वैष्णव सम्प्रदायों में नाम-जप और संकीर्तन को भगवत्प्राप्ति का अमोघ साधन माना गया है। किसी सम्प्रदाय में पंचाक्षर, किसी में अष्टाक्षर, किसी में द्वादशाक्षर और किसी में द्वात्रिंशाक्षर मन्त्र के जप का विधान है। पुराणों में भगवन्नाम की महिमा का सविस्तार वर्णन है, जिनमें श्रीमद्भागवत और स्कन्द पुराण उल्लेखनीय हैं।[1]

श्रीमद्भागवत में भगवन्नाम की अपार दुरितक्षयकारिणी अमोघ शक्ति का कुछ आभास देने के लिए अजामिल के उपाख्यान का वर्णन है।[2] अजामिल का नाम, मानो महा पातकी के लिए रूढ़ हो गया है। किन्तु अज्ञानवश ही (भगवद् बुद्धि से नहीं) अपने पुत्र 'नारायण' का नाम लेने से वह यमदूतों के पाश से मुक्त और पवित्र हो गया। विवश होकर भी भगवान् का नाम लेने वाला व्यक्ति करोड़ों जन्म के पापों का नाश कर देता है। चोर, मद्यप, मित्र-द्रोही, ब्रह्महत्यारा, गुरुपत्नीगामी, पापमुक्त हो जाते हैं। स्त्री, राजा, माता-पिता तथा गौ की हत्या करने—जैसे महान् पापों का प्रायश्चित्त भगवन्नाम ग्रहण मात्र से हो जाता है। कृच्छ्र चान्द्रायणादि व्रतों से भी मनुष्य उतना शुद्ध नहीं होता जितना भगवन्नामोच्चारण से। संकेत से, हँसी से, गान के आलाप को पूर्ण करने के लिए अथवा अवहेलना से भी लिया हुआ भगवन्नाम मंगलकारी है।[3] गिरते, पड़ते, अंगभंग होते, सर्पादि दंश में, ज्वरादि से पीड़ितावस्था अथवा दण्ड आदि से आहतावस्था में विवश होकर लिया हुआ भगवन्नाम भी यातना का अन्त कर देता है।[4] पापों की न्यूनाधिकता के अनुसार छोटे-बड़े प्रायश्चित्तों का विधान है। किन्तु तप, दान और जप आदि प्रायश्चित्तों से केवल वे पाप ही नष्ट हो पाते हैं, पापी का पाप-दूषित चित्त शुद्ध नहीं होता; किन्तु जाने

---

१. **स्कन्दपुराण, वैष्णवखण्ड, मार्गशीर्ष माहात्म्य** अध्याय १५।

२. **श्रीमद्भागवत** ६।१, २।

३. **अयं हि कृतनिर्वेशो जन्मकोट्यंहसामपि।**
यद्व्याजहार विवशो नामस्वस्त्ययनं हरेः॥ —श्रीमद्भागवत, ६।२।७।
सांकेत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा।
वैकुण्ठनाम ग्रहणमशेषाघहरं विदुः॥ —वही, ६।२।१४।
गोस्वामी तुलसीदास ने इसे यों कहा है—
भाँय कुभाँय अनख आलस हू। नाम जपत मंगल दिसि दस हू॥
—श्री रामचरितमानस (बालकाण्ड), पृ० २०।

४. **श्रीमद्भागवत, ६।२।१५।**

अथवा अनजाने किया हुआ भगवन्नाम संकीर्तन चित्त को शुद्ध कर देता है। जिस प्रकार बलवान् और गुणकारी औषधि बिना गुण जाने सेवन किये जाने पर भी लाभ पहुँचाती ही है, उसी प्रकार मंगलमय भगवन्नाम का प्रभाव ज्ञान सहित ग्रहण किया जाय या बिना जाने, अपना कल्याणकारी फल अवश्य देता है।[1]

नाम का उपयोग केवल पातकनाश और चित्त-शुद्धि ही नहीं; अपितु भक्त भगवल्लीलाओं का आनन्द लेने के लिए भी नाम का गायन करते हैं क्योंकि इन नामों के उच्चारण से भगवान् से अनेक दिव्य गुणों का ज्ञान होता है।[2] लौकिक वैदिक कर्मों में प्रवृत्त मनुष्य के हृदय में स्थित होते हुए भी भगवान् उससे बहुत दूर रहते हैं, किन्तु सतत गुण-गान करने वाले भक्त के अत्यन्त निकट रहते हैं।[3] भगवन्महिमा का गान न करने वाले मनुष्य की जिह्वा मेढक की जिह्वा के समान है।[4] श्रीमद्भागवत में भगवन्नाम की महिमा अनेक प्रसंगों एवं स्थलों पर कही गई है[5], विस्तारभय से केवल दिङ्मात्र प्रदर्शन किया गया है।

(४) **गुरु महिमा**—समस्त विश्व के और विशेषतया भारतवर्ष के आध्यात्मिक साहित्य में 'गुरु' की बड़ी महिमा है। वैदिक काल से आज तक गुरु का सर्वोच्च स्थान निर्विवाद है। अज्ञान तिमिर से अन्ध शिष्य के नेत्रों को गुरु अपने ज्ञानाञ्जन की शलाका से खोलता है। जिस परम गुह्य तत्व से यह चराचर जगत् व्याप्त है, उसके दिव्य धाम का दर्शन गुरु ही कराता है। गुरु और गोविन्द में, गोविन्द का ज्ञान कराने वाला गुरु ही अधिक गरिमामय है। गुरु ब्रह्मा है, विष्णु है, महेश्वर है; किंबहुना, साक्षात् परब्रह्म है। गुरु के बिना ज्ञान नहीं हो सकता, ज्ञान के लिए गुरु की शरण ग्रहण करनी ही पड़ती

---

१. यथागद वीर्यतममुपयुक्तं यदृच्छया।
अजानतोऽप्यात्मगुणं कुर्यान्मन्त्रोऽप्युदाहृतः॥—श्रीमद्भागवत, ६।२।१९।

२. यथा हरेर्नाम पदैरुदाहृतैस्तदुत्तमश्लोक गुणोपलम्भकम्।
—वही, ६।२।११।

३. हृदिस्थोऽप्यतिदूरस्थः कर्मविक्षिप्त चेतसाम्।
आत्मशक्तिभिरग्राह्योऽप्यन्त्युपेत गुणात्मनाम्॥
—वही, १०।८६।४७।

४. जिह्वासती दार्दुरिकेव सूत न चोपगायत्युरुगायगाथाः।
—वही, २।३।२०।

५. श्रीमद्भागवत—५।३।१२, ५।२४।२०, १०।३४।१७—आदि।

है। सभी धर्म सम्प्रदायों में गुरु के माहात्म्य और परम्परा का निर्वाह हुआ है, हो रहा है।

श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि गुरु भगवत्स्वरूप ही है। साधारण मनुष्य समझ कर उसकी किसी बात की उपेक्षा या अवहेलना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि गुरु सर्वदेवमय होता है।[1] उसे अपना शारीरादि सर्वस्व निवेदन करते हुए, सर्वदा अनुगमन करते हुए अत्यन्त तुच्छ सेवक के समान अहर्निश गुरु की शुश्रूषा में संलग्न रहना चाहिए।[2] भगवत्तत्व वेत्ता, शान्त और भगवत्स्वरूप गुरु सर्वदा उपास्य है।[3] शिष्य के लिए गुरुकुल निवास सत्कर्मों का हेतु है क्योंकि वहाँ भगवदाकार ज्ञानदायी गुरु का निवास होता है। गुरु के सदुपदेश से जो वर्णाश्रमधारी सुगमता से भवसागर पार कर जाते हैं वही अपना सच्चा स्वार्थ जानने वाले हैं। गुरु सेवा से सर्वान्तर्यामी परमेश्वर जितना तुष्ट होता है— उतना यज्ञ, ब्रह्मचर्य, तप और उपशम आदि किसी अन्य साधन से नहीं होता।[4] ज्ञान दीपक का दान करने वाले भगवद्रूप गुरु में मनुष्य बुद्धि करने वाले मनुष्य का समस्त शास्त्र-श्रवणजन्य ज्ञान हाथी के स्नान के समान निष्फल है।[5] गुरु के चरणों का आश्रय लिए बिना मनोनिग्रह करने का प्रयत्न करने वाले मनुष्य उसी प्रकार विपत्तिग्रस्त हो जाते हैं जिस प्रकार बिना कर्णधार की नौका पर यात्रा करने वाले वणिग्जन।[6]

(५) **सत्संग**—प्रवृत्तिमार्ग के गहरे दलदल में फँसे हुए मुमुक्षु पुरुष को भगवदुन्मुख करने के लिए सत्संग अमोघ साधन है। भारतीय अध्यात्म साहित्य में सत्संग पर असकृत् जोर दिया गया है।[7] श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि भगवद्भक्तों की एक क्षण की संगति के सामने स्वर्ग और अपवर्ग भी कोई

---

१. आचार्य मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित्।
न मर्त्य बुद्ध्यासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः॥—श्रीमद्भागवत ११।१७।२७।

२. श्रीमद्भागवत ११।१७।२८–३२

३. मदभिज्ञं गुरुं शान्तमुपासीत मदात्मकम्॥ —वही, ११।१०।५।

४. श्रीमद्भागवत १०।८०।३२-३३।
नाहमिज्या प्रजातिभ्यां तपसोपशमेन वा।
तुष्येयं सर्व भूतात्मा गुरुशुश्रूषया यथा॥ —वही, १०।८०।३४।

५. यस्य साक्षाद् भगवति ज्ञानदीपप्रदे गुरौ।
मर्त्यासद्धीः श्रुतं तस्य सर्वं कुंजरशौचवत्॥ —वही, ७।१५।२६।

६. श्रीमद्भागवत १०।८७।३३।

७. मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपा लेश ाद्वा। —ना० भ० सूत्र ३८

महत्व नहीं रखते, फिर मनुष्य जीवन में प्राप्त होने वाले भोगों की तो गणना ही क्या है ? भगवद्भक्त सन्तों के चरणों से तीर्थ भी पवित्र हो जाते हैं। भव-भय से मुक्त होने के लिए सत्संग रामबाण औषधि है।[1] जिसे जन्म-मरण रूप अति दुःसाध्य रोग के सर्वश्रेष्ठ वैद्य (भगवान्) के पास पहुँचना हो, उसे सत्संग के मार्ग से जाना चाहिए।[2] यदि बुद्धिमान् साधक भगवान् से कुछ चाहता है तो यही कि यदि भगवन्माया से प्रेरित होकर स्वकर्मानुसार वह संसार में भटकता रहे, तब भी जन्मजन्मान्तर तक उसे सत्संग प्राप्त हो।[3] क्योंकि साधुओं का समागम श्रोता और वक्ता दोनों ही को अभिमत होता है, उनके प्रश्नोत्तर सभी प्राणियों का कल्याण करते हैं।[4] विशुद्ध सच्चिदानन्दघन वासुदेवात्मक ब्रह्म का ज्ञान महापुरुषों की चरण रज को शिरोधार्य किए बिना यज्ञ, तप, वेदाध्ययनादि अनेक साधनों से भी प्राप्त करना असम्भव है।[5] वेदोक्त कर्मों में आसक्त पुरुष जब तक महापुरुषों की चरण धूलि का सेवन नहीं कर लेते तब तक उनकी बुद्धि चरम ध्येय (भगवान्) तक पहुँच ही नहीं सकती।[6] इस प्रकार श्रेयोमार्ग के पथिक के लिए श्रीमद्भागवत में सत्संग की अनिवार्यता का उल्लेख किया गया है। सत्संग से जो और भी बड़ी बात होती है, वह है भक्त को भगवान् से भी अधिक प्रिय भगवद्भक्ति की ध्रुव प्राप्ति। भक्ति की प्राप्ति में चाहे अन्य साधन असफल हो जाएँ, किन्तु सत्संग मोघ नहीं हो सकता।[7] सत्संग में सबसे बड़ी विशेषता है—उसका सर्वसंगनिवारकत्व। सत्संग हो जाने पर फिर अन्य संग की इच्छा नहीं रहती। सत्संग के द्वारा ही विभिन्न

---

१. **तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।**
   भगवत्संगिसंगस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥ —श्रीमद्भागवत ४।३०।३४।
   तेषां विचरतां पद्भ्यां तीर्थानां पावनेच्छया ।
   भीतस्य किं न रोचेत तावकानां समागमः ॥ —वही, ४।३०।३७।

२. **श्रीमद्भागवत**, ४।३०।३८।

३. **वही,** ४।३०।३३।

४. **वही,** ४।२२।१९।

५. **न च्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोऽभिषेकम् ।**
   —श्रीमद्भागवत ५।१२।१२।

६. **श्रीमद्भागवत,** ७।५।३२।

७. **महत्संगस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च ।** —ना० भ० सूत्र ३९।
   सत्संगलब्धया भक्त्या मयि मां स उपासिता ॥
   —श्रीमद्भागवत, ११।११।२५।

युगों में दैत्य, राक्षस, गन्धर्व, अप्सरा, नाग, सिद्ध, चारण, गुह्यक, विद्याधर, स्त्री, वैश्य, शूद्र और अन्त्यजों ने भगवत्प्राप्ति की। सर्वसाधन हीन, निरक्षरा गोपियों ने केवल सत्संग जनित भक्तिभाव से ही परमपद प्राप्त कर लिया था।[1]

(६) **वैराग्य**—अध्यात्म पथ के पथिक को दृढ़ वैराग्यवान् होना चाहिए। अपनी मनोगत समस्त कामनाओं का प्रामाणिकता से परित्याग करके जब साधक अपने से अपने में ही तुष्ट होकर—आत्माराम होकर—स्थित होता है, तब उसको स्थितप्रज्ञ कहते हैं। किन्तु स्थितप्रज्ञ होने के लिए पहले अपनी समस्त इन्द्रियों को उनके विषयों से हटा लेना अनिवार्य है। जिसकी इन्द्रियाँ वश में होती हैं वही वास्तव में स्थितप्रज्ञ कहलाने का अधिकारी है।[2] इन्द्रियजय ही वैराग्य है। भारतीय अध्यात्म विद्या में वैराग्य के द्वारा मन जैसी महान् चंचल शक्ति का निग्रह भी शक्य बताया गया है।[3] योगदर्शन में भी अभ्यास और वैराग्य की अनिवार्यता स्वीकार की गई है।[4] भक्ति शास्त्रों में तो भक्ति की साधना के लिए विषयों से वैराग्य होना—प्रथम सोपान ही बताया गया है।[5]

श्रीमद्भागवत के पद्मपुराणोक्त माहात्म्य में 'ज्ञान' और 'वैराग्य' को भक्ति के दो पुत्रों के रूप में बताया गया है।[6] इससे ज्ञात होता है कि भारतीय अध्यात्मक साधना में 'ज्ञान' और 'वैराग्य' को साधन भी माना गया है, और साध्य भी।[7] किन्तु श्रीमद्भागवत में 'ज्ञान' और 'वैराग्य' को अधिकतर भक्ति के साधन रूप में ही गृहीत किया गया है। इनके द्वारा साध्य फल (प्रेम) भक्ति ही है।

---

१. **श्रीमद्भागवत ११।१२।**

२. **वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतष्ठिता।**—गीता २।६१।

३. **असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।**
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥—वही, ६।३५।

४. **अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोध।**
—पातञ्जलि योगदर्शन (समाधिपाद), सूत्र १२।

५. **तस्याः साधनानि गायन्त्याचार्याः।**
तत्तु विषयत्यागात् संगत्यागाच्च॥ —ना० भ० सूत्र १४, ३५

६. **अहं भक्तिरितिख्याता इमौ मे तनयौ मतौ।**
ज्ञानवैराग्यनामानौ कालयोगेन जर्जरौ॥
—भागवत माहात्म्य, अध्याय १, श्लोक ४५।

७. **वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।**
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यत्तदहैतुकम्॥ —श्रीमद्भागवत, १।२।७।

श्रीमद्भागवत में वैराग्योत्पादन के लिए विविध उपाख्यानों का वर्णन एवं विषयों का निरूपण किया गया है। इनमें पुरंजनोपाख्यान, भवाटवी-वर्णन, ययाति चरित, प्रकृति-पुरुष विवेक, संसार का मिथ्यात्व निरूपण, वर्णाश्रम धर्म-वर्णन और देह-गेह में आसक्त पुरुषों की अधोगति के वर्णन प्रमुख विषय हैं।[१]

श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि यह दुर्मति जीव अपने नाशवान् शरीर से सम्बन्ध रखने वाले—गृह, धन आदि को मोहवश नित्य मानता है। जिस-जिस योनि में जन्म लेता है—उसी-उसी में आनन्द मानने लगता है और उससे इसे वैराग्य नहीं होता। यह अज्ञ जीव अपने स्त्री, पुत्र, गृह, पशु, धन और बन्धु-बान्धवों में अत्यन्त आसक्त होकर अपने को बड़ा भाग्यशाली समझता है। इनके पालन-पोषण की चिन्ता से अहर्निश इसके अंग जलते रहते हैं; फिर भी दुर्वासनाओं से युक्त होकर यह निरन्तर इन्हीं के लिए नाना दुष्कर्म करता ही रहता है। कुलटा और मायाविनी स्त्रियों की चिकनी-चुपड़ी बातों और छोटे बालकों के कल-भाषणों से आक्षिप्त मन वाला यह प्राणी गृहस्थ के अति दुःखदायी कर्मजाल में फँसकर भी बड़ी सावधानी से दुःखों का प्रतीकार करता हुआ अपने को सुखी मानता रहता है किन्तु जब दुर्भाग्य से इसका कोई प्रयत्न काम नहीं देता और यह धनहीन हो जाता है—तो कुटुम्ब के भरण-पोषण में असमर्थ यह पुरुष अत्यन्त दीन होकर दीर्घ निःश्वास छोड़ने लगता है। कुटुम्ब-भरण में असमर्थ इस पुरुष का स्त्री, पुत्रादि भी पहले की भाँति आदर नहीं करते—जैसे किसान बूढ़े बैल का। वृद्धावस्था के कारण इसका रूप नष्ट हो जाता है। रोग के कारण पुरुषार्थ का क्षय हो जाता है; किन्तु फिर भी अपने पुत्रादि द्वारा अपमानपूर्वक दिए हुए रोटी के टुकड़ों पर गृह-रक्षक कुत्ते की भाँति पड़ा-पड़ा मृत्यु की प्रतीक्षा करता रहता है।[२] इस प्रकार श्रीमद्भागवत

---

१. द्रष्टव्य—**श्रीमद्भागवत :** स्कन्ध ३, अध्याय २७, ३०। स्कन्ध ४, अध्याय २५, २९। स्कन्ध ५, अध्याय १३, १५। स्कन्ध ९, अध्याय १८, १९। स्कन्ध ११, अध्याय ३, १०, १९-२९।

२. **आत्मजायासुतागार पशुद्रविणबन्धुषु।**
निरूढ मूलहृदय आत्मानं बहुमन्यते॥
सन्दह्यमानसर्वांग एषामुद्वहनाधिना।
करोत्यविरतं मूढो दुरितानि दुराशयः॥

—श्रीमद्भागवत, ३।३०।६-७ आदि।

विशेष द्रष्टव्य—**श्रीमद्भागवत :** स्कन्ध ३, अध्याय ३०, ३१, ३२।

में देह-गेह में आसक्त मनुष्य की दयनीय दशा का वर्णन कर मुमुक्षु पुरुष के हृदय में वैराग्य का संचार करने का प्रयत्न दृष्टिगत होता है। वैराग्य के अनेक साधनों में श्रीमद्भागवत में प्रमुखतया हम निम्नांकित तीन विषयों का निरूपण पाते हैं—

(क) रमणी के मोहक रूप की निन्दा,
(ख) अर्थ-निन्दा, और
(ग) मनुष्य शरीर की दुर्लभता।

(क) नारी—जहाँ भारतीय साहित्य में नारी को परम पुनीत मातृ-शक्ति के रूप में अभ्यर्चनीय बताया गया है,[1] वहाँ इन्द्रियग्राम को सद्यः मथित कर डालने वाले उसके मदिर रूप यौवन को अध्यात्म मार्ग का एक महान् प्रत्यूह भी बताया गया है।[2] हिन्दी भक्ति-साहित्य में नारी के इस मादक रूप की ज्वाला से ही साधक और मुमुक्षु पुरुष को निरन्तर सचेत रहने का जो आदेश दिया गया है[3]—उसका आधार प्राचीन संस्कृत-साहित्य ही है। भक्ति के चरम लक्ष्य को लेकर चलने वाले श्रीमद्भागवत पुराण में ज्ञान और वैराग्य का निरूपण अनेक स्थलों पर है और नारी के मदिर आकर्षण की शक्ति का उल्लेख प्रबल शब्दों में किया गया है। नारी की यह निन्दा संस्कृत और उससे अनुप्राणित हिन्दी भक्ति-साहित्य में नारी के प्रति किसी द्वेष के कारण नहीं, अपितु साधक को सावधान करने के लिए एक साधन रूप में गृहीत है। श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि जीव का सबसे बड़ा बन्धन स्त्री है। विश्व में कोई भी पुरुष ऐसा नहीं है जो स्त्री-रूप माया से मोहित न हो। अतः योग के परम पद पर आरुरुक्षु पुरुष को स्त्री-संग का सर्वथा त्याग करना चाहिए। यह स्त्री रूपिणी भगवन्माया अत्यन्त प्रबल है। योगी के लिए तो यह नरक का द्वार और तृण से आच्छादित मृत्यु कूप ही है।[4]

---

१. देवि प्रपन्नार्ति हरे प्रसीद, प्रसीद मातर्जगतोऽखिलस्य।—दुर्गासप्तशती
२. (क) किमत्र हेयं कनकं च कान्ता।
(ख) द्वारं किमेकं नरकस्य नारी॥ —प्रश्नोत्तरी
३. दीपसिखा सम जुवति तन, मन जनि होसि पतंग। —रामचरितमानस
४. न तथास्य भवेन्मोहो बन्धश्चान्य प्रसंगतः।
योषित्संगाद्यथा पुंसो यथा तत्संगिसंगतः॥
तत्सृष्ट सृष्ट सृष्टेषु कोऽन्वखण्डित धीः पुमान्।
ऋषिं नारायणमृते योषिन्मय्येह मायया॥

(ख) अर्थ-निन्दा—'धन दुर्मदान्ध पुरुष कभी भी भगवत्प्राप्ति नहीं कर सकता', इस भारतीय दृष्टिकोण की पुष्टि श्रीमद्भागवत में अनेक स्थलों पर हुई है। धन-नाश से ही मनुष्य में वैराग्य का संचार होता है और वैराग्य से भगवद्भक्ति प्राप्त होती है, यह क्रम है। श्रीमद्भागवत में एक तितिक्षु ब्राह्मण के उपाख्यान[1] में अर्थ की अनर्थता और अर्थ-नाश से वैराग्योत्पत्ति की बात कही गई है। वैराग्य के लिए धन-नाश प्रथम सोपान है।[2] अर्थ के कारण मनुष्य १५ अनर्थों का शिकार होता है, अतः कल्याण-कामी पुरुष को दूर से ही अर्थ का परित्याग कर देना चाहिए। वे १५ अनर्थ हैं—चोरी, हिंसा, मिथ्या-भाषण, पाखण्ड, काम, क्रोध, गर्व, अहंकार, भेद-बुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्धा और (स्त्री, द्यूत, मद्यपानादि) व्यसन।[3] धन के कारण ही मनुष्य का अपने प्रियजनों से वैमनस्य होता है। धन-मद के कारण ही मनुष्य की सात्विकता नष्ट हो जाती है और वह पूर्णतया भगवद्विमुख हो जाता है, अतः साधक को अनर्थों के आश्रय रूप 'धन' में आसक्ति नहीं रखनी चाहिए।[4]

बलं मे पश्य मायायाः स्त्रीमय्या जयिनोदिशाम् ।
या करोति पदाक्रान्तान्भ्रू विजृम्भेण केवलम् ।।
संगं न कुर्यात् प्रमदासु जातु योगस्य पारं परमारुरुक्षुः ।
मत्सेवया प्रतिलब्धात्मलाभो वदन्ति या निरयद्वारमस्य ।।
योपयाति शनैर्माया योषिद्देव विनिर्मिता ।
तामीक्षेतात्मनो मृत्युं तृणैः कूपमिवावृतम् ।।

—श्रीमद्भागवत ३।३१, ३५, ३७, ३८, ३९, ४०;
अन्यत्र भी—६।१८।३९-४२।

१. श्रीमद्भागवत् ११।२३।

२. तस्यैवं ध्यायतो दीर्घं नष्टरायस्तपस्विनः ।
खिद्यतो वाष्पकण्ठस्य निर्वेदः सुमहानभूत ।।
—श्रीमद्भागवत ११।२३।१३।

३. स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयोमदः ।
भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च ।।
एते पंचदशानर्था ह्यर्थमूला मतानृणाम् ।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत् ।।
—वही, ११।२३।१३-१८-१९।

४. स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं प्राप्य लोकमिमं पुमान् ।
द्रविणे कोऽनुषज्जेत मर्त्योऽनर्थस्य धामनि ।।
—वही, ११।२३।२३।

(ग) **मानव-देह की दुर्लभता**—विधाता की इस विशाल सृष्टि में मनुष्य-प्राणी को ही उसकी सर्वश्रेष्ठ कृति होने का सौभाग्य प्राप्त है—'न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित् ।' अन्य प्राणियों को जहाँ केवल इन्द्रिय-प्रेरणा से अवश होकर ही कर्म करने पड़ते हैं वहाँ मानव-प्राणी इन्द्रिय-जयी होकर उत्तम ज्ञान और बुद्धिबल से अपने कर्मों को अभीष्ट दिशा की ओर मोड़ सकता है । जहाँ अन्य योनियाँ भोग भूमि हैं, वहाँ मानव योनि कर्मभूमि है। मानव के कर्मों का ही शुभाशुभ फल होता है, मानव का यह विशेषाधिकार ही उसके सर्वश्रेष्ठत्व का कारण है । धर्माचरण के द्वारा मानव अपने चरम पुरुषार्थ मोक्ष को सबसे अधिक सुविधापूर्वक प्राप्त कर सकता है । इसी दृष्टिकोण को सामने रखते हुए भारत के प्राचीन तत्त्व-चिन्तकों ने मानव-देह को बहुत दुर्लभ और महत्वपूर्ण बताया है । वास्तव में विवेक और वैराग्य का हेतु मानव-देह ही है, किसी अन्य देहधारी में वैराग्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती ।[1] अध्यात्म-प्रधान संस्कृत-साहित्य में अनेक स्थलों पर मानव-देह को सुदुर्लभ बताया गया है ।[2] सूर, तुलसी आदि विरचित हिन्दी भक्ति-साहित्य में यह विचार पुरातन संस्कृत-साहित्य से ही आया है ।[3] श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि परमेश्वर ने अपनी अजेय माया शक्ति से विविध स्थावर-जंगम सृष्टि की, किन्तु उसे सन्तोष न हुआ और जब ब्रह्मदर्शन की योग्यता रखने वाले पुरुष शरीर की रचना की तभी उसे प्रसन्नता हुई । अतः सिद्ध होता है कि परमेश्वर को भी प्रसन्नता प्रदान करने वाला यह मानव-देह ही सर्वश्रेष्ठ है । यह देह भी अनित्य है किन्तु परम पुरुषार्थ का साधन है, अतः अनेक जन्मों के अनन्तर इस दुर्लभ नर-देह को पाकर बुद्धिमान् पुरुष पुनः मृत्यु-मुख में जाने से पूर्व निःश्रेयस का प्रयत्न कर ले । विषय सुखों को प्राप्त करने में इस अमूल्य वस्तु (नर देह) का उपयोग न करे, क्योंकि विषय-सुख तो सभी योनियों में प्राप्त हो जाते हैं ।[4]

---

१. **देहो गुरुर्मम विरक्ति विवेक हेतुः ।** —श्रीमद्भागवत ११।६।२५ ।

२ **नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरु कर्णधारम् ।**
मयानुकूलेन नमस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत्स आत्महा ॥
—वही, ११।२०।१७ ।

३ (क) **परम भाग सुक्रित के फल तें सुन्दर देह धरी ।**
—सूरसागर (प्र० खं०), पद ७१ ।

(ख) **बड़े भाग मानुष तनु पावा । सुर दुर्लभ सब ग्रन्थन्हि गावा ॥**
—रामचरितमानस (उत्तरकाण्ड)

४ **सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयात्मशक्त्या वृक्षान्सरीसृपपशून्खगदंशमत्स्यान् ।**
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः ॥

इस प्रकार पूर्वोक्त तीन विषयों के निरूपण से श्रीमद्भागवत में वैराग्य का उपदेश दिया गया है और यहाँ तक कहा गया है कि बिना भगवदनुग्रह के वैराग्य-प्राप्ति नहीं होती। वैराग्य तो संसार सागर से पार जाने के लिए नौका रूप है।[१]

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन से हम निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँचते हैं—

(१) पौराणिक ब्राह्मण धर्म ने भगवत्प्राप्ति के लिए भक्ति को प्राधान्य दिया और भक्ति का सर्वाधिक प्रचार, महत्व ख्यापन एवं परमार्थ साधन में उसका सर्वश्रेष्ठत्व स्वीकार श्रीमद्भागवत पुराण द्वारा हुआ।

(२) भक्ति के सर्व सामान्य साधनों यथा भगवन्नाम संकीर्तन, सत्संग, वैराग्य आदि का श्रीमद्भागवत में जो वर्णन है वह परवर्ती हिन्दी भक्ति-साहित्य में सादर गृहीत हुआ है।

(३) आर्तभाव से एवं सर्वात्मना शरणागत होकर स्तुतिगान करना, परमेश्वर को तुष्ट करने का अमोघ साधन है। श्रीमद्भागवत में इन भगवत् स्तुतियों का उत्कृष्टतम निदर्शन हुआ है। परवर्ती भक्ति-साहित्य ने उससे अक्षय प्रेरणा ग्रहण की है।

(४) अध्यात्म मार्ग में गुरु के जिस महनीय अनिवार्य पद की प्रतिष्ठा भारतीय पुरातन वाङ्मय में हुई है, श्रीमद्भागवत ने उस परम्परा को और सशक्त बनाया है और हिन्दी भक्ति-साहित्य को प्रेरणा प्रदान की है।

(५) श्रीमद्भागवत प्रमुखतया कृष्ण-भक्तिपरक ग्रंथ होने के कारण उपर्युक्त सामान्य भक्ति-साधनों के लिए भी कृष्णभक्त हिन्दी कवियों का प्रधान उपजीव्य है।

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु यावन्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतःस्यात्॥
—श्रीमद्० ११।९।२८-२९।

एतद्विद्वान्पुरा मृत्योरभवाय घटेत सः।
अप्रमत्त इदं ज्ञात्वा मर्त्यमप्यर्थसिद्धिदम्॥
—वही, ११।२०।१४।

५. नूनं मे भगवांस्तुष्टः सर्वदेवमयो हरिः।
येन नीतो दशामेतां निर्वेदश्चात्मनः प्लवः॥
—वही, ११।२३।२८।

८

सूर की विकासात्मक भक्ति

●

सूर अपने परिवेश के प्रति अत्यंत सजग थे। उनकी ग्राहिका प्रतिभा अतीव उदार एवं सशक्त थी। समस्त वैचारिक स्तरों का सूक्ष्म मूल्यांकन कर उनमें से अनुकूल का ग्रहण और प्रतिकूल का वर्जन उनका स्वभाव था। रूढ़ियों के प्रति वे सर्वदा अनुदार रहे, इसलिए उनकी विचारधारा एवं भक्ति-भावना में कहीं पर भी बासीपन नहीं है। उन्होंने जिस उदारता से ग्रहण किया है, उसी तीव्रता से ग्रहीत तत्वों को अपना बनाने की सामर्थ्य भी उनमें थी। यही कारण है कि वे भागवत के अनुवादक न होकर सूरसागर के स्रष्टा हुए। ग्रहण और सर्जन की अपूर्व प्रतिभा ने ही उन्हें महाकवि बनाया है और उनकी इसी क्षमता ने उनके भाव-जगत् को चिर विकसनशील रखा है।

सूर की भक्ति-भावना में एक क्रमिक विकास परिलक्षित है। वे प्रति सोपान आगे बढ़े हैं। उनके समर्पण में अहंकार कभी आगे नहीं आया, इसलिए उनका मार्ग कभी अवरुद्ध नहीं हुआ। भक्ति-भावना के सूक्ष्मतम स्तरों तक सूर का प्रवेश, मानो साधना के विकास की ही प्रतीक-गाथा है।

सूर की भक्ति-भावना के विकास को जानने के लिए **अनुगम** और **निगमन** इन दो पद्धतियों का आश्रय लिया जा सकता है। अनुगम में सूर की रचनाओं

का क्रमिक विश्लेषण करना आवश्यक है, और निगमन विधि द्वारा सूर के बाह्य परिवेश का मूल्यांकन कर तत्पश्चात् उनकी रचनाओं की क्रमिकता और उनमें उनके हार्द को ढूँढना होगा। प्रथम विधि अधिक प्रामाणिक मानी जाती है परन्तु द्वितीय विधि भी उपस्कारक है, इसमें संदेह नहीं।

अनुगम मार्ग में एक बहुत बड़ी बाधा है, सूर की रचनाओं की प्रामाणिकता का प्रश्न। आज तक इस सम्बन्ध में ऐकमत्य नहीं है कि 'सूर सारावली' और 'साहित्य लहरी' सूरकृत हैं या नहीं। जहाँ तक 'सूरसागर' का प्रश्न है, उसके पदों की प्रामाणिकता पर भी कम महत्वपूर्ण प्रश्न-चिन्ह नहीं हैं। प्रस्तुत लेख का लेखक प्रथम दो ग्रंथों को भी सूरकृत मानने के पक्ष में रहा है। सूर की भक्ति-भावना के विकास को समझने के लिए 'सूर सारावली' अत्यन्त उपयोगी है। अनुगम विधि के लिए 'सूर सारावली' को ही आधार बनाया जा सकता है।

जहाँ तक 'सूरसागर' के उपयोग का प्रश्न है, उसका प्राप्त स्वरूप अत्यन्त विवादास्पद है, अतः सतर्कता की अपेक्षा है। इस सम्बन्ध में दो मत हैं। एक मत है कि 'सूरसागर' की रचना भागवत के अनुवाद या छायानुवाद के रूप में हुई है। दूसरा मत 'सूरसागर' की रचना को वर्षोत्सव के क्रम में रचित मानने के पक्ष में है। जहाँ तक प्रथम मत का प्रश्न है, वह नितान्त विश्वसनीय नहीं है। सूर किसी एक ही समय भागवत का अनुवाद करने बैठे हों, ऐसा सिद्ध नहीं किया जा सकता। 'सूरसागर' भागवत का अनुवाद किसी भी रूप में नहीं है। कहा जा चुका है कि सूर अनुवादक नहीं, स्रष्टा हैं अतः भागवत का आधार ग्रहण करते हुए भी वे उसके सर्वथा अनुवर्ती नहीं हो सके हैं।

'सूरसागर' के स्कंधात्मक संस्करण परवर्ती काल के हैं। श्रीकृष्ण के चरित्र को भागवत की पृष्ठभूमि में रखकर देखने की धारणा ने ही 'सूरसागर' के इस प्रकार के संकलन की प्रेरणा दी होगी। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि सूर ने स्वयं अपने पदों का भागवत की कथानुसार सम्पादन किया होगा और ऐसा करने के लिए जिन त्रुटित अंशों को पूरा करना उन्होंने आवश्यक समझा होगा, उन्हें कथारूप में लिख दिया होगा। परन्तु इस अनुमान के लिए सुदृढ़ आधार नहीं है। यदि सूर ने ऐसा किया भी हो, तो वह सूरसागर के भावना-प्रधान सूर की रचना पद्धति न होकर संपादक सूर का कार्य होगा। सूर का यह दूसरा व्यक्तित्व—कवि का नहीं, सम्पादक का हो सकता है। इसीलिए जिन कथात्मक अंशों को भागवत के पूरक रूप में उद्धृत किया जाता है, प्रस्तावकों ने भी उनमें काव्यत्व नहीं माना है। परन्तु सूर के सम्पादक बनने की संभावना मात्र कल्पना ही है।

'सूरसागर' के वर्षोत्सव के आधार पर ग्रंथित संस्करण स्कंधात्मक संस्करणों से कहीं अधिक प्राचीन हैं। सम्प्रदाय की कीर्तन-सेवा के लिए ऐसे संग्रहों की आवश्यकता थी, अतः उत्सव क्रम से सूर के पदों का संकलन किया जाना स्वाभाविक था। सूर की पर्याप्त संख्या में पद-रचना होने पर ही ऐसे संकलन होने का प्रश्न उठता है। सूर के अनेक पद ऐसे भी हैं जिनका लीला-विधान विशेष पर्वों से पूर्णतया सम्बन्धित नहीं है, उनकी रचना कवि ने स्वतन्त्र वातावरण में की होगी। अतः वर्षोत्सव को प्रेरणादायक श्रृंखला के रूप में स्वीकार करते हुए भी सूर को इसी क्रम में बाँध देना, निर्मुक्त सूर के साथ अन्याय ही होगा।

सूर का काव्य आत्मपरक गीतिकाव्य है। वह किन्हीं बन्धनों का नहीं, भाव का अनुगमन करता है। फिर, भागवत की प्रेरणा या उत्सवों का वातावरण बाह्य उत्तेजक तो अवश्य हैं, वे मूल उत्तेजक नहीं हो सकते। बाहर की प्रकृति में तो वसंत वर्ष में एक बार ही आता है, परन्तु सूर के हृदय-राज्य में में तो वसंत प्रतिदिन छाया रहता था। ऋतुओं का समागम सूर के भावाकुल हृदयाकाश में निर्बाध रूप से होता रहता था, और उनमें विहार करते थे उनके श्यामसुन्दर, श्रीराधा और व्रजयुवतियाँ। सूर का यह नित्यसिद्ध मन जब काव्य में अपने आप को प्रकट करता होगा—तब बाह्य वातावरण उनके भावलोक का सहायक ही हो सकता था, बाधक नहीं। सूर-काव्य का मूल-स्वरूप यही आत्म-साम्राज्य का प्रकाशन है, इसलिए उस पर बाह्य-क्रमों को दृढ़ता से आरोपित नहीं किया जा सकता।

फिर, सूरसागर के पदों के क्रम की समस्या ज्यों की त्यों है, इसका निर्धारण आंतरिक दृष्टि से सम्भव नहीं है। क्रम के अभाव में भक्ति-भाव का विकास कैसे देखा जाय? इसके लिए हमें निश्चित रूप से विनिगम पद्धति का आश्रय लेना पड़ेगा। हाँ, उसका समर्थन 'सूर सारावली' द्वारा किया जा सकता है, क्योंकि उसका कथाक्रम निश्चित ही है।

'सूरसागर' का रचनाक्रम सूर के जीवन-क्रम से जोड़कर देखना अपेक्षित है। सूरदास जी के जीवन की आधारभूत सामग्री वार्ता-ग्रंथ हैं। उनकी प्रामाणिकता के सन्बन्ध में भी मतभेद हैं, परन्तु आज सूर का जो भी जीवन-वृत्त ज्ञात है वह सब वार्ता-ग्रन्थों के अतिरिक्त और कुछ है भी नहीं। विशिष्ट साम्प्रदायिक ऊहापोहों के लिए भले ही वार्ताकारों का आग्रह तथ्यों के विपरीत माना जाय; परन्तु जहाँ तक जीवन की धार्मिक अथवा विश्वासगत निर्विवाद मान्यताओं का सम्बन्ध है, वहाँ वार्ता-ग्रन्थों को आधार मानने में आपत्ति नहीं है। यही नहीं,

वे हमारे अध्ययन के महत्वपूर्ण सोपान हैं और हमें अनेक निष्कर्ष कक्षों तक पहुँचने के लिए मार्ग प्रदान करते हैं।

गोकुलनाथ-जी कृत 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में सूरदास जी की वार्ता है। इस वार्ता का विशदीकरण गोकुलनाथ जी के पौत्र हरिराय जी ने अपनी 'भाव' नामक व्याख्या में किया है, जो वार्ताओं का एक महत्वपूर्ण भाग माना जा सकता है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' से सूर के गऊघाट पर आने से पूर्व के किसी प्रसंग पर प्रकाश नहीं पड़ता, बीच-बीच में भी बहुत-सी बातें छूट गई हैं। हरिराय जी ने इस अभाव को ही अपनी 'भाव' नामक व्याख्या से दूर किया है। उन्होंने अपनी वार्ताओं की सामग्री गोकुलनाथ जी एवं उनके समकालीन जनों से प्राप्त की थी। इस वार्ता में सूर के जीवन के ग्यारह प्रसंग दिये गये हैं।

'भाव' के अनुसार सूर का जन्म दिल्ली से चार कोस इधर सीहीं नामक ग्राम में हुआ। सूर में आरम्भ ही से चामत्कारिक प्रतिभा थी और वैराग्य की भावना भी थी। ६ वर्ष की आयु में उन्होंने अपना घर छोड़ दिया। १८ वर्ष की अवस्था तक वे सीहीं से चार कोस इधर एक पीपल के वृक्ष के नीचे स्थान में रहे, जो उनके सेवकों ने बना दिया था। इस समय तक सूरदास जी 'स्वामी' कहलाने लगे थे और बहुत से मनुष्य उनके सेवक हो गये थे। सूरदास जी पद-रचना भी करते थे। 'भाव' के अनुसार—"सो सूरदास विरह के पद सेवकन कों सुनावते।" एक दिन सूर का मन उचटा और वे वहाँ से चलकर गऊघाट पर आ गये।

हरिराय जी के अनुसार १८ वर्ष की आयु से पूर्व ही सूरदास पद-रचना करने लगे थे। उनके पदों का विषय—'विरह' या 'विनय' होता था।

कुछ विद्वान् 'सूर सारावली' के एक छंद—

"शिव विधान तप कर्‌यौ निरंतर, तऊ पार नहिं लीन।"

के आधार पर सूर का उस काल में शैव होना भी सिद्ध करते हैं। 'भाव' के अनुसार तो वे वैष्णव ही हैं, क्योंकि अपना घर 'नारायन' के भरोसे ही छोड़ा था और उन्होंने कूच भी भगवान कृष्ण की लीलाभूमि की ओर ही किया था।

गऊघाट पर वल्लभाचार्य जी से प्रथम मिलन के प्रसंग में भी उनकी शरण में होने से पूर्व सूर की भक्ति-भावना का पता चलता है। वल्लभाचार्य जी ने जब सूर से पद गाने के लिए कहा तो सूर ने निम्न दो पदों का गान किया—

(१)

हरि, हौं सब पतितनि कौ नायक।
को करि सकै बराबरि मेरी, और नहीं कोऊ लायक॥

जो प्रभु अजामील कों दीन्हों सो पाटी लिखि पाऊँ।
तौ विस्वास होइ मन मेरें, औरौ पतित बुलाऊँ॥
बचन बाँह लै चलौ गाठि दै, पाऊँ सुख अति भारी।
वह मारग चौगुना चलाऊँ तौ पूरौ ब्यौपारी॥
यह सुनि जहाँ तहाँ तें सिमिटे, आइ होइ इक ठौर।
अब कें तौ आपुन लै आयौ, बेर बहुर की और॥
होड़ा होड़ी मनहिं भावते किए पाप भरि पेट।
ते सब पतित पाँय तरि डारौ, यहै हमारी भेंट॥
बहुत भरोसौ जानि तिहारौ, अघ कीन्हे भरि भांडौ।
लीजै बेगि निबेरि तुरत ही, 'सूर' पतित कौ टांडौ॥

(२)

प्रभु, हौं सब पतितनि कौ टीकौ।
और पतित सब दिवस चारि के, हौं तौ जनमत ही कौ॥
बधिक अजामिल गनिका तारी, और पूतना ही कौ।
मोहिं छाँडि तुम और उधारे, मिटै सूल क्यौं जी कौ॥
कोउ न समरथ अघ करिबे कौं, खेंचि कहत हौं लीकौ।
मरियत लाज 'सूर' पतितनि में, मोहूँ तें को नीकौ॥

उक्त दोनों पद नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित 'स्कंधात्मक सूरसागर' के प्रथम स्कन्ध में हैं। इसी भावना को लेकर इसमें और भी अनेक पद हैं। वस्तुतः विनय के अनेक पद भागवत की कथा से असम्बन्धित होकर भी इसमें आरम्भ में एकत्र कर दिये गए हैं। यदि इन सभी को हम वल्लभाचार्य जी की शरण में आने से पूर्व की सूर की रचना मान लें तो अधिक आपत्ति की बात न होगी। इन पदों में विनय की भावना भी है और सूर के आरम्भिक काव्य-उल्लास का दर्शन, साथ ही शैली की अनेक स्थानों पर अपरिपक्वता भी इनमें दिखाई देता है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि बाद में सूर ने विनय के पद लिखे ही नहीं क्योंकि विनय की भावना तो भक्त में सदा ही रहती है परन्तु आरम्भ के इन पदों में वल्लभाचार्य जी के शब्दों के ही पूर्णतया अनुकूल 'घिघियाना' ही अधिक है। 'सूरसारावली' के अनुसार वल्लभ की शरण में आने से पूर्व वे कर्म, योग, ज्ञान, उपासना आदि के अनेक भ्रमों में भटकते रहे थे—

'करम जोग पुनि ज्ञान उपापन सब ही भ्रम भरमायौ।'

वस्तुतः इन पदों में भटकने की सामान्य भावना ही तीव्र रूप में प्रकाशित हुई है।

सूर के विनय सम्बन्धी पदों का अध्ययन करने से हम इन निष्कर्षों पर पहुँचते हैं—

१. वल्लभाचार्य जी की शरण में आने से पूर्व सूर पद-रचना करने लगे थे।
२. उनका विषय—विनय या भगद्विरह होता था।
३. भगवान् के सामान्य रूप, विशेषकर श्रीकृष्ण और सम्भवतः शिव आदि भी उनके उपास्य थे।
४. कर्म, योग, ज्ञान, उपासना—सभी में सूर का मन भटकता था, क्योंकि वे खोजी थे।
५. यह तो नहीं कहा जा सकता कि विनय के सभी पद उसी काल की रचना हैं, पर अधिकतर विनय के पदों का रचना-काल यही है, यह स्पष्ट है।

सूर की विनय-भावना

सूरदास के विनय के पदों में एक ओर संसार के प्रति तीव्र वैराग्य, और दूसरी ओर परमात्मा के प्रति क्रमशः बढ़ती हुई आसक्ति दिखाई देती है। संसार असार है, सूर ने यह समझ लिया था और इस भवसागर से पार होने का एकमात्र मार्ग—भगवान् की भक्ति ही है, यह सम्भवतः सूर को साधुओं की संगति से ज्ञात हो गया था। उनका विश्वास था कि भगवान् पतितों का उद्धार करते हैं। सूर ने अपने विनय के पदों में इसी विश्वास को दुहराया है कि वे अत्यन्त पतित हैं और इसलिए उद्धार का अधिकार भी उन्हीं का है।

विनय की पहली भूमिका अपने को दीन-हीन, पतित-निकृष्ट मानना ही है। भगवान् को कृपालु, पतिपावन और सर्व-समर्थ मानना इस भावना का पूरक है। इस भावना में भक्त भगवान् पर पूर्णतया आश्रित हो जाता है और भगवान् उसके लिए निश्चित से हो जाते हैं। इस प्रकार की साधना अहंकार का नाश कर सभी प्रकार के कलुषों से चित्त को प्रक्षालित करती है और पूर्ण समर्पण का पथ प्रशस्त करती है। अनन्यता का आरम्भ भी यहीं से होता है। अपने का निकृष्टातिनिकृष्ट सिद्ध करने के लिए सूर ने इन पदों में उन समस्त पौराणिक भक्तों का नाम भी बार-बार दुहराया है, जिन्हें पापी या असमर्थ होते हुए भी प्रभु ने अपनी करुणा से तार दिया है। अजामिल, गणिका, गीध, गज, गौतमपत्नी, द्रौपदी आदि का कथन अनेक बार हुआ है। इनकी पंक्ति में सबसे पीछे खड़े होकर सूर ने अपनी 'बारी' पाने के लिए गुहार की है।

विनय के इन पदों में कवि ने अपने किसी सामर्थ्य या कर्त्तव्य-कर्म का निर्देश कहीं नहीं किया है। उसका कर्म तो सदा ही नीच कार्य करना

रहा है, वह तो जन्म-जन्म का पापी, लोभी, लालची है। प्रभु-सेवा की सामर्थ्य उसमें है ही नहीं, फिर उसके लिए अपने को प्रेरित करने से क्या लाभ? सर्वस्वार्पण में कर्म का भी पूर्ण समर्पण है। कर्म का लेश भी प्रभु को भक्त की ओर से विमुख कर देता है, यह भावना सूर में जाग्रत रही है। इसलिए उसने पूर्णतः भगवान् की कृपा का अवलम्बन लिया है। अपनी अधमाई और प्रभु की प्रभुताई पर उसका अखण्ड विश्वास है।

भगवद्विरह की भावना से हृदय पवित्र होता है और परमात्मा से मिलन की तड़प बढ़ती जाती है।

रस की दृष्टि से विचार करें तो विनय की यह भूमिका शान्त रस के अन्तर्गत आती है। शान्त रस का स्थायी भाव 'निर्वेद' या 'शम' कहलाता है। इन दोनों में थोड़ा अन्तर है। निर्वेद में संसार के प्रति प्रतिक्रियात्मक वैराग्य की भावना प्रधान होती है, और शम में दुःख-सुख, चिन्ता, राग-द्वेष आदि का अभाव यानी तटस्थता का भाव रहता है। सूर के विनय के इन पदों में संसार के प्रति वैराग्य की भावना तो प्रबल रूप में प्रकट हुई है, परन्तु उसमें अभी तक संतोष नहीं है। सूर का यह असंतोष सांसारिक नहीं है अपितु अपना सही मार्ग प्राप्त करने की लालसा को लेकर है। अभी तक उसे भगवच्छरणागति प्राप्त नहीं हो रही है, इस बात की चिन्ता सूर को खाये जा रही है। सूर के हृदय के इस दुःख को 'मुच्छित की आकुलता' का नाम दिया जा सकता है। संसार की ओर से उसे भले ही 'शम्' कह लिया जाय, पर सूर का 'शम्' जीवन की अन्तिम शान्ति नहीं है, जहाँ लम्बी यात्रा से थका हुआ यात्री अपने जीवन के सफल अभियान पर सांसारिक आवेगों से ऊपर उठकर शान्ति और संतोष का अनुभव करता है। सूर में यह नहीं है, इन पदों में तो ऐसी आकुलता है, जिसमें नये जीवन को जीने की अमिट लालसा है, जिसमें अपनी अनिश्चित स्थिति से त्राण पाने की उत्कटता पूर्णतः विद्यमान है।

विनय के इस शम्भाव को हम सांसारिक इच्छाओं का अन्त मान सकते हैं, जीवन का अन्त नहीं। वस्तुतः लोककाव्य-सम्बन्धी शान्त से आगे बढ़ कर भक्ति शान्त रस की अलौकिकता में ही इस विनय को देखना अधिक संगत होगा।

भक्ति रस के पाँच भेद बताये गये हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वत्सल और मधुर। शान्त रस के आलम्बन 'श्री हरि' होते हैं। भक्त का संसार से विरक्त होकर, उसके राग-द्वेष से ऊपर उठकर और विशेष रूप से निरहंकार होकर भगवान् की निष्ठा में लीन होना ही 'शम्' है। इस विषय को समझने में 'हरिभक्ति रसामृत सिन्धु' से उठाये गये कुछ अंश सहायक हो सकते हैं। वहाँ कहा गया है—

शान्तरस—

नास्ति यत्र सुखं दुःखं न द्वेषो नच मत्सरः।
समः सर्वेषु भूतेषु स शान्तः प्रथितो रसः॥

आलम्बन—

चतुर्भुजश्च शान्ताश्च तस्मिन्नालंबना मताः।
विभुरित्यादि गुणवान्नस्मिन्नालंबनो हरिः॥

निरहंकारिता—

सर्वयेवमहंकार रहितत्वं व्रजन्ति चेतुः

चिन्ता—

भवेत्कदाचित्कुत्रापि नन्दसूनोः कृपाभरः।

'हरिभक्ति रसामृत सिन्धु' में शान्तरस भक्ति के अन्य भेदोपभेद भी किये गये हैं। हम मात्र उद्धृत अंशों के आधार पर ही सूर की समीक्षा करें तो कह सकते हैं कि सूर हरि को आलंबन के रूप में ग्रहण कर चुके हैं परन्तु अभी तक भगवान् के किसी एक रूप में ही उनकी एकनिष्ठता परिपक्व नहीं हुई है। श्री रूप गोस्वामी ने जान बूझकर चतुर्भुज भगवान् को शान्तरस का आलम्बन कहा है। इसका तात्पर्य है कि भगवान् का कोई भी सर्वमान्य रूप शान्तरस (भक्ति) का आलंबन हो सकता है। सम्भव है सूर ने इस क्रम में शिव की भक्ति के पद भी लिखे हों जो वैष्णव संग्राहकों ने अपने संकलनों में रखना आवश्यक न समझा हो। सूर ने यहाँ भगवान् के अनेक सर्वसामान्य नामों का प्रयोग किया है। हरि, गोपाल, राम आदि नाम—उस काल में सर्व प्रचलित थे, जिनका किसी सम्प्रदाय विशेष से ही सम्बन्ध न था। सूर इन पदों में भगवान् के उद्धारक रूप के प्रति जितनी आशक्ति प्रकट करते हैं, वैसी आसक्ति भगवान् के रूप-माधुर्य, लीला-माधुर्य आदि के प्रति प्रकट नहीं हो सकी है। अतः शान्तरस का ही श्रेष्ठ रूप सूर के विनय के पदों में अभिव्यक्त माना जा सकता है।

सूरदास के विनय के पदों में शान्त के साथ दास्य भाव की भी अभिव्यक्ति हुई है। वस्तुतः विनय के लिए दास्य की भावना भी अनिवार्य ही है। भाव-सम्बन्ध का नाम ही 'भक्ति' है। शान्त के उत्तरार्द्ध में जहाँ भक्त प्रभु को भक्ति का आलंबन बनाता है—उसे अपना 'स्वामी' भी मानता है, वहीं दास्य भाव का प्रकाशन होता है।

'हरिभक्ति रसामृतसिन्धु' में श्री रूप गोस्वामी ने दास्य को प्रीत भक्ति-रस कहा है और इसके 'संभ्रम प्रीत' और 'गौरव प्रीत'—दो भेद किये हैं। इनमें गौरव-प्रीत तो लाल्याभिमानी भक्तों का होता है और संभ्रम उन भक्तों में

निष्पन्न होता है जिनमें कृष्ण के प्रति दासाभिमान है। दासाभिमानी प्रीति ही पुष्यमाण होकर संभ्रम प्रीतरस या दास्य रस की सिद्धि करती है :—

दासाभिमानिनां कृष्णे स्यात् प्रीतिः संभ्रमोत्तरा।
पूर्ववत् पुष्यामाणोऽयं संभ्रम प्रीत उच्यते।

हरि और उनके भक्त इस रस के आलम्बन हैं। अनुग्रह अथवा चरण-रज प्राप्ति उद्दीपन हैं। नृत्य आदि अनुभाव हैं और हर्ष, गर्व आदि संचारी हैं।

सूर के विनय के पदों से दास्य के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। वे भगवान को अपना स्वामी और स्वयं को भगवान् का सेवक मानते हुए भगवान् की भक्त-वत्सलता को सिद्ध करते हैं—

हरि सौ ठाकुर और न जन कौं।
जिहिं जिहिं विधि सेवक सुख पावै, तिहिं विधि राखत मन कौं।
भूख भए भोजन जु उदर कौं, तृषा तोय पट तन कौं।
लग्यौ फिरत सुरभी ज्यों सुत संग, औचट गुनि गृह बन कौं॥

× × ×

संकट परैं तुरत उठि धावत, परम सुभट निज पन कौं।
कोटिक करैं एक नहिं मानैं, 'सूर' महा कृतघन कौं॥

विनय के पदों में सूरदास के प्रभु, स्वामी आदि के अनेक सार्थक प्रयोग दास्य भाव के ही परिचायक हैं। ऐसे पदों की संख्या पर्याप्त है।

दास्य के साथ ही थोड़ा विचार 'सख्य' का भी कर लिया जाय। दास्य में जब अधिक विश्वास अथवा अधिकार की भावना जन्म लेती है तो भक्त केवल माँग कर ही नहीं, कुछ अकड़कर भी अपने प्राप्य को चाहता है। यह भावना उसे परमात्मा के साथ मित्रता का सम्बन्ध प्रदान करती है। मित्र वही है जो समय पर काम आये, सूर के लिए भगवान् ऐसे ही मित्र हैं :—

हरि सौ मीत न देख्यौ कोई।
विपति काल सुमिरत तेहि औसर, आनि तिरीछौ होई॥

× × ×

लाक्षागृह तें जरत पांडु सुत, बुधि बल नाथ उबारे।
'सूरदास' प्रभु अपने जन के, नाना त्रास निवारे॥

—(प्रथम स्कंध)

यहाँ मित्रता होड़ में बदल जाती है और भक्त भगवान् को ललकार भी देता है :—

मोहिं प्रभु तुम सौं होड़ परी।
ना जानौं करिहौऽब कहा तुम नागर नवल हरी।

हुतीं जिती जग में अधमाई, सो मैं सबै करी ॥
अधम समूह उधारन कारन तुम जिय जक पकरी।
मैं जु रहौं राजीव नैन दुरि पाप पहार दरी ॥'
—(प्रथम स्कंध)

अथवा—

आजु मैं एक-एक करि टरिहौं।
कै तुम ही कै हम ही माधौ, अपने भरोसे लरिहौं।
हौं तौ पतित सात पीढ़िन कौ, पतितै ह्वै निस्तरिहौं।
अब हौं उघरि मच्यौ चाहत हौं, तुम्हैं विरद बिन करिहौं।
कत अपनी परतीति नसावत, मैं पायौ हरि हीरा।
'सूर' पतित तबहीं उठिहै, प्रभु जब हँसि दैहैं बीरा।

ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है कि शान्त, दास्य, सख्य—ये सब विनय की भूमिका के अंग हैं। तुलसीदास जी की 'विनय-पत्रिका' में भी ये सब अंग अत्यंत स्पष्ट हैं।

परन्तु सूर के विनय के पदों में दास्य एवं सख्य की भावना भाव मात्र ही है, उनका रस स्वरूप वहाँ नहीं निखर सका है। इसका कारण यह है कि सूर की दृष्टि इन पदों में वैराग्य पर प्रधान रूप से रही है और उसके पश्चात् भगवान् की महिमा पर। सम्बन्ध-भाव का पूर्ण विकास अभी तक नहीं हुआ है। कहा जा चुका है कि सूर के सामने अभी प्रभु का माधुर्यमय व्यक्तित्व प्रकट नहीं हुआ है। अपने को भी उसने पतित के रूप में ही देखा है, इसलिए उसमें अपने उद्धार की गुहार तो है, रागात्मकता नहीं। सम्बन्ध-भाव के लिए भक्त में जो निजी भावात्मक पात्रता चाहिए, उसका इन पदों में अभाव है। यहाँ तो सूर की एक ही योजना है, और वह है—अपनी अधमाति-अधमता सिद्ध करना, अतः विनय के पदों में शान्त रस का परिपाक ही मानना चाहिए। दास्य और सख्य भाव कोटि तक ही पहुँच सके हैं। वे शान्तरस के अंग भी कहे जा सकते हैं। वे हैं। अवश्य सूर का अनुभव शान्त के आगे दास्य और सख्य के आरम्भिक सोपानों तक चढ़-उतर अवश्य चुका है। श्री वल्लभाचार्य जी के मिलन से पूर्व सूर की भक्ति का विकास यहीं तक समझना चाहिए।

श्री वल्लभाचार्य जी से मिलन के पश्चात्

सूरदास स्वामी होते हुए भी निरहंकारी थे, इसीलिए समर्पित चित्त से वल्लभाचार्य जी के निकट जा पहुँचे। वल्लभाचार्य जी ने सूर के भक्तिनिष्णात हृदय को पहचान लिया। सूर के हार्द को जानने के लिए ही उन्होंने उनसे पद गाने के लिए कहा। सूर के पद सुनकर श्री वल्लभाचार्य जी ने उन्हें जो नवीन

दृष्टि प्रदान की, उसी से उनकी भक्ति पूर्ण रसात्मकता को प्राप्त कर सकी और उनके लिए आनन्द के द्वार खुल गये।

नवीन दृष्टि : लीला-भावना

वल्लभाचार्य जी ने सूर से 'घिघियाना' होकर 'भगवल्लीला बरनन' करने के लिए कहा। श्री हरिराय जी इस स्थल की व्याख्या करते हुए 'भाव' में कहते हैं—"ताकौ आसय यह है, जो जीव श्री भगवान सों बिछुर्यौ, सो तब तौ पतित भयौ। सो ताकौं बहौत कहा कहनौ। तासों भगवत् लीला गावो जासों सुद्ध होइ।"

लीलागान से पवित्रता प्राप्त होती है। लीलागान से भगवान् के रस-रूप का ज्ञान होता है और उनका सानिध्य प्राप्त होता है। भक्त इस दृष्टि को प्राप्त करते ही पापी से लीलाभागी बन जाता है, दु.खवाद से छूटकर आनन्द-वादी बन जाता है। उसकी जीवन को नकारात्मक अथवा तटस्थता से देखने की वृत्ति भावात्मक हो जाती है। जब तक जीव संसार की पृष्ठभूमि में अपने को देखेगा, वह अपने को 'पातकी' समझता रहेगा। परन्तु जैसे ही वह भगवान् की लीला का अंग बन जाता है, उसका शुद्ध रूप सामने आ जाता है। वह शुद्ध सच्चिदानन्द परमात्मा का अंश है, लीला के माध्यम से अपने उसी रूप को प्राप्त कर लेता है।

सूर को यह दृष्टि-भेद प्राप्त हुआ। श्री वल्लभाचार्य जी ने उन्हें समर्पण कराया और दशम स्कंध की अनुक्रमणिका सुनाई। सुबोधिनी जी का ज्ञान सूर के हृदय में स्थापित किया। सूर ने 'सुबोधिनी' के आरम्भिक पद का भावानुवाद अपने—**'चकई री चलि चरन सरोवर जहाँ न प्रेम-वियोग'**—शीर्षक पद में प्रस्तुत किया। उक्त पद आज जिस रूप में मिलता है, उससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यद्यपि सूर को नवीन दृष्टि प्राप्त हो चुकी है परन्तु उनकी शब्दा-वली वही है। प्राचीन और नवीन—दोनों भावनाओं और शैलियों का संगम इस पद में दिखाई देता है।

उक्त पद के अनन्तर वल्लभाचार्य जी ने सूर को नन्दालय की लीलाएँ गाने का आदेश दिया। इस आज्ञा से सूर का प्रथम बार लीला में प्रवेश हुआ। उन्होंने कृष्ण-जन्म की बधाई निम्न शीर्षक पद में प्रस्तुत की—

'ब्रज भयौ महरि कें पूत, जब यह बात सुनी।'

इस पद को गाते समय ऐसा प्रतीत होता था—"जो मानों सूर नंदालय की लीला में निकट ही ठाड़े हैं, सो ऐसौ कीर्तन गायौ।"

विद्वज्जन इस तथ्य से भली-भाँति परिचित हैं कि श्रीवल्लभाचार्य जी की अपनी उपासना बालभाव की ही थी। गोकुल गोवर्द्धन को इसी कारण

उन्होंने अपना प्रधान क्षेत्र बनाया था। नवनीतप्रिय जी उनको विशेष प्रिय थे। सूर को भी वही रस मिला—"जो श्री आचार्य जी को; मन श्री नवनीतप्रिय जी के स्वरूप पर आसक्त है, सो श्री नवनीत प्रिय जी कौ कीर्तन श्री गोकुल की बाललीला को बरन, ऐसौ पद सूरदास जी ने गायौ।"

शान्त, दास्य और सख्य के पश्चात् भक्ति रसों की उत्तरोत्तरता में वत्सल रस ही आता है। सूर की मनोभूमि इसके लिए प्रस्तुत थी, अतः लीला का बीज पड़ते ही सूर के हृदय में वत्सल लहलहा उठा। सूर ने वात्सल्य की न जाने कितनी अनोखी और नवीन अस्पृष्ट छवियाँ काव्य में उभार दीं। सूर की प्रतिभा थी कि वात्सल्य रस की कोटि तक पहुँच गया और निस्संदेह विश्व-साहित्य में सम्भवतः सूर ही वत्सल रस के पुरस्कर्ता और शिरोमणि कवि हैं।

'हरिभक्ति रसामृतसिंधु' में वत्सल रस के सम्बन्ध में विस्तार से लिखा गया है। इधर कुछ विद्वानों ने इस रस की मनोवैज्ञानिकता पर आपत्ति उठाई है। आपत्ति यह है कि भक्त का भगवान् के प्रति जो भक्ति का स्वाभाविक दैन्य भाव है—उसके साथ ही वात्सल्य में भगवान् के प्रति जो गौरव (बड़प्पन) है, वह कैसे अनुभूत होता है ? एक वात्सल्यानुयायी भक्त एक साथ ही दीनता और गौरव—दोनों का अनुभव कैसे कर सकता है ? प्रश्न मूल्यवान् है, इसका उत्तर भी यह कहकर दिया गया है—क्योंकि यह भगवान् से सम्बन्धित है, इसलिए दो विरोधी अनुभव भी इसमें सम्भव हैं। वस्तुतः भक्ति रस से सम्बन्धित जितने भी शान्त, दास्य, सख्य या शृङ्गार सम्बन्धी रस हैं, उन सबके साथ ही यही समस्या है। और यह सत्य है कि प्रकृत काव्यगत शृङ्गार रस में और भक्ति शृंगार रस में—दोनों की—अनुभूतियों में भारी अन्तर है। यदि राधाकृष्ण के शृङ्गार को साधारण नायक-नायिका का शृङ्गार मान लिया जाय तब तो सूर आदि का देय कुछ भी नहीं हुआ। भक्ति-भावना के कारण भक्ति शृङ्गार रस की अनुभूति का कुछ और ही वैलक्षण्य मानना पड़ेगा। इसी प्रकार वत्सल भी साधारण लौकिक वत्सल रस से भिन्न ही है। भक्ति-वत्सल में मूल अनुभूति दीनता की होती है, यदि ऐसा न मानेंगे तो भक्ति का आधार ही समाप्त हो जायेगा। उस दीनता की अनुभूति को एक विचित्र 'कौतुक' से और अधिक बढ़ाया जाता है। भक्त जब भगवान् को बालक रूप में देखता है तो भगवत्ता के महान् गुणों को स्मरण करता हुआ अधिक आनंदित होने की सामग्री प्राप्त करता है। मधुसूदन सरस्वती ने इस कौतुक के सम्बन्ध में स्पष्ट ही लिखा है—

> **'शृणु सखि कौतुकमेकं नन्द निकेतनांगने अद्य मया दृष्टम्**
> **गोधूलि भूसरांगो नृत्यति वेदान्त सिद्धान्तः'।**

इसी प्रकार जब सूरदास के बालकृष्ण देहली भी नहीं उलांघ पाते, तब वे पूछ उठते हैं —

"सो बल कहा भयौ भगवान।
जिहिं बल जाम्बवंत मद मेट्यौ जिहिं बल भू बिनती सुनी कान।
'सूरदास' अब धाम देहरी चढ़ि न सकत प्रभु खरे अजान॥"

इस पद में भगवान् की अजानता प्रधान नहीं है, वह तो उनकी लीला है। वास्तकविता तो उसका सर्वशक्तिवान् होना ही है। पर इससे कौतुक बनता है। इस कौतुक से गौरव को दैन्य नहीं मिलता, दैन्य को गौरव प्राप्त होता है। भक्त का माध्यम वात्सल्य है, इसीलिए इसे 'वत्सल भक्ति रस' कहा जाता है। इसकी भी दो श्रेणियाँ हैं। जब एक साधारण पाठक सूर के पदों को पढ़ता है तो उसे इन पदों का 'सूर के स्वामी' वाली अन्तिम पंक्ति वत्सल रस में व्याघात उत्पन्न करने वाली प्रतीत होती है। उसका मनोविज्ञान लौकिक है इसलिए वह खीझ उठता है कि सूर उस बालक को स्वामी क्यों कह रहे हैं परन्तु भक्त की दृष्टि से अन्तिम पंक्ति का अर्थ ही सम्पूर्ण पद का अर्थ है, वही उसकी उपलब्धि है। उसी में उसका भक्ति-भाव वात्सल्य से सामंजस्य करता है। साधारण पाठक को कृष्ण की बाल-लीला के पदों में लौकिक वात्सल्य इसीलिए मिलता है क्योंकि लौकिक और अलौकिक स्वरूपतः दोनों एक हैं, तत्वतः भिन्न हैं। यह तत्वतः भिन्नता ही साधारण पाठक और भक्त के मनोविज्ञान का अन्तर है और यह समझ लेने पर वत्सल-भक्ति रस का विरोधाभास स्वयं दूर हो जाता है।

कुछ विषयान्तर हुआ, पर वत्सल रस के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण प्रश्न होने से यह अप्रासंगिक नहीं समझा जायेगा।

हाँ, तो सूर का वात्सल्य-वर्णन मातृ हृदय और बाल-भाव की सूक्ष्मतम प्रवृत्तियों को अपने अंक में धारण किये हुए है। बाल-मनोविज्ञान की छोटी से छोटी बात को पकड़ कर सूर ने पाठक के लिए 'कौतुक' की सृष्टि की है।

श्रीकृष्ण के जीवन-क्रम के साथ सूर की भक्ति का आगे विकास हुआ। पहले सूर ने कृष्ण-जन्म की बधाइयाँ गाईं, फिर कृष्ण को पलने में झुलाया। कुछ बड़े हुए तो वे घुटनों चलने लगे। डगमगाते हुए उँगली पकड़ कर खड़े हुए, गाएँ चराने लगे, माखन चोरी करने लगे, ग्वालों के साथ खेलने लगे। सूर का 'दास्य भाव' तो श्रीकृष्ण की लीलाओं में पूर्णता प्राप्त कर ही चुका था; अब उनका 'सख्य' भी परिपुष्ट हुआ। श्रीकृष्ण के सखा श्रीदामा, सुदामा, मधुमंगल उनके बराबर के ही थे, वे श्रीकृष्ण से बराबर की होड़ा-होड़ी करने

लगे। विनय के पदों में भी होड़ा-होड़ी थी परन्तु वहाँ दीनता ऊपर उतरा रही थी और यहाँ के 'सख्य' में लीला के कारण अपूर्व रस का संचार हो रहा था। वहाँ भक्त अड़ रहा था, यहाँ मित्र अड़ रहा है और अनुग भाव से भक्त 'सख्य' का अनन्द ले रहा है।

कृष्ण किशोर हुए। सूर की लीला-भावना भी किशोर हुई। गोपियाँ आईं, सूर ने कान्ताभाव के उन्मुक्त पद लिखे। भागवत पथ-निर्देशन कर रही थी। सूर ने संयोग-शृंगार के सुन्दर चित्र उतारे। सूर गोपियों से आगे बढ़े। भागवत में एक गोपी विशेष थी, भागवतकार ने नाम नहीं खोला। अब तक वैष्णव रसिकों ने उनको नाम-रूप सभी कुछ दे दिया था। सूर ने भी राधा का गुणगान किया।

इस बात पर बहुत विवाद है कि श्री वल्लभाचार्य जी ने राधा का नाम लिया है या नहीं। आचार्य जी ने राधा का नाम लिया भले ही हो परन्तु उनके साहित्य में राधा की वैसी प्रधानता नहीं है—जैसी उस समय के ही अन्य वैष्णव सम्प्रदायों के साहित्य में स्थान पा चुकी थी, कारण कुछ भी हो। वल्लभ जयदेव, विद्यापति एवं सामयिक रचनाकारों के राधाभाव से परिचित अवश्य होंगे परन्तु किसी कारण वश राधा को अपने यहाँ उन्होंने गोपनीय ही रखा। सूर ने इस सम्बन्ध में अपने गुरु की सीमाओं को ग्रहण नहीं किया, यह स्पष्ट है। उन्होने राधा नाम उसी प्रकार शंखध्वनि के साथ अपनाया, जैसे और वैष्णव अपना रहे थे। राधा के बिना कृष्ण की लीलाओं में न तो रसनिष्ठता आ सकती थी, और न उनकी उपासना रहस्यमय क्षेत्रों के लिये उपयोगी हो सकती थी। राधा के प्रतिष्ठित होते ही भारत का चिरकालीन मिथुन तत्व कृष्ण लीलाओं में भी पूर्ण हो गया। वस्तुतः यह भक्तिकाल की सबसे बड़ी घटना थी, सूर इसका उपयोग क्यों न करते ? वे अपने गुरु से भी दो पग आगे बढ़ गये।

सूर की शृंगार-भक्ति की पूर्णता राधाकृष्ण की लीलाओं में हुई है, संयोग और उसमें मान आदि के सुन्दर चित्र सूर की माधुर्य भक्ति के उदाहरण माने जा सकते हैं। संयोग के इन चित्रों में आलिंगन, चुम्बन, परिरंभण सब—कुछ है। पर ध्यान रहे सूर में लौकिक कुछ भी नहीं है, सभी अलौकिक है। यह शृंगार नहीं, भक्ति शृंगार है। दोनों तत्वतः भिन्न हैं, कहा जा चुका है।

प्रेमा-भक्ति का रंग अभी और गहराकर चढ़ना था। प्रेम के रंग के लिए विरह का पुट आवश्यक है। श्रीकृष्ण मथुरा चले गये, बहुत समय बीत गया, उद्धव गोपियों की सुध लेने आये, भ्रमरगीत का प्रसंग। सूर की परम विरहासक्ति जाग उठी। संयोग में दृष्टि प्रेमी पर ही घिरी रहती है, वियोग

में समस्त संसार प्रेमीमय हो जाता है। विरह से प्रेम उदात्त होता है। उससे मनुष्य के अन्दर सोई हुई न जाने कितनी अन्तश्चेतनाएँ जाग्रत हो जाती हैं। 'भ्रमरगीत सार' में वियोग का सीमान्त रूप प्रकट हुआ है। गोपियों के माध्यम से सूर ने प्रेमाभक्ति के अधिकारमय, उपालम्भमय रूप को प्रकट किया है। यह प्रेमा का प्रगाढ़तम रूप है।

सूर के जीवनकाल में ही वैष्णवों के कुछ सम्प्रदाय संयोग-वियोगमय प्रेमा-भक्ति के आगे—इन दोनों से ऊपर, ब्रजभाव से भी परे, एक नवीन भावलोक का अनुभव कर चुके थे। यह नित्य वृन्दावन का नित्यविहार था, जो गोपीभाव से भी आगे मात्र सखीभाव से प्राप्तव्य था। इसमें प्रेमरस के विशुद्ध रूप का आस्वादन सम्भव था, क्योंकि विभिन्न पौराणिक दृष्टियों को विगलित करते हुए यहाँ केवल राधाकृष्ण की परम निगूढ़ लीलाओं को ही सर्वस्व माना गया था। ब्रज का परिवेश बदल कर केवल नित्य वृन्दावन में नित्यविहारी की लीलाएँ मात्र-माधुर्य का ही आगार थीं। यह वह लीलाक्षेत्र था जहाँ प्रभुता भी दीन होगई थी, त्रिलोकी के स्वामी कृष्ण भी राधा के द्वार पर प्रणय की याचना करते थे। श्री राधा की प्रधानता इस क्षेत्र में स्वाभाविकतया आवश्यक थी। उस युग की यह एक क्रांतिकारी उपलब्धि थी।

वृन्दावन में स्वामी हरिदास जी 'सखी सम्प्रदाय' के प्रवर्तक थे। राधावल्लभ सम्प्रदाय में भी सखीभाव की प्रधानता थी। गौडीय और निम्बार्क सम्प्रदाय भी इससे प्रभावित हुए। वृन्दावन इन सम्प्रदायों का केन्द्र था। सूर ने एक स्थान पर लिखा है—

'हरि रस वृन्दावन तें आयौ।'

और परमानन्द दास जी ने भी वृन्दावन के इस रंग को पुरुषभाव से ऊपर स्त्रीभाव (सखीभाव) की संज्ञा दी है—

'लगै जो वृन्दावन कौ रंग।
स्त्री भाव सहज में उपजै, पुरुष भाव होय भंग।'

सूरदास सच्चे ग्राहक थे, इसलिए सम्प्रदाय की सीमाओं में भी वे नहीं बंधे, वे स्वयं आगे बढ़े और सम्प्रदाय ने उनका अनुगमन किया, सूर ने सखीभाव अपनाया। सूर के अनेक पद इस सम्बन्ध में प्राप्त होते हैं। वार्ता के अनुसार ही सूर के देहावसान के समय जब चतुर्भुजदास जी ने उनसे पूछा—'थोड़े में पुष्टि भक्तिमार्ग का स्वरूप सुनाइये' तो सूर गा उठे—

भज सखी भाव भावक देव।
कोटि साधन करौ कोऊ तऊ न मानैं भेव।

धूमकेतु कुमार मांग्यौ कौन मारग प्रीति।
पुरुष तें तिय भाव उपज्यौ सबै उलटी रीति।
× × ×
वेद विधि कौ नेम नहिं जहाँ प्रेम की पहचान।
ब्रजबधू बस किये मोहन 'सूर' चतुर सुजान।

सखीभाव को सूरदास जी ने अपनी दृष्टि से ग्रहण किया और उसे जीवन का अन्तिम तत्व समझा। सखीभाव में प्रेम की अन्तिम सीमाएँ निहित हैं, ऐसा उनका विश्वास था।

वल्लभ सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण की उपासना ही प्रधान है परन्तु सखीभाव के प्रभाव से सूरदास जी ने भी राधा की प्रधानता स्वीकृत की और श्रीकृष्ण से भी अधिक उनकी श्रेष्ठता प्रतिपादित की। जब गुसाईं जी ने सूर से अन्तिम समय में यह पूछा कि आपकी चित्त वृत्ति इस समय कहाँ है तो सूर ने निम्नलिखित पद गाया—

"बलि बलि बलि हौं कुंवरि राधिका, नन्द सुवन जासौं रति मानी।
वे अति चतुर, तुम चतुर-सिरोमनि, प्रीति कहौ कैसें रहै छानी॥"
× × ×
सूर 'सुजान सखी' के बूझें प्रेम प्रकास भयौ विहंसानी।

'सूर 'सुजान सखी' के रूप में यहाँ मधुर रस का आस्वादन कर रहे हैं। पीछे 'खंजन नैन रूप रस माते'—यह पद गाकर युगल स्वरूप का ध्यान करते हुए सूर नित्यलीला में प्रविष्ट हो गये।

अनुगम पद्धति का आश्रय लेकर यदि 'सूर सारावली' का अध्ययन किया जाय तो उससे भी सूर की भक्ति का यही विकासात्मक स्वरूप सिद्ध होता है। संयोग-वियोग की लीलाओं के पश्चात् सूर ने श्रीकृष्ण को पुनः वृन्दावन में बुलाकर राधाकृष्ण की नित्यलीलाओं का गान बड़े चाव से किया है। इन नित्यलीलाओं का आनन्द जीव एक विशुद्ध रसमय रूप—सखीरूप में ही प्राप्त कर सकता है।

सखीभाव साधारण भक्ति शृंगार भाव से ऊपर महात्माओं के अनुभवों का उच्चतम सोपान है, सूर वहाँ तक पहुँचे हैं। निस्सन्देह सूर का चिन्तन निरन्तर गतिशील रहा है और इसीलिए उनकी भक्ति भावना सतत विकसमान रही है।

६

गीतिकाव्य परम्परा में मीरा

●

गीतिकाव्य अनुभूति-सम्पृक्त आत्मा की सहज संगीतात्मक अभिव्यक्ति है, अतः उसमें भाव-सौन्दर्य के साथ-साथ शब्द-सौन्दर्य, लय-माधुरी और संगीत-सौष्ठव का आद्यन्त सन्तुलित सामंजस्य पाया जाता है। उसमें कवि की तादात्म्यकारिणी आत्मीयता, रागात्मक संवेदना, व्यक्तिनिष्ठ अनुभूति का भावावेग, समन्वित प्रवाह, सहज कल्पना और बिम्ब-विधायिनी प्रज्ञा का स्वयं स्फूर्त प्रकाशन होता है, इसलिए १२ जुलाई, सन् १९२७ की टेबिल टाक में सर्वश्रेष्ठ शब्दों के सर्वश्रेष्ठ क्रम को 'कविता' कहा गया है। अर्नेस्ट रायस ने अत्यधिक प्रभावशाली भावों से ओतप्रोत लयपूर्ण संगीतात्मक शब्द-प्रवाह को 'कविता' कहा है।[१] जान ड्रिंकवाटर उसे विशुद्ध काव्यशक्ति का उत्पादन मानते हैं, जिसका अन्य किसी भी प्रकार की शक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं होता। उनकी दृष्टि में 'गीति-काव्य' और 'कविता' पर्यायवाची शब्द हैं।[२] ब्रिटानिका के एन्सायक्लोपीडिया के अनुसार विशुद्ध कलात्मक धरातल पर कवि के अन्तर्जीवन का प्रकाशन करना गीतिकाव्य का प्रमुख कार्य है। वह उसके हर्ष-उल्लास, सुख-दुःख और विषाद को वाणी देता है।[3] श्री एफ० बी० गमर के मतानुसार

---

१. **लिरिक पोइट्री** (प्रस्तावना)—अर्नेस्ट रायस, पृ० ६।

२. **द लिरिक**—जान ड्रिंक वाटर, पृ० ६४।

३. **एन्सायक्लोपीडिया ब्रिटानिका**—जिल्द १७, पृ० १८१।

गीतिकाव्य वैयक्तिक अनुभूति-प्रसूत अन्तर्वृत्ति निरूपिणी कविता है, जो घटनाओं से असम्बद्ध तथा भावनाओं से सम्बद्ध रहती है। उसके द्वारा मनुष्य की इच्छा, आकांक्षा, भय आदि मनोभावों का ज्ञापन होता है।[१] एफ० टी० पालग्रेव की धारणा है कि गीतिकाव्य की प्रत्येक रचना में किसी एक ही विचार, भाव या स्थिति के प्रकाशन पर जोर दिया जाता है। उसमें एक ही भाव, विचार अथवा अवस्था की संक्षिप्त अखण्ड मनोवेगपूर्ण अभिव्यक्ति होनी चाहिए।[२] श्री डबल्यू० एच० हडसन गीतिकाव्य को वैयक्तिकता-प्रधान मानकर भी उसे व्यक्ति-वैचित्र्य की अपेक्षा व्यापक मानव अनुभूतियों और भावनाओं का ऐसा अभिव्यंजन बतलाते हैं, जिसमें प्रत्येक पाठक रसानुभूति पा सकता है।[3]

आचार्य मम्मट के "रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्द काव्यम्" से लेकर साहित्य-दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ के "वाक्यम् रसात्यकं काव्यम्" तक श्रेष्ठ काव्य के जितने भी उपादान माने गये हैं, वे सब के सब गीतिकाव्य में पाये जाते हैं। शब्द, अर्थ, ध्वनि, रस और सगीत—गीति काव्य के प्रमुख उपकरण हैं; जिनमें भावना, कल्पना, मार्मिकता, संक्षिप्तता और प्रभविष्णुता का समरस सामंजस्य पाया है। वह वस्तुमुखी दृष्टिकोण की अपेक्षा वैयक्तिकता से अधिक अनुप्राणित होता है, इसीलिए उसमें कवि की व्यक्तिगत अनुभूतियाँ सार्वजनीन भाव-जगत् से अपने आप सम्बद्ध हो जाती हैं। भावजगत् की सृष्टि होने के कारण गीतिकाव्य कवि, गायक और श्रोताओं के अन्तर्जगत् में समरसता की सृष्टि करता है, इसीलिए गीतिकाव्य अन्य काव्य रूपों की अपेक्षा अधिक लोक-प्रिय और चिरन्तन प्रभाव डालने वाला होता है। असभ्य और अर्धसभ्य जातियों के लोक-गीतों से लेकर सुसंस्कृत सभ्य समाज के साहित्यिक गीतों तक गीति-काव्य का दायरा पाया जाता है, जो उसे विश्व का सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वव्यापी काव्य-रूप सिद्ध करने का सशक्त और पुष्ट आधार है।

भारतीय साहित्य में गीतिकाव्य-परम्परा का मूल उत्स वेदों में पाया जाता है। प्रकृति के स्निग्ध, सौम्य, शान्त वातावरण में जीव, जगत् और ब्रह्म-चिन्तन में तल्लीन आत्मचेता ऋषियों ने अपनी आन्तरिक अनुभूति, हर्ष-विषाद और चिन्तना को जो वाणी दी है, उसमें गीति-काव्य का सम्पूर्ण वैभव भाव, मनोवेग, कल्पना, विचार और संगीत के साथ साकार हो गया है,

---

१. **हैण्डबुक आफ पोइटिक्स**—एफ० बी० गमर, अध्याय २, पृ० ४०।

२. **गोल्डन ट्रेजरी**—एफ० टी० पालग्रेव, पृ० ६।

३. **एन इण्ट्रोडक्शन टू द स्टडी आफ लिटरेचर**—डबल्यू० एच० हडसन, पृ० १२७।

फलतः वैदिक सूत्रों में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों का समुचित प्रयोग पाया जाता है, वैदिक सूक्तों का यही सस्वर पठन-पाठन उनके सुदीर्घ काल तक मौखिक गेय परम्परा में विद्यमान रहने का मूल कारण है। वेदों में उषा, सन्ध्या, ऋतु, वन, पर्वत आदि की भव्यता, दिव्यता और विशालता से प्रेरित ऋषियों के मनोभावों और अनुभूतियों तथा अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि देवताओं की आध्यात्म-परक स्तुतियों का प्रकाशन परिलक्षित होता है, जिससे उनमें वैयक्तिकता और आत्माभिव्यंजन के साथ-साथ आत्म-निरूपण और बाह्य जगत् चिन्तन की भावधारा काव्य और संगीत के साथ प्रकाशित होती हुई दिखाई देती है। वेदों का 'गायत्री छन्द' तो गेय छन्द ही है, अतः उसमें गीतिकाव्य के समस्त लक्षण अपने आप उपलब्ध हो जाते हैं।

ऋग्वेद की अनेक ऋचाएँ विविध देवताओं के सम्बन्ध में लिखी गई किन्तु अनुभूति, कल्पना, भाव और संगीत का जो उदात्त समन्वय उषा-विषयक ऋचाओं में मिलता है। उसमें भावों की मौलिकता, कल्पना का सौन्दर्य, प्रकृति का मूर्त विधान और कवि की बिम्ब-विधायिनी प्रतिभा का उभार दर्शनीय है। निशा की भगिनी और दिनकर की प्रणयिनी 'उषा' के सद्यःस्नात सौन्दर्य को अन्तः चक्षुओं से देख, वैदिक ऋषि गा उठा—

"एषा शुभ्रा न तन्वो विदानोर्ध्वेवात्र स्नाती दृशये नो अस्थात्।
अप द्वेषो बाधमाना तमोस्युषा दिवो दुहिता ज्योतिषागात् ॥
एषा प्रतीची दुहिता दिवोन्हन् योषेवभद्रा नि रिणते अप्सः।
व्यूर्ण्वती दाशुषे वार्याणि पुनर्ज्योतिर्युवतिः पूर्व थाकः ॥"[1]

अर्थात्—"प्राची में आकर यह उषा इस प्रकार खड़ी हो गई है, जैसे यह सद्यःस्नाता है और अपने अंगों के सौन्दर्य से अभिज्ञ है, अतः यह स्वयं अपने आपको हमें दिखाना चाहती है। यह स्वर्ग की पुत्री उषा प्रकाश के साथ संसार के द्वेष और अन्धकार को दूर करती हुई आई है तथा कल्याणी रमणी की भाँति नतमस्तक हो मनुष्यों के समक्ष खड़ी है। यह धर्मशीलों को ऐश्वर्यदान करती है तथा संसार में पुनः पुनः दिन का प्रकाश फैलाती है।"

इसी तरह ऋग्वेद के रात्रि-वर्णन, यम-यमी तथा पुरुरवा-उर्वशी प्रसंगों में सौन्दर्यानुभूति, उत्कृष्ट कल्पना व मानवीय अन्तर्जगत की उथल-पुथल अत्यन्त भावपूर्ण गीतात्मक ऋचाओं में व्यक्त हुई है, जिनका गीति-वैभव निस्सन्देह दर्शनीय है। ऋग्वेद के संहितापाठ और पादपाठ—दोनों में गीति-तत्त्व विद्यमान है।

---

१. **ऋग्वेद, ५।८०।५-६।**

सामवेद का गीति तत्त्व अपूर्व है। उसके दो भाग हैं—(१) पूर्वार्चिक, और (२) उत्तरार्चिक। ऋग्वेद के सभी मंत्र, जो सामन् मन्त्र कहलाते थे, एक विशिष्ट संगीतात्मक ढंग से सामवेद में संकलित हैं, अतः उसमें काव्य का सौन्दर्य और संगीत का माधुर्य इतने सबल और प्रभावशाली रूप में पाये जाते हैं कि उसे सामवेद के अतिरिक्त 'गानवेद' भी कहा जाता है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने 'वेदानां सामवेदोऽस्मि' कहकर उसके माहात्म्य को स्वीकारा है और भरतमुनि ने पंचम वेद के रूप में 'नाट्यशास्त्र' की सृष्टि करते समय सामवेद से गीति-तत्व लेकर अपनी नई रचना प्रस्तुत की है। 'आत्माभिव्यंजन'—सामवेद की ऋचाओं का प्रबल गुण है। यथा—

> "विमृलीकायं ते मनो रथीरश्वं न सन्दितम्।
> गीर्भिर्वरुण समिहि॥
> पराहिमे विमन्यवः वस्य इष्टये।
> वया न वसति रूप॥"

सामवेद की उक्त ऋचा मूलतः ऋग्वेद पर आधारित है।[1] इसका प्रयोजन है कि जिस प्रकार सारथी बँधे हुए अश्व खोलता है, उसी प्रकार हम तुम्हारे मन को अपने गीतों द्वारा तुम्हारी विशिष्ट दया और करुणा के लिए उन्मुक्त कर दें। हमारी भावनाएँ तुम्हारे सान्निध्य में सत्य और कल्याण की प्राप्ति के लिए उसी प्रकार उड़ें, जैसे पक्षी अपने घोंसले की ओर।

वेदों की अनेकानेक ऋचाओं में वैयक्तिकता, भावुकता, कल्पना, अनुभूति, मार्मिकता और संगीतात्मकता—जो गीतिकाव्य के मूलभूत तत्व माने जाते हैं—प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं, जिससे वेदों का गीति-तत्त्व सरस और हृदयहारी बन पड़ा है।

आकार-प्रकार की दृष्टि से रामायण और महाभारत—दोनों ही महाकाव्य हैं, परन्तु उनमें भी गीतिकाव्य की गेयता विद्यमान है। इतना तो सभी जानते हैं कि लव-कुश ने राम को रामायण गाकर ही सुनाई थी। कालान्तर में नाट्य-शास्त्र तक आते-आते संगीत की दृष्टि से सप्त स्वरों का वर्गीकरण हो गया था और राग-रागिनियाँ भी विकसित हो गईं थीं। वेदों में जहाँ गीतिकाव्य का ध्येय सौन्दर्य-बोध और आध्यात्मिक अनुभूति का सहज विज्ञापन था, वहाँ नाट्यशास्त्र में गीतों का ध्येय परिवर्तन हो गया। नाट्यशास्त्र में गीतों मे भावावेश और हृदयोद्गारों के साथ संगीत पर अधिक जोर दिया जाने लगा,

---

१. ऋग्वेद, १।२५।३-४।

अतः वे आध्यात्मिक धरातल से परे सौन्दर्य और आनन्दानुभूति के साधन बन गये।

आर्य संस्कृति के पर्यवसान के बाद तथा बौद्ध और जैन धर्मों के अभ्युदय की बेला में गीतिकाव्य की धारा शिथिल पड़ गई। इसका एक महत्वपूर्ण कारण यह है कि बौद्ध और जैन साहित्य नैराश्य-प्रधान विरक्तिमूलक जीवन-दर्शन से अनुप्राणित हैं, अतः उसमें सौन्दर्यानुभूति और आनन्द के लिए कम अवकाश मिला है। उस युग में धार्मिक प्रवृत्ति के जो भी धार्मिक मुक्तक यत्र-तत्र रचे गये हैं, उन्हें विशुद्ध गीतिकाव्य की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। हाँ, थेर गाथा और थेरी गाथा में अवश्य कुछ मुक्तक गीतात्मक हैं, किन्तु कुल मिलाकर जैन और बौद्ध साहित्य में गीति-काव्य का अभाव-सा है। पाली, अर्धमागधी, और प्राकृत में गीतिकाव्य का अभाव खटकता है, पर साहित्यिक क्षेत्र से परे लोक-गीतों के रूप में गीतिकाव्य की परपम्परा अक्षुण्ण रूप में सदा-सर्वदा बनी रही है। इस काल के 'मृच्छ कटिक, रत्नावली, अभिज्ञान शाकुंतलम् तथा विक्रमोर्वशीय' आदि नाटकों में अवश्य गीति तत्त्व प्रांजल और पुष्ट है।

महाकवि कालिदास के 'मेघदूत' में विरही यक्ष की पुकार साकार वेदना मुखर हो गई है, अतः उसमें विरह विदग्ध मानस की व्याकुलता, कल्पना की की अनन्त उड़ान, शब्दों का नाद-सौन्दर्य, संगीत की मधुरिमा और रसोद्रक के प्रमाण पग-पग पर पाये जाते हैं। यथा—

> **"संक्षिप्येत क्षण इव कथं दीर्घयामा त्रियामां।**
> **सर्वावस्था स्वहरपि कथं मंदमंदा तपं स्यात्॥**
> **इत्थं चैतश्चदुलनयने दुर्लभ प्रार्थनं मे।**
> **गाढ़ोष्माभिः कृतम शरणं त्वाद्वियोगव्याभिः॥"**[1]

विरही यक्ष कहता है कि 'ये सुदीर्घ रातें पल के समान क्यों नहीं कट जातीं? और दिवस की ताप-तपन शीघ्र ही क्यों नहीं छट जाती? हे मृगनयनी, ऐसी अनहोनी के कारण मेरा शरीर जल रहा है। तेरी इस विरह-वेदना ने मेरे मन को और अधीर कर दिया है।' मेघदूत में अनुभूति की ऐसी तीव्रता और कल्पना का विशद व्यापार गीतिकाव्य का शृङ्गार है।

संस्कृत और प्राकृत के साहित्यिक भाषा पद से च्युत हो जाने पर अपभ्रंश भाषाओं का परिष्कार हुआ। उस युग में हीनयान, महायान और सहजयान में बौद्ध धर्म का पर्यवसान हो गया था, अतः अनेक सिद्धों ने अनेक

---

१. **कालिदास ग्रन्थावली** (कालिदास : उत्तरमेघ)—अखिल भारतीय विक्रम परिषद्, काशी, पृ० ३०९।

चर्यापद इस युग में रचे। 'महापण्डित राहुल' साँकृत्यायन ने हिन्दी काव्य-धारा में कुछ ऐसे पद संकलित किये हैं जो सिद्धों की रचनायें हैं। यथा—सिद्ध डोम्बिया का एक पद—

राग धनसी

गंगा जउँना माँझे बहइ नाई।
तहँ बुडिली मातंगी पोइया, लीलँ पार करेई॥
बाहतु डोम्बी, बाहलो डोम्बी, बाट भइल उछारा।
सद्गुरन पाग्र-प (सा) ए जाइव पुनु जिनंउरा॥
पाँच केडुग्राल पडन्ते माँगे, पीठत काच्छी बाँधी।
गग्रण दुखोले, सिचहू पाणी, न पइसइ साँधी॥
चंद सूज्ज दुइ चक्का, सिठि संहार पुलिन्दा।
वाम दहिन दुइ भाग न चेवइ, बाहतु छन्दा॥
कवड़ी न लेइ, बोड़ी न लेह, सुच्छड़े पार करई।
जो पथे चड़िया बाहब न जा (न) इ कूले कूल बड़ाई॥[१]

योग-साधना से प्रभावित सिद्धों के ये पद सामान्य लोगों के लिए कठिन थे, अतः लोक-जीवन में इनका प्रचार कम था। आगे चलकर सहजयानी सम्प्रदाय की साधनामूलक अश्लीलता और वीभत्स कर्मों की योजना उनके गीतों पर भी छा गई, जिससे उनके चर्या पद शालीनता के दायरे से दूर जा पड़े।

जयदेव का 'गीत-गोविन्द' गीतिकाव्य-परम्परा का महत्वपूर्ण मोड़ है। उसकी कोमल-कान्त पदावली बड़ी सरस और मार्मिक है, इसलिये उसने परवर्ती कवियों पर भी प्रभाव डाला है। उदाहरण के लिए गीतगोविन्द की पदावली का सूरसागर के एक पद से भाव-साम्य देखिये—

"मेघेर्मेदुरमंबरं वनभुवः श्यामास्त्रतमाल द्रुमै।
नंक्तं भीरुरयं त्वमेव तदिमं राधेगृहम् प्रोपय॥
इत्थं नन्दनिदेश तश्चलितयोः प्रत्यध्व कुंज द्रुमं।
राधामाधव योर्जयन्ति, यमुना कूले रहः केलयः॥"[२]

सूरसागर के दशम स्कन्ध में उक्त पंक्तियों का पद्यानुवाद इस प्रकार मिलता है—

---

१. **हिन्दी काव्यधारा**—राहुल सांकृत्यायन, पृ० १४०, चर्या पद क्रमांक १४।
२. **गीत-गोविन्द—जयदेव,** सर्ग १-१।

"गगन घहराइ जुरी घटा कारी ।
पौन झकझोर चपला चमक चमकि चहुँ ओर,
सुवन तत चितै नन्द डरत भारी ॥
रह्यो वृषभानु की कुँवरि सों बोलिके,
राधिका कान्ह घर लिये जारी ।
दोऊ घर जाहु संग, गगन भयो श्याम रंग,
कुँवर कर गह्यो वृष भानुबारी ॥
गये वन घन ओर, नवल नन्द किसोर,
नवल राधा, नये कुंज भारी ।
अंग पुलकति भये, मदन तिन तन जए,
सूर प्रभु स्याम स्यामा बिहारी ॥"[१]

सम्पूर्ण गीत-गोविन्द में यदा-कदा भाव की पुनरुक्ति भी मिल जाती है, किन्तु प्रवाह और प्रभविष्णुता के कारण उसमें नित्य नूतनता और समरसता बनी रहती है ।

हिन्दी के वीरगाथा काल में प्रबन्ध-काव्यों की रचना अधिक हुई है । अपने आश्रयदाता राजाओं की स्तुति तथा युद्ध-भूमि में वीरों को प्रोत्साहित करने के लिए राजदरबारी चारण कवि और भाटों ने राजा-महाराजाओं की जो काव्य-प्रशस्तियाँ लिखीं हैं, उनमें भावुकतापूर्ण अतिरंजनाओं का कुछ इस तरह सम्मिश्रण हो गया है कि इतिहास और सत्य की परख करना कठिन है; फिर भी इस युग के 'बीसलदेव रासो' और 'आल्हखण्ड' में गीतिकाव्य के लक्षण पाये जाते हैं क्योंकि उनका स्वरूप वीरगीतात्मक है ।

चौदहवीं शताब्दी में खड़ी-बोली के प्राचीनतम कवि, पहेलियाँ, मुकरियाँ और 'दो सुखने' के प्रणेता मीर खुसरो ने अनेक पद रचे, जिनमें संयोग-वियोग तथा प्रेम के भावों का सरस प्रकाशन हुआ है । उनकी भाषा में अरबी, फारसी के शब्दों का भी प्रयोग हुआ है । प्रवाह की दृष्टि से उनकी भाषा लोकानुरूप है, अतः उनके कई पद लोक-गीतों से मिलते-जुलते हैं । यथा—

"जो पिया आंवन कह गये,
अजहूँ न आये स्वामी हो ।
(ए) जो पिया आवन कह गये ।
आवन आवन कह गये, आये न बाहर मास ।
(ए हो) जो पिया आवन कह गये...... ।"[२]

---

१. सूरसागर—दशम स्कन्ध, पृ० ६८४, पद १३०२ ।
२. नागरी प्रचारिणी पत्रिका—भाग २, संवत १६७८, पृ० ३२४ ।

टेक की पुनरुक्ति प्रणाली से खुसरो के पदों में लोक-गीत की सी स्वाभाविकता, आत्मीयता और सरसता पैदा हो गई है।

मीर खुसरो के बाद विद्यापति आते हैं, जो तत्वत: सौन्दर्योपासक कवि थे और सौन्दर्य को सूक्ष्म भावों या कल्पना द्वारा न देख उसे उसके स्थूल रूप में देखने-दिखाने के अभिलाषी थे, इसलिये उनके पदों में कहीं-कहीं अति शृंगारिकता और काम-कला तक के संकेत मिल जाते हैं। डॉ० शिवप्रसाद सिंह ने विद्यापति की पदावली और उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में लिखा है कि—यह (काम-कला की शिक्षा) उनके व्यक्तित्व की निर्बलता जरूर है कि वे उस विकासशील संक्रमण काल में अपने को उस क्षयिष्णु प्रभाव से अलग न कर सके। वे कबीर नहीं हो सके तो कोई बात नहीं, किन्तु वे मीरा हो सकते थे।"[1]

डॉ० शिवप्रसाद सिंह की यह सम्भावना कि विद्यापति मीरा हो सकते थे, सम्भावना ही है, किन्तु इसमें तथ्य बिल्कुल नहीं है। जैसे शृंगारपरक पद लिखने से कोई विद्यापति नहीं बन सकता, उसी तरह राधा-कृष्ण या कृष्ण-प्रेम के पद गाने से विद्यापति मीरा नहीं बन सकते। सचाई तो यह है कि विद्यापति की भावात्मक तल्लीनता और आत्माभिव्यंजन की हार्दिकता भक्ति-परक गीतों की अपेक्षा उनके शृंगारपरक गीतों में ही अधिक प्रतिबिम्बित हुई है, अत: उनकी ख्याति का मूलाधार—उनके भक्ति भाव वाले पद नहीं, अपितु शृंगारिक गीत ही हैं। उदाहरण के लिए बारह मासे की पद्धति पर विद्यापति की नायिका के बरसाती विरह का एक सरस स्वरूप लीजिये। आषाढ़ के नवीन मेघों को घुमड़ते हुए देख विद्यापति की नायिका अपनी सहेली से कहती है—

"मोर पिया सखि गेल दुर देस,
जोबन दए गेल साल सनेस।
मास असाढ़ उनत नव मेघ,
पिय बिसलेस रह्यौं निरयेध।
कौन पुरुष सखि कौन सो देश,
करब माय तहाँ जोगिनी वेस।"[2]

मीरा भी अपने प्रवासी परदेशी प्रियतम की खोज करने के लिए व्यग्र हैं। यथा—

---

१. **विद्यापति** (व्यक्तित्व-विश्लेषण)—डॉ० शिवप्रसाद सिंह, पृ० ३१।
२. **विद्यापति-पदावली**—सम्पादक : रामवृक्ष बेनीपुरी, द्वितीय संस्करण, पृ० २७१।

"साँवड़िया म्हारो छाय रह्या परदेस ॥
म्हारा बिछड्या फेर न मिड़्या, भेज्यां णा एक शन्नेस ।
रतण आभरण भूखण छाड़्यां, खोर किया शर केस ॥
भगवा भेष धर्‍याँ थें कारण, ढूँढ्या चार्‍यां देश ।
मीरां रे प्रभु श्याम मिड़ण विणा, जीवण जणम अणैस ॥"[1]

प्रवासी प्रियतम की खोज में विद्यापति की अनुभूतियाँ नायिका की अनुभूतियाँ हैं, इसलिए उनके शृंगारिक पदों में परानुभूत परोक्ष अनुभूतियों का स्वानुभूत काल्पनिक अभिव्यंजन है। उनके पदों में दूसरों की कहानी कवि की जबानी गाई गई है, जबकि मीरा किसी दूसरे की नहीं कहती। उसके संयोग-वियोग वर्णन आपबीती के द्योतक हैं इसीलिए मीरा-पदावली में आत्मानुभूति का जो नैसर्गिक सौन्दर्य है, उसका जादू निराला है। ऐसी स्थिति में विद्यापति कदापि मीरा नहीं हो सकते। फिर विद्यापति और मीरा—दोनों दो विविध युगों के गीतात्मक व्यक्तित्व की स्वतन्त्र इकाइयाँ हैं—जिनका जीवन, वातावरण, भाव-जगत् और अनुभूति का क्षेत्र एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न है। विद्यापति दरबारी कवि थे। उन पर राजवंश के यश-वैभव और भोग-विलास की गहरी छाप थी। रूप, यौवन और वासना का कुहासा उनकी अन्तश्चेतना पर छाया हुआ था, जिसे स्वयं डॉ० शिवप्रसाद सिंह स्वीकार करते हैं। मीरा में ये सभी बातें खोजने पर भी नहीं मिलतीं। उनका काव्य लौकिकता की गन्ध से अस्पर्शित तथा आध्यात्मिक भावों से आप्लावित है। स्वभाव, परिस्थिति और अनुभूति की दृष्टि से विद्यापति और मीरा में साम्य दिखलाने की चेष्टा एक प्रकार से बौद्धिक खींचातानी ही है। सारांश यह है कि विद्यापति—विद्यापति हैं और मीरा—मीरा। न विद्यापति मीरा बन सकते हैं, और न मीरा विद्यापति। गीति-काव्य परम्परा की दृष्टि से केवल उनमें कालक्रमागत ऐतिहासिक पूर्वापर सम्बन्ध है। इतना ही पर्याप्त है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास और गीतिकाव्य परम्परा के नवोन्मेष के साथ भक्तिकाल के क्षितिज पर कबीर का अभ्युदय होता है। वे सही अर्थों में सन्त थे, आध्यात्मिक जगत के पहुँचे हुए सिद्ध पुरुष थे। उनकी अनुभूति का क्षेत्र बहुत व्यापक था। अन्तर्दृष्टि की सूक्ष्मता के कारण उन्हें जीव-जगत् और ब्रह्म की अच्छी परख थी। वे साफ-साफ देखते थे, साफ-साफ कहते थे, इसलिए उनकी वाणी में सत्य की सनातन अनुभूति का अयत्नसाधित खुल्लमखुल्ला प्रकाशन है। उनके उपदेशात्मक, नीतिपरक, वैराग्य-पोषक सिद्धांत-

---

१. **मीरा-पदावली**—काशी की हस्तलिखित प्रति, पद क्रमांक ७४।

निरूपक तथा विरह मिलन के पद विविध रूपों में उपलब्ध हैं। कुछ-एक पद बौद्धिकता से बोझिल हैं और कतिपय उलटबासियाँ तो आध्यात्मिक रूपक होने के कारण अतिबौद्धिक पहेली-सी बन गई हैं। किन्तु जहाँ कहीं भी कबीर का मनमौजी व्यक्तित्व मुखर हुआ है अथवा उनके अन्तरतम की कोमलतम भावनाएँ फूट पड़ी हैं, वहाँ उनके पद गीति-वैभव का श्रृंगार बन गये हैं। आत्मलीन स्थिति के क्षणों में प्रायः कबीर ने बड़ी सीधी-सादी भाषा में बड़े पते की बातें कहीं हैं। यथा—

"रहना नहीं देस बिराना है।
यह संसार कागद की पुड़िया, बूँद पड़े घुल जाना है।
यह संसार काँटे की बाड़ी, उलझ-पुलझ मरि जाना है।
यह संसार झाड़ और झाँखर, आग लगे बरि जाना है।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, सतगुरु नाम ठिकाना है॥"[1]

कबीर जहाँ संसार को काँटे की बाड़ी और सतगुरु के नाम को ठिकाना मानते हैं, वहाँ मीरा संसार को 'बीड़ रो काँटो' और गिरिधर नागर के गुणगान को भवसागर से पार उतरने का एकमात्र साधन बतलाती हैं। यथा—

"मोइ म्हा गोविन्द गुण गाइयां।
× × ×
स्याम नाम रा झाझ चढ़ाइयां, भोसागर तर जाइयां॥
यो संसार बीड़ रो काँटो, गेड़ प्रीत अटकाइयां।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर, गुन गावाँ सुख पाइयां॥"[2]

मीरा और कबीर—दोनों के पदों में वैयक्तिक अनुभूतियों की प्रधान व्यंजना है, अतः उनके प्रत्येक पद में अनुभूति की सच्चाई के साथ-साथ हार्दिक उत्फुल्लता विशेष रूप में पाई जाती है। किन्तु कबीर की एक विशेषता है कि वे केवल अन्तर्वृत्ति निरूपक काव्य के ही प्रणेता नहीं थे। सामाजिक जीवन के दलदल में वे नीर-क्षीर विवेकी हँस की भाँति अवस्थित थे। वे न तो हिन्दुओं की अन्ध श्रद्धा के अनुगामी थे, न मुसलमानों की नमाज और बकरी-ईद के समर्थक थे। धर्म में बाह्य आडम्बर और पाखण्ड के वे कट्टर विरोधी थे। वे युगद्रष्टा और समाज सुधारक थे—इसलिए उनकी दृष्टि युग-जीवन की कटुता, विषमता और विद्रूपता पर भी थी, जिसका उन्होंने आजीवन विरोध किया।

---

१. **कबीर-वचनावली**—सम्पादक : पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', पृ० १८२, पद २१०।

२. **मीरा-पदावली**—काशी की हस्तलिखित प्रति, पद क्रमांक १०१।

उनकी मौज, उनका अक्खड़पन, उनकी निर्भीकता—उनके व्यक्तित्व के गुण थे, जिनकी छाया उनके काव्य पर सर्वत्र पाई जाती है। इसके विपरीत मीरा की भावनाएँ व्यक्तिनिष्ठ अधिक थीं। इसलिए उनके गीतिकाव्य में उनकी पुकार साकार वेदना अपने आराध्य के समक्ष सर्वस्व समर्पण और आत्मोद्धार के लिए अनवरत प्रयत्नशील परिलक्षित होती है।

कबीर के अतिरिक्त उनके समकालीन तथा परवर्ती अनेक निर्गुणिया सन्तों ने सैकड़ों पदों की रचना की है; किन्तु उनकी भावभूमि पर कबीर का व्यक्तित्व कुछ इस तरह हावी हो गया है कि उनकी मौलिक उद्भावनाएँ भी कबीर की पुनरावृत्ति सी लगती हैं। वर्ण्य-विषय और शैली की दृष्टि से दादू दयाल और सुन्दर दास को छोड़कर प्रायः सभी सन्त कबीर की भावनाओं के पोषक प्रतीत होते हैं। इतना सब कुछ होने पर भी गीति-काव्य के विकास में निर्गुण सम्प्रदाय के सन्त कवियों का प्रदेय अत्यधिक मूल्यवान है, क्योंकि उनके पदों में आत्मानुभूति-परक सत्यबोध के साथ-साथ सामाजिक जीवन में नई शक्ति, नई चेतना और नवजागरण के स्वर फूँकने की अदम्य आकांक्षा है, उनकी वाणी में अशिव के प्रति विद्रोह, आडम्बर के प्रति आक्रोश तथा अंध-विश्वास के प्रति क्रांतिदर्शी दृष्टिकोण पाया जाता है, उनका काव्य लोक-जीवन में लोक-मानस का परिष्कारक है। यही उसकी सबसे बड़ी विशेषता है।

निर्गुण सम्प्रदाय के कवियों के बाद अष्टछाप के भक्त कवियों का क्रम आता है, जो वल्लभाचार्यजी द्वारा प्रवर्तित पुष्टिमार्ग के अनुयायी, समर्थक और प्रचारक थे। अष्टछाप के ये सभी भक्त कवि, यथा—सूरदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, गोविन्द स्वामी, छीतस्वामी, कुम्भनदास, चतुर्भुजदास तथा नन्ददास नित्य नैमित्तिक साम्प्रदायिक आचारों के अनुरूप भगवान् कृष्ण के जागरण, कलेऊ, दधि-माखन, गो-दोहन, गोचारण, यमुना तट क्रीड़ा, सन्ध्या समय गृहागमन, और शयन की अष्टयाम सेवा के लिए क्रमशः मंगला, शृंगार, ग्वाल, राजभोग, उत्थापन, भोग, सन्ध्या और शयन के पद नियमित रूप से गाते थे। भगवान् कृष्ण की रूप-माधुरी और लीला-माधुरी उनके प्रिय विषय थे तथा गोपियों के प्रेम, संयोग एवम् वियोग वर्णन के साथ-साथ विनय-परक पदों की रचना कर उन्होंने भक्ति, वात्सल्य और शृंगार रस का जैसा परिपाक अपनी सरल, सरस पदावली में किया है—वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

भक्ति, काव्य और संगीत की इस त्रिवेणी को प्रवाहित करने वाले अष्टछाप के कवियों में सूर सिरमौर थे। उनकी काव्य-साधना का मूल स्रोत श्रीमद्भागवत का दशम स्कन्ध था, जिसके आधार पर उन्होंने अपनी अलौकिक प्रतिभा और मौलिक उद्भावना का आश्रय ले, सूरसागर जैसे गीति-काव्य के

महासागर की रचना की। प्रसाद और माधुर्य गुणों से सम्पन्न उनके पदों में स्वर-ताल, लय और नाद के अतिरिक्त भाव-सौन्दर्य का निखार भी देखते ही बनता है। सूर के विनय के पदों में आत्म-प्रकाशन और हार्दिकता के कारण आत्म-दैन्य और पाप-बोध के स्वर प्रबल हैं, किन्तु उनके लीला-विषयक पदों में कथात्मकता का आग्रह होने के कारण वर्णात्मकता अधिक है। फिर भी उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा के प्रभाव से सूर के पद बड़े प्रभावशाली हैं। उनमें भावों की धारावाहिकता भाषा की मधुरिमा के साथ प्रवहमान है, अतः एक ही लीला या घटना बार-बार दुहराई जाने पर भी वर्णनात्मक मौलिकता और सरसता के कारण पुनरुक्ति की थकान दिमाग पर नहीं आने देती।

सूर रससिद्ध कवि थे अतः उन्होंने गोप, ग्वाल, कृष्ण, राधा, गोपिकाएँ और यशोदा के उद्गारों की अप्रत्यक्ष परानुभूति को स्वानुभूति के साँचे में ढाल पद रचना की है। ऐसा प्रतीत होता है कि मातृहृदय की जितनी पहचान, प्रेमिकाओं के हृदय की जितनी परख तथा भक्तों की मनोदशा की जितनी प्रतीति सूर को थी, उतनी अनुभूति बहुत कम कवियों को उपलब्ध हुई है। सूर के काव्य में उनकी अन्तर्दृष्टि का चमत्कार, सूक्ष्म संवेदनशीलता का प्रभाव और विशद भावनाओं का व्यापक प्रसार—भाषा पर कुछ इस तरह छा गया है कि अकेला 'सूरसागर' ही ब्रजभाषा के सम्पूर्ण गीति-वैभव का प्रतिनिधि ग्रन्थ कहा जा सकता है।

गीतिकाव्य की पूर्वोक्त परम्परा में मीरा का काव्य एक सच्ची भक्त-आत्मा की वेदना, व्याकुलता, तल्लीनता, मिलन के उल्लास और विरह के उन्माद को पूर्णतः संयतावस्था में ज्ञापित करता है। वह मूलतः विरह, भक्ति और समर्पण के भावों से अनुप्राणित है, अतः उसमें बाह्य तापों की तालाबेली कम और अन्तर की कचोट अधिक है; और यह आध्यात्मिक अन्तर्वेदना ही वियोग की विकासोन्मुख दशा में मीरा के काव्य की आत्मा बन उनके पदों में समा गई है। मीरा का सम्पूर्ण काव्य प्रेम और भक्ति-प्रधान है जो उनकी जीवन-व्यापी भक्ति-साधना का सर्वोपरि लक्षण है। मीरा की मान्यता है कि—

'प्रेम भगति रो पेंडा म्हारो औरं ण जाणां रीत।'

इससे स्पष्टतः प्रतीत होता है कि प्रेमाभक्ति ही मीरा की काव्य-साधना की बुनियाद है। इस दृष्टि से हम मीरा के काव्य को दो खण्डों में विभक्त कर सकते हैं—(१) मीरा का प्रेम-प्रधान गीतिकाव्य, और (२) मीरा का भक्ति-परकगीति काव्य।

(१) **मीरा का प्रेम-प्रधान गीति-काव्य**—'प्रेम' मनुष्य के भौतिक और आध्यात्मिक जीवन की सबसे सुन्दर, सरस, मादक और प्रबल उपलब्धि है।

उसका दायरा व्यक्ति-विशेष से लेकर देश, जाति, मानव, प्रकृति, विश्व और ब्रह्म तक—क्रमशः ससीम से असीम तक फैला है। प्रेम तत्व की इसी उदात और व्यापक अनुभूति ने उसे विश्व-साहित्य में सर्वाधिक महता प्रदान की है, जिसका यह परिणाम हुआ है कि विश्व-साहित्य में काव्य का अधिकांश भाग प्रेम प्रसूत है। भक्तों ने इस प्रेम को लौकिकता से अलौकिकता की ओर ऊर्ध्वगामी गति दी है। इसीलिए महर्षि नारद ने भक्ति को 'सां परम प्रेम रूपा' कहा है।

मीरां गिरधर नागर की अनन्य प्रेमिका थीं। वे उनके रूप और सौन्दर्य पर लुभा गई थीं। उनकी स्वीकृति थी कि—

निपट बंकट छब अटके म्हारे नेणा णिपटं बंकट छब अटके।
देख्यां रूप मदण मोहण रीं, पियत पियूख ण मटके।
बारिज भावा अड़क मतवारी, नेण रूप रस अटके।
टेढ्यां कट टेढ़े कर मुरड़ी, टेढ्या पाग लर लटके।
मीरां प्रभु रे रूप लुभाणी, गिरधर नागर नट के।[1]

मीरा का गिरधर नागर के प्रति यह आकर्षण—यह प्रेम—उनके इसी जन्म का प्रदेय नहीं, अपितु उनके जन्म-जन्मान्तर के अर्जित चिर संचित प्रेम-भाव और तज्जन्य संस्कारों का प्रतिफल था। मीरा अपने प्रेम को 'पुरब जणम री प्रीति पुराणी, जावां णा गिरवारी।'[2] वे अपने प्रियतम की जन्म-जन्म की दासी थीं। वे अपने मनमोहन की प्रीति को जानती थीं, अतः प्रेम की अग्नि परीक्षा में वे कभी असफल नहीं हुईं। कुटुम्बियों ने उन्हें बरजा, जली-कटो बातें सुनाईं, परन्तु मीरा निरन्तर यही कहती रहीं कि—

बरजी री म्हाँ स्याम बिणा न रह्यां।
साधां संगत हरि सुख पास्यूं, जग सूं दूर रह्यां।
तण धण म्हारो जावां जास्यां, म्हारो सीस ड़रचां।
मण म्हारो ड़ाग्यां गिरधारी, जगरा बोड़ शह्यां।[3]

× × ×

माईं म्हा गोविन्द गुण गाणा।
राजा रुठ्यां णगरी त्यागा, हरि रुठ्यां कठ जाणा।
राजा भेज्यां बिखरो प्याड़ो, चरणामृत पी जाणा।

---

१. डाकोर की प्रति, पद क्रमांक ५।
२. वही, पद ३०।
३. वही, पद ६०।

काड़ा णाग पिटार्‌यां भेज्यां, शाड़गराम पिछाणा ।
मीरां गिरधर प्रेम बावरी, सांवरचा बर पाणा ।[1]

विष का प्याला और सर्प-दर्शन का भय भी उसे उसके प्रेम-पथ से विचलित न कर सके। प्रेम दिवानी मीरा आजन्म अपने प्रिय की प्रतीक्षा करती रहीं। विरह-विदग्ध प्रेमी की सभी मनोदशाएँ उनके काव्य में मिलती हैं उदाहरण लीजिए—

१. लालसा—**पिया बिण रह्याँ न जावां ।** —डाकोर की प्रति, पद १७

मीरां रे प्रभु कब रे मिलोगां, थें बिण रह्यां णा जाय।

—वही, पद ११

वा विरिया कब होशी म्हारो हँस पिय कण्ठ ड़गावां ।

—काशी की प्रति, पद ७०

२. उद्वेग—**सजणी कब मिड़स्यां पिव म्हारां ।**

चरण कंवड़ गिरधर शुख देश्यां, राख्यां णोणां णोरां ।
णिरखां म्हारो चाव घणेरो, मुखड़ा देख्यां थारां ।
ब्याकुड़ प्राण धर्‌यां णा धीरज, बेग हर्‌यां म्हा पीरां ।

—वही, पद १७

खाण पाण म्हारे णेक णा भावां, नेणा खुड़ा कपाट ।
थें आयां बिण सुख णा म्हारो, हिवड़ो घणो उचाट ।

—डाकोर की प्रति, पद १६ ।

३. जागरण—उद्वेग के कारण मीरा को कुछ भी अच्छा नहीं लगता था न घर अच्छा लगता था, न नींद ही आती थी। प्रेमियों की यह दशा अवर्णनीय है। मीरा कहती हैं—

घड़ी चेण णा आवड़ां थे दरसण बिण ।
धाम णा भावां, नींद णा आवां विरह सतावां ।

—वही, पद २१ ।

नोट—मूल प्रति में 'बिण' और 'सतावां' के आगे का अंश कीड़े खा गये हैं। कदाचित वहाँ 'मोय' शब्द रहा होगा।

मीरा के जागरण के और भी अनेक उल्लेख हैं। जैसे—

रोवतां रोवतां डोढ़तां सब रेण बिहावां जी ।

—डाकोर की प्रति, पद २३ ।

---

१. **डाकोर की प्रति, पद ६१ ।**

'म्हां हिरदां बस्यां सांवरो म्हारे णींद णा आवां ।'

—डाकोर की प्रति, पद ३७ ।

'सखी म्हारी णीद णशाणी हो ।
पिय रो पंथ निहारतां शब रैण बिहाणी हो ।'—वही, पद ३६ ।

'नींदड़ी आवां णा शारां रांत । कुण विध होय प्रभात ।'

—काशी की प्रति, पद ८१ ।

'निश दिण पंथ णिहारां पिव रो पड़क णा पड़ भर ड़ागी ।'

—वही पद, ६३ ।

'री म्हां बेठ्यां जागा जगत शब शोवां ।
विरहण बैठ्या रंग महड़ मा, णेणा लड़्याँ पोवां ।
तारा गणता रैण बिहावां, शुख घड़्यां री जोवां ।'

—वही, पद ६६ ।

४. तानव—विरह वेदना, निरन्तर जागरण और प्रतीक्षा के फलस्वरूप उनका शरीर कृश हो गया—

'अंग खीण व्याकुड़ भयां मुख पिव-पिव वाणी हो ।'

—डाकोर की प्रति, पद ३६ ।

'भूख गयां निंदरा गयां पापी जीव णा जावां हो ।'

—वही, पद २३ ।

५. जड़िमा—शारीरिक कृशता और भावात्मक उथल-पुथल से मीरा किंकर्तव्यविमूढ़ हो गई । जड़ता उनकी चेतना पर छा गई । वे नहीं समझ पाती थीं कि वे कहाँ जायें, क्या करें[1]—

'कहा करां कित जावां सजणी म्हां तो स्याम डशी ।'

—काशी की प्रति, पद ७७ ।

६. व्यग्रता—मीरा की बेकली, बेबसी, और व्यग्रता उनके मन की विवशता थी । यथा—

दरस बिण दूखां म्हारां णेण ।
कड़ णा पड़तां हरि मग जोवां, भया छमासी रेण ।
थें बिछड्यां म्हां कड़पा प्रभुजी, म्हारो गयो सब थेण ।
मीरां रे प्रभु कब रे मिड़ोगां, दुख मेटण, सुख देण ।

—डाकोर की प्रति, पद २० ।

७. व्याधि—व्यग्रता से व्याधि का विकास होता है और प्रेमी की हालत बिगड़ जाती है । मीरा की हालत देखिए—

पाणा ज्यूं पीड़ी पड़ीं रीं, लोग कह्यां पिण्ड बाय।
बावड़ा बेद बुड़ाइया री, म्हारी बाँह दिखाय।
बेदा मरमै णा जाणा री, म्हारो हिबड़ो करकां जाय।

—काशी की प्रति, पद ७६।

इस व्याधि का एक ही उपचार था—

मीरां री प्रभु पीर भिटांगा जद बेद पावरो होय।

—डाकोर की प्रति, पद १६।

८. उल्लास—प्रेम की मानसिक व्याधि प्रिय-चिन्तन को जन्म देती है। भक्तों का यह चिन्तन उन्हें आत्म-विभोर और आत्म-लीन कर देता है। प्रायः ऐसे ही क्षणों में उन्हें आत्म-साक्षात्कार या आराध्य के दर्शन होते हैं। मीरा के जन्म-जन्म के साथी ने—गिरधर नागर ने स्वप्न में मीरा से अपना सनातन नाता जोड़ा और उन्हें परिणीता बना दी।—डाकोर की प्रति, पद ३६। अपने मनोरथ को सफल होते देख मीरा आनन्द विभोर हो नाच उठीं—

म्हां गिरधर आगां नाच्याँ री।
णच णच पिव रसिक रिझावां, प्रीत पुरातन जांच्यां री।
स्याम प्रीति रो बांध घूंघरयां, मोहण म्हारो सांच्या री।
ड़ोक ड़ाज कुड़ रा मरज्यादां जग मां णेक णा राख्यां री।
प्रीतम पड़ छुण णा विसरांवा, मीरां हरि रंग राच्यां री।

—डाकोर की प्रति, पद ५६

पग बांध घुंघरयां णाच्यां री।

× × ×

तण मण वार्यां हरि चरणां मां, दरसण अमरित पाइयां री।

—वही, पद ४७।

६. मोह या मूर्च्छा—हरि दर्शन के अमृत प्रक्षालनार्थ मीरा ने कुल-परिवार छोड़ा, घर-बार छोड़ा, मथुरा, वृन्दावन, डाकोर, द्वारका की यात्रा की। अपने प्रिय का विरह उन्हें इतना प्यारा था कि उसके अभाव में उनके प्राण पीड़ित थे। उन्होंने कहा—

रावरो विड़द म्हाणे णढ़ो ड़ागा, पीड़त म्हारो प्राण।

—डाकोर की प्रति, पद ३३।

विरह भुवंगम डस्यां कड़ेज्या, ड़हर हड़ाहड़ जागी ।
मीरां ब्याकुड़ अति अकुड़ाणी, स्याम उमंगा ड़ागी ।

—काशी की प्रति, पद ६३ ।

× × ×

मीरा की स्थिति ऐसी थी कि—

ज्यूं चातक घण कूं रटां मछरी ज्यूं पाणी हो ।
मीरां ब्याकुड़ बिरहणी सुध-बुध बिसराणी हो ।

—डाकोर की प्रति, पद ३६ ।

१०. मृत्यु— प्रेम में विरह की दशम-दशम मृत्यु है । इसीलिए प्राणान्तक पीड़ा का अन्त प्राणों का प्रयाण है । द्वारका पहुँचने पर मीरा की भी यही हालत हुई । वे कृष्णमय हो गईं । साँवरिया उनकी आँखों में आकर बस गये और मीरा गा उठीं—

णेणा बणज बसांवा री म्हारा सांवरा आवां ।
णेणा म्हारा सांबरां राज्यां, डरतां पड़ णा णवां ।
म्हारां हिरदां बास्यां मुरारी, पड़-पड़ दरसण पावां ।
स्याम मिलण सिंगार सजावां, सुख री सेज बिछावां ।
मीरा रे प्रभु गिरधर नागर बार-बार बड़ जावां ।

—काशी की प्रति, पर १०३ ।

यही मीरां की प्रेम-साधना का अन्तिम सोपान था । हृदयस्थ मुरारी से मीरा का महामिलन था। मीरां ने सुख की सेज बिछाई थी, जहाँ साँवरे उनकी आँखों में आकर बस गये थे । मीरां की आँखें खुली की खुली रह गयीं । यही मीरां के प्रेम-प्रधान गीतिकाव्य की अन्तिम कड़ी है ।

मीरां ने अपनी जीवनव्यापी साधना को 'प्रेम भगति रोपेंड़ा' कहा है, जिसमें से हमने उनके प्रेम-भाव का संक्षिप्त परिचय देने का प्रयास किया है । इसमें एक और महत्व की बात यह है कि मीरां का सम्पूर्ण प्रेम दाम्पत्य भावना से उद्भूत है । मीरां ने कृष्ण को अपने "जन्म-जन्म का साथी", "भो-भो रो भरतार," "पिव", "पिया", "प्रियतम" आदि कहा है, अतः उनका यह प्रेम-भाव भक्ति-साधना के क्षेत्र में माधुरी भक्ति के अन्तर्गत आता है ।

प्रेम के बाद मीरां के गीति-काव्य में उनकी भक्ति-भावना का स्वरूप मिलता है—

मीरां परम वैष्णवी थीं, अतः उनकी समस्त भक्ति-साधना श्रीमद्भागवत् के सप्तम् स्कन्ध के पाँचवें अध्याय के तेईसवें श्लोक के अनुसार है । श्लोक इस प्रकार है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥

मीरां के काव्य में उक्त नवधा भक्ति के सभी अंग विद्यमान हैं। यथा—

१. श्रवण—**म्हा सुण्या हरि अधम उधारणा ।**
अधम उधारण भव भय तारण ॥—डाकोर की प्रति, पद ३४ ।

२. कीर्तन—**माई म्हां गोविंद गुण गाणा ।**
राजा रूठ्यां णगरी त्यागां हरि रूठ्यां कट जाणा ।
—वही, पद ६१ ।

३. स्मरण—**म्हारो मण सांवरो णाम रट्यां री ।**
सांवरो णाम जपां जग प्राणी कोट्यां पाप कट्यां री ।
जणम-जणम री खत्तां पुराणी णामां स्याम मट्यां री ।
—वही, पद ५८ ।

× × ×

सांवरो उमरण सांवरो सुमरण, सांवरो ध्यान धरां री ।
—वही, पद ५७ ।

४. पद सेवन—**मण थें परसि हरि रे चरण ।**
सुभग सीतड़ कंवड़ कोमड़, जगत ज्वाला हरण ।

× × ×

दासि मीरां लाल गिरधर अगम तारण तरण ।—वही,पद १४ ।

५. अर्चन—मीरां अपने प्रभु की पूजा, अर्चना के क्षणों में मोतियों के चौक पूरती थीं, और उन्हें छप्पन भोग, छतीसों व्यंजन अर्पित करती थीं—
मोती चौक पुरांवा णेणां तण-मण डारां वारी ।—वही, पद ३० ।

× × ×

थें जीम्या गिरधर लाड़ ।
छप्पण भोग छत्तीशां विंजण, पावा जण प्रतिपाड़ ।
राजभोग आरोग्यां गिरधर, सण्मुख राख्या थाड़ ।
मीरा दासी सरणां ज्याशीं कीज्यां बेग निहाड़ ।
—काशी की प्रति, पद ८२ ।

६. वंदना—**थें बिण म्हारी कोण खबर ड़े गोबरधण गिरधारी ।**
मोर मुकट पीताम्बर शोभा कुंडड़ री छब प्यारी ।
भरी सभा मा द्रुपद सुतांरी राख्या ड़ाज मुरारी ।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर, चरण कंवड बड़हारी ।
—डाकोर की प्रति, पद ४२ ।

७. दास्य—मीरां की दास्य भावना तुलसी आदि के दास्य भाव से अलग है। वह उनके माधुर्य भाव और दाम्पत्य सम्बन्ध का अंग है। मीरां सती-साध्वी की तरह अपने पति गिरिधरलाल की चाकरी करना चाहती हैं। उनका निवेदन है कि—

म्हाणें चाकर राख्यां जी, गिरधारीड़ाड़ा चाकर राखां जी।
चाकर रहस्यूं बाग ड़गास्यूं, नित उठ दरशण पास्यूं।
ब्रिन्द्राबण री कुँज गेड़ मां गोविंद ड़ीड़ा गास्यूं।।
चाकरी मां दरसण पास्यूं, सुमरण पास्यूं खरची।
भाव भगत जागीरां पास्यूँ, जणम-जणम री तरशी।

—डाकोर की प्रति, पद ३५।

८. सख्य—मीरां का सच्चा भाव अष्टछाप के कवियों के सख्य भाव से अलग है। मीरा कृष्ण को अपने जन्म-जन्म का साथी मानती थीं—

म्हारो जणम-जणम रो साथी, थाणे ना विशर्‌या दिण रातो।

—वही, पद ४३।

९. आत्म-निवेदन—हरि म्हारा जीवण प्रान अधार।
और आसिरो णा म्हारा थे जिणा तीशू लोक मझार।
थें बिण म्हाणे जग णा सुहावां निरख्यां जग संसार।
मीरां रे प्रभु दासी रावली, ड़ाज्यो णेक णिहार।

—वही, पद १२।

× × ×

श्याम म्हां बांहड़िया जी गह्यां।
भोसागर मंझधारा बूड्यां, थारी शरण लह्यां।
म्हारे अवगुण वार अपारां, थें बिण कूण सह्यां।
मीरां रे प्रभु हरि अबिणासी ड़ाज बिरद री बह्यां।

—वही, पद २२।

× × ×

अब तो निभायां बांह गह्यां री ड़ाज।
असरण सरण कह्यां गिरधारी, पतित उधारण पाज।
भोसागर मंझधार अधारां थें बिण घणो अकाज।
जुग-जुग भीर हरां भगतां री, दीश्यां मोच्छ नेवाज।
मीरां सरण गह्यां चरणां री, लाज रखां महाराज।

—वही, पद ६८।

मीरां के गीतिकाव्य में प्रेम और भक्ति के इस निर्विकल्प, शाश्वत, उदात्त भाव संयोजन से एक विशेष प्रकार की माधुरी उत्पन्न हो गई, जिससे उनका काव्य जन-जन का कण्ठहार बन गया है। इसका मीरां पदावली पर एक विशेष प्रभाव पड़ा है। विविध सम्प्रदायों में, विविध प्रदेशों में, विविध भाषाओं में, विविध भक्ति-भाव वाले साधु-सन्तों और गायकों द्वारा मीरां के पद बार-बार गाये गये हैं, जिससे मीरां पदावली में विविध साम्प्रदायिक प्रभाव आकर मिल गये हैं। किन्तु वस्तुस्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। मीरां वास्तव में सम्प्रदाय-मुक्त, गुरु-शिष्य परम्परा विहीन सगुणोपासिका, परम वैष्णवी कृष्ण भक्तिन थीं। मीरां के काव्य में साम्प्रदायिक तत्वों का समावेश और मीरां पदावली को प्रामाणीकरण करते समय अपने प्रबन्ध में हमने इन विवादास्पद विषयों पर आद्यन्त विचार कर अपनी मान्यता को साधार प्रमाणित कर दिया है और उन सभी विद्वानों के मतों को निराधार तथा भ्रामक सिद्ध कर दिया है जो मीरां को अनेक सम्प्रदायों से प्रभावित कई भाषाओं की कवयित्री मानते थे।[1]

संक्षेप में मीरां के काव्य में वैयक्तिकता, कल्पनाशीलता, मार्मिकता, भावात्मकता, संक्षिप्तता, संगीतात्मकता, सरसता, व्यापकता, प्रभावोत्पादकता, सरलता, मनःस्थिति की एकनिष्ठता और संक्रामकता पाई जाती है। इस संक्रात्मकता का ही यह परिणाम है कि आज भी मीरां के नाम पर पदों की रचना हो रही हैं और पूना के हरि कृष्ण मठ की निवासिनी इंदिरादेवी श्रुतांजलि में १३६, प्रेमांजलि में १५, सुधांजलि में १८५, और दीपांजलि में १६७ भजन मीरां के नाम पर लिख चुकीं हैं। अभी भी उनकी काव्य-साधना मीरां नाम पर जारी है। मीरां के नाम से चलने वाली इस काव्य-साधना की पृष्ठभूमि में अकाट्य सत्योद्गारों की अटूट शृंखला, जीवन-सत्य और काव्य-साधना का अभेदत्व, बौद्धिकता का परिहार, सरल-सुलभ गेयता, प्रेम-साधना के भाव-स्तरों का प्रामाणिक अभिव्यंजन और संगीत तत्व, विद्यमान हैं। मीरां का सम्पूर्ण काव्य लोकानुरूप और जन-मानस के निकटतम प्रदेश की निष्पति है। भक्तिकालीन अन्य कवियों की काव्य साधना की भाँति वह न तो किसी सम्प्रदाय विशेष से सम्बद्ध है, और न प्रचारक अभिनिवेश में उसकी सृष्टि हुई है; वह सबकी सम्पत्ति है, सबकी अपनी चीज है। वह एक समर्पित काव्य है, लोकानुरूप साहित्य है, इसीलिए वह लोक-जीवन के साथ-साथ चिरन्तन है, नित्य है, अमर है।

---

१. **मीरां की भक्ति और उनकी काव्य-साधना का अनुशीलन**—डॉ० भगवानदास तिवारी, अध्याय ५ तथा ८।

१०

नन्ददास कृत रासपंचाध्यायी

●

हिन्दी के कृष्ण-भक्ति काव्य पर विषय वस्तु की दृष्टि से श्रीमदभावगत पुराण के दशम स्कन्ध का जितना ऋण है उतना संस्कृत साहित्य के अन्य किसी ग्रन्थ का नहीं है। कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी जिन दो लोक-विश्रुत आख्यानों—रासलीला एवं भ्रमर गीत—पर भक्त कवियों ने विशेष रुचि के साथ लेखनी उठायी है और जिनमें उनकी तन्मयता सहज ही आभासित होती है, वे दोनों आख्यान भी श्रीमद्भागवत पुराण के दशम स्कन्ध से ही गृहीत हैं। भ्रमर गीत यदि विप्रलम्भ शृङ्गार की उत्कृष्ट सामग्री है तो रासपंचाध्यायी संयोग शृङ्गार के क्षेत्र में अनुपम है। संयोग की समस्त चेष्टाओं का सांगोपाँग वर्णन रासक्रीड़ा के अन्तर्गत उपलब्ध होता है और इन समस्त चेष्टाओं को गोपी और कृष्ण से परिवेष्टित कर के भक्त कवियों ने अलौकिकता (अथवा आध्यात्मिकता) का रंग प्रदान कर दिया है। इस रंग के दूरगामी परिणाम कुछ भी रहे हों परन्तु यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि यह रंग था बड़ा चटकीला। समस्त भारतीय भक्त जन एक बार इस रंग के सरोवर में आकण्ठ मग्न हो उठे थे।

मध्य कालीन भक्ति साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता उस साहित्य के रचनाकारों की दार्शनिक अथवा आध्यात्मिक दृष्टि है। उपासना एवं दर्शन के क्षेत्र में रहस्यवाद का प्रादुर्भाव मानव मन का स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रवृत्त

होने का उपक्रम था परन्तु सगुणोपासना रहस्यवाद से सर्वथा विपरीत विचार-धारा थी। सन्त काव्य की निवृत्ति भावना एवं तत्संबन्धित विधि-निषेध बन्धनों के विरुद्ध एक शक्तिशालिनी प्रतिक्रिया का जन्म एवं विकास सगुण भक्ति के रूप में हो रहा था जिसके चरम विकास की अवस्था में न माला की आवश्यकता रही थी और न मृगचर्म की; न नाम जप की आवश्यकता थी और न कुण्डलिनी जगाने की। प्रेम ही इस उपासना-पद्धति का मूल था। प्रेम की यह भावना यद्यपि स्थूल भावना नहीं कही जा सकती परन्तु जिस रूप में इसका वर्णन किया गया वह निश्चित रूप से स्थूल है। काम की विविध चेष्टाओं का प्रेम के साथ एकीकरण वस्तुतः इन कवियों की दृष्टि में प्रेम एवं काम को पर्याय-वाची बना देता है। केवल रामभक्ति शाखा—और उसमें भी विशेषकर तुलसी में ही मर्यादा-पालन का श्रेय प्राप्त होता है अन्यथा "लोक वेद कुल मेंड़ि" को त्यागने की प्रवृत्ति सामान्य रूप से सगुण भक्ति का अनिवार्य सा तत्त्व हो उठा था। स्वयं तुलसी ने भी 'कामिहि नारि पियारि जिमि' कह कर भगवत्प्रेम के लिये लौकिक काम को उपमान चुना है जो यह प्रमाणित करने के हेतु पर्याप्त है कि भक्ति के क्षेत्र में प्रेम और काम एक ही अर्थ के अभिधेय हो चुके थे। कृष्ण-भक्ति कवियों का तो कहना ही क्या है।

उपासना के क्षेत्र में लौकिक चेष्टाओं एवं उपकरणों को आध्यात्मिक प्रतीक के रूप में ग्रहण करने वाले महात्माओं में महाप्रभु वल्लभाचार्य जी का एक महत्वपूर्ण स्थान है। महाप्रभु जी का पुष्टिमार्ग भक्ति के क्षेत्र में एक विशिष्ट क्रान्ति का जन्मदाता है। जीवों की तीन श्रेणियाँ—प्रवाही, मर्यादा एवं पुष्ट, तथा उनका प्रेम के क्षेत्र में उत्तरोत्तर अधिक महत्व इस तथ्य का द्योतक है कि कृष्ण-भक्ति की इस अजस्र प्रवाहिनी में काम के एक शुद्ध रूप को ही ग्रहण किया जा रहा था। सामान्य स्त्री-पुरुष मिथुन प्रवाही जीवों की काम-क्रिया है। भक्ति क्षेत्र का काम उससे सर्वथा भिन्न है। भक्ति के इस स्वरूप को काम का आधार प्रदान करने का एक अन्य कारण भी है। भारतीय दर्शन में जीवमात्र को स्त्री मानने की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है और कृष्ण भक्त कवियों से पूर्व ही कबीर ने आत्मा को विरहिणी के रूप में प्रतिष्ठित करके इस परम्परा से हिन्दी साहित्य को भी प्रभावित करना आरम्भ कर दिया था। कृष्ण-भक्त भी जीवमात्र को गोपी मानता है और इस प्रकार यह समस्त सृष्टि उसके लिये एक लीला ही है। महाप्रभु विट्ठलनाथ जी के समय से वल्लभ सम्प्रदाय में राधा का प्रवेश और हो गया जिससे इस प्रेमा भक्ति को एक सर्व गुण सम्पन्न नायिका की भी प्राप्ति हो गयी। राधा और कृष्ण का यह सम्बन्ध गौड़ीय सम्प्रदाय में तो परकीया भाव तक पहुँच गया परन्तु वल्लभ मतानुयायी

अष्टछाप के कवियों ने राधा और कृष्ण के प्रेम में परकीयत्व का आरोप नहीं किया। सम्भवतः इसका कारण यह था कि महाप्रभु जी के मन से सामान्य जीव मर्यादा कोटि तक की ही भक्ति का अधिकारी समझा जाता है।

अष्टछाप के कवियों में सूरदास के बाद नन्ददास को ही सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। रासलीला पर नन्ददास कृत 'रास पंचाध्यायी' एक प्रामाणिक रचना है। यह ग्रन्थ यद्यपि श्रीमद्भागवत पुराणान्तर्गत रास पंचाध्यायी का हिन्दी अनुवाद ही है परन्तु नन्ददास ने इसमें मौलिकता की भी यथेष्ट छोड़ी है। ग्रंथ के आरम्भ में शुकदेवजी की शोभा एवं भक्ति का वर्णन, भागवत तथा पंचाध्यायी का माहात्म्य, वृन्दावन तथा वंशीवट का वर्णन और श्रीकृष्ण शोभा का वर्णन उनकी 'रास पंचाध्यायी' को एक मौलिक रचना की गरिमा प्रदान करते हैं। भागवत में रासलीला के आरम्भ में शरद् ऋतु का अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन है[1] जबकि नन्ददास ने विस्तार पूर्वक प्रकृति-वैभव का वर्णन करके अपने काव्य का एक स्वतन्त्र उपक्रम प्रस्तुत किया है।

भगवान् श्रीकृष्ण की वंशी ध्वनि को श्रवण कर गोपियाँ जिस समय समस्त गृहकार्यों एवं परिजनों को त्याग कर वन-मार्ग की ओर चल दी थीं भागवतकार ने उनकी उस तन्मयता एवं निष्ठा का वर्णन उन कार्यों की सूची के रूप में प्रस्तुत किया है जिन्हें त्याग कर वे वन मार्ग की ओर चली थीं।

"दुहन्त्योऽभिययुः काश्चिद् दोहं हित्वा समुत्सुकाः।
पयोऽधिश्रित्य संयावमनु द्वास्यापरा ययुः ॥
परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा पाययन्त्यः शिशून् पयः।
शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चिदश्नन्त्योऽपास्य भोजनम् ॥
लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्या अञ्जन्त्यः काश्चलोचने।
व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः काश्चित् कृष्णान्तिकं ययुः ॥"[2]

नन्ददासजी ने अपनी रास पंचाध्यायी में इस प्रकार की सूची प्रस्तुत नहीं की है। गोपिकाओं की आतुरता का संक्षिप्त वर्णन करके उन्होंने उस स्थल पर विशेष रुचि प्रकट की है जिसके अनुसार जिन गोपियों को किसी प्रकार परिजनों ने रोक लिया, उन्होंने नेत्र मूँद कर प्रियतम श्रीकृष्ण का ध्यान किया और उसी ध्यानावस्था में प्रिय का आलिंगन करते हुए शरीर त्याग दिया—

---

१. **श्रीमद्भागवत पुराण**; स्कन्ध १० (पूर्वार्द्ध); अध्याय २९; श्लोक १-३
२. **श्रीमद्भागवत पुराण**; दशम स्कंध (पूर्वार्द्ध); अध्याय २९; श्लोक ५-७

"नागर नवल किसोर, कान्ह कल गान कियो अस।
बाम बिलोचन बालन को, मन हरन होई जस ॥
सुनत चलीं ब्रजबधू, गीत धुनि को मारग गहि।
भवन भीति द्रुम कुंज, पुंज कितहूँ अटकीं नहिं ॥

× × ×

जे रहि गईं घर, अति अधीर, गुनमय सरीर बस।
पुण्य, पाप, प्रारब्ध, सँच्यौ तन, नहिंन पच्यौ रस ॥
परम दुसह श्री कृष्ण-विरह-दुख, व्याप्यो तिन मैं।
कोटि बरस लगि नरक भोग, अघ भुगते छिन मैं ॥
जिय पिय को धरि ध्यान, तनिक आलिगन किय जब।
कोटि स्वर्ग सुख भोग, छीन कीने मंगल सब ॥"[1]

इस स्थल पर महाराज परीक्षित द्वारा शंका उत्पन्न की जाती है कि भगवान् ने धर्म धुरीण होकर भी परस्त्रियों के साथ रात्रि में रमण क्यों किया ? भागवतकार ने इस शंका का जो समाधान प्रस्तुत किया है नन्ददासजी ने भी उसे यथावत अनूदित कर दिया है। भागवत में गोपियों के आने के उपरान्त भगवान् कृष्ण द्वारा उन्हें पातिव्रत्य का माहात्म्य समझाया गया है और घर लौट जाने का भी आदेश प्रदान किया गया है परन्तु नन्ददास जी ने इस स्थल को अत्यन्त संक्षिप्त (केवल एक रोला में) सांकेतिक रूप से ही अभिव्यक्त कर दिया है। भगवान् श्रीकृष्ण को गोपियों के द्वारा जो उत्तर दिया गया है उस स्थल पर नन्ददासजी भागवतकार की अपेक्षा अधिक कोमल पदावली का प्रयोग करते हैं—

"तब बोलीं ब्रजबाल, लाल मोहन अनुरागी।
गद्गद सुंदर गिरा गिरिधरहिं, मधुरी लागी ॥
अहो अहो मोहन प्राणनाथ, सोहन सुख दायक।
क्रूर वचन जनि कहौ, नहिन ये तुमरे लायक ॥
जो कोउ बूझे धरम, तबहि तासों कहिये पिय।
बिनु ही बूझे धरम कहत, क्यों कहि दहिये हिय ॥
नेम, धर्म, जप, तप, ये सब कोउ फलहिं बतावें।
यह कहुँ नाहिन सुनी, जो फल फिरि धरम सिखावें ॥
अरु यह तुम्हरौ रूप, धरमि के धरमहिं मोहैं।
घर में को तिय भरम, धरमज्ञहि आगे को है ॥

१. रास पंचाध्यायी—नन्ददास; अध्याय १; रोला ४८-५३।

नगनि कों धरम न रह्यौ, पुलकि तन चले ठौर तें।
खग, मृग, गो, बछ, मच्छ, कच्छते रहे कौर तें ।।
त्यौं ही पिय की मुरली, जुरली अधर सुधारस।
सुनि निजु धरम न तजै, तरुनि त्रिभुवन मंहि को अस ।।"[१]

नन्ददास की गोपियों के ये तर्क कितने पुष्ट और सबल हैं इसका प्रमाण हिन्दी के परवर्ती काव्य से प्राप्त होता है। मतिराम की नायिका झूठे कलंक से जब दुखित होती है तो सखी उसका समाधान इन शब्दों में करती है—

"कत सजनी है अनमनी, अँसुवा भरति ससंक।
बड़े भाग नंदलाल सों, झूठहु लगत कलंक ।।"[२]

और गुप्तजी की पंचवटी की पंक्तियाँ—

"कह सकते हो तुम कि चंद्र का, कौन दोष जो ठगा चकोर।
किन्तु कलाधर ने डाला है, किरण जाल क्यों उसकी ओर ।।
दीप्ति दिखाता यदि न दीप, तो जलता कैसे कूद पतंग।
वाद्य मुग्ध करने पर ही क्या, व्याध पकड़ता नहीं कुरंग ।।
अपना अनुपम रूप लिये तुम, दीख पड़े क्यों मुझे छली।
चले प्रभात वात फिर भी क्या, खिले न कोमल कुसुम कली ।।"[३]

—स्पष्टतः नन्ददास जी की उपर्युक्त पंक्तियों से प्रभावित हैं। गोपियों का कथन कि धर्म की व्याख्या उसी के समक्ष की जानी चाहिए जो जिज्ञासु हो बिना जिज्ञासा के धर्मोपदेश निरर्थक हैं, एक अकाट्य सत्य हैं। धर्म, नियम, जप, तप आदि समस्त कर्मों का फल स्वयं श्रीकृष्ण की प्राप्ति है भला फिर गोपियों को वह फल (श्रीकृष्ण) ही साधनों की ओर प्रेरित करे—मंजिल राही से कहे कि रास्ता नापते रहो—गोपियाँ इस भुलावे में नहीं आ सकतीं।

गोपियों के उत्तर से संतुष्ट भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने परिहास को प्रकट करके उनका समाधान किया और उनके साथ नव-विहार करना आरम्भ कर दिया। इस स्थल का वर्णन भी नन्ददासजी ने भागवत सापेक्ष नहीं किया

१. **रास पंचाध्यायी;** नन्ददास; प्रथम अध्याय; रोला ७८-८४।
२. **मतिराम सतसई।**
३. पंचवटी—मैथिलीशरण गुप्त।

है । भागवत में विविध शृङ्गारिक चेष्टाओं का वर्णन इस स्थल पर किया गया है जब कि नन्ददासजी ने एक स्वतन्त्र उद्भावना भी की है । श्रीकृष्ण की रासलीला में कामदेव आता है और पूर्णतः पराभूत होकर मूच्छित हो जाता है । काम की पत्नी रति उसे उठाकर ले जाती है । नन्ददास की यह कल्पना वैष्णव धर्म की उस मान्यता द्वारा समर्थित है जिसके अनुसार रासलीला कामजयी लीला के रूप में प्रतिष्ठित की गयी है । 'सिद्धान्त पंचाध्यायी' में उन्होंने रासलीला के द्वारा प्राप्त फल काम-विजय की ओर संकेत भी किया है—

> "ब्रह्मादिक कों जीति, महामद मदन भर्‌यौ जब ।
> दप्प दलन नँद ललन, रास-रस प्रगट कर्‌यौ तब ।।
> अवधि भूत गुन रूप, नाद तर्जन जहँ होई ।
> सब रस कौ निर्तास, रास-रस कहिये सोई ।।"[1]

भागवत के अनुसार रास के समय गोपियों के मन में अभिमान उत्पन्न हुआ कि वे संसार की स्त्रियों में श्रेष्ठ हैं । नन्ददासजी ने इस गर्व को सहज स्वाभाविक माना है क्योंकि अनुपम प्रिय श्रीकृष्ण के प्रणय का दान प्राप्त कर अभिमान न करे ऐसी नारी उन्हें दृष्टि नहीं आती—

> "अस अद्‌भुत पिय मोहन, सों मिलि गोप दुलारी ।
> नहिं अचरजु जौ गरब करहिं, गिरिधर की प्यारी ।।
> रूपभरीं, गुन भरीं, भरीं, पुनि परम प्रेम - रस ।
> क्यों न करें अभिमान, कान्ह भगवान् किये बस ।।"[2]

गोपियों के इस अभिमान के फल स्वरूप भगवान् अदृश्य हो गये । जीव की वह दशा जब वह 'अहं' को 'त्वं' से पृथक् देखने लगता है प्रभु को सह्य नहीं है । 'अहं' का 'त्वं' में पूर्ण विलीनीकरण ही उसका तो अभिप्रेत होता है । गोपियाँ विरह के कारण वन के समस्त लता-वृक्षों, पशु-पक्षियों तक से प्रिय का पता पूछती फिरती हैं—

> "हे मालति ! हे जाति ! जूथि के ! सुनियत ! दै चित :
> मान हरन मन हरन गिरिधरन, लाल लखे इत ।।
> हे केतकि ! इत कित हूँ, तुम चितए पिय रूसे ।
> किधौं नंद-नँद मंद मुसकि, तुम रे मन मूसे ।।

१. सिद्धान्त पंचाध्यायी—नन्ददास; रोला १२-१३ ।
२. रास पंचाध्यायी—नन्ददास; अध्याय १; रोला १०१-१०२ ।

हे मुकुता फल बेलि ! धरैं मुकुता मनि माला।
देखे नैन बिसाल, मोहनै नंद के लाला ॥"[1]

श्रीकृष्ण को खोजते-खोजते गोपियाँ जब अत्यन्त श्रमित हो गयीं थीं, उनका हृदय विरह से इतना आतुर हो उठा था कि उन्होंने श्रीकृष्ण की लीलाओं का अनुकरण करना आरम्भ कर दिया। नन्ददासजी ने कृष्ण-भक्ति से कृष्ण स्वरूप हो जाने को सर्वथा स्वाभाविक ही माना है—

"भृंगी भय तें, भृंग होत, एक कीट्ठ महाजड़।
कृष्ण भगति तें कृष्ण होन, कछु नहिंअचरज बड़ ॥"[2]

रासलीला के मध्य श्रीकृष्ण जिस एक गोपी को लेकर अन्तर्धान हुए थे सूर ने उसे स्पष्टतः राधा कहा है परन्तु नन्ददास ने भागवतकार की ही भाँति उसके नाम को प्रकट नहीं किया। भागवत के श्लोक—

"अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रहः ॥"[3]

का नन्ददास ने अविकल अनुवाद ही कर दिया है—

"इन नीके आराधे, हरि ईश्वर बर जोई।
तातें निधरक अधर-सुधा-रस, पीवत सोई ॥"[4]

वन मार्ग पर चलते हुए प्रिय के कोमल चरणों को कितने कष्ट का अनुभव हुआ होगा इसे स्मरण कर करके गोपियों को अत्यन्त पश्चाताप एवं पीड़ा का अनुभव हो रहा है। वे मनोरथ करती हैं कि प्रिय उनके हृदय पर अपने चरणों को रखकर उनके दुख को दूर कर दें। यद्यपि उन्हें विदित है कि प्रिय के चरणों की अपेक्षा उनके उरोज अधिक कठोर हैं परन्तु वे प्रिय तो नागफणों पर भी विराज सके थे। फिर अत्यन्त कठोर होते हुए भी उनका वक्ष प्रदेश वन भूमि से अधिक कठोर तो नहीं है, नागफणों से अधिक कठोर तो नहीं है—

"जब पसु चारन चलत, चरन कोमल धरि बन मैं।
सिल, त्रिन, कंटक, अटकल, कसकत हमरे मन मैं ॥

---

१. **रास पंचाध्यायी**—नन्ददास; अध्याय २; रोला ६-८।
२. **वही,** —अध्याय २; रोला २०।
३. **श्रीमद्भागवत पुराण**; दशम स्कंध (पूर्वार्द्ध); अध्याय ३०; श्लोक २८।
४. **रास पंचाध्यायी**—नन्ददास; अध्याय २; रोला ३०।

प्रनत मनोरथ करन, चरन सरसीरुह पिय के।
कहा घटि जैहै नाथ, हरत दुख हमरे हिय के ॥
फनी फनन पै अरये, डरपे नहिंन नैकु तब ।
छबिलो छातिन धरत, डरत कत कुँअर कान्ह अबै ॥
जानत हैं हम तुम जु डरत, ब्रजराज दुलारे ;
कोमल चरन सरोज, उरोज, कठोर हमारे ॥
हरें हरें धरि पीय, हमहिं तौ प्रान पियारे ।
कत अटवी महिं अटत, गड़त तृन कूट न न्यारे ॥"[1]

गोपियों को अपनी नहीं प्रिय की चिंता है। तत्सुखिभाव का यह चरमोत्कर्ष है ।

श्रीकृष्ण के पुनर्प्राकट्य पर समस्त गोपियाँ उनका स्पर्श-लाभ प्राप्त करने को कितनी आतुर हैं इसका वर्णन नन्ददासजी ने सुन्दर अनुभाव योजना द्वारा किया है—

कोउ चटपटि सों उर लपटीं, कोउ कर बर लपटीं ।
कोउ गल लपटी कहति, भलैं भलैं कान्हर कपटी ॥
कोउ नगधर वर पिय की, गहि रहि परिकर पटुकी ।
जनु नव घन तें सटकि, दामिनी छटा सुँ अटकी ॥"[2]

इसके अन्तर जो महारास हुआ उसमें जड़, चेतन हो उठे और चेतन, जड़ (स्तम्भित) हो गये । पवन, चन्द्रमा और नक्षत्र गण मानो थक गये और शरद की वह रात्रि न जाने कितनी लम्बी हो गयी ।

"अद्भुत रस रह्यौ, रासगीत धुनि, सुनि मोहे मुनि ।
सिला सलिल ह्वै चली, सलिल ह्वै रह्यौ सिला पुनि ॥
पवन थक्यौ, ससि थक्यौ, थक्यौ उडुमण्डल सिगरौ ।
पाछै रवि रथ थक्यौ, चलै नहिं आगे डगरौ ।
थकित शरद की रजनी, न जने केतिक बाढ़ी ।
बिहरत सजनी स्याम, जथा रुचि अति रति बाढ़ी ॥"[3]

'रास पंचाध्यायी' के अतिरिक्त नन्ददास ने रासलीला का वर्णन पदों में भी किया है । इन पदों में रास नृत्य के स्वरूप का भी वर्णन कवि ने किया

---

१. **रास पंचाध्यायी**—नन्ददास; अध्याय ३; रोला ६-१० ।
२. **वही,** अध्याय ४; रोला ६-७ ।
३. **वही,** अध्याय ५; रोला २२-२४ ।

है। 'रास पंचाध्यायी' में जहाँ राधा का कोई नामोल्लेख नहीं किया गया है वहीं पदों में राधा और माधव कर से कर जोड़े हुए नृत्य करते हुए वर्णित हैं। राधा का यह रूप वल्लभ सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार स्वकीया ही है और नन्ददास ने इसी कारण उनके लिये 'दुलहिया' शब्द का प्रयोग किया है।[1]

नन्ददास जी की 'रास पंचाध्यायी' को प्रबन्ध-काव्य ही माना जा सकता है। उसमें कथावस्तु यद्यपि अत्यन्त विरल है तथापि कवि ने उसकी योजना इस प्रकार की है कि उसमें प्रबन्ध-काव्य के अनेक तत्वों का सहज ही निर्वाह हो जाता है। समस्त कथा पाँच अध्यायों में वर्णित है जिन्हें काव्य के पाँच सर्ग मान सकते हैं। श्रीकृष्ण के वंशी ध्वनि करने से आरम्भ होकर गोपियों के गर्व एवं भगवान् के अन्तर्धान के साथ प्रथम अध्याय समाप्त होता है। द्वितीय अध्याय में गोपियों द्वारा भगवान् को खोजते - फिरने का वर्णन है। व्याकुल गोपियों को वन मार्ग पर भगवान् के चरण चिह्नों के साथ किसी युवती के चरण चिह्न भी दृष्टिगोचर होते हैं। गोपियाँ उसको श्रीकृष्ण की परमाराधिका (एवं परम प्रिया) के रूप में स्मरण करती हुई और उसके भाग्य की सराहना करती हुई उन्हीं चरण चिह्नों के आधार पर अग्रसर होती हैं परन्तु कुछ दूर जाने पर उन्हें उस विरहातुरा के भी वन मार्ग पर ही दर्शन होते हैं। श्रीकृष्ण जब उस एकांकिनी के साथ अदृश हुए थे तो उसके मन में भी यह अभिमान जाग्रत हुआ था कि वह प्रियतम की विशेष प्रेम-पात्री है और इसी मिथ्याभिमानवश उसने उनसे स्कंधारोहण कराने का आग्रह किया था। अहंकार के परम शत्रु भगवान् उसे भी त्याग कर अन्तर्धान हो गये और वह बिलखती रह गयी। तृतीय अध्याय में समस्त गोपियों द्वारा आर्त्त स्वर में भगवान् की स्तुति की गयी है और उनकी लीलाओं का अनुकरण किया गया है। चतुर्थ अध्याय में भगवान् के पुनर्प्राकट्य एवं गोपियों के प्रेम के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन का वर्णन है। पाँचवें और अन्तिम अध्याय में महारास एवं जलक्रीड़ा का वर्णन किया गया है और इस प्रकार काव्य पूर्ण होता है।

कथा के इस वर्गीकरण में नन्ददास जी की मौलिकता नहीं है। भागवत में भी अध्यायों का वर्गीकरण इसी प्रकार किया गया है परन्तु आलंकारिकता, प्रकृति-चित्रण एवं भाव-प्रधानता में नन्ददास जी आगे बढ़ गये हैं। 'रास-पंचाध्यायी' की यह प्रबन्धात्मकता उसे महाकाव्य की कोटि में तो नहीं रख सकती परन्तु एक सफल खण्डकाव्य के रूप में उसे हिन्दी का प्रथम ग्रन्थ ही मानना होगा। सर्वत्र एक ही छन्द रोला का प्रयोग, नायक की प्रधानता,

---

१. **नन्ददास ग्रन्थावली**—ब्रजरत्नदास; पृ० ३१६; पद ३२५।

केवल एक ही मुख्य कथा की योजना आदि लक्षण पंचाध्यायी में उपस्थित हैं। श्री कृष्ण के जीवन की केवल एक विशेष घटना ही उसका वर्ण्य विषय है। इस दृष्टि से 'रास पंचाध्यायी' को खंडकाव्य ही मानना होगा। केलव सर्गबद्धता ही ऐसा लक्षण है जो खंडकाव्य की परिभाषा के अनुसार उपयुक्त नहीं है परन्तु इतने से ही किसी काव्य को उसके वास्तविक गौरव से च्युत नहीं किया जा सकता।

नंददास जी ने अपनी रास पंचाध्यायी में आध्यात्मिक संकेत सर्वत्र स्पष्ट कर दिये हैं। रासलीला का लोक प्रचलित आख्यान और उसका भागवत सापेक्ष वर्णन श्रृंगार से इतने लदे हुए हैं कि सामान्य जन को भ्रम उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक ही हैं। स्वयं महाराज परीक्षित एवं देवी पार्वती ने ही इस संबंध में जब शंकाएँ उपस्थित कर दी हैं तब सामान्य पाठक का तो कहना ही क्या है; परन्तु नन्ददास जी ने उन शंकाओं के निवारणार्थ कथा में ही आध्यात्मिक व्याख्याएँ दे दी हैं। इतना ही नहीं उन्होंने 'सिद्धान्त पंचाध्यायी' में समस्त लीला की पृथक् व्याख्या ही की है। परमात्मा और आत्मा (जीव) के चिरंतन संबंध में शुद्ध सात्विक प्रेम के अतिरिक्त अन्य कोई संबंध है ही नहीं। वह तो परम पति है अतः जीव उसे किसी भी रूप में मानने को स्वतंत्र है। भक्त कवि तुलसी ने भी कहा है—

"भाय कुभाय अनख आलस हूँ। नाम जपत मंगल दिसि दस हूँ।।"

गोपियों ने उसी परमेश्वर को प्रेमी माना था। भागवत में कहा गया है कि गोपियाँ भगवान् में जार (उपपति) का भाव रखती थीं परंतु अष्ट छाप के कवियों ने चतुराई से इस स्थल को बचाया है। सूरदास, परमानंददास आदि ने तो रासमंडल में गोपियों और कृष्ण का विवाह कराके जार भावना को सर्वथा के लिये निमूल ही कर दिया है परन्तु नंददास अपनी पंचाध्यायी में इस वर्णन को चलता कर गये हैं। वस्तुतः कवि के समक्ष दो उद्देश्य थे—एक यह कि उनकी रास पंचाध्यायी भागवत की रासपंचाध्यायी का अनुवाद रहे और दूसरा कि वह पुष्टिमार्गीय उपासना पद्धति के अनुकूल भी रहे। इस कारण गोपियों के स्वकीया भाव की उन्हें रक्षा करनी थी और उन्हें विहित पत्नियों के रूप में प्रतिष्ठित भी नहीं करना था।

'रास पंचाध्यायी' में प्रकृति का चित्रण उद्दीपन के ही रूप में अधिक हुआ है। शरद ऋतु की निर्मलता एवं स्निग्धता का वर्णन और उस के पश्चात् श्री कृष्ण के मन में रास क्रीड़ा की इच्छा का जाग्रत होना अत्यंत स्वाभाविक

सा प्रतीत होता है। भागवत पुराण में रास से पूर्व भगवान् के द्वारा योगमाया का आश्रय लिये जाने का उल्लेख है—

"भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्यरंतुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः।"

नंददास जी ने इस योगमाया को पृथक् न मान कर मुरली के उपमान के रूप में ग्रहण किया है—

"तब लीनी कर कमल, जोगमाया सी मुरली।"

इस प्रकार वंशी की वह सुरीली तान ही योगमाया का प्रभाव था जिसके द्वारा जड़ और चेतन सभी यंत्रचालित से हो रहे थे।

'रास पंचाध्यायी' की कथावस्तु एवं अभिव्यंजना पर विचार किया जा चुका है। पंचाध्यायी के भावपक्ष के संबंध में भी पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। शृंगार रस के वर्णन में मर्यादा का निर्वाह नंददास जी की विशेषता है। रास लीला के वर्णन में शृंगारिक चेष्टाओं को रूपक और उत्प्रेक्षा के सहारे उन्होंने एक ओर अधिक चमत्कारिक बना दिया है तो दूसरी ओर अश्लीलता के दोष से भी बचा लिया है। रास नृत्य की एक झाँकी ही कितनी मनोरम है—

नव मरकत मनि स्याम, कनक मनिगन ब्रजबाला।
वृन्दावन कों रीझि, मनों पहराई माला॥
साँवरे पिय संग निर्तत, चंचल ब्रज की बाला।
जनु घन मंडल मंजुल, खेलत दामिनी माला॥"

रास के समय गोपियों के वस्त्राभूषण, वाद्य यंत्र', पद-ध्वनि आदि का नंददास जी ने जो सजीव वर्णन किया है वह स्वयं में एक सम्मिलित नाद की सी ध्वनि उत्पन्न करता है—

"नूपुर, कंकन, किंकिनि, करतल मंजुल मुरली।
ताल, मृदंग, उपंग, चंग एकहि सुर जुरली॥
मृदुल मुरज-टंकार, तार झंकार मिली धुनि।
मधुर जंत्र के तार, भँवर गुंजार रली पुनि॥
तैसिय मृदु पद-पटकनि, चटकनि करतारन की।
लटकनि, मटकनि, झलकनि, कल कुंडल हारन की॥"

—और रास में तन्मय गोपी और कृष्ण जब परस्पर प्रेमावेश में लिपट जाते हैं उस समय का यथार्थ परंतु मर्यादित वर्णन भी दृष्टव्य है—

"हार हार में उरझि बहियाँ में बहियाँ।
नील पीत पट उरझि, उरझि बेसर नथ महियाँ।।"

नंददास जी की 'रास पंचाध्यायी' एक अनुपम ग्रन्थ है। उसे हिन्दी का 'गीत गोविन्द' कहा जाता है। स्वयं नंददास जी के शब्दों में—

"यह उज्ज्वल रसमाल, कोटि जतनन करि पोई।
सावधान ह्वै पहिरो, इहि तोरौ मति कोई।।

११

तुलसी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि

प्रातः स्मरणीय गोस्वामी तुलसीदास जी के जन्म सम्वत्, माता-पिता, जन्म-स्थान आदि के विषय में भले ही विद्वानों की पृथक्-पृथक् मान्यताएँ हों परन्तु सभी विद्वान् यह बात एक स्वर से स्वीकार करते हैं कि गोस्वामी जी का साहित्य-रचना काल विक्रम की सत्तरहवीं शताब्दी का अधिकांश[1] भाग रहा है। यह काल मुगल शासन के उत्कर्ष का समय अवश्य था लेकिन जन-जीवन आत्मिक शान्ति का मार्ग खोज रहा था। विभिन्न धर्म एवं दार्शनिक मतवाद जनता को अपनी ओर आकृष्ट करने का प्रयास कर रहे थे किन्तु कोई शान्ति-दायक सुलभ मार्ग उन्हें दृष्टिगोचर नहीं हो रहा था। धर्म के क्षेत्र में अनेक भक्त थे परन्तु दर्शन का क्षेत्र प्रायः सूना था। प्रतीत होता है कि उस युग में दार्शनिक और भक्त एक ही कोटि में थे। वे अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों का परीक्षण-मनन करके अपनी बात अपने ढंग से जनता को समझाने का प्रयत्न करते थे। यह भी सम्भव है कि वह युग 'विशुद्ध दर्शन' की चर्चा एवं विवेचन के लिये उपयुक्त न रहा हो क्योंकि सांस्कृतिक धारा एक नवीन मोड़ ले रही थी। अतएव गोस्वामीजी को अपने समकालीन कोरे दार्शनिक का सान्निध्य प्राप्त न

---

१. **साहित्य रचना-काल—सं० १६१६ 'रामलाल नहछू' से सं० १६८० 'कवितावली' बाहुक तक।**

होकर शास्त्रगत सान्निध्य ही उपलब्ध हुआ। अपनी मधु-ग्राहिका वृत्ति से उन्होंने सभी से कुछ न कुछ अवश्य लिया और उसको यथा-स्थान अपने साहित्य में संजो दिया। मूलतः राम-भक्त होने के कारण उन्होंने किसी विशिष्ट दार्शनिक मत की पुष्टि या खण्डन में कुछ न कहकर प्रसंगवश या स्वयं प्रेरणा से विभिन्न दार्शनिक तत्वों का उल्लेख किया है। उन्होंने अपने कृतित्व पर निम्नलिखित शब्दों में प्रकाश डाला है—

"स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा।
भाषा निबन्ध मति मंजुल माप्नोति॥"[1]

और—**"चारहु वेद पुराण अष्टदस, छहों शास्त्र सब ग्रन्थन को रस।**
तन मन धन सन्तन को सरबस, सार अंश सम्मत सब ही की॥"[2]

गोस्वामी जी की यह उक्ति मानस के साथ अन्य ग्रन्थों के लिये भी सार्थक है। अतएव गोस्वमी जी के साहित्य के अध्ययन के पूर्व उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि पर एक विहंगम दृष्टि डालना उपयुक्त होगा।

तत्कालीन दार्शनिक विचारधारायें जटिल एवं पुरातन हैं। प्राचीन साहित्य के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि विक्रम की छटवीं शताब्दी से बौद्ध और जैन-धर्म ने जो वेद-विरोधी स्वर प्रारम्भ किया था वह मध्यकाल में अत्यधिक प्रबल रहा। उधर ब्राह्मणों ने भी विरोधी मतों को अवैदिक और नास्तिक घोषित कर दिया। इससे परिस्थितियाँ उलझती ही गईं।

श्री श्रीकृष्ण[3] धूर्जटि मिश्र के अनुसार सप्तम शतक में भारत में निम्नलिखित ६ नास्तिक सम्प्रदाय प्रचलित थे—(१) चार्वाक, (२) चार बौद्धमत: माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक और छटवाँ दिगम्बर जैन सम्प्रदाय। श्री दिनकर जी ने तंत्र, मंत्र, योगाचार, जैन, पाशुपत वाममार्ग आदि अवैदिक दार्शनिक सम्प्रदाय माने हैं।[4] कूर्म पुराण[5] में कापाल, लाकुल, वाम, भैरव, पाँचरात्र, पाशुपत आदि को अवैदिक बतलाया गया है। इनके अतिरिक्त तत्कालीन भारत में और भी वैदिकेतर दार्शनिक सम्प्रदाय प्रचलित थे, जिनकी चर्चा करना यहाँ आवश्यक नहीं। प्रतीत होता है कि (जैमिन का) मीमांसा और (कपिल का) सांख्य जैसे निरीश्वरवादी मत भी

---

१. **मानस० मंगलाचरण बालकाण्ड।**
२. **मानस० रामायण जी की आरती**—अन्त में उद्धृत।
३. **सिद्धान्त चन्द्रोदय**—श्रीकृष्ण धूर्जटि मिश्र।
४. **संस्कृति के चार अध्याय**—रामधारी सिंह दिनकर, पृ० २०५।
५. **कूर्म पुराण, अध्याय १६।**

तब प्रचलित थे। इनके अतिरिक्त शैव, शाक्त, पाशुपत, गाणपत्य तथा सौर आदि अनेक धार्मिक सम्प्रदाय अपने-अपने मतों को वेद-प्रतिपादित बतलाते थे जिससे अनुमान होता है कि पहले इन्हें भी अवैदिक माना जाता रहा होगा। ऐसा भी ज्ञात होता है कि दसवीं शताब्दी के आसपास षड्दर्शनों का पूर्ण विकास हो चुका था, इसलिये सम्पूर्ण देश में एक नवीन दार्शनिक चेतना के दर्शन होने लगे थे। कुछ विद्वान् इसे भारतीय मनीषा की जागरूकता, कर्मण्यता तथा प्रतिभागत उत्कर्ष का काल मानते हैं। साथ ही यह सहजयान, शाक्त, शैव-वामाचार के पतन का काल भी था। ये सब मत जीवन को क्षण-भंगुर मानते थे। लेकिन "महासुखवाद" की कल्पना ने उन्हें बीभत्स कर्म करने के लिये प्ररित कर दिया था। महामुद्रा की साधना, शिव और शक्ति के संयोग तथा यौगित पंचमकारों ने उन्हें लौकिक आचारों की ओर प्रवृत्त कर दिया था। सहजिया साधुओं ने 'सहज' शब्द का प्रयोग 'परम तत्त्व' के लिये भी किया है और 'आत्मा' के लिये भी।[1] किन्तु आगे चलकर इसका प्रयोग इन्द्रियों को निर्बाध मार्ग पर छोड़ देने के लिये होने लगा। उन्होंने अपार्थिव प्रेम की अनुभूति के लिये परकीया के साथ प्रेम करना आवश्यक माना। 'शून्य' एवं 'करुणा' की संयोगा-स्थिति के लिये सहजिया साधुओं ने क्रमशः 'प्रज्ञा' और 'उपाय' का नाम देकर नारी और नर का सम्बन्ध प्रतिष्ठित कर दिया। उनकी यौगिक आन्तरिक साधना बाह्य-साधना तक ही सीमित रह गई। उन्होंने उलटबासियों की 'धक्काभार भाषा' में अपने मत का प्रचार किया जिससे समान्य जनता पर कुत्सित प्रभाव ही अधिक पड़ा। ये साधक वेदों में विश्वास नहीं करते थे इसलिये मूर्तिपूजा, तीर्थ-स्नान, वर्णाश्रम धर्मादि का विरोध करते थे। आगे चलकर इसी धारा से नाथपंथ और निर्गुण भक्तिधारा का आविर्भाव हुआ। गोरखनाथ का नाथ-पंथ भी बहुत समय तक जनता को प्रभावित किये रहा। कबीर पर भी इसका प्रभाव था, यद्यपि वेदान्त और हठयोग से वे अछूते नहीं थे। वे शास्त्रज्ञ नहीं थे अतः स्वानुभूति के आधार पर अटपट वाणी में अपने उपदेश देते थे। उनका परमतत्त्व अनिर्वचनीय, अद्वितीय, सर्वशक्तिमान, सर्वान्तिर्यामी है। वह सगुण-निर्गुण से परे है। समस्त चराचर का वही कर्त्ता, पालक एवं संहर्ता है। आत्मा-परमात्मा हिम और जल की तरह विलग नहीं है। जीव माया के मोह-जाल में फँसकर दुखी होता है। शक्तिमान माया त्रिदेव सन्त-मुनिजनों को भी नाच नचाने वाली है। आत्मज्ञान से ही मोह-बन्धन टूटता है। आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिये बाह्याचारों की आवश्यकता नहीं, केवल

१. कबीर ग्रन्थावली।

निष्काम भक्ति, नामस्मरण एवं गुरु-कृपा की आवश्यकता है।[1] तुलसीदास इस मत से प्रभावित नहीं हुए।

दूसरा वेद विरोधी स्वर जैन मरमियों का था। वह बौद्धों से कुछ भिन्न था। वे चित्त-शुद्धि के लिये आचार-साधना पर जोर देते थे। वे 'सामरस्य' की भावना पर भी बल देते थे। वे परमात्मा के अस्तित्व पर विश्वास नहीं करते थे परन्तु मुक्त आत्मा को ही परमात्मा मानते थे। इस दृष्टि से परमात्मा अगणित हैं। ज्ञान से चित्त-शुद्धि होती है और चित्त-शुद्धि से ही मोक्ष प्राप्त होता है, ऐसा उनका मत है। बौद्ध धर्म की तरह जैन मत भी अद्वैत सिद्धान्त को मानता है। जैनों के स्यादवाद का आविर्भाव इसी काल में हुआ।[2]

जब वेद-विरोधियों का अत्यधिक प्राबल्य था तभी पुराणों, संहिताओं आदि का आविर्भाव हुआ। उनसे आस्तिक वैष्णव धर्म एवं दर्शन की भित्ति दृढ़ हुई तथा एक नवीन चेतना के दर्शन होने लगे। यह चेतना लाने वाले अनेक वैष्णव दार्शनिक थे जो विक्रम की ९वीं से लेकर १६वीं शताब्दी में हुए। उन्होंने प्रस्थान त्रयी—वेदान्त सूत्र, उपनिषद् एवं गीता—पर अपने भाष्य लिखकर अपनी मान्यताओं की प्रस्थापना कर व्यापक रूप में उनका प्रचार किया। इन आचार्यों ने ब्रह्म, जीव और जगत् के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् विचार प्रस्तुत किये तथा उनका अलग-अलग नामकरण किया। उस युग के प्रमुख आचार्य और उनके तत्त्व-दर्शन का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :—

१. **शंकराचार्य जी**— वैष्णव धर्म एवं दर्शन के सर्वप्रमुख उन्नायक श्री शंकराचार्य जी माने जाते हैं। उनके दार्शनिक विचार "अद्वैतवाद" के नाम से प्रसिद्ध हैं। उन्होंने 'आत्मा' और 'परमात्मा' में अभेद मानकर मायावाद के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की। उन्होंने ब्रह्म को सत्य और जगत् को मिथ्या माना है। उन्होंने माया की शक्ति को 'आवरण' और 'विक्षेप दो रूपों में चित्रित किया है। 'आवरण' जीवात्मा की दृष्टि से ईश्वर को छिपा लेता है। 'विक्षेप' माया के सहारे ब्रह्म जगत का निर्माण करता है। 'माया' अनिर्वचनीय– सदसद विलक्षण है। जीवात्मा नित्य, चैतन्य एवं शरीर का अध्यक्ष है। जीव को कर्म करना आवश्यक है। कर्मानुसार वह देह की प्राप्ति एवं त्याग करता है। कर्म करने से ही ज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञान-प्राप्ति से माया का नाश होता है और जीव अपने प्रकृत स्वरूप 'ब्रह्म' को प्राप्त कर लेता है। उन्होंने ब्रह्म-प्राप्ति के साधनों—कर्म, भक्ति और ज्ञान—में 'ज्ञान' को प्रधानता दी है। उनके आदर्श

---

१. कबीर ग्रन्थावली।

२. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति—गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, पृ० ७८।

वाक्य थे—"सर्व खल्विदं ब्रह्म"; "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या"। शंकराचार्य जी ने अद्वैतमत के प्रचार के लिये चार दिशाओं में चार मठों की स्थापना भी की थी।

जगत् को मिथ्या बतलाने के कारण बौद्धों को शंकर का सिद्धान्त रुचिकर हुआ। मायावाद का सिद्धान्त तो उनके अनुकूल था ही, अतः बहुत से बौद्ध उनके मत के अनुयायी हो गए। इधर बौद्ध सिद्धान्त से समानता देखकर कुछ आचार्यों ने उन्हें "प्रच्छन्न बौद्ध" कह डाला है। गोस्वामी जी के निर्गुण ब्रह्म का निरूपण बहुत कुछ शंकराचार्य जी के विचारों से मिलता-जुलता है।

२. **रामानुजाचार्य**—वैष्णव दार्शनिकों में शंकराचार्य जी के पश्चात् श्री रामानुजाचार्य जी का स्थान महत्वपूर्ण है। ये सं० १०७४ से सं० ११९४ तक वर्तमान थे। इनके दार्शनिक विचार "विशिष्टाद्वैत" वाद के नाम से प्रसिद्ध हुए। इन्होंने "चित्", "अचित्" और "ईश्वर" नामक तीन मूल तत्त्व माने हैं। 'ईश्वर' प्रधान अंगी है और चित् तत्त्व ही 'जीवात्मा' है, यह देह, इन्द्रिय, मन, प्राण तथा बुद्धि से भिन्न तत्त्व है। यह स्वप्रकाश, आनन्दरूप, नित्य, अणु, अव्यक्त या अतीन्द्रिय, अचिन्त्य, निरवयव, निर्विकार है तथा ज्ञान का आश्रय है। ईश्वर इसका नियामक है, वही इसका धारक भी है। जीवात्मा का ज्ञान सर्वव्यापक है, इसलिये उसे भोग में कोई प्रतिबन्धक नहीं होता और एक ही काल में एक आत्मा अनेक शरीर ग्रहण कर सकती है। यही जीव ज्ञाता, भोक्ता एवं कर्त्ता है। संसारी कार्यों के प्रति आत्मा में स्वाभाविक 'कर्त्तव्य' नहीं है। जीव में ईश्वर-प्रदत्त स्वातन्त्र्य है। इन दोनों में सेवक-सेव्य भाव है। जीव जो कुछ करता है वह ईश्वर-प्रेरित होकर ही करता है। जीवात्मा के—बद्ध, मुक्त और नित्य—नामक तीन भेद हैं।

"अचित्" तत्व जड़ एवं विकारवान् है। 'चित्' और 'अचित्' ईश्वराश्रित हैं। ईश्वर अनन्त ज्ञानवान् आनन्द का एकमात्र स्वरूप, ज्ञान-शक्ति आदि अच्छे गुणों से विभूषित समस्त जगत की सृष्टि, स्थिति एवं संहार करने वाला; अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष का देने वाला; विभिन्न शरीर धारण करने वाला तथा लक्ष्मी, भू एवं लीला का नायक है। वह भक्तों का आश्रयदाता है। अज्ञानियों के लिए ज्ञानस्वरूप, अशक्तों के लिये शक्तिस्वरूप, अपराधियों के लिये क्षमास्वरूप, मन्दों के लिये शीलस्वरूप, कुटिलों के लिये सीधे स्वभाव का धारण करने वाला और दुष्ट-हृदय वालों के लिये सुहृद स्वरूप है। ईश्वर का स्वरूप पाँच प्रकार का है—पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी, और अर्चावतार। भगवान् की 'उपासना' को ही 'निदिध्यासन', 'योग', 'ज्ञान' या 'भक्ति' कहते

हैं। 'भक्ति' से भगवान् प्रसन्न होते हैं। रामानुज के मतानुसार वर्णाश्रमोचित कर्म करने से चित्त की शुद्धि होती है। चित्त-शुद्धि से भक्ति, और भक्ति से मोक्ष की प्राप्ति होती है। उनके मत में "प्रपत्ति" या "शरणागति" को विशेष महत्व दिया है।

रामानुज जी का सम्पूर्ण अस्तित्व एवं व्यक्तित्व आलवरों के भक्ति-विह्वल पदों में गढ़ा हुआ है। यही कारण है कि उन्होंने वेद के कर्मकाण्ड, उपनिषदों के ज्ञान और जनता के भक्ति के स्वरों का अति सुन्दरता से सामंजस्य कर दिया है किन्तु फिर भी भक्ति को प्रकट रूप से अप्रतिम प्रधानता दी है। उन्होंने ज्ञानमार्ग को सीमित साधनों वाला बतलाया है। उनका मत है कि जो मनुष्य सर्वभावेन भगवान् की शरण में गिरता है उसे वे अति शीघ्र अपना लेते हैं। उन्होंने प्रपत्ति का मार्ग सबके लिये उन्मुक्त कर दिया।

रामानुज जी ने 'मोक्ष' का अर्थ 'ब्रह्म में लीन होना' नहीं बतलाया। उनका कहना है कि मोक्ष उस व्यक्ति को मिलता है जो इस जीवन में भक्ति की साधना को पूर्ण कर चुका है। ऐसे भक्त मृत्यु के उपरान्त एक अन्य शरीर प्राप्त करते हैं तथा अनन्त काल तक तक बैकुण्ठ में ईश्वर का सामीप्य लाभ करके वहाँ भी भक्ति की साधना करते रहते हैं। जिसे हिन्दुत्व स्वर्ग और इस्लाम बहिस्त कहता है, उसका लोभ विशिष्टाद्वैती भक्त को नहीं होता। भक्त स्वर्ग-सुख की अभिलाषा नहीं करते, न लय और न मुक्ति चाहते हैं। उनका सुख तो मरणोपरान्त भी आराध्य का गुण गाने में ही है—

"भक्ति न छांड़ों, मुक्ति न मांगों, तव जस सुनों सुनावों।"[1]

रामानुजाचार्य जी को शेष जी का अवतार माना जाता है। उन्होंने बोधायनवृत्ति पर 'श्रीभाष्य', 'वेदान्तसार', 'वेदार्थसंग्रह', 'वेदान्तदीप' तथा 'गीता-भाष्य' आदि ग्रन्थों की रचना की। इनके अनुयायियों में 'तत्त्वत्रय' के रचयिता लोकाचार्य, 'पंचरात्ररक्षा' आदि के कर्त्ता वेदान्तदेशिक, 'यतीन्द्र मत-दीपिका' के रचयिता श्री निवासाचार्य आदि बहुत से प्रसिद्ध विद्वान् हुए हैं। रामानन्द तथा गोस्वामी जी भी इसी परम्परा में थे, अतएव उनके विचारों पर रामानुजाचार्य जी के विशिष्टाद्वैतवाद का अधिक व्यापक प्रभाव पड़ा है। इसीलिए अनेक आचार्य गोस्वामी जी को विशिष्टाद्वैतवादी मत का मानने वाला मानते हैं।

३. **निम्बार्काचार्य**—"द्वैताद्वैत' दर्शन के संस्थापक निम्बार्काचार्य जी भी १२वीं सदी के दार्शनिक हैं। इन्हें भगवान् के सुदर्शन चक्र का अवतार

---

१. **संस्कृति के चार अध्याय**—रामधारीसिंह दिनकर, पृ० ३००।

माना जाता है । इन्होंने द्वैत तथा अद्वैत—दोनों को एक ही प्रकार की प्रधानता देकर अपना 'द्वैताद्वैतमत'' प्रतिष्ठित किया ।

इस सम्प्रदाय में जीवात्मा, परमात्मा 'ईश्वर' और प्रकृति 'जड़' आपस में भिन्न तीन तत्व माने गए हैं। जीवात्मा अणु है और विभु भी परन्तु सर्वगतत्त्व से रहित है । वह द्रष्टा, भोक्ता, कर्त्ता और श्रोता सभी है। प्रत्येक प्राणी में भिन्न-भिन्न है, इसी से सुख-दुख के वैचित्र्य का समागम होता है । वह अनन्त गुणमयी माया से बद्ध है परन्तु ज्ञान का आश्रय और ज्ञान का स्वरूप भी है । इसीलिये इन्द्रियों के बिना भी जीव में ज्ञान रहता है । जीवात्मा और परमात्मा में उतना ही अन्तर है जितना तरंग और समुद्र में है ।

वह अपने ज्ञान, कर्म, मोक्ष तथा बन्धन—सबके लिये ईश्वर पर निर्भर है । परमात्मा के अनुग्रह से सज्जन जीवात्मा का भी ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं । वह अपने किये कर्म का भोग स्वयं करता है, इसलिये आनन्दमय नहीं हो पाता । जीव के दो भेद है—बद्ध और मुक्त ।

प्रकृति से ही समस्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं । यह भी जीवात्मा के समान नित्य है ।

ईश्वर के परमात्मा, वैश्वानर, ब्रह्म, पुरुषोत्तम आदि नाम हैं। वह सर्वज्ञ, अचिन्त्य, स्वतन्त्र, सबका नियन्ता, पाप-पुण्य का फलदाता है अमृतत्त्व और अभयतत्त्व उसी में है । वासुदेव, संकर्षण प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध—ये चारों स्वरूप उन्ही के अंग हैं ।

निम्बार्क जी ने वेद नित्य माने हैं। उन्होंने राधाकृष्ण को आराध्य माना तथा भक्ति को प्रपत्ति में मिला दिया ।

गोस्वामी जी की बार-बार वेद की दुहाई तथा समन्वय की प्रकृति सम्भवतः इस मत के परिचय का प्रभाव है ।

४. **मध्वाचार्य**—अद्वैत-दर्शन के विरोध में स्वामी मध्वाचार्य जी ने अपना ''द्वैत'' मत प्रतिष्ठित किया । इनका जन्म विक्रम की १३वीं शताब्दी में (सं० १२५६ में) कन्नड़ प्रान्त में हुआ । इन्होंने 'सांख्य' और 'वेदान्त' को सम्मिलित कर दिया । इन्होंने ईश्वर, जीव एवं प्रकृति को पृथक्-पृथक् तत्त्व माना है । विष्णु को परमात्मा तथा लक्ष्मी को उनकी शक्ति कहा है। उन्होंने जीव को अज्ञान, दुःख, भय, मोह आदि दोषों से युक्त माना है । उनके मुक्ति-योग्य, तमोयोग्य, तमोयोग्य और नित्यसंसारी—तीन भेद भी माने हैं। उनके मत से हरि-स्मरण, कीर्तन, जप, अर्चन, व्रत आदि से मोक्ष की प्राप्ति होती है । इस मत का नाम मात्र प्रभाव ही गोस्वामी जी पर लक्षित होता है ।

रामानुज जी की ही विचार-प्रणाली तथा शिष्य-परम्परा देशव्यापी बनी और जनता भक्ति-मार्ग की ओर अग्रसर होती गई। उनके 'श्री' सम्प्रदाय में विष्णु या नारायण की उपासना का प्राधान्य है। इसी पंथ में अनेक अच्छे साधु-महात्मा हुए जिन्होंने इस संप्रदाय को बहुत आगे बढ़ाया। विक्रम की १४ वीं शताब्दी के अन्त में इस सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य श्री राघवानन्द जी काशी में रहते थे। अवस्था अधिक हो जाने के कारण उन्होंने अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के प्रचार का कार्य रामानन्द जी को सौंप दिया। रामानन्द जी ने देश भर में पर्यटन करके अपने सम्प्रदाय का प्रचार किया। स्वामी रामानन्द जी के सम्बन्ध में कोई विश्वस्त लेख प्राप्त नहीं होता किन्तु उनकी शिष्य परम्परा और प्रचार कार्य ने उन्हें अक्षय कीर्ति प्रदान की है।

स्वामी रामानन्द जी ने राम और सीता की मर्यादापूर्ण भक्ति की प्रतिष्ठा कर समस्त उत्तर भारत में वैष्णव धर्म की नींव दृढ़ कर दी। फलतः 'श्रीराम' जन-मानस में प्रतिष्ठित हो गए। उन्होने बल देकर कहा कि—'धर्म की ग्लानि दूर करने के लिए ही भगवान् अवतार धारण करते हैं।' इसलिए बढ़ते हुए अत्याचारों को देखकर जनता को निराश नहीं होना चाहिए। उन्होंने भक्ति का मार्ग जनता जनार्दन के लिए खोल दिया और लोक भाषा में अपने उपदेश देकर लोकव्यापी ग्लानि दूर कर दी।

गोस्वामी तुलसीदासजी इसी सम्प्रदाय के थे, इससे इस सम्प्रदाय के दार्शनिक विचारों के साथ ही श्री रामानन्दजी के कार्यों का भी उन पर अधिक प्रभाव पड़ा।

५. **वल्लभाचार्य**—गोस्वामी जी के आविर्भाव के कुछ ही समय पूर्व श्री वल्लभाचार्य जी का जन्म (सं० १५३५) हुआ था। भक्ति और दर्शन के क्षेत्र में उनका आगमन ऐतिहासिक मूल्य रखता है। उनके विचारों से प्रायः सभी निर्गुण-सगुण विचार धाराएँ प्रभावित हुईं। उनकी दृष्टि से माया के बन्धनों से रहित 'ब्रह्म' ही जगत का कारण और कार्य है।[1] उन्होंने ब्रह्म को सत्, चित्, और आनन्द स्वरूप मानकर उसे व्यापक, सर्वशक्तिमान, स्वतन्त्र, सर्वज्ञ, सहस्र गुणों से युक्त, सजातीय, विजातीय और स्वगत द्वैत रहित अर्थात् अद्वैत माना है। वे उसे ही सम्पूर्ण सृष्टि का आधारभूत, माया को अपने वशीभूत रखनेवाला, समस्त प्रपंची पदार्थों से विगल, अनन्त रूपवाला, अविभक्त और अनादि, अपनी इच्छा से ही विभक्त होने वाला तथा अपने स्वरूप में और अपने द्वारा रचित लीला में मगन रहने वाला मानते हैं। वे परब्रह्म को परमेश्वर पुरुषोत्तम, विरुद्ध

१. **सिद्धान्त मुक्तावली।**

धर्मों—सगुण-निर्गुण—का आगार निर्धर्मक और सधर्मक—दोनों मानते हैं। वे सगुण जड़ पदार्थों को भी ब्रह्म का अंग मानते हैं। गोस्वामी जी ने अपने ब्रह्म की व्याख्या कुछ इसी प्रकार की है।

वल्लभाचार्य जी ने शंकराचार्य जी के मायावाद का खण्डन करते हुए कहा है कि माया परब्रह्म से उसी प्रकार भिन्न नहीं है—जिस प्रकार अग्नि से उसकी दाहक शक्ति एवं सूर्य से उसका प्रकाश। परब्रह्म से परिवेष्टित रहती हुई भी वह उसी की शक्ति है और उसी के आधीन भी है। ब्रह्म उसके आश्रित नहीं है, अतः वह उसके सत्य स्वरूप को भी आच्छादित नहीं कर सकती।

ईश्वर, जीव और जगत—तीनों को अभिन्न मानने से उनका सिद्धान्त अद्वैतवादी जान पड़ता है, लेकिन शंकर के अनुसार केवल ब्रह्म को सत्य और समस्त जगत को मिथ्या न मानकर वे जीव और जगत—दोनों को ईश्वर का अंश मानते हैं और उन्हें भी सत्य मानते हुए सच्चिदानन्द ब्रह्म के 'धर्म' और 'धर्मी' नामक दोनों स्वरूप स्वीकार करते हैं।

ब्रह्म के 'अक्षर ब्रह्म' और 'अन्तर्यामी ब्रह्म' नामक दो स्वरूप मानते हुए भी वल्लभाचार्य जी दोनों को भी पूर्ण पुरुषोत्तम ब्रह्म का स्वरूप मानते हैं और उन्हें अलग-अलग ब्रह्म न मानकर एक ही परब्रह्म की अनेक स्थितियाँ कहते हैं। वे कृष्ण को पूर्णानन्द स्वरूप पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म मानते हैं। उनकी दृष्टि में आनन्द सागर में विहार करने वाले कृष्ण का स्मरण करना चाहिये, क्योंकि उनकी प्रार्थना से ही पुरुष विश्व के दुःखों से मुक्ति पा सकता है।

उनके अनुसार समस्त जगत शुद्ध ब्रह्म का अविकृत परिणाम है। लय होने पर वह पुनः शुद्ध ब्रह्म हो जाता है।[1]

इस सम्प्रदाय में जीव को 'अंश' और परमात्मा को 'अंशी' माना गया है। 'तत्त्वदीप' के अनुसार ब्रह्म की इच्छा मात्र से ही असंख्य जीवों की उत्पत्ति होती है; यथा—अग्नि से स्फुलिंग। परमात्मा की इच्छा से ही जीव के ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान एवं वैराग्य नामक छः गुण तिरोहित हो जाते हैं और वह आनन्दांश में प्रविष्ट हो जाता है। इस प्रकार सांसारिक क्लेशों से मुक्त होकर वह सालोक्य, सामीप्य, सारूप तथा सायुज्य नामक चार प्रकार की मुक्तियों का भागी होता है।

वल्लभाचार्य जी के मतानुसार जीव-सृष्टि दो प्रकार की है—दैवी और आसुरी। दैवी जीव-सृष्टि को भगवान् ने अपनी स्वरूप सेवा के लिये उत्पन्न किया है तथा उसके शुद्ध-पुष्ट, पुष्टि-पुष्ट मर्यादा-पुष्ट एवं प्रवाही-पुष्ट नामक

---

१. सिद्धान्त मुक्तावली।

चार प्रकार हैं। मर्यादापुष्ट भी दो प्रकार के हैं। उनको पूर्ण पुरुषोत्तम की स्वरूप सेवा योग्य नहीं समझा जाता। शुद्ध-पुष्ट जीव को ही नित्य एवं मुक्त और भगवत् स्वरूप माना जाता है। जब भगवान् अवतार लेते हैं तब अपने साथ वे शुद्ध-पुष्ट भक्तों को भी लाते हैं। पुष्टि-पुष्ट जीव परमात्मा के लोक एवं लीला द्वारा और मर्यादा-पुष्ट जीव कर्म एवं ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त करते हैं। यदि ईश्वर चाहे तो अपनी कृपा द्वारा मर्यादा जीवों को भी अपनी लीला में प्रविष्ट कर पुष्टिपुष्ट भक्तों की श्रेणी में सम्मिलित कर सकता है।

प्रवाही पुष्ट जीव वस्तुतः आसुरी जीव-सृष्टि माने गए हैं। उनके 'अज्ञ' और 'दुरज्ञ' नामक दो भेद माने गए हैं। अज्ञ जीवों का उद्धार संभव समझा गया है किन्तु दुरज्ञों का नहीं। उन्हें सदैव ही संसार चक्र में पड़ना पड़ता है। इनके अतिरिक्त उन्होंने 'व्यष्टि', 'समष्टि' और 'पुरुष' नामक जीव के तीन और भी भेद माने हैं।[1]

सांसारिक क्लेशों से मुक्त होकर आनन्द-प्राप्ति की मुक्तावस्था को ही वल्लभाचार्य जी ने 'मोक्षावस्था' कहा है। उन्होंने जीव-भेद के अनुसार मोक्ष की भी अनेक अवस्थाएँ मानी हैं।

गोस्वामी जी 'श्रीराम' के अनन्य भक्त थे, इसलिये उन्होंने वल्लभाचार्य जी के विचारों का अध्ययन-मनन शायद ही किया हो, परन्तु दोनों सम्प्रदाय वैष्णव या भागवत सम्प्रदाय को ही दो शाखाएँ होने से बहुत कुछ साम्य रखती हैं। यह भी सम्भव है कि वृन्दावन यात्रा और सन्त-जनों के संसर्ग से अपरोक्ष में उनके विचार मस्तिष्क में आगए हों और वे भक्त्यावेश में प्रकट हो गये हों। यहाँ यह निर्देश करना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि १६वीं शताब्दी में कृष्ण-भक्ति की अनेक मुखी धाराएँ समस्त उत्तर भारत में प्रवाहित हो रही थीं। श्री वल्लभाचार्य जी के पुष्टिमार्ग से साथ-साथ श्रीचैतन्य महाप्रभु के 'गौड़ीय'; स्वामी हितहरिवंश के 'राधावल्लभी'; तथा स्वामी हरिदास के 'सखी या टट्टी' सम्प्रदाय का भी प्रसार सो रहा था। पुष्टि मार्ग के सिवाय अन्य सम्प्रदाय नितान्त साधन पक्षी थे। दार्शनिक दृष्टि के इन सम्प्रदायों में बहुत थोड़ा भेद है। इनका प्रमुख उद्देश्य लोकरंजन और प्रेमा-भक्ति का प्रचार ही रहा है, इसलिये इनके द्वारा अत्यधिक सम्प्रदायहीन, इहलौकिक तथा लोकमान्य ललित साहित्य का प्रणयन हुआ। अष्टछाप के कवियों के अतिरिक्त अकबर के दरबारी कवि भी सामाजिक, राजनीतिक विषयों के साथ भक्ति-काव्य की सृष्टि कर रहे

---

१. "व्यष्टि समष्टि पुरुषे जीवभेदस्त्रयो मताः।"—सिद्धान्त मुक्तावली

थे। उनके दार्शनिक विचार स्वयंगृहीत किसी पंथ के अनुरूप होते थे। इसलिये उन पर स्वतन्त्र रूप से विचार करने की आवश्यकता नहीं।

उपर्युक्त वैष्णव पंथों के अतिरिक्त शैव मत और विदेशी इस्लाम और सूफी मत का प्रचार भारत में हो रहा था। गोस्वामी जी ने विष्णु और शिव को समान देव स्वीकार करके एक समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया है लेकिन उन्होंने शैवदर्शन से प्राय: कुछ नहीं लिया। इसी तरह इस्लाम और सूफी मतों से भी वे अप्रभावित रहे। अत: इनकी दार्शनिक विचारधारा पर विचार करना यहाँ समीचीन नहीं।

उपर्युक्त विवेचन से हम यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि गोस्वामी जी ने किसी विशिष्ट दर्शन का परिपोषण न कर नानापुराण निगमागम सम्मत अपनी बात कही है। इसीलिये कहीं उनके भक्ति साहित्य में हमें शंकर का अद्वैतमत—निर्गुण ब्रह्म,[१], माया,[२] कर्म की प्रधानता,[३]—रामानुजाचार्य और रामानन्दजी का विशिष्टाद्वैतवाद—ब्रह्म का स्वरूप, जीवों का उद्धार[४], शरणागति-भक्ति,[५] मुक्ति की विशिष्टावस्था[६]; निम्बार्काचार्य जी का द्वैताद्वैत – ब्रह्म और जीव—दोनों की सक्रियता एवं एकता[७]; द्वैत एवं विशिष्ट द्वैत से हरि-स्मरण से मोक्ष-प्राप्ति;[८] वल्लभाचार्य जी से निर्गुण-सगुण की एकता,[९] जीवों की दैवी आसुरी प्रवृत्ति, अवतार के साथ शुद्ध-पुष्ट जीवों का आगमन,[१०] मोक्ष के चार

---

१. जो माया सब जगहिं नचावा। से ब्रह्म निरीह विरज अविनासी॥
—मानस, उ० का० ७१

२. गोगोचर जहँ लगि मन भाई। सो सब माया समुझहु भाई।—मानस, अर०

३. कर्म प्रधान विश्व कर राखा। जो जस करहि सो तस फल चाखा॥
—मानस

४. बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धान्त अपेल।—मानस, उ०का० १२२

५. 'जो नर होइ चराचर द्रोही' से 'द्विज पद प्रेम।'—मानस, सुन्दर ४८

६. सगुण उपासक मोक्ष न लेहीं।—मानस

७. ईश्वर अंब जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख राशी॥
—मानस, उ० ११६-२।

८. सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि।—मानस, उ० का०

९. 'सगुनहि अगुनहि नहि कछु भेदा' से 'जल हिम उपल बिलग नहिं जैसे।'
—मानस, बाल० ११६

१०. निज लोकहिं बिरंचि गे देवन्ह इहइ सिखाय।
बानर तनु धरि-धरि महि हरि पद सेवहु जाइ॥
—मानस, बा० १८७।

प्रकार[1] आदि के दर्शन एक स्थान पर हो जाते हैं। इससे सहसा यह नहीं कहा जा सकता कि गोस्वामी जी किस दर्शन से अधिक प्रभावित थे। किन्हीं विद्वानों ने उन्हें अद्वैत[2] मत से और किन्हीं ने विशिष्टाद्वैतवाद[3] से अधिक प्रभावित कहा है। लेकिन मैं समझता हूँ कि गोस्वामीजी विशुद्ध भक्त थे। उन्हें किसी विशेष दार्शनिक श्रेणी में बिठाना ठीक नहीं। उन्होंने एक सर्व-समन्वित सर्वमान्य विचारधारा की प्रतिष्ठा की है जिसे 'तुलसीमत' कहना अधिक उपयुक्त होगा।

---

१. (१) रावण की मृत्यु पर उसका तेज राम के मुख में समाना।—सायुज्य
"तासु तेज समान प्रभु आनन"
(२) जटायु की मृत्यु पर चतुर्भुजी रूप बनना।—सारूप
(३) शरभंग ऋषि का बैकुण्ठ जाना।—सालोक्य
(४) अनेक राक्षसों को मारकर अपना सामीप्य देना।—सामीप्य

२. महामहोपाध्याय गिरधर शर्मा, प्राच्य विद्यार्णव नगेन्द्र वसु, रामायणी विजयानन्द त्रिपाठी, बाबू श्यामसुन्दरदास, डा० पीताम्बर बडथ्वाल, डा० बलदेव प्रसाद जी आदि।

३. श्री रामदास गौड़, रामायणी श्रीकान्त शरण जी आदि।

१२

तुलसी-साहित्य में सामाजिक-विद्रोह की भावना

●

तुलसी-साहित्य के आलोचकों ने प्राय: गोस्वामी तुलसीदास को समन्वय का कवि कहा है और यह सिद्ध करने का अथक प्रयास किया है कि धर्म, दर्शन, उपासना, काव्य और भाषा—इन सभी क्षेत्रों में तुलसीदास ने पारस्परिक विरोधों का शमन करके एक समन्वित मार्ग निर्दिष्ट किया है। बाह्यतः यह बात सही मालूम पड़ती है, किन्तु तुलसी-साहित्य के अन्तर में प्रवेश करके देखने पर पता चलता है कि तुलसीदास समन्वय के नहीं, मुख्यत: विद्रोह के कवि हैं। समन्वय की प्रवृत्ति सुधारवादी होती है, किन्तु विद्रोही आमूल-चूल परिवर्तन में विश्वास करता है। परन्तु इस सम्बन्ध में मेरा यह विनम्र मत है कि तुलसीदास का व्यक्तित्व दुहरा था। उनका एक व्यक्तित्व तो विद्रोही था, और दूसरा रूढ़िवादी। इन दोनों के बीच समन्वय सम्भव नहीं है, और इसी कारण तुलसी के उक्त दोनों व्यक्तित्वों में समन्वय नहीं हो सका है। उनके समस्त साहित्य में ये दोनों व्यक्तित्व अलग-अलग उभरे दिखाई पड़ते हैं। उनका विद्रोही व्यक्तित्व उनकी सामाजिक परिकल्पना में, तथा रूढ़िवादी व्यक्तित्व उनकी सांस्कृतिक और धार्मिक मान्यताओं में दिखलाई पड़ता है। एक ओर तो वे यह मत व्यक्त करते हैं कि कलियुग में निर्गुण ब्रह्म के अवतार दशरथ पुत्र 'राम' की भक्ति ही लौकिक श्रेष्ठता और कुलीनता का आधार है;

और चाहे वह जन्मना किसी भी जाति-कुल या वर्ण का क्यों न हो, पूज्य है तथा मात्र वही राम के प्रेम तथा भवसागर से मुक्ति का अधिकारी है। दूसरी ओर वे बराबर वेद और ब्राह्मण की श्रेष्ठता सिद्ध करते तथा श्रुति-पुराण, आगम, दर्शनादि को आप्त-प्रमाण मानकर उनमें निष्ठा रखने का उपदेश देते हैं। यहाँ यह देखना अभिप्रेत है कि उनके इन दोनों व्यक्तित्वों में मुख्यता किसकी है ?

व्यक्तित्व के निर्माण के दो प्रमुख कारण हैं—पहला-'प्रतिभा', दूसरा-'संस्कार'। संस्कारों का निर्माण सामाजिक परिवेश, शिक्षा-दीक्षा और शास्त्राभ्यास से होता है किन्तु प्रतिभा नैसर्गिक शक्ति है। संस्कार परम्परागत संस्कृति और युगीन सामाजिक चेतना के अनुवर्ती होते हैं; किन्तु 'प्रतिभा' इन सबका अतिक्रमण करने वाली भी होती है। महान् पुरुषों, क्रान्तदर्शी कवियों, क्रान्तिकारी राष्ट्रनायकों और तत्त्वद्रष्टा दार्शनिकों में नैसर्गिक प्रतिभा इतनी प्रबल होती है कि वे सदैव अर्जित संस्कारों के वशीभूत बनकर नहीं रह पाते; इसी करण वे परम्परागत रूढ़ियों, घिसे-पिटे मार्गों और विवेकहीन संस्कारों को छोड़कर अपनी प्रतिभाशक्ति से नवीन मार्गों का अन्वेषण एवं प्रदर्शन करते हैं। उनके द्वारा नवनिर्मित मार्ग नवीन युगों के प्रवर्त्तक और भावी पीढ़ियों के लिए दिशा-निदेशक होते हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि प्रतिभा अर्जित संस्कारों को अतिक्रमित करने वाली भी होती है। वस्तुत: ऐसी ही प्रतिभा को क्रान्तदर्शी प्रतिभा कहते हैं। प्रतिभा ऐसी भी होती है, जो परम्परागत मार्गों के भीतर ही चमत्कार प्रदर्शन करती है अथवा विभिन्न मार्गों का समीकरण और समन्वय उपस्थित करती है। इस तरह प्रतिभा की तीन कोटियाँ होती हैं—(१) बद्ध प्रतिभा, (२) समन्वय-कारिणी प्रतिभा, और (३) स्वच्छन्द प्रतिभा।

संस्कृत कवियों में वाल्मीकि और कालिदास की प्रतिभा स्वच्छन्द या मुक्त प्रतिभा है। इसी कारण वे क्रान्तदर्शी कवि माने जाते हैं, किन्तु भारवि, माघ और श्री हर्ष की प्रतिभा बद्ध-प्रतिभा है। उन्होंने परम्परागत साहित्यिक और धार्मिक रूढ़ियों तथा विश्वासों की सीमा के अन्तर्गत ही अपनी कला का चमत्कार प्रदर्शित किया है। भारतीय दार्शनिकों में शंकराचार्य ने वैदिक, औपनिषदिक और बौद्ध-विचारधाराओं के समन्वय से एक ऐसी दार्शनिक पद्धति आविष्कृत की है जो नवीन युग के परिप्रेक्ष्य में बाह्यत: सर्वथा मौलिक और नवीन होते हुए भी तत्त्वतः पूर्ण मौलिक नहीं है। आधुनिक युग के भारतीय महापुरुषों में बालगंगाधर तिलक और मदनमोहन मालवीय की प्रतिभा बद्ध-प्रतिभा थी, महात्मा गांधी और रविन्द्रनाथ ठाकुर की प्रतिभा समन्वय-कारिणी प्रतिभा थी, किन्तु पं० जवाहरलाल नेहरू की प्रतिभा स्वच्छन्द अथवा क्रान्तदर्शी थी।

हिन्दी-कवियों में सूर और कबीर की प्रतिभा जितनी उन्मुक्त और क्रान्तदर्शी है उतनी अन्य किसी प्राचीन हिन्दी कवि की नहीं है। केशव और बिहारी की प्रतिभा बद्ध-प्रतिभा है, किन्तु सूर, जायसी मीरा और घनानन्द में समन्वयकारिणी प्रतिभा के दर्शन होते हैं, किन्तु तुलसीदास के साहित्य में एक विचित्र बात यह दिखलायी पड़ती है कि उसमें स्वच्छन्द प्रतिभा की अभिव्यक्ति तो बहुत अधिक मिलती है, पर साथ ही उसमें संस्कार जन्य रूढ़िगत विश्वासों और आचारों के प्रति अत्यधिक मोह भी है। क्रान्तदर्शी कवि और विचारक ऐसे विश्वासों और आचारों को कभी भी स्वीकार नहीं करते। इस कारण हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि तुलसी का व्यक्तित्व दुहरा है। उनका एक व्यक्तित्व उनकी क्रान्तदर्शी स्वच्छन्द प्रतिभा की देन है, और दूसरा व्यक्तित्व दीक्षा गम्य सामाजिक संस्कारों से निर्मित हुआ है। इन दोनों के बीच होने वाले संघर्ष को कवि ने जान-बूझकर गोपन ही रहने दिया है। परिणामस्वरूप तुलसी-साहित्य के पाठकों के सम्मुख यह समस्या उत्पन्न हो जाती है कि वे कवि को क्या मानें—रूढ़िवादी, समन्वयवादी अथवा विद्रोही ? अधिकांश आलोचक उन्हें समन्वयवादी कवि कहते हैं—तो कुछ ऐसे भी हैं जो उनको रूढ़िवादी, पुराणपन्थी और प्रतिक्रियावादी तक कह डालते हैं। किन्तु तुलसी में विद्रोह की प्रवृत्ति है या नहीं ? इस प्रश्न पर बहुत कम लोगों ने विचार किया है, जबकि वास्तविकता यह है कि तुलसी-साहित्य में सबसे प्रमुख प्रवृत्ति विद्रोह की ही है।

विद्रोह का अर्थ होता है—उन सभी परम्परागत मान्यताओं, मार्गों, आचारों और शैलियों का विरोध और त्याग जो वर्तमान सामाजिक परिप्रेक्ष्य में अनुपयोगी और खोखली हो गयीं हैं। इन्हीं को रूढ़ि कहा जाता है। ये रूढ़ियाँ केवल अनुपयोगी ही नहीं, प्रायः घोर अन्याय और अनाचार का कारण बनती हैं। अतः क्रान्तिदर्शी या विद्रोही कवि, विचारक, दार्शनिक, धर्मोपदेशक और राजनीतिज्ञ उन रूढ़ियों पर आघात करते, उनके समर्थकों से संघर्ष करते और वर्तमान कालीन व्यक्ति और समाज के कल्याण को ध्यान में रखकर नवीन आचारों, विचारों, मार्गों और शैलियों का आविष्कार करते हैं। देखना यह है कि तुलसीदास ने भाषा, साहित्य, दर्शन, समाज-नीति और राजनीति के क्षेत्र में किस सीमा तक परम्परागत रूढ़ियों को स्वीकार किया है तथा किस रूप में उनका विरोध और नवीन विचारों एवं मार्गों का निर्देश किया है। इसके लिए तुलसीदास के समकालीन समाज के जीवन पर एक दृष्टि डालनी होगी।

तुलसीदास का युग राजनैतिक और आर्थिक दृष्टि से मध्यकालीन भारतीय इतिहास का स्वर्ण-युग था। अकबर की सहिष्णुतावादी, उदार धार्मिक

नीति तथा प्रसरत शासन-प्रबन्ध के कारण देश धनधान्य से परिपूर्ण था किन्तु निम्न वर्गीय हिन्दू समाज पूर्ववत विपन्न, दलित और अशरण था। इस्लाम के प्रबल राजनैतिक और धार्मिक दबाव के कारण हिन्दू धर्म अपनी सुरक्षा की दृष्टि से अत्यधिक कठोर रूढ़ियों का आश्रित हो गया था जिसके परिणामस्वरूप निम्न वर्गीय हिन्दू समाज में उच्च वर्ग के प्रति घोर असन्तोष और विद्रोह की भावना उत्पन्न हो गयी थी। इस काल में व्यापारिक उन्नति और नागरिक जीवन के विकास के कारण एक नवीन मध्यवर्ग का उदय हुआ था जिसमें अधिकतर तथाकथित निम्न वर्गीय हिन्दू जातियों के लोग थे। उन लोगों पर नाथ सम्प्रदाय के योगियों तथा निर्गुण मतावलम्बी सन्तों एवं मुसलमान सूफियों का प्रभाव अधिक था। उच्च वर्गीय हिन्दू-समाज विभिन्न साम्प्रदायिक मत-मतान्तरों के छोटे-छोटे घेरों में विभक्त था। निष्कर्ष यह कि हिन्दू समाज विघटन की स्थिति में था। उसके सामने कोई ऐसा आदर्श नहीं था जिसका अवलम्बन करके एकता के सूत्र में आबद्ध होता। उच्च वर्गीय हिन्दू समाज वेद और ब्राह्मण की श्रेष्ठता में विश्वास करने वाला, वर्ण-भेद से ग्रस्त, बहु-देवोपासना में रत, अन्धविश्वास और पाखण्ड में आकण्ठ निमग्न था। हिन्दू-जाति की रक्षा के ऐतिहासिक दायित्व का भार ग्रहण करने वाला न कोई सम्प्रदाय था न कोई व्यक्ति। ऐसे समाज के विघटनकारी तत्वों को पहिचान कर उनका विरोध तथा उन्मूलन करना किसी क्रान्तदर्शी विद्रोही व्यक्ति का ही काम था।

प्रायः सौ वर्ष पूर्व कबीर, नानक और रामानन्द ने इस दिशा में कार्य किया था। इनमें से रामानन्द ही ऐसे महापुरुष थे जिन्होंने समाज के उच्च और निम्न—दोनों वर्गों को ध्यान में रखकर अपने सम्प्रदाय का संगठन किया। कबीर का विद्रोह इतना तीखा और कठोर था कि वह उच्च वर्ण वाले हिन्दुओं के गले के नीचे नहीं उतर सकता था। नानक का विद्रोह भी परम्परागत शास्त्रों से पूर्णतः विरहित हो जाने के कारण सार्वदेशिक रूप नहीं धारण कर सका; वह देश के एक कोने में ही सिमट कर रह गया। अतः हिन्दू समाज को एक ऐसे क्रान्तिकारी महापुरुष की प्रतीक्षा थी जिसकी वाणी सार्वभौम और सार्वदेशिक प्रभाव रखने वाली तथा समाज की गति को नयी दिशा में मोड़ने वाली होती।

इस ऐतिहासिक दायित्व को वहन करने के लिए निसर्ग ने तुलसी की महती प्रतिभा को प्रादुर्भूत किया। तुलसी ने किसी सम्प्रदाय की स्थापना नहीं की, शिष्य परम्परा नहीं चलायी, दर्शन या धर्म के सिद्धान्त ग्रन्थ नहीं लिखे। उन्होंने साहित्य के ऋजु एवं रसात्मक मार्ग का अवलम्बन किया। काव्य को भी उन्होंने काव्यशास्त्र से अनुप्रेरित होकर नहीं अपनाया बल्कि अपनी नवीन

सामाजिक दृष्टि को प्रचारित करने के लिए एक सशक्त माध्यम के रूप में ही अपनाया। इसी कारण उन्हें अपने को कवि कहने में संकोच होता है। वेदों में कवि को मनीषी, परिभू और स्वयंभू कहा गया है; अर्थात् वह स्वतः प्रेरित स्वयं में पूर्ण और तत्त्व द्रष्टा होता है। तत्त्व दर्शन एवं सामाजिक दर्शन ही वैदिक दृष्टि से कवि का अभिप्रेत होता है, काव्य का रसात्मक एवं कलात्मक पक्ष उसके लिए माध्यममात्र होता है। तुलसी ऐसे ही तत्व चिन्तक और समाज द्रष्टा कवि हैं। इस माने में वे वाल्मीकि और व्यास के समान और समकक्ष हैं। कबीर की दृष्टि भी ऐसी ही थी किन्तु उनकी दृष्टि में वह व्यापकता और उदारता नहीं है जो तुलसी की काव्य-दृष्टि में है। विद्रोह की भावना दोनों में ही प्रबल है, दोनों ही पारमार्थिक सत्ता के अन्वेषी तथा उसके प्रति आस्थावान हैं, दोनों ने ही अपने-अपने ढंग से नवीन सामाजिक चेतना उत्पन्न की है किन्तु इतना होने पर भी तुलसी के साहित्य में जो सार्वदेशिकता, सर्वजनीनता और सम्पूर्णता है वह कबीर-साहित्य में नहीं है।

किन्तु कबीर के साहित्य में जिस तरह का खुला और सीधा सामाजिक विद्रोह दिखलाई पड़ता है वैसा तुलसी-साहित्य में नहीं है। तुलसी का विद्रोह तर्कों पर नहीं, भावना पर आधृत है। कबीर समाज की बुराइयों के लिए धर्म के ठेकेदार ब्राह्मण पण्डों, पुरोहितों और मुल्लाओं को दोषी ठहराते हैं, वे सामाजिक पाखण्डपूर्ण आचार; जैसे—तीर्थ-यात्रा, मूर्ति-पूजा, पशु-बलि, साम्प्रदायिक वेश-भूषा आदि के लिए समाज के लोगों पर सीधी चोट करते हैं। किन्तु तुलसीदास इस सबके लिए कलियुग को दोषी ठहराते हैं। उनका मत है कि कलियुग के प्रभाव से हिन्दू समाज भ्रष्ट हो गया है, धर्म और सद्ग्रन्थ लुप्त हो गये हैं, वर्णाश्रम धर्म मिट गया है, लोग वेद विरोधी हो गये हैं, ब्राह्मण वेद को बेचने वाले और राजा प्रजा को खाने वाले हो गये हैं। यहाँ तक कि समस्त धार्मिक, सामाजिक, पारिवारिक और मानवीय मर्यादाएँ व्यतिक्रमित हो गयीं हैं। सामाजिक भ्रष्टाचार की ओर संकेत कर वे लिखते हैं :—

मारग सोइ जा कहुँ जोर भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा।।
मिथ्यारम्भ दंभरत जोई। ता कहँ संत कहइ सब कोई।।
सोइ सयान जो परधनहारी। जो कर दंभ सो बड़ आचारी।।
जो कह झूठ मसखरी जाना। कलियुग सोइ गुणवन्त बखाना।।
निराचार जो श्रुतिपथ त्यागी। कलियुग सोइ ज्ञानी सो विरागी।।
जाके नख अरु जटा विशाला। सोइ तापस प्रसिद्ध कलि काला।।

असुभ वेष भूषन धरे, भच्छाभच्छ जे खाहिं।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर पूज्य ते कलियुग माहिं।।

जे अपकारी चार तिन्ह कर गौरव मान्य तेइ ।
मन क्रम बचन लबार तेइ बकता कलिकाल महुँ ।।

इस प्रकार तुलसीदास जी ने उन समस्त सामाजिक एवं नैतिक भ्रष्टाचारों का विरोध किया है जो उनके समय में हिन्दू समाज में प्रचलित थे । यहाँ प्रश्न यह होता है कि इन भ्रष्टाचारों का उन्मूलन करके वे किस प्रकार के सामाजिक और नैतिक आचारों की प्रतिष्ठा करना चाहते थे ? क्या हिन्दू धर्मशास्त्रों में जो सामाजिक आचार बताये गये हैं, वे उन्हीं को पुनः प्रतिष्ठित करना चाहते हैं या उनकी जगह पर किन्हीं नवीन आचारों को प्रतिष्ठित करना चाहते हैं ? इस सम्बन्ध में उन्होंने जो कुछ लिखा है, उससे स्पष्ट है कि वे घड़ी की सुई को पीछे लौटाने के पक्षपाती नहीं हैं । ऐसा सम्भव नहीं था क्योंकि उनके अनुसार कलियुग में सतयुग या त्रेतायुग को वापस नहीं लाया जा सकता था । उन्होंने एक ओर तो त्रेता युग में रामराज्य के अन्तर्गत प्रचलित सात्विक, सामाजिक आचारों का विशद वर्णन किया है, दूसरी ओर अपने समय अर्थात् कलियुग के आचारों को भी विस्तार से दिखाया है और साथ ही यह भी कहा है कि रामराज्य को वापस लाना असम्भव है—ऐसी स्थिति में उन्होंने जिस आदर्श सामाजिक व्यवस्था की परिकल्पना की है उसे हम 'भक्तिराज्य' कह सकते हैं । वे 'कलिराज्य' की जगह 'भक्तिराज्य' की स्थापना चाहते हैं ।

रामराज्य और कलिराज्य

तुलसीदास जी का विश्वास है कि कलियुग में सतयुग, त्रेता और द्वापर के धार्मिक और सामाजिक आचार नहीं चल सकते । उदाहरण के लिए हिन्दू-धर्मशास्त्र की बहुमान्य वर्णाश्रम व्यवस्था का मान त्रेता युग में रामराज्य में ही सम्भव था, जब कि वर्णाश्रम व्यवस्था होते हुए भी समाज में साम्य-भावना, अभेद-स्थिति और मैत्री-भावना वर्तमान थी, समाज का मूलाधार नैतिकता था—

बयरु न कर काहू सन कोई । राम प्रताप विषमता खोई ।।
बरनास्रम निज-निज धरम निरत बेद पथ लोग ।
चलहिं सदा पावहिं सुख नहिं भय शोक न रोग ।।

× × ×

सब नर करहिं परसपर प्रीती । चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति रीति ।।
चारिहु चरन धरम जग माहीं । पूरि रहा सपनेहु अघ नाहीं ।।
अलप मृत्यु नहिं, कवनउ पीरा । सब सुन्दर सब निरुज सरीरा ।।

नहि दरिद्र नहि दुखी न दीना। नहि कोइ अबुध न लच्छनहीना॥
सब निर्दंभ धर्मरत घूनी। नर अरु नारि चतुर सब गुनी॥
सब गुनग्य पंडित सब ग्यानी। सब कृतज्ञ नहि कपट सयानी॥

रामराज्य में धर्म चारों पाँवों पर खड़ा था। इसी कारण समाज में वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था का मान था, विप्र पूज्य था क्योंकि वह जन्मना श्रेष्ठ होते हुए कर्मणा पण्डित, ज्ञानी और सदाचारी भी था। किन्तु कलियुग में धर्म एक पाँव पर खड़ा है जिससे वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था टूट गयी है—

बरन धरम नहि आश्रम चारी। श्रुति विरोध रत सब नर नारी॥

× × ×

सूद्र द्विजन्ह उपदेसहि ग्याना। मेलि जबे ऊलेंहि कुदाना।
सब नर काम-लोभ-रत कोधी। वेद विप्र-गुरु सन्त-विरोधी।

× × ×

बादहि सूद्र द्विजन्ह सन, हम तुम्ह ते कुछ घाटि।
जाने ब्रह्म सो विप्रवर, आँख देखावहिं डाँटि॥

× × ×

विप्र निरच्छर लोलुप कामी। निराचार सठ वृषली स्वामी॥
सूद्र करहि जप तप व्रत दाना। बैठि बरासन कहहिं पुराना॥
सब नर कल्पित करहि अचारा। जाइ न बरनि अनीति अपारा॥
ये बरन संकर सकल भिन्न सेतु सब लोग।
करहि पाप दुख पावहि भय रुज सोक वियोग॥

इस प्रकार तुलसीदास जी ने कलियुग; अर्थात् अपने युग के हिन्दू समाज का सच्चा चित्र खींचा है। निश्चय ही यह उनके हृदय को पीड़ा पहुँचाने वाला चित्र था, पर इस पर किसी का वश नहीं था—यह कलियुग का प्रभाव था। कम से कम तुलसी बाबा ऐसा ही समझते थे। जो स्थिति तुलसीदास के युगीन समाज की थी, प्रायः वैसी ही आज भी है। कलियुग वस्तुतः कलयुग है जिसमें औद्योगिक सभ्यता का उदय होता है। प्राचीन मानव समाज जब कृषि, व्यवस्था पर आधृत था उसी समय वैदिक मतावलम्बी धर्मशास्त्रों का निर्माण हुआ जिनमें आश्रम व्यवस्था और चातुर्वर्ण्य-विभाजन हुआ था। उस काल के लिए यह सामाजिक व्यवस्था बहुत उपयोगी थी। यदि वह न होती तो निश्चय ही प्राचीन भारतीय वाङ्मय और दर्शनों की यह सम्पन्नता न होती' जिस पर आज हम गर्व करते हैं। उसके अनुसार समाज के एक बड़े वर्ग को धर्म, साहित्य और दर्शन के विकास का कार्य सौंप दिया गया था। इसी तरह

राजन्य (क्षत्रिय), वैश्य और शूद्र वर्ग के कार्य विभाजित कर दिये गये थे। किन्तु यह कृषियुगीन समाज का श्रमविभाजन था जो परवर्ती औद्योगिक युगों में नहीं चल सकता था। वर्ण-व्यवस्था को वैदिक मतावलम्बी ऋग्वेद के दशम् मण्डल के पुरुष सूक्त के इस मंत्र से सिद्ध करते हैं—

"ब्राह्मणोऽस्य मुख मासीद्बहू राजन्यः कृतः,
अरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत्।"

यह मन्त्र आर्य जाति के इतिहास की प्रारम्भिक कृषि-युग की रचना है जब समाज को श्रम-विभाजन की दृष्टि से चार भागों में विभाजित किया गया था। उत्पादन के साधन पर व्यक्ति अथवा कुल का अधिकार होने के साथ ही श्रेष्ठता और हीनता की प्रवृत्ति भी उत्पन्न हो गयी थी जिसके फलस्वरूप ब्राह्मण को श्रेष्ठतम वर्ण और अन्य वर्णों को उत्तरोत्तर हीन माना जाने लगा। जब तक समाज केवल कृषि व्यवस्था पर आधृत था, वर्ण व्यवस्था कर्म के आधार पर सुचारु रूप से चलती रही। ज्यों-ज्यों उद्योगों का विकास, नागरिक सभ्यता का उदय और पूँजी का संचय होता गया, समाज का आर्थिक ढांचा परिवर्तित होता गया जिसके कारण वर्ण-व्यवस्था एक सामाजिक रूढ़ि मात्र बनकर रह गयी, फलतः न्यस्त स्वार्थ वाले वर्णों को अपने हितों की रक्षा के लिए धर्मशास्त्रों की रचना करके वेद और धर्म के नाम पर वर्ण-व्यवस्था का औचित्य सिद्ध करना पड़ा। किन्तु हीनतर माने जाने वाले वर्णों के लोग आर्थिक विकास के साथ इस व्यवस्था को भी अस्वीकार करते रहे। उन्होंने ब्राह्मण-श्रेष्ठता के विरुद्ध विद्रोह करना शुरू किया। उपनिषदों के ज्ञानकाण्ड, बौद्ध और जैन धर्म तथा मध्यकालीन भक्ति और सन्त-आन्दोलनों ने इसी विद्रोह की वाणी अभिव्यक्त की। इन सब ने वर्णाश्रम व्यवस्था और ब्राह्मण श्रेष्ठता का जोरदार विरोध किया। इस तरह वर्ण व्यवस्था उस औद्योगिक युग में शिथिल होती गयी जिसे पुराणों में कलियुग कहा गया है। इस युग में प्राचीन धर्म का स्वरूप बदलता गया, धर्म की नयी मान्यता स्थिर हुई जिसे प्राचीनतावादियों ने अस्वीकार कर के यह घोषणा की कि कलियुग में धर्म के तीन पाँव नष्ट हो गये हैं, केवल एक पाँव रह गया है।

सारांश यह कि सामाजिक विकास की अनिवार्य गति के अनुसार मध्य काल में—विशेषकर तुलसी युग में निम्न वर्गों के लोगों द्वारा उद्योग-धन्धों से सम्पत्ति संचित कर लेने के कारण वर्ण-व्यवस्था पर गहरी चोट की गयी। वह शिथिल होकर केवल रूढ़ि रूप में रह गयी। इन्हीं सब बातों का तुलसीदास ने कलियुग के अनाचार के रूप में वर्णन किया है।

भक्ति-राज्य की परिकल्पना

तुलसीदास जी यह अच्छी तरह जानते थे कि सामाजिक विकास की गति को पीछे की ओर नहीं लौटाया जा सकता; फिर भी उनके मन में प्राचीन युगों के सामाजिक आचारों के प्रति अगाध श्रद्धा और अपने समकालीन सामाजिक आचारों के प्रति घोर अश्रद्धा थी। मध्यकाल के समस्त सन्तों और भक्तों ने समाज की इसी वैषम्यपूर्ण समस्या का समाधान ढूँढ़ने का महान् उपक्रम किया है। सारे देश में बिखरे हुए तत्कालीन सगुण और निगुण मतावलम्बी सन्तों ने समाज की गति को पीछे की ओर लौटाने की जगह एक नवीन दिशा में मोड़ने का प्रयास किया। किन्तु उनका प्रयास सामूहिक, सुनियोजित और संगठित नहीं था; सामाजिक रोग की सब ने अलग-अलग औषधियाँ बतायीं, सबके अलग-अलग खेमे और घेरे थे जिन्हें सम्प्रदाय, मार्ग, मत या मठ कहा जाता था। तुलसीदास द्रष्टा कवि और विचारक थे। उन्होंने समझ लिया कि इन बिखरे प्रयत्नों से कुछ नहीं होने वाला था तथा ये प्रयत्न भी अधिकतर न्यस्त स्वार्थ की दृष्टि से ही किये जा रहे थे। इसीलिए उन्होंने स्पष्ट लिखा—

बहु दाम सँवारहिं धाम जती। विषया रसलीन नहीं बिरती॥
तपसी धनवन्त दरिद्र गृही। कलिकौतुक तात न जात कही॥

ये सम्प्रदाय भी अधिकतर सम्पत्ति संचय करने वाले और उनके नेता स्वार्थी एवं विषय-लोलुप हो गये थे। अतः तुलसी ने सम्प्रदाय माग या मठ बनाने का रास्ता नहीं अपनाया। उनके सामने जिस भावी आदर्श समाज की परिकल्पना थी उसे हम 'रामराज्य' और 'कलिराज्य' की तुलना में "**भक्ति-राज्य**" कह सकते हैं। अपनी इस मान्यता के सम्बन्ध में उन्होंने अपने सभी ग्रन्थों मे यत्र-तत्र संकेत दिये हैं। ये संकेत उनके सामाजिक विद्रोह की प्रवृत्ति को अभिव्यक्त करने वाले हैं। उनका सारांश यह है कि भावी हिन्दू समाज ऐसा होना चाहिए जिसमें रामराज्य के आदर्शों को वर्तमान युग-जीवन के अनुरूप बनाकर स्वीकार किया जाय। उनके विचारों को हम निम्नलिखित वर्गों में विभाजित करके देखेंगे: (१) वर्णहीन सामाजिक व्यवस्था; (२) साम्य-भावना; (३) आदश राजतन्त्र; (४) मानवीय आचार नीति; (५) स्वस्थ और आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न समाज; (६) मर्यादा-मूलक सामाजिक संघटन; (७) राम-भक्ति पर आधारित धर्म।

वर्णहीन सामाजिक व्यवस्था

तुलसीदास के अनुसार आदर्श भक्तिराज्य में धर्मशास्त्रों द्वारा आदिष्ट वर्ण व्यवस्था नहीं होगी, उस समाज में सन्त या भक्त ही श्रेष्ठ व्यक्ति माने

जायेंगे। तुलसी ने सन्त का लक्षण बहुत विस्तार से बताया है और कहा है कि—भक्त या सन्त यदि नीच और हीन कुल का भी है तो भी वह ब्राह्मण, क्षत्रियादि कुलीन वर्ण वालों में उच्चतर हैं, क्योंकि उसमें राम की भक्ति है।

तुलसी भगत सुपच भलो भजै रैन दिन राम।
ऊँचो कुल केहि काम को जहाँ न हरि को नाम।।
यदपि साधु सबही विधि हीना। तद्यपि समता के न कुलीना।।
यह दिन रैनि नाम उच्चरै। वह नितमान अगिनि में जरै।।

इसीलिए उन्होंने अपनी समस्त कृतियों में दास्य भाव से राम की भक्ति करने वालों को श्रेष्ठ सिद्ध किया है। राम स्वयं निम्न वर्ण ही नहीं, निम्न योनि वालों; जैसे—केवट, गुह, शबरी, वानर और भालू जाति के हनुमान, सुग्रीव जाम्बवान आदि गृध, जटायु, काक भुशुण्डि आदि को अस्पृश्य न मानकर हृदय से लगाते हैं। तुलसीदास ऐसे समाज की कल्पना करते हैं जिसमें इस प्रकार के भक्तों और सन्तों का बाहुल्य हो। उन्हें उच्च वर्ण तथा जाति-पाँति के विचार के प्रति कोई पक्षपातपूर्ण आग्रह नहीं है। 'कवितावली' में उन्होंने इस सम्बन्ध में अपना स्पष्ट मत लिखा है—

धूत कहौ अवधूत कहौ रजपूत कहौ जोलहा कहौ कोऊ।
काहू की बेटी सो बेटा न ब्याहब कोहू की जाति बिगारन सोऊ।।

× × ×

मेरे जाति-पाँति न चहौं काई की जाति-पाँति,
मेरे कोउ काम को, न हौं काहु के काम को।
लोक-परलोक रघुनाथ ही के हाथ सक्ष,
भारी है भरोसो तुलसी के एक नाम को।
अतिहि अयाने उपखानों नहिं बूझें लोग,
साहही का गोत, गोत होत है गुलाम को।

× × ×

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि तुलसीदास हिन्दू समाज को रामभक्त वर्ण-हीन समाज के रूप में बदलना चाहते थे।

साम्य-भावना

तुलसी के 'भक्ति-राज्य' में किसी प्रकार के वैषम्य के लिए कोई भी स्थान नहीं है। जिस समाज में सभी राम के भक्त होंगे, उसका प्रत्येक सदस्य साधु अर्थात् सन्त के लक्षणों से युक्त होगा। सन्त समाज में परस्पर ईर्ष्या-द्वेष, दम्भ, कपट, पाखंड आदि के लिए स्थान नहीं हो सकता; क्योंकि एक राम के

भक्त होने के कारण सभी एकता के सूत्र में आबद्ध, परस्पर प्रेम और सयोग करने वाले तथा समान रूप में भगवान् की कृपा के आकांक्षी होंगे। यही वह आन्तरिक साम्य-भावना है जिसकी नानक कबीर, तुलसी और गांधी—सब ने कामना की है। इस आन्तरिक साम्य-भावना से ही बाह्य सामाजिक और आर्थिक समता की भावना स्थायी रूप ग्रहण कर सकती है। ऊपर से बल-पूर्वक आरोपित लोकतन्त्रात्मक तथा समाजवादी साम्य-भावना इस आन्तरिक साम्य-भावना के बिना सार्थक, सफल और स्थायी नहीं हो सकती।

मानवतावादी आचार

समाज में आचारों का अत्यधिक महत्व है। इनका सम्बन्ध एक तो धर्म से और दूसरी ओर समाज से होता है। प्रारम्भिक समाज में आचारों को ही धर्म का रूप माना जाता था। धर्म का रूप ज्यों-ज्यों परिवर्तित होता गया, आचारों का स्वरूप भी बदलता रहा और उनका प्रभाव सामाजिक सम्बन्धों पर भी पड़ता रहा। इसी कारण हिन्दू धर्मशास्त्र—धर्म और समाजशास्त्र दोनों ही के अन्तर्गत माने जाते हैं। धर्म का रूप बदल जाने पर भी ये आचार प्रायः रूढ़ि रूप में बने रहते हैं और सामाजिक मन को प्रभावित करने के लिए नये धर्मों, मतों और सम्प्रदायों द्वारा नवीन आचार निर्मित कर लिए जाते हैं। इस तरह आचार धर्म का बाह्य रूप है। तुलसीदास ने रामभक्ति को ही परम धर्म माना। इसलिए उनकी दृष्टि से ऐसे समस्त आचार व्यर्थ हैं जो व्यक्ति को राम के चरणों की ओर नहीं ले जाते। वस्तुतः मानव के जो सहज गुण हैं वे ही वैष्णव आचार भी हैं; जैसे—अहिंसा, दया, प्रेम, उदारता, सहिष्णुता, धृति, संतोष, मुदिता, निरभिमानता, सहयोग-भावना आदि ये गुण मानव जाति से वैषम्य को दूर कर उसे एक बनाते हैं। वर्ण, जाति, धर्म, राष्ट्र, रंग आदि के भेदों को दूर करके मानव मात्र को एक महान् परिवार के रूप में बदल देना ही इन मानवीय गुणों का साध्य है। तुलसीदास जी ने सज्जन, सन्त, भक्त अथवा साधु का लक्षण बताते हुए स्थान-स्थान पर इन गुणों को अपनाने का उपदेश दिया है। ये गुण सार्वदेशिक और सार्वकालिक हैं; और भक्ति-राज्य की स्थापना इन्हीं मानवीय गुण-मूलक आचारों की नींव पर हो सकती है। ऐसे सात्विक आचारों को प्रतिष्ठित करने की इच्छा रखने वाला व्यक्ति कभी-कभी पाखण्डपूर्ण मिथ्याचारों, अनाचारों और भ्रष्टाचारों को सहन नहीं कर सकता था।

कलियुग के वर्णन में तुलसीदास ने बहुत ही निर्भीकता से तत्कालीन हिन्दू समाज के सभी वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र; गृहस्थ, सन्यासी, विरागी—आदि की कटु आलोचना की है; जिससे उनको तड़पती आत्मा का

विद्रोह अभिव्यञ्जित हुआ है। साधुओं के पाखण्डों, तीर्थ-यात्रा, बाल बढ़ाना और मुड़ाना आदि उनके लिए मिथ्याचार हैं। वे सबसे बड़ी तीर्थयात्रा सन्त-समागम को ही मानते तथा सन्त-समाज को तीर्थराज तक कह देते हैं—

सबहिं सुलभ सब दिन सब देसा। सेवत सादर समन कलेसा।
अकथ अलौकिक तीरथ राऊ। देइ सद्य फल प्रगट प्रभाऊ॥
सुनि समुझहिं जन मुदित मन। मज्जहिं अति अनुराग।
लहहिं चारि फल अछत तनु। साधु समाजु प्रयाग॥

रामभक्ति पर आश्रित धर्म

तुलसी ने जिस धर्म का उपदेश किया है वह परम्परागत वैदिक धर्म नहीं है; न तो वह परवर्ती पौराणिक धर्म ही है। राम की भक्ति ही उनका धर्म है जिसमें बाह्य आचारों का नितान्त अभाव है। रामोपासक वैष्णव धर्म में राम के नाम, रूप, लीला और धाम का सर्वाधिक महत्त्व माना गया है। यह बहुत ही सरल, सर्व सुलभ और सामाजिक धर्म है। अतः तुलसी राम के नाम के जप, रूप के स्मरण, रामकथा और राम-यश के वर्णन तथा श्रवण और राम की जन्मभूमि तथा लीलाभूमि अयोध्या और चित्रकूट का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए थकते नहीं हैं। कलियुग में वे वैदिक यज्ञों को व्यर्थ समझते हैं। आगमों का तन्त्र-मार्ग उनकी दृष्टि में समाज के लिए अनुपयोगी है और विभिन्न दशावतारों तथा देवी-देवताओं की पूजापाठ भी अनावश्यक है। उनका कहना है कि कलियुग में अन्य चाहे जितने अवगुण हों, पर एक बड़ा गुण यह है कि उसमें बिना प्रयास के ही 'रामनाम' के बल से भवसागर से निस्तार हो जाता है—

कृत युग त्रेता द्वापर हूँ, पूजा मख अरु जोग।
जो गति होइ सो कलि, हरिनाम ते पावहिं लोग॥
कलियुग केवल हरि गुण गाहा, गावत नर पावहिं भव थाहा।
कलियुग योग न जग्य न ग्याना, एक अधार राम-गुन गाना॥

इस तरह तुलसीदास ने वैदिक यज्ञों के कर्मकाण्ड, आरण्यकों और उपनिषदों के ज्ञानकाण्ड, षड् दर्शनों के योग और वेदान्त तथा आगमों के तन्त्राचार को वर्तमान समाज के लिए अनुपयोगी मानकर उनका तिरस्कार किया है। यह उनके धार्मिक विद्रोह का प्रत्यक्ष प्रमाण है। वैदिक और पौराणिक धर्म में पुरोहित का बड़ा महत्त्व है; क्योंकि बिना पुरोहित के यज्ञ-याग, पूजा-पाठ कुछ नहीं हो सकता। किन्तु तुलसीदास जी ने राम के सम्मुख वशिष्ठ के मुँह से कहवाया है—

उपरोहिती करम अति मंदा, वेद पुराण स्मृति कर निंदा ।

यद्यपि उन्होंने पौरोहित्य को वेद और पुराण के मत से निन्द्य बताया है किन्तु वस्तुतः ऐसी बातें नहीं है । यज्ञ और पूजा-पाठ में पौरोहित्य कर्म अनिवार्य तथा धर्मशास्त्र विहित है । सच तो यह है कि तुलसीदास ने अपना जो भी निजी मत व्यक्त किया है; उस पर वेद और पुराण की मुहर लगाने के लिए उनका नाम ले लिया है; क्योंकि हमारे यहाँ वेद को आप्त प्रमाण माना जाता है । वैदिक देवी-देवताओं—इन्द्र, वरुण, मरुत, ब्रहस्पति, उषा, अरण्यानी आदि की तुलसी ने कहीं स्तुति नहीं की, न उनके निमित्त किये जाने वाले यज्ञों का विधान बताया है । इन्द्र को तो जो सर्वश्रेष्ठ वैदिक देवता है, तुलसीदास जी ने नितान्त निकृष्ट कोटि का देवता सिद्ध किया है । खलों की तुलना उन्होंने इन्द्र से की है—

बहुरि शक्र सम बिनवऊँ तेही । संतत सुरानीक हित जेही ॥
बचन बज्र जेहि सदा पिआरा । सहस नयन पर दोष निहारा ॥

मर्यादा-मूलक सामाजिक सम्बन्ध

समाज का ढाँचा तभी बना रह सकता है, जब कि उसके सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों की मर्यादा सुनिश्चित हो । समाज की इकाई 'व्यक्ति' है और सामाजिक संघटन का आधार 'परिवार' है । आदिम युगों में परिवार की जगह कुलों या कबीलों का महत्व था और उस समय एक कुल (जन-समाज) के व्यक्तियों में साम्य-भावना वर्तमान थी । समाज की विभिन्न इकाइयों में—विभक्त हो जाने के बाद पारस्परिक सम्बन्धों की मर्यादाएँ स्थिर की गयीं; जैसे—पिता-पुत्र, पति-पत्नी, स्वामी-सेवक, राजा-प्रजा, भाई-भाई, मित्र-मित्र, शत्रु-शत्रु आदि के सम्बन्ध । तुलसीदास जी ने जिस आदर्श भक्ति-राज्य की कल्पना की है, उसमें प्रमुखता दास्य भाव के सम्बन्ध की है । किन्तु अन्य सम्बन्धों की मर्यादाओं की उपेक्षा उन्होंने नहीं की है । उनका मत है कि समाज की गाड़ी सहज गति से तभी आगे बढ़ सकती है, जबकि प्रत्येक व्यक्ति इन सामाजिक सम्बन्धों की मर्यादा का पालन करे, किन्तु साथ ही अपने को भी न छोड़े । मर्यादा और विवेक में संघर्ष उत्पन्न होने पर तुलसी अन्ततोगत्वा विवेक को ही विजयी दिखाते हैं । मर्यादा और विवेक के समन्वय से ही समाज का संघटन सुदृढ़ हो सकता है । रामकथा के विविध प्रसंगों में तुलसीदास जी ने मर्यादा और विवेक के इस द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध का बहुत ही सुन्दर व्याख्यान और निर्वाह किया है । समस्त सम्बन्धों की मर्यादा का मूल—भगवान् के साथ व्यक्ति का सम्बन्ध है । तुलसी का विवेक कहता है कि—जहाँ

भक्त और भगवान् के सम्बन्ध बीच अन्य सम्बन्धों की मर्यादा बाधक बने वहाँ भगवत्-सम्बन्ध के समक्ष अन्य सम्बन्धों की मर्यादा भंग करनी चाहिये—

जाके प्रिय न राम बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम यद्यपि परम सनेही।
तजै पिता प्रहलाद विभीषण बन्धु भरत महतारी।
बलिगुरु तजै कन्त ब्रज बनिता भै गज मंगलकारी……।

तुलसी ने जो बात रामभक्ति के लिए कही है—वही बात देशभक्ति, मानव-प्रेम, आदर्श-प्रेम आदि के लिए भी कही जा सकती है। सामान्य सामाजिक सम्बन्धों की मर्यादा उच्च आदर्शों की रक्षा के लिए तोड़ी जा सकती है, यही तुलसीदास का मन्तव्य है और निश्चय ही यह मन्तव्य सामाजिक रूढ़ियों का विरोधी है।

आदर्श राज-तन्त्र

रामराज्य के प्रसंग में तुलसीदास जी ने जिस आदर्श राज्य का वर्णन किया है वही उनकी कल्पना का आदर्श राज्य है। प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य में दार्शनिकों को राजा या शासक बनाने की बात कही है किन्तु तुलसीदास जी और भी आगे बढ़कर स्वयं भगवान् राम को ही अपने कल्पना-राज्य का राजा बनाना चाहते हैं। 'विनय-पत्रिका' में तो एक पद में कलियुग के वर्णन के प्रसंग में उन्हें सहसा ऐसा प्रतीत होता है कि रामराज्य स्थापित हो गया। किन्तु हम सब जानते हैं और तुलसीदास जी भी अच्छी तरह जानते थे कि इस कलियुग में रामराज्य स्थापित नहीं हो सकता। अतः उक्त वर्णन से तुलसीदास का तात्पर्य यही है कि वे अपनी कल्पना के राज्य में ऐसा राजा चाहते हैं जो राम जैसा प्रजा वत्सल, सन्तों और साधुओं का सेवक, सामाजिक मार्यादाओं का रक्षक, धर्म का उन्नायक और समाज के स्वास्थ्य और सम्पत्ति का सम्वर्धक हो। तुलसी के राम ऐसे राजा हैं जो अयोध्या वाटिका में ही अपना दरबार लगा लेते हैं सरयू के तीर पर बैठकर सत्संग कर लेते हैं। तुलसी भी ऐसे ही राजा की कल्पना करते थे जो प्रजा को लूटने वाला नहीं, प्रत्युत उसके सुख-दुख में सम्मिलित होने वाला, दरबारी तड़क-भड़क और फिजूलखर्ची से दूर रहकर प्रजा के निकट रहने वाला हो। राजा राम पैदल ही अयोध्या की सड़कों पर निकलते हैं। आजकल के राजनयिकों की तरह में चलने के लिए महार्घयानों की आवश्यकता नहीं होती, न ही उनकी रक्षा के लिए पुलिस और सेना ही तैनात की जाती है। कलि-वर्णन में तुलसीदास ने अपने समकालीन राजतन्त्र का उल्लेख इस प्रकार किया है—

नृप पाप-परायन धर्म नहीं, करि दण्ड बिडम्ब प्रजा नितही ।

इससे स्पष्ट है कि तुलसीदास राजा का धर्म-परायण पापरहित और प्रजा का हितकारी होना आवश्यक मानते थे। वह चाहते थे कि राजा प्रजा पर अनावश्यक कर लगाकर तथा व्यर्थ दण्ड देकर उसे प्रताड़ित न करे। कहना न होगा कि तुलसीदास की कल्पना का वह राज्य लोकतान्त्रिक और समाजवादी राज्य के निकट की वस्तु है।

तुलसी का दूसरा व्यक्तित्व

यह प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है कि तुलसीदास का व्यक्तित्व दोहरा है। उनके विद्रोही व्यक्तित्व का, जिसकी उनके साहित्य में प्रमुखता है; उल्लेख ऊपर किया गया है। उनका दूसरा व्यक्तित्व उनके अर्जित पौराणिक संस्कारों का व्यक्तित्व है। कबीर, रैदास आदि की तरह वे समाज में निम्न मानी जाने वाली जाति में नहीं उत्पन्न हुए थे; वे ब्राह्मण कुलोत्पन्न थे। अतः उनके स्वभाव में द्विजातीय पौराणिक तथा अभिजात्य संस्कार वर्तमान थे। इसी कारण उन्होंने वेद और शास्त्र के प्रामाण्य का बराबर उल्लेख किया है। पौराणिक धर्म के अनुसार जो भी वेद और शास्त्र के प्रमाण को माने और ब्राह्मण की श्रेष्ठता को स्वीकार करे, वह आस्तिक और धर्म परायण है। वर्तमान समय में ऐसे ही व्यक्तियों को हिन्दू कहा जाता है। यद्यपि तुलसीदास द्वारा कल्पित आदर्श समाज में वैदिक यज्ञों और ब्राह्मण श्रेष्ठता का कोई महत्व नहीं है; फिर भी वे किसी बात को सिद्ध करने के लिए बराबर यह कहते हैं कि वेद और पुराण का भी यही मत है, भले ही वेदों और पुराणों में उस बात का कहीं भी उल्लेख न हुआ हो। वे कहते हैं कि वेदों ने भी राम की महिमा गायी है, पर तथ्य यह है कि बेदों में रामकथा का उल्लेख कहीं नहीं है। इसी तरह उन्होंने बार-बार ब्राह्मण श्रेष्ठता भी स्वीकार की है—

बन्दउँ प्रथम महीसुर चरना, मोह जनित संशय सब हरना।
पूजिय विप्र सकल गुन हीना, सूद्र न गुन-गन कथा प्रवीना।
सापत तारत परसु कहन्ता, विप्र पूज्य अस गावहिं सन्ता।

सम्भवतः अपनी विद्रोही प्रवृत्ति के बावजूद उन्होंने वेद-प्रामाण्य और ब्राह्मण श्रेष्ठता को इसलिए स्वीकार किया हो कि इसके बिना वे अपनी बात को द्विजातियों से नहीं मनवा सकते थे। किन्तु तुलसी का व्यक्तित्व इतना ऊँचा है कि वे केवल लोकप्रियता प्राप्त करने और अपने मत के प्रचार के लिए असत्य-कथन तथा पाखंड का सहारा नहीं ले सकते थे। अतः यही कहना समीचीन होगा कि उनका एक व्यक्तित्व ऐसा भी था जो वस्तुतः वेद-प्रामाण्य, ब्राह्मण श्रेष्ठता एवं वर्णाश्रम व्यवस्था को स्वीकार करता था। इतना ही नहीं,

उन्होंने समस्त पौराणिक आख्यानों को, जिनमें असम्भव, अति प्राकृत, अलौकिक, और अन्धविश्वासपूर्ण बातें भरी हुई हैं, यथावत् स्वीकार कर लिया है। कबीर आदि सन्त कवियों ने इन पौराणिक विश्वासों पर खुलकर प्रहार किया है। किन्तु तुलसीदास की संस्कारगत चेतना इतनी अधिक पौराणिक है कि वे समस्त पौराणिक आख्यानों को सत्य मानकर उनका वर्णन करते हैं। रामचरित मानस में इस तरह के पौराणिक आख्यान भरे हुए हैं। राम को वे निर्गुण ब्रह्म का अवतार मानते तथा उन्हें ब्रह्मा, विष्णु, महेश से भी महत्तर सिद्ध करते हैं। किन्तु साथ ही अन्य देवी-देवताओं के अवतार का भी उल्लेख करते हैं। स्वर्ग, नरक पुनर्जन्म, कर्मफल, भूत, प्रेत, पिशाच, यक्ष, किन्नर, गन्धर्व—इन सब पौराणिक विश्वासों को उन्होंने अपनाया है। किन्तु कहीं-कहीं वे पौराणिक बातों की तार्किक व्याख्या भी करते हैं। यह सब होते हुए भी वे पौराणिक चेतना के गुलाम नहीं हैं। क्योंकि वे अन्यत्र कहते ही हैं कि कलियुग में वेद-पुराण, देवी-देवता आदि सभी आपनी शक्ति खो बैठे हैं। इसलिए कलिकाल में राम के सिवा वेद-पुराण, तप-तीर्थ, कर्म-फल आदि किसी पर बिश्वास नहीं रह गया है—

नाहिन आवत आन भरोसो।
यहि कलिकाल सकल साधन तरु है स्रमफलनि करो सो।
तप, तीरथ, उपवास, दान, मख, जेहि जो रुचै करो सो।
पाएहि पै जानिवो करम-फल भरि-भरि वेद परो सो॥
आगम बिधि, जप, जाग करत नर सरस न काज खरो सो।
सुख सपनेहु न योग-सिधि-साधन रोग वियोग धरो सो।
काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह मिलि ज्ञान विराग हरौ सो।
बिगरत मन संन्यास लेत जल नावत आम घरो सो।
बहुमत सुनि बहुपंथ पुराननि जहाँ तहाँ झगरो सो।
गुरु कह्यो राम भजन नीको मोहि लगत राज डगरौ सो॥
तुलसी बिनु परतीति प्रीति फिरि-फिरि पचि मरै मरो सो।
राम नाम बोहित भव सागर, तरन तरो सो।

इस प्रकार उनके दोनों व्यक्तित्व परस्पर विरोधी हैं और उन दोनों के बीच कहीं समझौता नहीं हुआ है। संस्कृत भाषा के प्रति विद्रोह करके उन्होंने भाषा यानी जनभाषा को अपनाया पर संस्कृत का संस्कार वे नहीं छोड़ सके। कहीं-कहीं उनकी हिन्दी भाषा एकदम संस्कृत ही हो गई। यह उनके दुहरे व्यक्तित्व का दूसरा प्रमाण है। यह अवश्य है कि उनका विद्रोही व्यक्तित्व ही उनका मूल व्यक्तित्व है और तुलसी की महत्ता उनके उसी व्यक्तित्व के कारण है।

१३

आलोचकों की दृष्टि में—रीतिकाल : एक अनुदृष्टि

●

द्विवेदी-युग की समाप्ति तक आते-आते हिन्दी-साहित्य में एक नया ही फैशन चल पड़ा था। अपने को समय के साथ चलने वाले चैतन्य-मन साहित्यकार सिद्ध करने के लिए अनेक कवि मध्ययुगीन कविता—विशेषकर रीतिकालीन कविता—की आँख बन्द करके आलोचना करने लगे थे। इनमें से अनेक विद्वान् रीतिकाल की कविता से केवल 'सेकिण्ड हैण्ड' परिचय रखते थे। चूँकि रीतिकाल की कविता ब्रजभाषा में है, इस कारण रीतिकाल का अर्थ **'ब्रजभाषा की कविता'** और ब्रजभाषा का अर्थ **'रीतिकाल की कविता'** लिया जाने लगा था। क्रमशः यह फैशन इतना प्रचलित हुआ कि रीतिकाल की कविता तक ही इन आलोचकों ने अपने को सीमित न रखा, अपितु रीतिकाल की संस्कृति, विचारधारा, राजनैतिक तथा सामाजिक आस्थाओं को भी समेट लिया और सामूहिक रूप से सं० १७०० से १९०० तक की प्रत्येक बात इन लोगों को दूषित और घिनौनी लगने लगी। इस मनोवृत्ति के बीज भारतेन्दु-युग में बोये गए थे और उसकी जड़ें द्विवेदी-युग में मजबूत हुई थीं तथा प्रसाद-पन्त-निराला युग में उसका पूर्ण विकास हुआ। श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने 'पल्लव' की भूमिका में कहा है :

"उस ब्रज की उर्वशी के दाहिने हाथ में अमृत का पात्र और बायें में

विषपूर्ण कटोरा है, जो उस युग के नैतिक पतन से भरा छलछला रहा है। ओह ! उस पुरानी गुदड़ी में असंख्य छिद्र, अपार संकीर्णताएँ हैं ?"

"इन····में से जिसकी विलास वाटिका में भी आप प्रवेश करें···सबकी बावड़ियों में कुत्सित-प्रेम का फुहारा शत-शत रसधारा में फुट रहा है···कुंजों में उद्दाम यौवन की गन्ध आ रही है। इस तीन फुट के नखशिख के संसार के बाहर ये कवि पुंगव नहीं जा सके।"[1]

पन्तजी का यह कथन आधुनिक काल के विचारकों के संकीर्ण तथा अन्यायपूर्ण दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता है।

भारतेन्दु-युग तक ब्रजभाषा का बोलबाला था, फिर इन लगभग ५०-६० वर्षों में ऐसा दृष्टिकोण-परिवर्तन कैसे हुआ ? खड़ीबोली और ब्रजभाषा का झगड़ा इसका मूल कारण है।

एक सामान्य साहियिक विवाद

भारतेन्दु-युग में खड़ीबोली के गद्य का निर्माण हुआ; उर्दू भी विकसित होती जा रही थी ; अंग्रेजी सरकार के प्रयासों से आवागमन के साधन बढ़ रहे थे, इसलिए देश में विभिन्न भागों के निवासी अधिकाधिक सम्पर्क में आ रहे थे; पढ़े-लिखों की सामान्य बोलचाल में खड़ीबोली का प्रयोग किया जाने लगा था; और ऐसे समय में ब्रजभाषा की एकदेशीयता सामाजिकों को खलने लगी थी। जो लोग ब्रजभाषा-भाषी नहीं थे, उनके मन में ब्रजभाषा के प्रति विशेष—या कहिए—आवश्यक—मोह न था और समय की पुकार के अनुसार कविता को सार्वदेशिकता प्रदान करने के लिए खड़ीबोली का सहारा लेना ही उन्हें लाभ-प्रद सूझ रहा था। उधर ब्रजभाषावाले अपनी भाषा का पल्ला छोड़ना नहीं चाहते थे। यहाँ से **एक सामान्य साहित्यिक विवाद** का आरम्भ हुआ, जो कि आगे चलकर अपने वास्तविक स्वरूप को खोकर मामूली गाली-गलौज में परिणत हो गया। सृजनात्मक आलोचना और तर्कों का स्थान छिद्रान्वेषण तथा विध्वंसात्मक मनोवृत्ति ने लिया। धीरे-धीरे इस विवाद में कटुता की मात्रा बढ़ने लगी और द्विवेदी-युग में होता हुआ यह झगड़ा आधुनिक युग में पहुँचा और उसका स्वरूप एकपक्षीय विषवमन का रह गया।

भारतेन्दु युग में इस विवाद का आरम्भ

१६ वीं शताब्दी में लावनी और खयालबाजी की प्रतियोगिताएँ अत्यधिक प्रचलित तथा लोकप्रिय हो गई थीं। डा० केसरीनरायण शुक्ल ने अपनी पुस्तक 'आधुनिक काव्यधारा' में भारतेन्दु-युग के लावनी-साहित्य के उदाहरण दिए हैं।

---

१. **'पल्लव'**—सुमित्रानन्दन पन्त, १६४२ ई०, पृ० ७, ६-१०।

डा० माताप्रसाद गुप्त ने 'हिन्दी पुस्तक साहित्य' में जमशेदजी होमरसजी पीरान के 'कलगी के दिलपसन्द ख्याल' (१८८२ ई०), नन्दलाल का 'तुर्रीराग' (१८८३ ई०), आदितराम जोइतराम तथा जोशी मनसुखराय के 'कलगिनी लावनियों' (१८८७ ई०) तथा शम्भुदयाल का 'अमसी व लावनी ख्यालात तुर्रा' (१८८८ ई०) रचनाओं की चर्चा की है। ख्यालबाजी तथा लावनियों के अखाड़े उन दिनों परम लोकप्रिय थे। ख्यालबाजी के दो 'स्कूल' माने जाते हैं—'तुर्रा' और 'कलगी'। अखाड़ों में इन दोनों की 'चोंचें' देखने को हजारों की भीड़ लगा करती थी। जनता की इनमें विशेष रुचि थी और लोकरुचि के अनुरूप ही इनकी भाषा खड़ीबोली हुआ करती थी। बाद में इनमें कुछ उर्दू के शब्दों का प्रयोग भी आरम्भ हुआ। लोक-साहित्य में खड़ीबोली का प्रयोग यहाँ तक आते-आते मुखर हो उठा था। लावनी और खयालों के अतिरिक्त लोक-गीतों में सामयिक बातों पर (खड़ी बोली में) रचना होने लगी थी। डॉ० लक्ष्मी सागरजी वार्ष्णेय ने अपनी पुस्तक 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' (१८५०-१९०० ई०) में एक उदाहरण प्रस्तुत किया।[1]

इसके अतिरिक्त ईसाइयों और आर्यसमाजी प्रचारकों ने भी अपने भजनों में खड़ीबोली का प्रयोग किया। आर्यसमाजी प्रचारकों के भजनों की भाषा शिथिल होने पर भी शुद्ध खड़ीबोली थी।[2] लोक-गीत तथा खयाल-लावनी

---

१. राजा फिरंगी रेल चलाई—छिन में आती जाती है।
धिग् ही दिल्ली, धिग् ही आगरा, धिग् ही भरतपुर जाती है।।
अन्न न खाती, पानी न पीती, धुँआ के बल से जाती है।
कच्ची सड़क पर वह नहीं चलती, लोहे लट्ठों पर जाती है।।
—(आ० हि० सा० १९४८ ई०, पृ० ९१)

२. तू प्रभु हमारा पालनहारा।
विनय सुनो हरि हे कर्तारा।
कोमल मन हो दया मैं राखूँ।
निसि दिन प्रेम भोज को चाखूँ।
सदा रहूँ मैं आज्ञाकारी।
बुद्धि मेरी रहे सुचारी।
मेरी वाणी मीठी होवे।
उत्तम गुण यह कभी न खोवे।
मैं सतसंग से प्यार बढ़ाऊँ।
खोटे मार्ग पर कभी न जाऊँ।
—लाला देवराज कृत 'सप्ताङ्गी प्रार्थना', १८८७ ई०
('ब्रजभाषा बनाम खड़ीबोली'—डा० कपिलदेव सिंह, पृ० ६७)

रचने वाले ये कवि किसी विवाद को ध्यान में रखकर खड़ीबोली में रचना नहीं कर रहे थे, अपितु लोकरुचि को देखकर अपनी रचना को लोकप्रिय और सर्वधारण के समझने योग्य बनाने के लिए ही वे खड़ीबोली का प्रयोग कर रहे थे। उनके सामने ब्रजभाषा और खड़ीबोली का झगड़ा नहीं था। इन कवियों की इन रचनाओं का जनता ने इतना स्वागत किया कि उस काल के साहित्यकारों ने लोक-साहित्य का सृजन आरम्भ कर दिया। भारतेन्दु जी ने 'फूलों का गुच्छा' (१८८२ ई०), पं० प्रताप नारायण मिश्र ने 'मन की लहर' (१८८५ ई०), पं० श्रीधर पाठक ने 'एकान्तवासी योगी' (१८८६ ई०), पं० बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने 'कजली कादम्बिनी' (१८९० ई०), बाबू बालमुकुन्द जी गुप्त ने 'जोगोड़ों का संग्रह' (१८८७-९९ ई०) लिखा। पाठकजी के 'एकान्तवासी योगी' के प्रकाशन से खड़ीबोली और ब्रजभाषा का झगड़ा आरम्भ हुआ। ब्रजभाषा के पक्षपातियों को खड़ीबोली का यह 'बेजा दखल' बुरा लगा और खड़ीबोली वालों के साथ जनरुचि और समय की माँग थी। खेमे गड़ गये और भाषा-युद्ध की भेरी बज गई। लोक-काव्य ने खड़ीबोली की नींव दृढ़ कर दी थी[1] और दृढ़ नींव पर खड़े होने के कारण खड़ीबोली ने टक्कर लेना आरम्भ कर दिया।

उर्दू का विकास होना आरम्भ हो गया था और हिन्दी से उसकी प्रतिद्वन्द्विता थी। उर्दू का सामना करने के लिए एक सर्वाङ्गपूर्ण (गद्य तथा पद्य—दोनों में समर्थ) भाषा की आवश्यकता थी और खड़ीबोली के समर्थकों ने खड़ीबोली को इस आवश्यकता पूर्ति में समर्थ समझकर उसका समर्थन करना आरम्भ कर दिया। ब्रजभाषा वालों ने भ्रमवश इसे अनधिकार चेष्टा समझा और विरोध करना आरम्भ कर दिया। इस अन्धाधुन्ध विरोध में भारतेन्दु ने साथ नहीं दिया। वास्तव में भारतेन्दु ने खड़ीबोली में कविता करने का प्रयत्न किया और उसके प्रचार का प्रयास भी किया, यद्यपि खड़ीबोली की कविता उनके मधुर मन के उपयुक्त नहीं पड़ती थी, परन्तु फिर भी युगद्रष्टा भारतेन्दु

---

१. रासधारी, नौटंकी, जोगीड़ा, लावनी आदि गानों से खड़ीबोली का गढ़ दृढ़ करने में बड़ी सहायता मिली। इन्होंने इतने मजबूत मसाले से खड़ीबोली की ईंट जोड़ी कि सारा प्रहार निष्फल हो गया।

—श्री कृष्णदेवप्रसाद गौड़—('आधुनिक खड़ीबोली कविता की प्रगति,' १९२९ ई०, पृ० ९)

ने खड़ीबोली के प्रचार का प्रयत्न किया।[1] कुछ लोग तो यहाँ तक मानते हैं कि काव्य-क्षेत्र में खड़ीबोली का संचार भारतेन्दु ने ही किया।[2] तात्पर्य यह कि इस विवाद में कटुता भरने में भारतेन्दु का हाथ बिल्कुल नहीं था।

धीरे-धीरे यह विवाद बढ़ता गया और इसके मूल में जो व्रजभाषा वालों की मनोवृत्ति की संकीर्णता थी, उसने इस विवाद में आरम्भिक कटुता लाने का कार्य किया। व्रजभाषा के समर्थकों ने खड़ी बोली वालों को 'बुद्धिहीन' और 'हठी' कहना आरम्भ कर दिया।[3] इस विवाद से विदेशी विद्वान् भी

---

१. भारतेन्दु जी ने १ सितम्बर १८८१ के 'भारतमित्र' में प्रकाशनार्थ कुछ पद खड़ीबोली में रचकर भेजे थे, उन पदों के साथ उन्होंने निम्न पत्र सम्पादक जी को भेजा था—

"...प्रचलित साधु भाषा में कुछ कविता भेजी है, देखियेगा इसमें क्या कसर है... । तीन भिन्न छन्दों में यह अनुभव करने के लिए कि किस छन्द में इस भाषा (खड़ीबोली) का काव्य अच्छा होगा, कविता लिखी है। मेरा चित्त इससे सन्तुष्ट न हुआ और न जाने क्यों व्रजभाषा से मुझे इसके लिखने में दूना परिश्रम हुआ।"

—डा० केसरीनारायण शुक्ल ('आधुनिक काव्यधारा', पृ० १३५)

और फिर भारतेन्दु इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि उनके लिए काव्य की भाषा व्रज ही उचित है। उन्होंने लिखा—"जो हो, मैंने कई बेर परिश्रम किया कि खड़ीबोली में कुछ कविता बनाऊँ पर मेरे चित्तानुसार नहीं बनी।" —भारतेन्दु ('हिन्दी भाषा')

२. "खड़ी बोली का काव्य-क्षेत्र में वस्तुतः संचार भारतेन्दु बाबू ने ही किया और उसकी ओर सुकवियों का ध्यान स्वयमेव पथ-प्रदर्शन करते हुए उन्होंने आकर्षित किया।.........इस प्रकार खड़ी बोली को काव्य के क्षेत्र में आगे बढ़ाने का सफल प्रयत्न किया।"

—पं० शुकदेवबिहारी मिश्र (प्राक् वचन : 'आधुनिक व्रजभाषा काव्य', पृ० ३)

३. जात खड़ीबोली पर कोऊ भयो दिवानो।

× × ×

हम इन लोगन हित सारद सों चहत विनय करि।
काहू विधि इनके हिय की दुर्मति दीजे दरि॥
जासों ये साँचे आनन्दप्रद सो सुख पावें।
औ' हठ करि नित औरन कों नहिं बहकावें॥

—जगन्नाथदास 'रत्नाकर' (समालोचनादर्श, १८९६ ई०, पृ० ३०-३१)

अछूते न रहे। फ्रेड्रिक पिन्काट ने खड़ीबोली के पक्ष का समर्थन किया[1] किन्तु ग्रियर्सन साहब ने खड़ीबोली का विरोध किया।[2] ब्रजभाषा वालों को उर्दू का भय था। वे समझते थे कि खड़ीबोली के सहारे उर्दू घुस आयेगी। इसी भय से भयभीत पं० राधाचरण गोस्वामी ने लिखा था—

"हम अनुमान करते हैं कि यदि खड़ीबोली की कविता की चेष्टा की जाय तो फिर खड़ीबोली के स्थान में थोड़े दिनों में खाली उर्दू का प्रचार हो जायगा। इधर सरकारी पुस्तकों में फारसी शब्द घुस ही पड़े, इधर पद्य में फारसी भरी गई तो सहज ही झगड़ा निपटा।"[3]

—(हिन्दोस्तान, १५ जनवरी, १८८८ ई०)

उधर खड़ीबोली वालों ने केवल खड़ीबोली के प्रचार तक ही अपने प्रयत्नों को सीमित न रखा, वरन् उन्होंने कहना आरम्भ किया कि ब्रजभाषा का जमाना गुजर गया है; उसके विकास की चरम सीमा निकल चुकी है। उसे अब विश्राम ले लेना चाहिए।

"इस संसार में एक वस्तु एक बार ही उन्नति के शिखर पर चढ़ती है फिर या तो स्थिर हो जाती है या गिर जाती है। ब्रजभाषा की कविता कई बातों में उन्नति की पराकाष्ठा से भी परे पहुँच चुकी है और यद्यपि अनेक अन्य बातों में उसे उन्नति की समाई है, पर अवसर नहीं है। ब्रजभाषा की कविता को.......विश्राम लेने का समय अवश्य आ पहुँचा है। उसको अधिक श्रम देना आवश्यक नहीं।"[4] —(हिन्दोस्तान, ३ फरवरी, १८८८ ई०)

पं० श्रीधर पाठक के इस कथन से और अन्य विद्वानों के इसी प्रकार के कथनों से झगड़ा भाषा और भाषा का नहीं रह गया, अपितु खड़ीबोली और ब्रजभाषा के साहित्य का हो गया। धीरे-धीरे खड़ीबोली वालों ने ब्रजभाषा के मध्ययुगीन साहित्य पर आक्रमण करना आरम्भ किया। ब्रजभाबा का दल दुर्बल होता गया और द्विवेदी-युग तक आते-आते परिश्रमित ब्रजभाषा पर दायें और बायें, चारों ओर से उचित और अनुचित आक्रमण होने आरम्भ हो गये। पराजयोन्मुख ब्रजभाषा-दल क्षोभ तथा खिसियाहट के कारण और खड़ीबोली-

---

१. बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री—'**खड़ीबोली का पद्य**' (भूमिका), १८८८ ई०, पृ० ६० ।

२. ग्रियर्सन साहब का बाबू अ० प्र० खत्री को लिखा गया ६ फरवरी १८६० ई० का पत्र।—('**खड़ीबोली का आन्दोलन**', पृ० ४५)

३. बा० अयोध्याप्रसाद खत्री—('**खड़ीबोली का आन्दोलन**', पृ० १४)।

४. ,, ,, —(**वही, पृ० १६**)।

दल विजयमद के कारण संयम खो बैठा, औचित्य को ताक में रख दिया और इस भाषा-युद्ध में कटुता पूर्ण रूपेण भर गई।

द्विवेदी-युग में

"ब्रजभाषा का बहिष्कार करने से हिन्दी की प्राचीनता प्रगट न होगी और खड़ीबोली की खिल्ली उड़ाने से नवीनता नष्ट होगी। हानि दोनों से है; इसलिए दोनों दल वालों को ईर्ष्या-द्वेष त्याग कर काम करना चाहिए।"[1]

उपरोक्त प्रकार के सन्तुलित मत रखने वालों के शान्ति प्रचार के मध्य भी ब्रजभाषा और खड़ीबोली का युद्ध तीव्र से तीव्रतर होता गया। द्विवेदी-युग में आकर कुछ और नये कारण उपस्थित हुए और उनके कारण खड़ीबोली और ब्रजभाषा वालों के मध्य की खाई और भी बढ़ गई। द्विवेदी युग की खड़ीबोली की कविता का एक प्रधान भाव था 'राष्ट्रीयता'। अंग्रेजी साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह की भावना से जनता को अनुप्राणित करने के लिए स्वदेशी भावना का राग फूंका गया। समय की पुकार थी कि देश में दासता के प्रति विद्रोह की भावना जगाई जाय और कवियों ने इस क्षेत्र में अग्रसर होना आरम्भ किया। देशभक्ति की अधिकांश कविताएँ खड़ीबोलो में की गईं—उनके लिए वीर रस[2] की आवश्यकता थी। वीर रस तथा स्वदेशी-भावना में जो आत्माहुति का रंग है, उसका मन और शरीर को तृप्त करने वाली शृंगार-भावना से विरोध है। स्वाभाविक था कि उस काल के राष्ट्रीय कवि शृंगार से दूर रहकर स्वदेशी-भावना का प्रचार करें। चूँकि ब्रजभाषा में शृङ्गार का आधिक्य है (और रीतिकाल उसका प्रतीक है); इसलिए राष्ट्रीय भावना के विकास के साथ-साथ शृङ्गार की उपेक्षा का भाव—और उसके साथ-साथ ब्रजभाषा और उसकी 'शृंगार कविता' के प्रति विरोध का भाव भी विकसित हुआ। कहा जाने लगा कि ब्रजभाषा वीर रस और देश-प्रेम की कविता के अनुपयुक्त है। यह बात 'भूषण' और भारतेन्दु की वीररस तथा देश-प्रेम की कविता के रहते हुए भी कही जाती थी। ब्रजभाषा वालों ने ब्रजभाषा में वीर रस तथा देश-प्रेम की कविता करके इस तर्क का उत्तर नहीं दिया, अपितु खड़ीबोली के गद्य में खड़ीबोली की कविता का विरोध ही वे करते रहे। इस विरोध में आवश्यक कटुता भी बहुधा आ जाया करती

---

१. जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी—(**सिंहावलोकन**, १९७४ वि०, पृ० ३२)।

२. **'जयद्रथ वध', 'भारत-भारती'**—आदि।

थी।[1] यदि द्विवेदी-युग के ब्रजभाषा के कवियों ने अपनी भाषा में समय की माँग के अनुरूप कविता की होती और थोड़ा-सा हेरफेर कर लिया होता तो ब्रजभाषा आज भी अपने पूर्व गौरव के साथ जीवित होती।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की पुस्तक 'कविता-कलाप' की तीव्र, कटूक्तियों से युक्त, जो आलोचना मई १९१३ ई० की 'मर्यादा' में 'कलाप या प्रलाप' शीर्षक से छपी थी, उसमें उस आलोचना के लेखक धृष्ट समालोचक' नाम के किसी गुमनाम सज्जन ने बड़ी कीचड़ उछाली और इस विवाद को एक और गन्दा स्वरूप प्रदान कर दिया, और अब धीरे-धीरे इस विवाद में व्यक्तिगत छीछालेदर ने प्रवेश पा लिया।[2] इस आपस की झीना-झपटी में हानि हुई—ब्रजभाषा की और उसके साहित्य की। धीरे-धीरे खड़ीबोली पनपने लगी और ब्रजभाषा के विरोधियों की संख्या बढ़ने लगी।

खड़ीबोली की कविता विकासोन्मुख हुई; उसमें नूतन प्रयोगों को आरम्भ हुआ। नूतन छन्दों की रचना की ओर कवियों ने ध्यान दिया तथा कविता अतुकान्त भी होने लगी। खड़ीबोली वालों ने इस प्रकार अपनी कविता को गत्यात्मकता प्रदान की और ब्रजभाषा वालों ने विरोध करने के हेतु ही इन प्रयोगों का विरोध किया।[3] नूतन छन्दों का प्रयोग तथा अतुकान्त कविता

---

१. आधुनिक कवि आशुकवि होने का दम भर रहे हैं···चूरन वाले लटकों का लक्षण कितना प्रिय लगता है। देश का नाम लेकर एक-आध इधर-उधर के लटके सुनाओ और सुकवि बन जाओ। वंदनीय महाशयों से अति विनयपूर्ण प्रार्थना है कि—इस साहित्य-परिवर्तन के युग में नव मुरीद हिन्दी पाठकों को ऐसी शिक्षा न दें, जिससे सत्कवियों का तिरस्कार ही नहीं वरन् काव्य का आदर्श ही भ्रष्ट हो जाय।

—पं० चन्द्रमनोहर मिश्र का 'कविता का मर्म' शीर्षक लेख
(इन्दु : कला ६, खण्ड २, किरण २, अगस्त १९५८ पृ० १४९)

२. पं० चन्द्रमनोहर मिश्र का 'कविता का कर्म' शीर्षक लेख
(इन्दु : कला ६, खण्ड २, किरण २, १९१५ ईस्वी, पृ० १४७)।
इस निबन्ध में द्विवेदी जी और उनके शिष्य श्री गुप्त जी पर व्यक्तिगत लाँछन लगाये गए।

३. 'सज्जनो, कुछ ऐसे भी हैं जो बेतुकी हाँकते हैं। जब तुक न मिले और काफिया तङ्ग हो जाय तो बेचारे क्या करें। बेतुकी काव्य ही नहीं, महाकाव्य भी बनने लगे हैं। बेतुके कवियों का कहना है कि तुक मिलाने में बड़ा झंझट है।' —पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी,
(सम्मेलन पत्रिका : भाग ९, अंक ११-१२, संवत् १९७९, पृ० २८३)

का विरोध करके ब्रजभाषा वालों ने ब्रजभाषा का सबसे बड़ा अहित किया। उन्होंने जन-समाज के सामने यह सिद्ध कर दिया कि ब्रजभाषा और उसके समर्थक पुरानपंथी—रूढ़िवादी—हैं; और प्रत्येक प्रकार के गत्यात्मक सुधार के विरोधी हैं। इस काल के इन कवियों ने अपनी इसी रूढ़िवादिता के कारण ब्रजभाषा (और शृंगार रस की कविता) पर रूढ़िवादी होने की मोहर लगवा ली और अपने विरोधियों का कार्य स्वयं ही सपन्न कर दिया। यदि इस काल के कवि ब्रजभाषा में अतुकान्त, छन्दहीन तथा देश-प्रेम की वीररसात्मक कविता करना आरम्भ कर देते तो सम्भव है कि ब्रजभाषा और उसके काव्य को रूढ़ होने की उपाधि न मिलती। इन लोगों ने अप्रत्यक्ष रूप से जनता के सामने ब्रजभाषा को प्रत्येक प्रकार के सुधार का विरोधी सिद्ध कर दिया[1] तथा स्वयं रीतिकालीन परम्परा का जड़ अनुगमन करके रीतिकाल के प्रति पढ़े-लिखे लोगों के मन में सन्देह उत्पन्न कर दिया कि—ब्रजभाषा और उसका काव्य अगतिवान है।

भारतेन्दु-युग में ब्रजभाषा और खड़ीबोली के झगड़े में खड़ीबोली की विजय के जो संकेत थे, वे द्विवेदी-युग में आकर सत्य सिद्ध हुए तथा द्विवेदी-युग में यह बात साफ नज़र आने लगी कि खड़ीबोली ने काव्य के क्षेत्र अपना सिक्का जमा लिया है। ब्रजभाषा वालों ने इस युग में केवल ब्रजभाषा का ही अहित नहीं किया, वरन् उन्होंने अपनी अनावश्यक रूढ़िवादिता के कारण आगे के युग में आने वाली रीतिकाल की अन्यायपूर्ण आलोचना के बीज भी बोये।

प्रसाद-पन्त-निराला युग में

"हिन्दी की वाटिका में खड़ीबोली की कविता की क्यारियाँ जो कुछ समय पहले दूरदर्शी बागवानों के परिश्रम से लग चुकी थीं, आज धीरे-धीरे कलियाँ देने लगी हैं। कहीं-कहीं किसी-किसी पेड़ के दो-चार सुमन पंखड़ियाँ खोलने लगे हैं। उनकी आनन्द-सौरभ लोगों को खूब पसन्द आई है।...हिन्दी

---

१. "हमारे बाप-दादे बैलगाड़ी पर चढ़ते थे, लेकिन हम रेलवे ट्रेनों में घण्टों में कोसों का सफर तय करते हैं। इसी तरह पुराने कवि दोहा और सोरठा लिखते थे तो कोई वजह नहीं कि हम भी सिर्फ 'शंकर चाप जहाज, सागर रघुवर बाहुबल' के वजन पर मिसरे बैठाएँ। देश-काल को देखकर हम जितने तरह के नये छन्द लिख सकें, उतनी ही हम अपनी भाषा की सेवा कर सकेंगे।" —पं० मन्नन द्विवेदी;
('मर्यादा' : भाग ६, संख्या २-३, जून-जुलाई १९१३ ई०, पृ० १००)

के हृदय पर खड़ीबोली की कविता का हार प्रभात की उज्ज्वल किरणों से खूब चमक उठा है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।"[१]

सन् १९२९ के 'निराला' जी के इस कथन से यह स्पष्ट है कि खड़ीबोली की कविता विकास के मार्ग पर द्रुतगति से धावित हो रही थी। ब्रजभाषा के समर्थकों और कवियों की संख्या कम होती जा रही थी और अब वे खड़ीबोली का खुले आम विरोध करने की रुचि भी नहीं रखते थे। उधर खड़ीबो ी के समर्थकों ने गिरे में दो लातें और लगाने के लिये ब्रजभाषा का ही विरोध नहीं किया, अपितु द्विवेदी-युग के ब्रजभाषा समर्थकों के अनगर्ल तर्कों और रूढ़िवादिता के कारण चिढ़कर सम्पूर्ण ब्रजभाषा साहित्य पर आक्रमण करना आरम्भ कर दिया। रीतिकाल की कविता ब्रजभाषा की कविता का प्रतिनिधित्व करने वाली मानकर अब रीतिकाल पर आक्रमण करना आरम्भ किया।[२] इससे पूर्व खड़ी-बोली वालों ने मध्ययुगीन कविता पर कीचड़ उछालने का प्रयत्न नहीं किया था। उसे वे पैतृक सम्पत्ति ही मानते थे, परन्तु अब उसके प्रति उनकी श्रद्धा नहीं रही थी। यही अश्रद्धा की भावना आगे चलकर घृणा और द्वेष में परिणत हो गई। तात्पर्य यह नहीं है कि रीतिकाल के इन आलोचकों ने जो कुछ कहा, वह सब असत्य था; परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं है कि आँख मूँदकर जो रीतिकाल की कटु आलोचना आरम्भ हुई, उसमें सत्य की मात्रा कम ही थी। इस आलोचना के मूल में ब्रजभाषा-खड़ीबोली का विवाद था। इसका प्रमाण यह है कि रीतिकाल के इन आलोचकों ने अपने को रीतिकाल तक ही सीमित नहीं रखा, वरन् ब्रजभाषा के भक्त कवियों तक की टाँग जा पकड़ी—

"...दुर्भाग्य देखिये कि उनकी कूपमण्डूकता कितनी लम्बी अवधि तक बनी रही।...सभी की प्रतिभा केवल कच-कुच-कटाक्षों तक ही सीमित रही। सूरदास तक ने अपने समस्त ज्ञान का 'सदुपयोग' अधिकांशतः राधा और कृष्ण की जोड़ी का वर्णन करने में ही कर डाला।...बात खलेगी ब्रजभाषा के हिमायतियों को, परन्तु सच्ची बात यह है कि ब्रजभाषा में जो कुछ भी है, उसका अधिकांश है कविता—बद्ध कोकशास्त्र और महाघृणित रूप में लिखा हुआ।[3] —पं० जगन्नाथप्रसाद मिश्र (सम्पादक 'विश्वमित्र')

---

१. महाकवि निराला—(**परिमल, पंचमावृत्ति**—भूमिका, पृ० ९, ११)

२. **"इस काल (मध्यकाल) के कवियों को गुण्डेपन और शोहदेपन की हरकतों के अतिरिक्त और कुछ बड़ी मुश्किल से सूझता था।"**

—पं० मार्कण्डेय वाजपेयी, एम० ए०;
('वीणा' : वर्ष ८, अङ्क ११, सितम्बर १९३५, पृ० ८९२)

३. **'विश्वमित्र': वर्ष ५, खंड ९, अंक १, अक्टूबर १९३६ ई०, पृ० ११०-१११।**

बात यह थी कि खड़ीबोली में वीर रस और देश-भक्ति की सुन्दर कविता का होना आरम्भ हो गया था, किन्तु श्रृङ्गार के क्षेत्र में ब्रजभाषा का-सा माधुर्य अभी तक उसमें नहीं आ पाया था। जैसे ब्रजभाषा वालों ने दम्भ के कारण ब्रजभाषा में काल के अनुसार सुधार करने के स्थान पर खड़ीबोली की कर्णकटुता का सहारा लेकर उसकी आलोचना करना आरम्भ किया था, उसी प्रकार श्रृंगार के क्षेत्र में हेठी होती देखकर खड़ीबोली वालों ने श्रृंगाररस मात्र का विरोध करना आरम्भ किया था और झट रीतिकाल पर जा टूटे। यद्यपि आगे चलकर इस प्रकार की अनर्गल बातों का विरोध विद्वानों ने किया[1], परन्तु फिर भी रीतिकाल की हानि जो होनी थी, उसका होना आरम्भ हो चुका था।

अपने को प्रगतिशील सिद्ध करने के लिए जिसे देखो, वही रीतिकालीन कविता पर कीचड़ उछाल रहा था। पहले कहा कि श्रृंगार अधिक है, फिर सूझी कि रीतिकाल को श्रृंगार के क्षेत्र में भी श्रेय क्यों दिया जाय, और तत्काल कह डाला कि वह श्रृंगार भी 'बेकायदे' है—

"श्रृंगार भी वह कायदे का नहीं रह गया। एक कवि के बाद दूसरा आता है और अश्लीलता के कीचड़ में लोटने को कविता का स्वरूप और अपनी प्रतिभा का दिग्दर्शन समझता है।"[2] —पं० मार्कण्डे वाजपेयी

कुछ सुधारवाद और नारी की स्वतन्त्रता का नाम लेकर रीतिकाल पर बरस पड़े—

"ब्रजभाषा की अधिकांश कविता इसलिए सोने के कटोरे में हलाहल है कि वह आत्मा का नाश और पुरुत्व का ह्रास करती है। स्त्री का जितना घोर अपमान इसमें है, उतना हिन्दी के अन्य साहित्य में मुश्किल से मिलेगा।"[3]

—पं० बेंकटेशनारायण तिवारी

---

१. **"उनके गुरुपद पर प्रहार न करें··· बिना उनकी अयोग्यता प्रगट किये भी हम योग्य और बिना किसी माननीय की अवमानना किये ही हम मान्य हो सकते हैं।"** —हरिऔधजी (संदर्भ सर्वस्व, पृ० १६६-६७)। **तथा पं० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी ने 'हमारी साहित्यिक समस्याएँ'** (द्वितीय संस्करण, पृ० १९२) **में प्राचीन तथा नवीन कवियों में काल्पनिक वार्तालाप करवाके कहवाया है कि—**

"मगर एक इल्तमश नौजवानों से मैं करता हूँ;
खुदा के वास्ते अपने बुजुर्गों का अदब सीखें।"

२. **'वीणा'** : सितम्बर १९३५, पृ० ८३२।

३. **'सरस्वती'** : दिसम्बर १९३३, पृ० ४९१।

'ढोर गँवार शूद्र पशु नारी' कहने वाले कवि पुंगव तुलसी और नारी को विषय का प्रतीक मानने वाले कबीर आदि सन्तों से कुछ भी कहते न बनता था—इन आलोचकों से; बस, रीतिकाल पर अपना क्रोध निकाल लेते थे। यही नहीं, कुछ लोग यहाँ तक कहने लगे कि हिन्दू-समाज में जो भी दोष हैं, जो कुछ भी विगर्हणीय है, वह सब ब्रजभाषा के कवियों के कारण है। देखिये—

"ब्रजभाषा देश को जगाना नहीं जानती, बल्कि सुख की नींद सुलाना जानती है और **उसने अब तक देश को सुला भी रखा** है।...मैं जोरदार शब्दों में सर्व साधारण के सामने, यदि आवश्यकता हो तो कुतुबमीनार पर खड़े होकर कह सकता हूँ कि हिन्दू-समाज में **व्यभिचार फैलाने, बेकारी, कायरता** और **आलस्य** बढ़ाने की मिथ्यावादिता से जनता के हृदय का तेज घटाने के अपराधी (ब्रजभाषा के) कविगण हैं, ऐसे कवियों की कविताओं का विष हिन्दू जाति की नस-नस में घुस गया है।"[1] —पं० रामनरेश त्रिपाठी

यद्यपि इस प्रकार के बेसिर-पैर के तर्कों का उत्तर भी दिया गया[2], किन्तु फिर भी चूँकि ब्रजभाषा वाले अल्पमत में रह गए थे, इस कारण अधिकांश लोग बिना रीतिकाल की कविता का अध्ययन किए ही सुनी-सुनाई बातों को दुहराने लगे, (इसीलिए उनका रीतिकाल-विषयक ज्ञान 'सेकिण्ड हैन्ड' कहा गया है) और रीतिकालीन कविता की कटु आलोचना करने का फैशन चल निकला।

कविवर बच्चन, महाकवि प्रसाद, कविराज पन्त, महाप्राण निराला, महादेवी जी आदि कवियों के प्रयत्नों से खड़ीबोली की कविता में माधुर्य का आगमन हुआ और धीरे-धीरे यह बात स्पष्ट हो गई कि काव्य-क्षेत्र से ब्रजभाषा खड़ीबोली को निकाल नही सकती। ब्रजभाषा की कविता भी कम होने लगी और ब्रजभाषा के समर्थक अब भी कभी-कभी (अच्छी समयानुरूप कविता न करके) पुरानी कविता के सहारे अपना गौरव प्रकट करने का प्रयत्न कर रहे थे।[3]

---

१. **सम्मेलन पत्रिका** (नवीन संस्करण), भाग २, अंक २ सं० १९८७ वि० पृ० ५५-६४।

२. **'ब्रजभाषा का जितना अंश अश्लीलता के प्रसंग से अशिष्ट बतलाया जाता है, वह फिर भी मानवीय है, आसुरी नहीं।...ब्रजभाषा के कवियों ने सौन्दर्य को इतनी दृष्टि से देखा है कि शायद ही कोई सौन्दर्य उनसे छूटा हो।'**
—निराला (प्रबन्ध-पद्म : संवत् १९९१ वि०, पृ० १०८, ११६)।

३. **आगे चलकर इसी को 'विशाल भारत' सम्पादक—पं० श्रीराम शर्मा ने 'पिदरेमन सुल्तां बूद तुरा चोस्त' (मेरा बाप बादशाह था, पर तू क्या है?) वाली प्रवृत्ति कहा था।**—विशाल भारत : फरवरी १९४८, पृ० १०४, नोट।

इसी समय प्रगतिवाद के नाम पर हिन्दी-साहित्य में 'साम्यवाद' और 'मार्क्सवाद' घुस पड़ा। 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना में प्रेमचन्द जैसे साहित्य-महारथियों का योग था, जो कि साम्यवादी, गांधीवादी तथा सब कुछ होते हुए भी किसी भी वाद-विशेष के खूंटे से बँधे नहीं थे और पूर्णरूपेण भारतीय थे। धीरे-धीरे प्रगतिवाद के नाम पर कुछ लोगों का एक गुट्ट बन गया और वे इस साहित्यिक वाद की ओट में से साम्यवाद और मार्क्सवाद का प्रचार करने लगे। मार्क्सवाद के अनुसार जो कुछ भी पुराना है, वह रूढ़िवादी है, अतएव त्याज्य है। इस समय एक नया शब्द साहित्य के क्षेत्र में प्रचलित किया गया—'सामन्तवादी'। साम्यवाद के अनुसार मध्ययुग सामन्तवादी था, इस कारण उस युग की प्रत्येक भावना और उस युग का साहित्य 'बुर्जुआ' तथा रूढ़िवादी था और इसीलिए घृणास्पद था। यही नहीं, प्राचीन संस्कृति तथा भावनाएँ उन्हें व्यर्थ तथा मूर्खतापूर्ण लगने लगीं :—

मूढ़ 'माइथोलोजी' व्यर्थ 'आइडियोलोजी'
रहने न पावे सड़ा देने को विचार नर
कहीं कोई मूढ़ ग्राह, रूढ़ियों का हो प्रवाह
स्वार्थ के स्तरों में छिपा व्यर्थ का अहंकार
बन्द करो द्वार—[1] —पं० उदयशंकरजी भट्ट

आगे चलकर जब द्वितीय महायुद्ध के समय सब राष्ट्रीय भावना वाले विचारक जेलों में बन्द थे, उस समय मार्क्सवादी प्रगतिवाद का विशेष प्रचलन हुआ। साम्यवादी पार्टी अंग्रेजों के साथ थी। इस कारण रेडियो, समाचार-पत्र तथा अन्य प्रचार के साधनों पर उसका पूर्ण अधिकार हो गया था। इन प्रगतिवादियों की जड़ें रूस में थीं, और वे रूसी सेना के गुणगान[2] करते थे तथा भारतीय नेताओं और शहीदों को गाली देते थे। इसी को देखकर डा० सुधीन्द्र ने अपनी पुस्तक 'आधुनिक कवि' (पृ० २२५) में प्रगतिवाद के लिए लिखा था—"यही कारण है कि एक ओर तो प्रगतिवादी शिविर में से राष्ट्रीयता-विरोधी पंक्तियाँ उठ सकती हैं—"

---

१. **'हंस'** : मई १९४२, अंक ८।

२. श्री प्रभाकर माचवे की—**'दा ज्द्रास्त्व्युते सोवियत्स्की सोयूज' (सोवियत यूनियन जिन्दाबाद) शीर्षक कविता, जिसका शीर्षक भी रूसी भाषा में था और उनकी सांस्कृतिक गुलामी का प्रदर्शन करता था।**

—(**हंस**, अक्टूबर १९४२)।

बोस विभीषण ने भी देखो, कैसा जाल बिछाया है।
कल था जो कि देवता, वह अब दानव दल ले आया है।
यह कहकर वह गला कटावेगा, अपने ही भाई का।
वह न स्वर्ग का देवदूत है, घृणित दलाल कसाई का।

—श्री मलखान सिंह

और दूसरी ओर कविवर दिनकर जी 'प्रगतिवाद' की निन्दा करते हुए कहते हैं—

"मास्को का हम आदर करते हैं, किन्तु हमारे रक्त का एक-एक बिन्दु दिल्ली के लिये अर्पित है, जब तक 'दिल्ली दूर है', मास्को के निकट-या दूर होने से हमारा मुँह बनता-बिगड़ता नहीं। पराधीन देश का मनुष्य सबसे पहले अपने देश का मनुष्य होता है। विश्व-मानव वह किस बल पर बने। हमारे समस्त अभियानों का एक मात्र स्पष्ट लक्ष्य 'मास्को' नहीं, दिल्ली है। मास्को के उत्थान और पतन के साथ हँसने और रोने वाले सहकर्मियों से मेरा निवेदन है है कि हमने 'वोल्गा' का नहीं, 'गंगा' का दूध पिया है। हम पर पहिला ऋण 'वोल्गा' का नहीं, 'गंगा' का है।"

इस प्रकार इस वर्ग के आलोचकों (पं० रामविलास जी शर्मा, श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त, श्री अमृत राय आदि) ने जो कुछ पुरातन था और मार्क्सवाद की पटरी नहीं बैठती थी, उसकी आलोचना करना आरम्भ कर दिया। खड़ीबोली की राष्ट्रीय कविताएँ जो कि मार्क्सवादियों द्वारा नहीं लिखी गईं थीं (राजनीति का साहित्य पर अधिकार हो जाने के कारण समालोचना कविता की न होकर कवि की हुआ करती थी), उनकी भी अनर्गल आलोचना करना इन महानुभावों ने आरम्भ किया।[1] मार्क्सवाद के साँचे में ढालकर

---

१. (अ) "किसान कविता में सोहनलाल जी ने किसान का गुणगान किया है, उसकी खुली निर्धनता और छिपी शक्ति का वर्णन किया है। उन्होंने इस कविता में उचित ही लिखा है—'तुझसे ही गांधी है गांधी।' यह युगावतारपन, यह कोटिबाहु, कोटिरूप की कल्पना, पृथ्वी को आकाश में रखने की बेपर की बातें, इण्डियन प्रेस में यह 'भैरवी' की छपाई, और सुन्दर समझे जाने वाले ये भोंड़े चित्र···'भैरवी' कविता में पुराने गौरव को द्विवेदी जी ने खूब याद किया है, परन्तु यह गौरव क्यों धूल में मिल गया? यह नहीं लिखा। वह इसलिए धूल में मिल गया कि उस समय भी गांधी जी जैसे नेता और पं० सोहनलाल द्विवेदी जैसे कवि वर्तमान थे। किसानों की मेहनत पर अपना राज्य-विस्तार करते थे, मौज उड़ाते थे।"

—पं० रामविलास शर्मा की पं० सोहनलाल जी द्विवेदी की पुस्तक 'भैरवी' की 'बापू के छौने' शीर्षक समालोचना।

—'हंस' : अंक १०, जुलाई १९४१।

कविता को देखने वाले इन 'कथित' प्रगतिवादियों ने उस समय भारतीय संस्कृति की प्रत्येक पुरातन भावना पर ही 'सामन्तवादी' कहकर आक्रमण नहीं किया, आधुनिकतम काव्य की भी 'मार्क्सवादी' आलोचना कर डाली। श्री गजानन मुक्तिबोध अपने निबन्ध 'कामायनी : कुछ नए विचार' में लिखते हैं—

(अ) "प्रथमतः यह कि कामायनी विशिष्ट रूप से भारतीय पूँजीवाद के विकास को प्रतिबिम्बित करती है। वह भारतीय पूँजीवाद के बालक व्यक्तिवाद की अक्षमता और निष्फलता की कहानी है।.........अन्य देशों के अनुसार भारतीय पूँजीवाद ने सामन्ती-समाज-रचना में क्रान्ति नहीं की।"

(ब) "इस सामन्ती शासक-वर्ग का चित्रण देखिए, इस देव-सृष्टि का वर्णन देखिए—

"चिर-किशोर-वय नित्य निवासी, सुरभित जिससे रहा दिगंत।
आज तिरोहित हुआ कहाँ वह, मधु से पूर्ण अनन्त वसन्त॥
अब न कपोलों पर छाया-सी, पड़ती मुखकी सुरभित भाप।
भुज मूलों में शिथिल वसन की, व्यस्त न होती है अब माप॥"

—(हंस : अंक ४, जनवरी १९४६)

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि कैसे एक विशेष राजनैतिक वाद के कारण आलोचना के सिद्धान्त और उद्देश्य ही परिवर्तित कर दिए गए, और इस मार्क्सवादियों ने किस प्रकार सामन्तवादी कहकर 'कामायनी' तक की अन्धाधुन्ध, इकतरफा आलोचना कर डाली। यह काल ऐसा था कि इसमें अपने को प्रगतिशील कहने के लिए मार्क्सवादी सिद्धान्त स्वीकार करके कुछ आलोचक अन्य स्वतन्त्र कवियों की खिल्ली उड़ाया करते थे। उन्होंने रीतिकाल को 'सामन्तवादी' आदि नामों से पुकार कर उसकी इकतरफा आलोचना की। यही नहीं, उन्होंने यह भी कहना आरम्भ कर दिया कि केवल वे (स्वयं) ही प्रगतिवादी हैं और इस कारण जो उनका विरोध करेंगे, उनकी गणना

(ब) इसी में सेठ हीराचन्द बालचन्द जिन्हें गांधी जी ने जहाज बनाने का कारखाना खुलने पर शुभ संदेश भेजा था या वे किसान जिन्होंने लाठियाँ खाई थीं? किसान से ही गांधी—गांधी हैं, किसान से ही बिड़ला बिड़ला है; परन्तु गाँधी जी पर जितना प्रभाव बिड़ला का है, उतना किसान का नहीं। राष्ट्रीय कवि पं० सोहनलाल द्विवेदी या तो इस तथ्य को नहीं जानते या जानकर भी छिपा जाते हैं।

प्रतिक्रियावादियों में की जायगी।[१] इस प्रकार इन कथित प्रगतिवादियों ने रीतिकाल की मनमानी आलोचना की।[२]

पं० रामचन्द्र शुक्ल, श्री श्यामसुन्दर दास, पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी प्रभृति विद्वानों ने भी अपने इतिहासों में रीतिकाल का मूल्यांकन किया, किन्तु उनमें से केवल पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ही किसी सीमा तक तटस्थ रहकर रीतिकाल के काव्य की व्याख्या की। पं० शुक्लजी की सहानुभूति अवधी के प्रति अधिक थी। ब्रजभाषा की कविता का दुर्भाग्य यह भी रहा है कि हिन्दी के समालोचकों में अधिकांश अवधि भाषा-भाषी अथवा अब्रजभाषा-भाषी रहे हैं। ब्रजभाषा वालों ने खड़ीबोली को अपनाया नहीं; उधर विपक्षी दल के हाथों में खड़ी बोली के गद्य के रूप में एक शक्तिशाली हथियार आ गया, जिसका उन्होंने समालोचना के क्षेत्र में पुर-असर प्रयोग किया। अपने गम्भीर स्वभाव तथा 'प्यूरीटेनिक'(अति आदर्शवादी) प्रवृत्ति के कारण शुक्लजी शृंगार-प्रधान ब्रजभाषा के कवियों तथा रीतिकाल की कविता के प्रति पूर्ण न्याय नहीं कर सके थे। उनके अनुसार तो सूर भी पूर्ण कवि नहीं रह जाते, क्योंकि उनमें केवल एक रस और आनन्द की केवल सिद्धावस्था है।[3] श्री श्यामसुन्दर दास तथा शुक्लजी के द्वारा उठाए गए प्रश्नों तथा उनके द्वारा लगाए गए आरोपों का उत्तर पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी की पुस्तकों में हमें पर्याप्त मात्रा में मिल जाता है। इस विषय पर पूर्ण विवेचन अगले लेखों में किया जायगा, यहाँ केवल यह कहना है कि इन तीनों विद्वानों में भारतीयता (और प्राचीन साहित्य) के प्रति पूर्ण सहानुभूति पाई जाती है, इस कारण इन्होंने 'कथित प्रगतिवादियों' के समान, रीतिकाल की एकपक्षीय आलोचना नहीं की और रीतिकाल के गुणों की ओर से आँखें सर्वथा बन्द नहीं कर ली थीं। इन तीनों में से पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने रीतिकाल का जो मूल्यांकन किया है, वह सबसे अधिक न्यायपूर्ण और युक्तियुक्त है। इन तीनों विद्वानों के अतिरिक्त डॉ० नगेन्द्र ने भी रीतिकालीन साहित्य का अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण विवेचन किया है।[४]

---

१. **'जो कलाकार हमारा विरोध करते हैं, वे शोषक वर्ग के हिमायती बन जाते हैं और प्रतिक्रियावादियों में उनकी गणना होगी।'**
　　—श्री प्रकाशचन्द गुप्त ('प्रगतिशील' : पुस्तकें पृ० २११, 'प्रगति क्यों')

२. कविवर पन्तजी—('पल्लव' : १९४२ ई०, पृ० ७, ९, १०)

३. पं० रामचन्द्र शुक्ल—(**चिन्तामणि** : प्रथम भाग, १९४५, **काव्य में 'लोक-मंगल की साधनावस्था'**, पृ० २९२)।

४. **रीतिकाल की भूमिका**—(देव और उनकी कविता)।

१४

रीतिकाल को उत्तराधिकार में प्राप्त श्रृङ्गार भावना

•

द्विवेदी-युग तथा प्रसार-पन्त-निराला-युग में अधिकांश आलोचकों ने रीतिकालीन कवियों पर यह आरोप लगाया कि उनमें केवल अश्लील श्रृङ्गार का रीति-भुक्त वर्णन ही पाया जाता है। इस आरोप का उत्तर दो प्रकार से दिया जा सकता है—

(१) रीतिकाल में श्रृङ्गार-वर्णन है, वह उसी काल में ही उत्पन्न और विकसित नहीं हुआ था, अपितु वह तो शताब्दियों से क्रमशः विकसित होने वाली श्रृङ्गार-परम्परा का चरम विकास मात्र था; तथा उसके वर्णन की पद्धति (रीति) भी प्राचीन काल से चली आ रही थी; रीतिकालीन कवियों ने केवल भक्तिकालीन कृत्रिम (अलौकिक) श्रृङ्गार-भावना को मानवीय बनाया।

(२) रीतिकाल की जो कटु आलोचना की जाती है, उसका सबसे बड़ा तर्क यह है कि रीतिकाल में श्रृङ्गार के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस भ्रम का निवारण आवश्यक[1] है कि रीतिकाल में कविता केवल एक संकुचित

---

१. (अ) 'इस काल (मध्यकाल) के कवियों को गुण्डेपन और शोहदेपन की हरकतों के अतिरिक्त और कुछ बड़ी मुश्किल से सूझता था।' —मार्कण्डेय वाजपेई (वीणा : वर्ष ८, अंक ११, सितम्बर १९३५ ई०, पृ० ८९२)

(ब) 'सभी की प्रतिभा केवल, कच-कुच-कटाक्षों तक ही सीमित रही······ (इसका) अधिकांश है—कविताबद्ध कोकशास्त्र और महाघृणित रूप में लिखा हुआ।' —जगन्नाथप्रसाद मिश्र (विश्वमित्र : वर्ष ५, खण्ड ९, अंक १, अक्टूबर १९३६ ई० पृ० ११०-१११)

(स) इन साहित्य के मालियों में से जिसकी भी विलास-वाटिका में आप प्रवेश करें···सबकी बावड़ियों में कुत्सित प्रेम का फुहारा शत-शत रसधारों में फूट रहा है···इस तीन फुट के नखशिख के संसार के बाहर ये कवि पुङ्गव नहीं जा सके।' —सुमित्रानन्दन पन्त (पल्लव : १९४२ ई०, पृ० ७, ९-१०)

नाली से बह रही थी[१]। रीतिकालीन कविता के बहुमुखी स्वरूप को स्पष्ट करके यह सिद्ध किया जायगा कि रीतिकाल में (शृङ्गार के अतिरिक्त) अन्य भावों की कविता भी पूर्ण विकसित अवस्था में पाई जाती थी।

'शृङ्गार की प्रवृत्ति का लोप साहित्य में कभी नहीं होता। हिन्दी की ही दृष्टि से विचार करें तो स्पष्ट दिखाई देता है कि प्राकृतिक और अपभ्रंश काल में शृङ्गार और वीर रस की धाराएँ प्रवाहित थीं।'[२]

रीतिकाल में शृङ्गार का जो चित्रण किया गया, वह पर्याप्त मात्रा में उसे विरासत में मिला था और उसका मूल केवल संस्कृत साहित्य में नहीं था, वरन् उस शृङ्गार की धारा प्राकृत-अपभ्रंश में भी ऊक्षुण रूप में भी बहती पाई जाती है। रीतिकाल ने जिस शृंगार-भावना का विकास किया उसकी परम्परा आदिकाल से चली आ रही थी; अतएव रीतिकाल की शृङ्गार-भावना युगों से चली आती, शृङ्गार-भावना का 'पूर्ण उठान' ('कलमिनेशन') मात्र थी।

संस्कृत-साहित्य के शृङ्गार का, तथा उसके रीतिकाल पर पड़े प्रभाव का विवेचन न करके यहाँ हम हिन्दी साहित्य में रीतिकाल से पूर्व की शृङ्गार-भावना के क्रमिक विकास तक ही अपने को सीमित रखेंगे। वीरगाथा-काल की वीर-भावना तथा भक्ति-काल की भक्ति-भावना जब विकास हो रहा था, तब भी शृङ्गार-भावना अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को बनाए थी[२] और उसका क्रमिक विकास हो रहा था।

वास्तव में, वीरगाथा-काल में हमें शृङ्गार की भावना का लगभग वही स्वरूप मिलता है जो कि विद्यापतिय में होता हुआ सूर आदि कृष्ण-भक्त कवियों तथा रहीम और जायसी में पाया जाता है तथा जिसका आगे चलकर रीतिकालीन कवियों में विकास हुआ। 'रासो' के काल और उसकी प्रामाणिकता के विषय में अभी भी विवाद चल रहा है—फिर भी इतना तो अधिकांश विद्वान मानते ही हैं कि प्रक्षिप्त अंशों से युक्त होते हुए भी 'रासो' अति प्राचीन

---

१. श्यामसुन्दर दास—'हिन्दी साहित्य' (रीतिकाल) चतुर्थ-संस्करण, सं० २००३ पृ० २१२।

१. पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र—'शृङ्गार काल की सीमा' (हिमालय : अंक ३, अप्रेल १९४६ ई०, पृ० १८)

२. दूसरी ओर यह सूचना मिलती है कि वीरता और भक्ति की लपेट से बहुत कुछ बचकर भी शृङ्गार अपने लिए मार्ग प्रशस्त कर रहा था।
वही—(हिमालय : अंक ३, अप्रेल १९४६ ई०, पृ० १९)

ग्रन्थ है। 'पृथ्वीराज रासो' में वीर रस के अतिरिक्त शृङ्गार का बाहुल्य है, उस शृङ्गार वर्णन की परिपाटी और उसके स्वरूप के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

विभिन्न कामिनियों का नखशिख तथा सौंदर्य वर्णन :—

१. इच्छिनी का—	समय १४;	छन्द	४८	से	६०	तक
२. पुण्डरी का—	समय १६;	छन्द	४	से	६	तक
३. पृथा का—	समय २१;	छन्द	६८	से	९२	तक
४. इन्द्रावती का—	समय ३२;	छन्द	६	से	२०	तक
५. हंसावती का—	समय ३६;	छन्द	१५४	से	१६४	तक
६. संयोगिता का—	समय ४७;	छन्द	६०	से	७३	तक

तथा समय ६१ तथा ६२ में भी।

नखशिख वर्णन के अतिरिक्त निम्न वर्णन भी पाए जाते हैं—झरोखे में से झाँकना[1]; वयः सन्धि[2]; स्नान वर्णन[3]; सोलह शृंगार वर्णन[4]; विभिन्न प्रकार की नायिकाओं का वर्णन[5]; रतिवर्णन[6]; अंगों में काम की अलौकिक लालिमा ('मदन तरंग' या 'लिबिडो')[7]; प्रथम समागम वर्णन तथा सुरतिश्रम[8] दम्पति संयोग वर्णन[9]; पृथ्वीराज का दक्षिण से अनुकूल नायक हो जाना[10]; कोक-कला में पटु हंसावती में पृथ्वीराज का कामान्ध-वृषभ समान मत्त होना; तथा क्रमशः हंसावती की लज्जा का हटना और कामेच्छा का बढ़ना;[11]

१. समय ३६; छन्द १४८ तथा १५१
२. वही; छन्द १५५
३. वही (सद्यस्नाता); छन्द १५८ से १६० तक
४. वही (,,); छन्द १६१ से १८७ तक
५. समय २५; छन्द १२६–पद्मिनी नायिका, १२७–हस्तिनी; १२८ चित्रिणी; १२९–शंखिनी।
६. समय ६२; छन्द ७१ से ७२ तक (संयोगिता तथा पृथ्वीराज का रति-वर्णन)
७. समय ३६; छन्द २०१ से २०२ तक
८. वही; छन्द २२५ से २३० ,,
९. समय ६१; छन्द १२१२ से १२१५ ,,
१०. वही; छन्द १२१५ से १२१८ ,,
११. समय ३६; छन्द २३१ से २३३ ,,

षट्ऋतुओं का उद्दीपन की दृष्टि से वर्णन[१] तथा पृथ्वीराज का रति में अहर्निसि मस्त रहना।

इन थोड़े से उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वीरगाथा-काल के कवियों ने शृङ्गार-वर्णन की जिस परिपाटी का अनुगमन किया, वह उनसे पूर्व से चली आती संस्कृत, प्राकृत, तथा अपभ्रंश की परम्परा थी[२]; तथा आगे चलकर यही परम्परा भक्त-कवियों के माध्यम से रीतिकालीन कवियों को प्राप्त हुई।

वीरगाथा-काल का 'रासो' के अतिरिक्त, अन्य कोई ग्रन्थ उपलब्ध न होने के कारण वीर-ग्रन्थों में 'शृंङ्गार के चित्रण' का विवेचन 'रासो' तक ही सीमित रह जाता है। वीरगाथा-काल के बाद भक्तिकाल की मधुर भावना की कृष्ण-भक्ति में हमें शृङ्गार की उसी परम्परा के दर्शन होते हैं, जो कि 'रासो' में पाई जाती है।

वल्लभ सम्प्रदाय की मधुर भाव की भक्ति पर चैतन्य महाप्रभु तथा विद्यापति का पर्याप्त प्रभाव पाया जाता है। यही नहीं, कुछ लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि मधुर भाव की भक्ति का समावेश वल्लभाचार्य ने चैतन्य के प्रभाव से किया।[3] तथा गोस्वामी विट्ठलनाथ के निकट चैतन्य के अनेक अनुयायी आया-जाया करते थे[४] और उनके राधा-भाव सम्बन्धी विचारों पर चैतन्य का पर्याप्त प्रभाव पड़ा था[5]; वार्ता-साहित्य से सिद्ध है कि वल्लभ और चैतन्य की भेंट हुई थी, सम्भव है कि चैतन्य की भक्ति से प्रभावित होकर ही बंगाली वैष्णवों को श्रीनाथ जी से मन्दिर में रखा गया हो।[६] चैतन्य महाप्रभु बंगाली थे, और

---

१. समय २५; छन्द ३५ से ४५ तक
समय ६१; छन्द ६ से ७२ ,,
समय ३६; छन्द २४० से २४७ ,,

२. **'शृङ्गार काल की सीमा'**—पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र (हिमालय : अप्रेल १९४६ ई०, पृ० १८)।

३. **'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय'**—डॉ० दीनदयाल गुप्त, पृ० ५२७ तथा ५२८।

४. **एक बार गोस्वामी विट्ठलनाथ ने 'छप्पन भोग' का उत्सव किया— उसमें राधावल्लभीय, हरिदासी, गौड़ीय (बंगाली) भक्तों के कीर्तन की व्यवस्था की गई थी'**—वही, पृ० ५२८।

५. **वही**, पृ० ५२८।

६. **वही**, पृ० ५६।

उनमें तथा वल्लभ में जो विचार-साम्य पाया जाता है, वह इस बात को पुष्ट करता है कि संस्कृत की शृङ्गार-भावना का हिन्दी से इतर भाषाओं में भी उसी रूप में विकास हुआ, जैसा कि हिन्दी में हुआ। यह शृंगार-भावना प्राचीन-काल से देव-भाषा में बद्धमूल थी और वह क्रमशः देशी भाषाओं में लगभग समान रूप से विकसित हुई थी। चैतन्य बंगाली थे और विद्यापति मैथिली; यद्यपि कुछ बंगाली विद्वान् उन्हें अपनी ओर घसीटने का प्रयत्न करते, परन्तु फिर भी अब यह सर्वमान्य रूप में माना जाने लगा है कि विद्यापति हिन्दी के ही हैं। चैतन्य और विद्यापति में शृङ्गार-परक भक्ति की समानता है और विद्यापति शृङ्गार तथा भक्ति के बीच में झूलते हैं। अब भी इस बात पर विवाद चल जाया करता है कि विद्यापति शृङ्गार के कवि हैं या भक्ति के? वास्तव में विद्यापति में शृङ्गार की लौकिक भावनाएँ अधिक मुखर हैं और उन्होंने उन्हें (जैसा रीतिकाल के कवियों ने किया) भक्ति की ओर लगा दिया। 'चैतन्य के ब्रज में निवास करने वाले अनुयायी विद्यापति के पद बड़ी तल्लीनता से गाया करते थे, चैतन्य सम्प्रदाय का प्रचार अष्टछाप के समय में श्री रूप गोस्वामी के प्रभाव से बहुत हुआ, और इस प्रकार ब्रज में विद्यापति का प्रचार और मान बढ़ा।'[1]

स्पष्ट है कि अष्टछाप के कवियों पर विद्यापति का पर्याप्त प्रभाव पड़ा था और उन्होंने विद्यापति की शृङ्गार-परम्परा और मधुर-भाव की भक्ति को स्वीकार किया। यहीं नहीं, हम कह सकते हैं कि वल्लभ सम्प्रदाय के बीज हमें विद्यापति में मिलते हैं—(विद्यापति ने अपनी इस भावना का विकास जयदेव तथा 'भागवत' के सहारे किया था)।

अब हम विद्यापति की कविता की शृङ्गार-भावना का विवेचन करेंगे :

विद्यापति में शृङ्गार-वर्णन की लगभग वही परिपाटी पाई जाती है, जिसका दर्शन हम (वीरगाथा-काल के) 'रासो' में कर चुके हैं।

नायिका के सद्यस्नाती स्वरूप का परम सुन्दर चित्रण पूर्ण शारीरिक आकर्षण के साथ विद्यापति में पाया जाता है[2] तथा प्राचीन परिपाटी की शृङ्गार-भावना के अनुरूप नायिका के अभिसार गमन आदि के चित्रण[3] भी उनमें हैं। अलौकिक नायक कृष्ण के प्रति उनकी प्रेयसी के मन में 'बाल-बयस'

---

१. **अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय**—डॉ० दीनदयाल गुप्त, पृ० २५।

२. **विद्यापति की पदावली** (सद्यस्नाता २३)—संकलनकर्त्ता : श्री रामवृक्ष बेनीपुरी, प्रकाशक : पुस्तक भण्डार, लहेरिया सराय, पटना।

३. **विद्यापति की पदावली** (अभिसार १०७)।

से जो प्रेम पुष्ट हो रहा है, उसका 'सखी सम्भाषण' के रूप में—वार्तालाप के माध्यम से—जो वर्णन है, उसमें विद्यापति ने बड़े कौशल से प्रेयसी के मन की अनुराग की वृत्ति को पुष्ट करने वाली रतिक्रीड़ा की स्मृति का भावपूर्ण चित्रण किया है।[1]

इसी प्रकार के अनेक भावपूर्ण चित्र विद्यापति में पाये जाते हैं। विद्यापति के सम्पूर्ण काव्य में शृङ्गार के पद अधिक हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं हैं। शिव, दुर्गा, गंगा तथा राम-विषयक पद शुद्ध भक्ति के कहे जा सकते हैं, कुछ पद सामाजिक हैं, तथा दो-एक पद नीति विषयक सूक्तियों के रूप में हैं, पदों की संख्या १०० के लगभग है। शेष लगभग ७५० पद शृङ्गार के हैं। इन शृङ्गारिक पदों में कुछ तो कृष्ण का नाम लेकर अलौकिकत्व को प्राप्त हैं—और शेष में शुद्ध शृङ्गार का चित्रण है जो कि अपने से पूर्व की परम्परा का पालन तथा अपने बाद की शृङ्गार-परम्परा का पोषण करने वाले हैं। १८० पद कृष्ण-राधिका के शृङ्गार-विषयक हैं, जिनमें कि प्रेम-भक्ति का मिश्रण है तथा रास-लीला आदि का चित्रण है; १५० पद ऐसे हैं जिनमें है तो चित्रण शुद्ध शृङ्गार का ही, किन्तु कृष्ण का नाम ले भर देने से उनको अलौकिक रति की ओर लगाया जा सकता है; वास्तव में उनमें हैं शुद्ध शृङ्गार ही। ३२ पद कृष्ण की रति-क्रीड़ा के हैं, २० परकीया प्रेम-विषयक हैं; तथा १० पद (जैसे नं० ४६७, ५०० तथा ७०२ आदि) विपरीत-रति के पाए जाते हैं। शेष पद शुद्ध शृङ्गार-वर्णन के हैं, जिनमें कि रीति परिपाटी के आधार पर नायक-नायिका-भेद आदि का वर्णन है।[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि विद्यापति के काव्य का अधिकांश वास्तव में शृङ्गार-परक ही है।

विद्यापति भक्त हैं या शृङ्गारी ? इस झगड़े में हमें यहाँ नहीं पड़ना है, हमारा उद्देश्य केवल यह दिखाने का है कि विद्यापति ने संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश से चली आती शृङ्गारी परम्परा (जिसका 'रासो' में भी पालन है) का पूर्ण पोषण किया तथा उसे और भी विकसित रूप में भक्तिकालीन कृष्ण-भक्त कवियों को प्रदान किया। यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बात है कि

---

१. विद्यापति की पदावली (सखि सम्भाषण ६४)।

२. यह गणना श्री खगेन्द्रनाथ मित्र तथा विमान विहारी मजूमदार द्वारा सम्पादित सर्वमान्य प्रामाणिक संग्रह 'विद्यापति' के आधार पर है। इस ग्रंथ में विद्यापति के प्रामाणिक पदों की संख्या ८५० दी गई है; वैसे विद्यापति के ९३२ पदों का विवेचन इस वृहद ग्रन्थ में है; शेष पदों की प्रामाणिकता विवादास्पद है।

इस काल का शृङ्गार (रस की दृष्टि से अपने विरोधी) भक्ति (शान्त रस) की गोदी में पला है। वास्तव में भारतीय साहित्य की जो सर्वमुख्य विशेषता (समन्वय की) है, उसका परम विकसित रूप हमें शृङ्गार-परक भक्ति में मिलता है। इसका एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रभाव आगे आने वाले रीतिकालीन शृङ्गार पर पड़ा। चूँकि अलौकिक प्रिय (ब्रह्म) एक है और उसकी प्रेयसियाँ (भक्त) अनेक हैं, इस कारण इस शृङ्गार-परक भक्ति में परकीया-प्रेम का बाहुल्य हो गया है, जो कि आगे चलकर शुद्ध शृङ्गार के क्षेत्र में 'सवति-विषयक' ईर्षा के चित्रण का कारण बना।[१]

भागवत, चैतन्य तथा विद्यापति से प्रभावित, वल्लभ मार्गीय मधुर भाव की भक्ति के अनुयायी सूर आदि अष्टछाप के कवियों में यह शृङ्गार-भावना लगभग उसी रूप में पाई जाती है, जैसी कि विद्यापति (या कहिए 'रासो') में।

यद्यपि सूर की भक्ति, विनय तथा एकाग्रता परम उच्च कोटि की थी, फिर भी काव्य-क्षेत्र में परम्परा से वर्णित तथा वल्लभ सम्प्रदाय में स्वीकृत रीति परिपाटी-भुक्त शृङ्गार का पूर्ण वर्णन उनमें पाया जाता है। नायिका-भेद के अन्तर्गत खण्डिता आदि का वर्णन भी उनमें मिलता है—

आये लाल जामिनी जागे ते भोर।
नील कलेवर कोमल 'उर पर गड़ि गए कुच जु कठोर'॥

तथा—

आज हरि रैनि उनी दे आए।
बिनु गुन माल विराजति उर पर, चन्दन रेख लगाए।
अंजन अधर लिलाट महावर, नयन तमोर खवाए॥
मगन देह सिर पाग लटपटी, जावक रंग रंगाए॥
नख रेख विराजति हृदय सुभग, कंकन पीठि बनाए॥[२]

यही नहीं, शृङ्गार की ऐसी-ऐसी विचित्र (जिन्हें अश्लील भी कहा जा सकता है) परिस्थितियों का चित्रण भी उनमें मिलता है, जिनमें कि कृष्ण के

---

१. **'भक्ति अपनी छाप शृङ्गार पर छोड़ती गई। कृष्ण-भक्ति से ही शृङ्गारिक रचना का सम्बन्ध रहा। यह भी एक हेतु है कि शृङ्गार में परकीया-प्रेम की उक्तियाँ अधिक कही गईं।'** —प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : 'शृगार काल की सीमा' (हिमालय : अंक ३, अप्रेल १९४६ ई०, पृ० २०)

२. डॉ० नगेन्द्र द्वारा अपनी पुस्तक **'रीतिकाल की भूमिका—देव और उनकी कविता'** में **'देव की कला'** में पृ० २६० पर **'सूरसागर : खण्डिता-वर्णन'** से उद्धृत।

साथ—प्रेम क्रीड़ा-रत केवल राधा का चित्रण नहीं है, वरन् बीच-बीच में माता यशोदा भी आ जाती हैं। कृष्ण का बाल्यकाल पूर्ण यौवन के गुणों से युक्त था, इस कारण उनमें स्वाभाविक रूप से 'श्रीफल' की ओर हाथ बढ़ाने की लत थी, किन्तु वे ही कृष्ण माता के आते ही सामान्य बालक का ढोंग रचकर 'गेंद' की 'टटोल' बहाना कर जाते हैं।[1] इस प्रकार के चित्रण में सूर को दूर की कौड़ी लाने का तथा अपनी वर्णन चातुरी का प्रयोग करने का पूर्ण अवसर मिला है, इसमें कोई सन्देह नहीं है, परन्तु अलौकिक होते हुए भी, इसमें शृङ्गारिकता का ही बाहुल्य है।

इन वर्णनों के साथ-साथ सूर में शृङ्गार की परिपाटी के अनुसार रति-क्रीड़ा तथा सुरतिश्रम[2] विपरीत-रति आदि के चित्रण भी पूर्ण रूप से पाए जाते हैं।

अष्टछाप के कवियों में सूर सबके आगे थे, और नन्ददास, तथा किंचित् मात्रा में परमानन्द दास को छोड़कर अन्य अष्टछाप के कवियों ने न्यूनाधिक रूप से सूर का ही अनुगमन किया था। राधा और कृष्ण का विस्तृत नखशिख वर्णन,[3] तथा शृङ्गार की परिपाटी के अनुसार उसका सर्वाङ्गपूर्ण चित्रण जैसा कि सूर में पाया जाता है, लगभग वैसा ही अष्टछाप के अन्य कवियों में भी पाया जाता है।[4] रासलीला[5] के भावभंगियों से युक्त असंख्यों चित्र; हिंडोरे आदि की क्रीड़ा[6] का वर्णन तथा उद्दीपन के लिए खींचे गए प्रकृति के अनेक वर्णन इन कवियों में पाए जाते हैं।

सूर आदि अष्टछाप के कवियों के अतिरिक्त कविवर पृथ्वीराज की अनुपम रचना 'बेलिक्रिसन रुकमणी री' में भी शृङ्गार का परम्पराबद्ध वर्णन हमें मिलता है। यद्यपि कृष्ण तथा रुक्मिणी विषयक शृङ्गार का वर्णन होने के कारण उसको भी कुछ लोकोत्तरता का अधिकार है, किन्तु पूर्ण रचना देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने शृङ्गार रस की निष्पत्ति की दृष्टि से ही इसकी रचना की है। इस रचना का विवेचन हम इसलिए कर रहे हैं, क्योंकि (राजस्थानी भाषा में होते हुए भी) इसमें परम उच्चकोटि की भावानुभूति पाई

---

१. **सूरसागर**—दशम स्कन्ध (६८२॥१३००)।
२. **सूरसागर**—दशम स्कन्ध (६८६॥१३०४)।
३. **सूरदास** (राधा-छवि वर्णन ३६), 'अष्टछाप परिचय'—श्री प्रभुदयाल मीतल।
४. **अष्टछाप परिचय** (रूपमंजरी) **नन्ददास**—श्री प्रभुदयाल मीतल।
५. **छीतस्वामी का काव्य संग्रह**, (अष्टछाप परिचय)—श्री प्रभुदयाल मीतल।
६. **अष्टछाप परिचय**, (सूरदास—रागरंग)—श्री प्रभुदयाल मीतल।

जाती है। कालानुक्रम की दृष्टि से भक्ति-काल में (अकबर के समय) होने पर भी रचना वास्तव में वीरगाथा की परम्परा में लिखी हुई है; वीर तथा शृंगार रस का ही इसमें बाहुल्य है, 'रासो' से केवल एक भेद इसमें पाया जाता है—'रासो' का नायक लौकिक और 'बेलि' का नायक इस जगत का होते हुए भी अलौकिक है, और उसकी नायिका भी अलौकिकत्व को प्राप्त है। इस अलौकिकत्व (कृष्ण के ब्रह्मत्व) के होते हुए भी इस रचना का स्वरूप शृंगार-परक है, तथा इसमें 'वीर' भी शृंगार का ही पोषक है। इसमें शृंगार की परिपाटी पर रुक्मिणि तथा कृष्ण के प्रेम, विवाह, रति तथा सोलह शृंगार आदि का चित्रण है। सद्यस्नाता[1] के वर्णन में कवि ने मधुर शृंगारी चित्र उपस्थित किया है; भाषा की कर्ण कटुता की कठिनाई को कौशल से कुचल कर कवि ने कमनीय तथा परम मधुर अनेक चित्र उपस्थित किए हैं। नखशिख-[2] वर्णन परम्परा का पालन करता हुआ होने पर भी, केवल शारीरिक सौन्दर्य को ही उपस्थित नहीं करता, वरन् नायिका की मानसिक अवस्था का भी संकेत करता है, इसके अतिरिक्त—प्रथम समागम को जाती हुई[3] रुक्मिणि का ससंभ्रम

---

१. 'कुमकुमे मंजण करि धौत वसत धरि,
चिहुरे जल लागौ चुबण।
छीणे जाणि छछोहा छूटा,
गुण मोती मखतूल गुण॥'
'बेलि क्रिसन रुकमणी री'—राठौड़ महाराज पृथ्वीराज जी कृत; छन्द ८१, (सम्पादक : ठा० रामसिंह तथा श्री सूर्यकिरण पारीक), प्रकाशक—हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग, १९३१ ई०।

२. (अ) कमनीय करे कूँ कूँ चौ निज करि
कलंक धूम काढ़े बे काट।
सम्प्रति कियौ आप मुख स्यामा
नेत्र तिलक हर तिलक निलाट॥
—('बेलि क्रिसन रुकमणी रीं' : छन्द ८७)

(ब) धरधर शृंग सधर सुपीन पयोधर,
घणीं खीण कटि अति सुघट।
पद्मणि नाभि प्रियाग तणो परि,
त्रिवलि त्रिवेणी स्रोणि तट॥२५॥—(वही : छन्द २५)

३. बेलि क्रिसन रुकमणी री—छन्द १६७।

चित्रण तथा सुखान्त[1] का चित्रण भी 'बेलि' में पाया जाता है। यही नहीं, प्रकृति का चित्रण भी शृंगार के सहयोग से ही किया गया है।[2] षट्ऋतु-वर्णन भी इसमें है;[3] और वह उद्दीपन के हेतु से किया गया है।

इस प्रकार कविवर पृथ्वीराज ने परम्परा से चली आती शृंगार की रीति का पूर्ण परिपालन किया है; केवल नायक तथा नायिका-भेद के वर्णन का प्रयत्न कवि ने नहीं किया। ग्रन्थ का अल्प कलेवर (३०५ छन्द) विस्तृत नायिका-भेद के वर्णन के उपयुक्त नहीं था।

भक्तिकाल के मुख्य कवियों में, ज्ञानमार्गी कबीर (जो कि संसार-मिथ्या मानकर चले हैं) तथा रामचन्द्र शुक्ल समान आदर्शवादी (प्यूरीटन) तुलसी को छोड़कर लगभग सब कवियों ने शृंगार की पुरातन परिपाटी का अनुगमन किया। कृष्ण-भक्त कवियों में जिस प्रकार भक्ति का आधार ही शृंगार है, उसी प्रकार जायसी के 'पद्मावत' में भी (काव्य-शिल्प की दृष्टि से) अलौकिक प्रेम (भक्ति) का आधार लौकिक शृंगार ही है। जायसी के पुनर्जन्मदाता शुक्ल जी ने यद्यपि लौकिक शृंगार को अलौकिक का साधन मात्र ही माना है, और कहा है कि जायसी का साध्य अलौकिक प्रेम (प्रेममार्गी भक्ति) ही है, परन्तु अब (जैसा कि विद्यापति के विषय में है) इस विषय पर विद्वानों में मतभेद पाया जाता है। यहाँ जायसी के काव्य के उद्देश्य और उसकी सफलता का विवेचन हमें नहीं करना है। हमें तो यहाँ केवल यह देखना है कि जायसी ने उस शृंगार परम्परा का कितना प्रयोग किया, जो कि 'रासो' से लेकर उनके समय तक चली आई थी। जायसी ने पद्मावत के अन्त में रूपक को स्पष्ट करने का जो प्रयत्न किया है[4], उसी से यह स्पष्ट हो जाता है कि जायसी को स्वयं

---

१. बेलि क्रिसन रुकमणी री'—छन्द १७४।

२. वही—छन्द १८५।

३. वही—छन्द १८७ से २५५ तक।

४. मैं एहि अरथ पंडितन्ह बूझा।
कहा कि हम्म किछु और न बूझा॥
तन चितउर मन राजा कीन्हा।
हिय सिंघल बुधि पदमिनी चीन्हा॥
×　　×　　×
राघव दूत सोई सैतानू।
माया अलाउदीं सुलतानू॥—आदि

जायसी ग्रन्थावली ('पद्मावत'—उपसंहार १)—सम्पादक: पं० रामचन्द्र शुक्ल, तृ० सं०, सं० २००३, पृ० ३०१।

सन्देह था कि कहीं उनके ग्रंथ को शुद्ध शृंगार रस का ग्रन्थ न समझा जाने लगे। वास्तव में 'पद्मावत' में शृंगार (और उसके पूरक 'वीर') रस का इतना बाहुल्य है, और उसके अंग-उपांगों का इतना विस्तृत चित्रण है कि यदि कवि के सूफी सन्त होने का परिचय न दिया जाय और अन्त में यदि वह व्याख्यात्मक टिप्पणी न हो तो पद्मावत में भक्ति की भावना तथा रहस्यवादी संकेत केवल 'थिगली' (समासोक्ति) के रूप में ही प्रतीत होंगे तथा 'पद्मावत' शुद्ध शृंगार की ही रचना मानी जायगी। भक्ति की रचनाएँ तो उनकी 'अखरावट' और 'आखिरी कलाम' ही हैं। अस्तु, यहाँ हम यह दिखाने का प्रयत्न करेंगे कि जायसी ने शृंगार का पूर्ण विकसित तथा विस्तृत चित्रण किया है।

ग्रन्थारम्भ में, मसनवी पद्धति के अनुसार, शाहे-वक्त आदि का वर्णन करने के बाद जायसी ने पद्मावती के जन्म की कथा (पद्मावती की माता की गर्भावस्था के चित्रण के साथ) दी है और फिर नखशिख खण्ड में पद्मावती का विस्तृत शिख-नख-वर्णन किया है।[1] यह शिख-नख-वर्णन उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों से युक्त तथा शरीर के बाह्य चित्रण पर ही निर्भर है। हाँ, बीच-बीच में (आधुनिक रहस्यवादियों की भाँति) उनका ससीम-रूप-वर्णन असीम में मिलता-सा दिखाई देता है। तदुपरान्त, जो हिंडोरा-वर्णन[2] तथा स्नान-वर्णन[3] किया गया है, वह प्राचीन परिपाटी की सद्यस्नाता नायिका के समान ही है। इतना अवश्य है कि जायसी के इस वर्णन में पद्मावती के बाह्य सौन्दर्य के अतिरिक्त उसके मन में अंकुरित होने वाली काम-भावना के भी संकेत हैं (जिसे अलौकिक प्रेम की दृष्टि से रूपक में घटाना कठिन-सा प्रतीत होता है), जो कि नायिका के व्यक्तित्व को परम आकर्षक तथा मधुर बना देती है। शृंगार-चित्रण की दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण अंश है—पद्मावती और रतनसेन के प्रथम मिलन का वर्णन। आगे चलकर रीतिकालीन कवियों को भी ऐसी उपमाएँ कम ही सूझी थीं, जैसी कि जायसी ने यहाँ दी हैं।[4] रतिक्रीड़ा की कार्यविधि का

१. **जायसी ग्रन्थावली,** ('पद्मावत'—नख-शिख खण्ड २)—सम्पादक : पं० रामचन्द्र शुक्ल।

२. वही—(मानसरोदक खण्ड)—दोहा ३, पृ० २३।

३. वही—(,,)—दोहा ४ से ६, पृ० २४।

४. **'कहि सत भाव भई कंठलागू।**
जनु कंचन औ मिला सोहागू॥
चौराही आसन पर जोगी।
खट रस, बंधक चतुर-सो भोगी॥

पूर्ण चित्रण जायसी ने किया है। रेखांकित भागों से वर्णन के जो संकेत निकलते हैं, वे जायसी के मन की शृंगारी अनुभूति के परिचायक हैं। सूर आदि अष्टछाप के कवियों में भी केवल कटि के ऊपर की रतिक्रीड़ा का विस्तृत चित्रण है; वास्तविक संयोग के सम्बन्ध में वे केवल 'नीबी' तक ही पहुँचे थे— जायसी की पहुँच तथा वर्णन—उन लोगों से कहीं अधिक गहरा तथा व्यापक है।

विरह-वर्णन के अन्तरंग जायसी ने पूर्वराग[1] तथा प्रवास[2] तथा करुण— तीनों का चित्रण किया है, मान का वर्णन नहीं है। पद्मावती का पूर्वराग— परिपाटी के अनुसार—गुण-श्रवण पर आधारित है, रत्नसेन का भी इसी प्रकार का है। नागमती के विरह-वर्णन में[3] कवि ने बारहमासे का आश्रय लिया है, जिसमें कि प्रकृति का (साम्य तथा विरोध के आधार पर) उद्दीपन के लिए ही प्रयोग है। प्रकृति चित्रण में जायसी का षट् ऋतु-वर्णन[4] भी उद्दीपन को लेकर ही चला है। इसके अतिरिक्त जहाँ भी प्रकृति का समावेश है, वह वस्तु-

---

कुसुम-माल अस मालती पाई।
जनु चंपा गहि डार ओनाई॥
कली वेधि जनु भँवर भुलाना।
हना-राहु अरजुत के बाना॥
कंचन-करी जरी नग जोती।
बरमा सौं बेधा जनु मोती॥
नारंग जानि कीर नख दिये।
अधर आमरस जानहुँ लिये॥
कौतुक केलि करहिं दुख नंसा।
खूँदहिं कुरलहिं जनु रस हंसा॥
रही बसाइ बासना चोवा चंदन मेद।
जेहिं अस पदमिनि रानी सो जानै यह भेद॥'

('पद्मावत' : पद्मावती रत्नसेन भेंट खण्ड-३०)—जायसी ग्रन्थावली
सम्पादक : पं० रा० च० शुक्ल

१. **जायसी ग्रन्थावली**, ('पद्मावत'—पद्मावती-वियोग खंड)—सम्पादक : पं० रा० च० शुक्ल; पृ० ७३-७५।

२. **वही** (नागमती-वियोग खण्ड), पृ० १५१-१५८।

३. **वही** (,, ,,), पृ० १५१-१५८।

४. **वही** (षट्ऋतु-वर्णन खण्ड), पृ० १४७-१५०।

परिगणन की परिपाटी पर ही है। विरह के अन्तर्गत 'दूत' के रूप में तोता[1] है, जो कि नागमती का सन्देश रत्नसेन तक ले जाता है। इसके अतिरिक्त पद्मवती की रूपचर्चा[2] को लेकर स्त्री-भेद वर्णन[3] कराया गया है, जो कि रीति-परिपाटी पर ही है। इसके साथ-साथ जायसी में सवति की ईर्षा[4] का भी वर्णन है; यहाँ कवि रीतिकालीन कवियों से भी आगे है। दोनों सौतों की पारस्परिक मार-पीट, 'दम्भ-दच्च' का भी चित्रण कवि ने किया है। देवपाल ने जो दूती पद्मावती के पास भेजी है, उसमें 'परकीया' के संकेत मिलते हैं, किन्तु परकीया-प्रेम का विकास कवि ने नहीं किया है।

इस प्रकार जायसी ने सांगोपांग शृंगारी परिपाटी का अनुगमन किया और पूर्वकाल से ही चली आती शृंगार-वर्णन की धारा को प्रवाहित रखने में योगदान किया; इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता। जायसी के अतिरिक्त उस काल में रहीम ने 'बरवै नायिका-भेद' लिखा[5] और शृंगार-वर्णन की पद्धति के प्रति अपना अनुराग प्रगट किया। रहीम ने 'बरवै नायिका-भेद' के अतिरिक्त 'शृंगार सोरठ' तथा 'मदनाष्टक' की भी रचना की; यद्यपि उनके इन ग्रन्थों के केवल नमूने के छन्द ही प्राप्य हैं[6], फिर भी उन छन्दों से इन ग्रंथों के स्वरूप

---

१. जायसी ग्रन्थावली (नागमती सन्देश खण्ड), पृ० १५६—१६४।
२. वही (पद्मावती रूपचर्चा खण्ड), पृ० २०६—२१७।
३. वही (स्त्री-भेद वर्णन खण्ड), पृ० २०७—२०८।
४. वही (नागमती-पद्मावती विवाद खण्ड), पृ० १६२—१६७।
५. जस मद मातल हथिया, हुमकत जाति।
चितवत जाति तरूनियाँ, मन मुसुकाति॥
× × ×
पिय आवत अँगनैया उठिकै लीन।
साथे चतुर तिरियवा, बैठक दीन॥—(बरवै नायका-भेद)
कविता कौमुदी (प्रथम भाग)—रामनरेश त्रिपाठी, छठा संस्करण, पृ० ३०२।
६. दीपक हिये छिपाय, नवल वधू घर जे चली।
कर बिहीन पछिताय, कुच लखि निज सीसै धुनै॥—(शृंगार सोरठ)
× × ×
कलित ललित माला, वा जवाहिर जड़ा था।
चपल चखन वाला, चाँदनी में खड़ा था॥
कटि तट विच मेला, पीत सेला नवेला।
अलि बन अलबेला, यार मेरा अकेला॥—(मदनाष्टक)
वही—पृ० ३०४।

का पता हमें चल जाता है। वास्तव में श्रृंगार की परिपाटी को जीवित तथा पूर्ण रूपेण विकसित अवस्था में रखने में इन भक्ति-काल के कवियों का बड़ा भारी योग रहा है। रहीम के समकालीन (लगभग सं० १६१०) कविवर गंग, रीतिकालीन कवियों के समान दरबारी कवि थे और उन्होंने हास्य, नीति आदि की कविता के साथ-साथ श्रृंगार की परम्पराबद्ध कविता भी की थी। यद्यपि गंग का कोई ग्रन्थ प्राप्य नहीं है, फिर भी 'तुलसी गंग-दुवौ भये सुकविन के सरदार' के अनुसार यह सिद्ध है कि कम-से-कम अपने काल में गंग धुरंधर कवियों[1] में गिने जाते थे। वास्तव में गंग में रीतिकालीन सब प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। छन्द, शैली तथा भाषा[2] आदि के देखने से यह अनुमान अतिशयोक्ति नहीं कहा जा सकता।

इसके बाद हम हिन्दी साहित्य के इतिहास में चली आने वाली एक गड़बड़ी' की व्याख्या करेंगे। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास में जो कालविभाजन किया है, उसमें उन्होंने हिन्दी साहित्य को समय के आधार पर विभाजित किया है। इस विभाजन की प्रक्रिया तथा विधि की व्याख्या करते हुए, उन्होंने कहा है कि हिन्दी के प्राप्य ग्रन्थों को एकत्रित करके उन्हें उनके 'ढंग' के अनुसार 'काल खण्डों' में विभाजित कर दिया है। फिर ग्रन्थों की 'प्रसिद्धि' के आधार पर उस 'कालखण्ड' की प्रवृत्ति का निश्चय[3] किया और उसे नाम विशेष दे दिया। इस प्रकार वीरगाथा-काल, भक्तिकाल, आदि नामों की उत्पत्ति हुई। इसके बाद शुक्ल ने हिन्दी साहित्य का अध्ययन

---

१. **कविता कौमुदी** (प्रथम भाग)—पं० रामनरेश त्रिपाठी, छठा संस्करण, पृ० २७६।

२. **बैठी थी सखिन संग पिय को गवन सुन्यो,**
सुख के समूह में वियोग आगि भरकी।
'गंग' कहे त्रिबिध सुगन्ध लै पवन बह्यो,
लागत ही ताके तन भई बिथा जरकी॥
प्यारी कों परसि पौन गयो मानसर पँह,
लागत ही औरे गति गई मानसर की।
जलचर जरे, औ सिवार जरि छार भयो,
जल जरि गयो पंक सूख्यो भूमि दरकी॥
वही—पृ० २८०।

३. **हिन्दी साहित्य का इतिहास**—पं० रामचन्द्र शुक्ल, सं० २००३ परिवर्धित संस्करण, 'प्रथम संस्करण का वक्तव्य'—पृ० २-३।

'कालखण्डों' के आधार पर ही किया है, और आज सामान्य रूप से सर्व-साधारण में हिन्दी साहित्य का अध्ययन शुक्ल जी के इस विभाजन के आधार पर ही किया जाता है। वैसे श्यामसुन्दर दास जी जैसे कुछ विद्वानों से हिन्दी साहित्य का लेखा-जोखा प्रवृत्तियों के आधार पर भी किया है, किन्तु सर्वमान्य पद्धति शुक्लजी वाली ही है। इस विभाजन के अनुसार आचार्य केशवदास (सं० १६१२ से १६७४ तक) भक्तिकाल में आते हैं, इसलिए उनके काव्य का अध्ययन भक्तिकाल के अन्तर्गत ही किया जाना चाहिए। यद्यपि अधिकांश इतिहासों में केशव भक्तिकाल में ही दिखाए जाते हैं, किन्तु जो लोग उनमें छिन्द्रान्वेषण करते हैं, वे उनके दोषों को गिनकर, उन दोषों को रीतिकाल पर मढ़ देते हैं। यही नहीं, एक बार उन्हें रीति-परिपाटी का पालन करने वाला मान लेने पर उनके काव्य को तोड़-मरोड़ कर एक विशेष साँचे में ढालने का प्रयत्न किया जाता है, और उनकी भक्ति-भावना को बेकार सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है।[1] इस प्रकार केशव को लेकर रीतिकाल की तथा (रीतिकालीन भावना से भावित मानकर) रीतिकाल को लेकर केशव की छीछालेदर की जाती है। आजकल भी काल-विभाजन हिन्दी-साहित्य में प्रचलित है, उसके अनुसार केशव भक्तिकाल के ही हैं। केशव ने लक्षण-ग्रन्थ लिखे, केशव ने परम्पराबद्ध शृंगार का अपनी कविता में विकास किया—इससे यही सिद्ध होता है कि यह शृंगार की रीति—रीतिकाल के पूर्व से चली आरही है।

यह मानने के बजाय कि भक्तिकाल में भी रीति ग्रन्थ लिखे गए और शृंगार की कविता हुई, केशव को रीतिकाल में ठूँसना उचित नहीं है। भक्ति-काल में इस परम्परा के मानने वाले केशव यदि अकेले होते, तब तो किसी सीमा तक केशव को रीतिकाल में धकेलना उचित भी होता, परन्तु फिर हमें यह मानना पड़ता कि केशव रीतिकाल के आदि आचार्य हैं—प्रवर्त्तनकर्त्ता हैं। परन्तु केशव की चलाई परम्परा पर रीतिकाल का प्रचलन न तो शुक्लजी ही मानते हैं[2] और न श्यामसुन्दर दास जी ही मानते हैं।[3] ऐसी दशा में केशव को भक्तिकाल का ही कवि मानना चाहिए। वास्तव में रीतिकाल के आरम्भ के बहुत पूर्व से यह शृंगार तथा रीति की परम्परा चली आ रही थी और केशव

---

१. **हिन्दी साहित्य**—श्री श्यामसुन्दर दास, चतुर्थ संस्करण, सं० २००३, पृ० २१४ से २२२।

२. **हिन्दी साहित्य का इतिहास**—पं० रामचन्द्र शुक्ल, सं० २००३, पृ० २०८।

३. **'हिन्दी साहित्य'**—श्री श्यामसुन्दर दास, चतुर्थ संस्करण, सं० २००३, पृ० २१०-२१४।

ने उसी परम्परा के अनुसार 'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया' की रचना की थी। यहाँ इन ग्रन्थों में से उद्धरण देकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न करना कि केशव में शृंगार का परम्पराबद्ध वर्णन है, व्यर्थ है, क्योंकि यह तथ्य सर्वविदित है।

केशव तथा रीतिकाल के विषय में हमें यहाँ केवल यह कहना है कि न तो केशव के अतिरिक्त किसी विशेष आचार्य ने रीतिकाल की कविता का प्रचलन किया और न स्वयं केशव ने ही उसका प्रचलन किया। जिस प्रकार भक्तिकाल की भक्तिभावना पराजित हिन्दुओं के क्षुब्ध चित्त की निराशा से उत्पन्न नहीं है[1], अपितु शताब्दियों से चली आती भक्ति का क्रमिक विकास तथा उत्थान मात्र है, उसी प्रकार रीतिकाल की शृंगार-भावना और रीति-पद्धति भी केवल रीतिकाल में ही पाई जाने वाली नहीं है तथा केवल उस काल के कवियों की ही वासना का फल नहीं है। वह तो सदियों से चली आ रही थी, हाँ उसका विकास रीतिकाल में विशेष हुआ। इस शृंगार-भावना ने अपने विकास के कारण अन्य भावनाओं (भक्ति आदि) को समाप्त नहीं कर दिया था, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार के भक्तिकाल की भक्ति-भावना ने शृंगार की भावना को समाप्त नहीं किया था, अपितु उसे विकास का अवसर प्रदान किया था।

---

१. 'हिन्दी साहित्य की भूमिका'—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रथम संस्करण, पृ० २-३।

१५

घनानन्द—एक विवेचन

●

समस्त रीतिकाल को आप्यायित करने वाली शृंगार, भक्ति और वीर की त्रिवेणी में शृंगार की धारा ही सर्वाधिक पृथुल और गम्भीर है। शृंगार की यह प्रबल पयस्विनी, सामन्ती संरक्षण में केशव से लेकर भारतेन्दु युग-कूलों तक का स्पर्श करती, प्रवाहित होती रही। शृंगार रस की इस उद्दाम धारा में आकंठ मग्न होकर समस्त लोक-जीवन झूम उठा। इस धारा में योग-दान करने वाले कवियों को दो वर्गों में विभक्त किया जाता है :—प्रथम वर्ग में वे कवि-आचार्य आते हैं जो काव्य-शास्त्र के लक्षण-ग्रन्थों में निर्धारित नियमों पर एक बँधी परिपाटी पर काव्य-सृजन करते रहे। लक्षण और लक्ष्य-ग्रन्थ एक साथ लिखने के कारण इन्होंने आचार्य और कवि—दोनों के पृथक् दायित्वों का निर्वाह किया। फलतः ये दोनों में से किसी के साथ भी पूर्ण न्याय नहीं कर सके। नियमों की शृंखला में जकड़ी भाव-प्रवण नैसर्गिक काव्य प्रतिभा सहज-स्वच्छन्द अभिव्यक्ति के लिए तड़प उठी। काव्य कामिनी के कमनीय कलेवर को, उसकी विहार-भूमि की सीमाएँ संकुचित करते हुए, कृत्रिम वस्त्राभरणों से इतना अलंकृत किया गया कि वह भाराक्रान्त होकर मुक्ति के लिए छटपटा उठी। भाव-स्वातन्त्र्य के प्रेमी, कला की आत्मा के संरक्षक,

सहजानुभूति के उपासक कुछ उदारचेता कवियों से काव्य-कामिनी की यह दशा न देखी गई। वे कवि-हृदय की सहजानुभूतियों, संवेगों और रागात्मक प्रति-क्रियाओं की स्वाभाविक अभिव्यक्ति के लिए कृत-संकल्प होकर काव्य-क्षेत्र में अवतरित हुए। रीति-बद्ध परम्परा से मुक्त, काव्य-मर्मज्ञों के मन-प्राणों को मुग्ध बनाने वाली रस की अजस्र निर्झरिणी प्रवाहित करने वाले रसखान, आलम, ठाकुर, घनानन्द, बोधा द्विजदेव प्रभृति कवियों में 'घनानन्द' का स्थान सर्वोपरि है। उनके काव्य में भावाभिव्यक्ति का जो निश्छल, निर्व्याज, निखरा रूप है, कल्पना की जो बिम्ब-ग्राहिणी सहज मर्मस्पर्शी उड़ान है, भाव भाषा का जो सहज समन्वित अकृत्रिम प्रवाह है, अनुभूति की गम्भीरता के साथ विज्ञ जनों को चमत्कृत करने वाली अभिव्यक्ति का जो कौशल है, स्फीत वाग्धारा की जो शालीनता है और स्वानुभूति के उत्स से जो तृषा-तुष्टिकारी रस-निर्झरिणी बही है, वह कदाचित् ही किसी हिन्दी कवि के काव्य में दृष्टि-गोचर होती हो।

जीवन-वृत्त

घनानन्द जी के जीवन से सम्बन्धित अनेक किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। अनेक अन्तः और बाह्य साक्ष्यों की सम्यक् परीक्षा करने के उपरान्त डॉ० मनोहरलाल गौड़ ने अपने शोध-प्रबन्ध 'घनानन्द और स्वच्छन्द काव्य-धारा' में घनानन्द जी का निम्नलिखित जीवन-वृत्त दिया है। हिन्दी के अधिकांश विद्वान् इस जीवन-वृत्त से सहमत हैं—

"आनन्दघन जी (घनानन्द जी) बुलन्दशहर जिले के किसी ब्रजभाषा क्षेत्र से मिले हुए कस्बे में जन्मे थे। बाद में देहली चले गए। जाति के कायस्थ थे। गायन कला में अच्छे निपुण थे। सुजान नाम की किसी यवनी वेश्या से इनका प्रेम हो गया। किसी दिन दिल्ली के शहंशाह मुहम्मद शाह ने इन्हें दरबार में गाना गाने के लिए कहा। पर ये इतने स्वाभिमानी तथा मन-मौजी व्यक्ति थे कि शहंशाह के कहने पर भी उन्होंने गाना नहीं गाया। सुजान प्रेमिका ने कहा तो इतनी तमन्यता से गाया कि दरबार उसमें आनन्द-विभोर होगया। शहंशाह ने कुपित होकर इन्हें दिल्ली से बाहर निकाल दिया। ये वृन्दावन में निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षित होकर सखी-भाव की उपासना में लग गए। भक्तवर नागरीदास से इनकी बड़ी मित्रता थी। उनके साथ ये जयपुर आदि स्थानों में गए थे। कीर्त्तन करने में इनकी विशेष रुचि थी।" वृन्दावन में रहते हुए इन्होंने ब्रज और ब्रज रज के प्रति बड़ी भक्ति प्रदर्शित की है। ये बड़े उच्चकोटि के साधक थे। कृष्ण और राधा के अनन्य प्रेमी-भक्त थे और सदैव इनके संयोग और वियोग का अनुभव करते तन्मय रहा करते थे।

इनके जन्म-संवत् के सम्बन्ध में भी विद्वान् सहमत नहीं हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार, "इनका जन्म सं० १७४६ के लगभग हुआ था और ये सम्वत् १७९६ में नादिरशाही में मारे गए।" किन्तु अभिनव शोधों के आधार पर उक्त जीवन-काल युक्ति-युक्त नहीं है। डा० गौड़ ने यथेष्ट विश्लेषण के उपरान्त सं० १७३० को उनका जन्म-सम्वत् अनुमित किया है। उनके मतानुसार 'नादिरशाही के कत्लेआम में नहीं, बल्कि अहमदशाह अब्दाली के मथुरा और वृन्दावन वाले कत्लेआम में घनानन्द का वध हुआ। इतिहास के अनुसार नादिरशाह का कत्लेआम दिल्ली से आगे नहीं बढ़ा। आनन्द घन जी ने अपनी पुस्तक 'मुरलिका मोद' में सं० १७९८ का संकेत किया है, और सं० १८१३ में नागरीदास के साथ उन्होंने राजस्थान का पर्यटन किया था। अतः निश्चय यही है कि आनन्द घन जी की मृत्यु अब्दाली के दूसरे आक्रमण सं० १८१७ में हुई।'[1]

घनानन्द जी के नाम के सम्बन्ध में भी विवाद है। स्वयं कवि ने अपने अनेक नामों का उल्लेख किया है, इसके अतिरिक्त इस नाम के अनेक कवि हो गए हैं। घनानन्द ने अपने नाम के प्रयोग में स्वतन्त्रता का परिचय दिया है। अनेक अर्थों और अनेक पर्यायों में अपने नाम का उन्होंने उपयोग किया है। मुहम्मद शाह के मीर मुन्शी और 'सुजान' के प्रेमी घनानन्द अथवा आनन्द घन के सम्बन्ध में नई खोजों के उपरान्त, विवाद के लिए अवकाश नहीं। 'सुजान' शब्द का भी उन्होंने अनेक अर्थों में प्रयोग किया है। अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में यह शब्द प्रायः उन्होंने राधा कृष्ण के लिए ही प्रयुक्त किया है।

रचनाएँ

घनानन्द जी की रचनाओं को एकत्र कर वैज्ञानिक सम्पादन करने का श्रेय पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र को है जिनके कई बार के प्रयत्नों के फलस्वरूप अन्त में सं० २००९ में 'घन आनन्द ग्रन्थावली' प्रकाश में आई। घनानन्द जी की रचनाएँ दो प्रकार की हैं :—(१) मुक्तक तथा (२) निबन्ध। मुक्तक रचनाओं में कवित्त, सवैये तथा गेय पद हैं।

(१) **कवित्त और सवैयों की कुल संख्या ६८६ हैं**—शृंगार रस के दोनों पक्षों तथा विभिन्न विषयों पर लिखे गए उनके कवित्त और सवैये कवि की अक्षय कीर्त्ति के आधार-स्तम्भ और हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि हैं।

---

१. देखिये—**घनानन्द और स्वच्छन्द काव्यधारा**—डा० मनोहर लाल गौड़ पृ० २४-२७।

प्रेम की निगूढ़ अन्तर्दशाओं, नायिका-सौन्दर्य, ब्रज-प्रेम, भक्ति, कृष्ण-लीला आदि अनेक विषयों पर अनूठी रचनाएँ हैं।

(२) **पदावली**—गेयपद पद्धति पर लिखी यह रचना भी महत्वपूर्ण है। कुल पद-संख्या १०६८ है। विषय सभी लगभग वही हैं जो प्रथम रचना में हैं। विभिन्न देवों की वंदना, ऋतुवर्णन और संत-महिमा जैसे कुछ नए विषयों पर भी अच्छी रचनाएँ हैं। यह भी शृंगार का श्रेष्ठ ग्रन्थ है।

(३) **कृपाकन्द**—कुल ६२ छन्दों की यह रचना भगवत्कृपा के महत्व पर लिखी गई है।

(४) **वियोग वेलि**—८१ पद्यों में गोपियों का भावपूर्ण वियोग वर्णन है।

(५) **इश्क लता**—५४ छन्दों में लिखी प्रेम विषय की महत्वपूर्ण रचना है।

(६) **यमुना यश**—६० अर्धालियों तथा एक दोहे में यमुना की भक्ति-परक महिमा का गान है।

(७) **प्रीति-पावस**—१०६ अर्धालियों में कृष्ण का गोपियों के साथ वन-विहार वर्णन है।

(८) **प्रेम-पत्रिका**—विभिन्न प्रकार के ६५ छन्दों में विरहिणी गोपियों का कृष्ण के प्रति प्रेम-पत्र का संदेश— इस ग्रन्थ का विषय है।

(९) **प्रेम-सरोवर**, (१०) **ब्रज-विलास**, (११) **सरस वसंत**।

(१२) **अनुभव-चद्रिका**—स्वानुभूति पर आधारित ब्रजभूमि का महत्व-वर्ण्य विषय है।

(१३) **रंग-बधाई**—कृष्ण के जन्म की बधाई का वर्णन है।

(१४) **प्रेम-पद्धति**—१४३ पद्यों में प्रेम-लक्षणा-भक्ति पर श्रेष्ठ रचना है। गोपियों का प्रेम आदर्श माना है।

(१५) **वृषभानुपुर सुषमा वर्णन**—वृषभानुपुर के वर्णन के बाद कवि ने अपने को राधा की सखी या चेरी के रूप में वर्णित किया है।

(१६) **गोकुल-गति**—गोकुल महिमा पर लिखी लघु रचना है।

(१७) **नाम माधुरी**, (१८) **गिरि-पूजन**।

(१९) **विचार-सार**—कृष्ण नाम के कीर्तन को समस्त विचारों का सार बतलाया है।

(२०) **दान-घटा**—दान-लीला वर्णन है।

(२१) **भावना-प्रकाश**—२२० अर्धालियों में राधा-कृष्ण का मिलन और ब्रजराज की महिमा का वर्णन है।

(२२) **ब्रज स्वरूप**—ब्रज महिमा और कृष्ण की लीलाओं का वर्णन है।

(२३) **प्रेम पहेली**—राधा प्रेम प्रसंग पर लघु किन्तु अधूरी रचना है।

(२४) **रसना-यश**—इस छोटी रचना में भगवन्नाम का कीर्तन करने वाली रसना की प्रशंसा है।

(२५) **गोकुल-विनोद**—कृष्ण-बलराम की विविध शृंगार-परक क्रीड़ाएँ वर्णित हैं। रचना प्रौढ़, तत्सम शब्द बहुल समास-प्रधान भाषा में है।

(२६) **कृष्ण कौमुदी**—सुन्दर सरस कवित्वपूर्ण भाषा में कृष्ण का नखशिख-वर्णन है।

(२७) **धाम-चमत्कार**—वृन्दावन के महत्व का भावपूर्ण वर्णन है।

(२८) **प्रिया प्रसाद**—सखी-भावना से राधा की चेरी (घनानन्द स्वयं) का अपनी स्वामिनी की सेवा-चर्चा इसका विषय है।

(२९) **वृन्दावन-मुद्रा**—वृन्दावन की महिमा—वर्ण्य विषय है।

(३०) **ब्रज-प्रसाद,** (३१) **गोकुल चरित्र**।

(३२) **मुरलिका मोद**—मुरली वादन के प्रभाव का वर्णन है। इस रचना में कवि ने समय का संकेत दिया है।

(३३) **मनोरथ मंजरी**—सखी-भाव की साधना सम्बन्धी ग्रन्थ है, जिसमें कवि ने राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं का वर्णन अन्तरंग सखी के रूप में किया है।

(३४) **ब्रज व्यौहार**—२३७ छन्दों में कृष्ण की ब्रज-लीला वर्णित है।

(३५) **गिरि गाथा**—एक छोटा-सा ग्रन्थ है जिसमें गोवर्धन की महिमा का गान है।

(३६) **छन्दाष्टक**—इस छोटे से ग्रन्थ में गोपियों का विरह तथा कृष्ण की खोज का वर्णन है।

(३७) **त्रिभंगी**—५ त्रिभंगी छन्दों में जीव को भक्ति-उपदेश दिया गया है।

(३८) **परम हंसावली**—५३ दोहों में निम्बार्क सम्प्रदाय के गुरुओं का वर्णन है।

व्यक्तित्व और स्वभाव

घनानन्द जी बड़े स्वच्छन्द, स्वाभिमानी, मौजी एवं भावुक प्रकृति के व्यक्ति थे। यह उनके जीवन वृत्त और रचनाओं से स्पष्ट है। 'प्रेम की पीड़ा' ने इनका मानस-मंथन किया था। प्रेम-दशा की व्यंजना उनका अपना क्षेत्र है जिसके वे अन्यतम समार हैं। शुक्लजी के मत में—"प्रेममार्ग का ऐसा प्रवीण और धीर पथिक, तथा जवाँदानी का ऐसा दावा रखने वाला ब्रजभाषा का

दूसरा कवि नहीं हुआ।"[१] उनके काव्य के सम्बन्ध में निम्नलिखित उक्ति अक्षरशः संगत है—

नेही महा ब्रजभाषा प्रवीन औ' सुन्दर तानि के भेद्र कौं जानै।
जोग वियोग की रीति में कोविद, भावना-भेद स्वरूप कौं ठानै।।
चाह के रंग में भींज्यो हियौ, बिछुरे मिलै प्रीतम सांति न मानै।
भाषा-प्रवीन, सुछन्द सदा रहै, सो घन जू के कवित्त बखानै।।

वस्तु तथा अनुभूति पक्ष

स्वानुभूति के प्राची क्षितिज पर ही कला की मधुर अरुणिमा बिखरती है और तभी कला की चिरन्तन ज्योति उद्भासित होती है, जिसकी रजत रश्मियों से मानस-शतदल विकसित होकर सौरभोन्माद से झूम उठता है और प्रणयी प्राण-मधुप छक कर रसपान करते हुए वातावरण को अपनी मधुर गुंजार से मुखरित कर देते हैं। वे कृतियाँ और उनके कृतिकार धन्य हैं जिन्होंने आतप-तापित जीवन-मरु में रस की अजस्र मन्दाकिनी प्रवाहित कर शोभा-सरसता का संचार किया है। सौन्दर्य और प्रेम के अनन्य उपासक रस-मूर्ति घनानन्द वसुधा की ऐसी ही विभूतियों में से एक थे। वे शृंगार रस के सिद्ध कवि थे। शृंगार के उभय पक्ष का उन्होंने सुन्दर उद्घाटन किया है। उनकी साधना भावपक्ष-प्रधान है। उन्होंने शृंगार के विभाव-पक्ष का वर्णन कम किया है, जो किया है वह भी रूप-छटा का प्रभाव प्रदर्शित करने के लिए। संयोग शृंगारान्तर्गत कवि लोग रति-भाव के उद्दीपनार्थ नायक-नायिकाओं की रूप-माधुरी तथा नैसर्गिक सुषमा का बड़े मनोयोग से वर्णन करते हैं। घनानन्द ने भी अपनी प्रेमाराधना के आलम्बन 'राधा-कृष्ण' का रूप-वर्णन परम्परागत अलंकारिक शैली में बड़ी तन्मयता से किया है :—

श्याम घटा लिपटी थिर बीज कि सोहै अमावस अंक उज्यारी।
धूम के पुंज में ज्वाल की माल सी पै दृग शीतलता सुखकारी।
कै छवि छायौ सिंगार निहारि सुजान तिया तन दीपति प्यारी।
कैसी फबी घन आनंद चोंपनि सों पहिरी चुनि सांवरी सारी।।

सानुप्रास स्फीत वाग्धारा, प्रसाद गुण-समन्वित भाषा; 'सन्देह उपमा-विरोधाभास तथा छेकानुप्रास की छटा के साथ राधा के गौरे अंग पर श्याम-शटिका का यह वर्णन मनोमुग्धकारी है। सेनापति आदि शृंगारी कवियों की भाँति घनानन्द ने भी श्लेष, रूपक उत्प्रेक्षादि अलंकारों की सहायता से नायिका के शरीर पर ऋतुओं को घटाया है :—

बैस की निकाई सोई रितु सुखदाई तामें
तरुनाई उलहत मदन मैमंत है।
× × ×

तेरे तन-बन सदा बसत बसंत है ॥

पर घनानन्द के काव्य की यह मूल प्रवृत्ति नहीं। प्रायः उनका समस्त रूप-वर्णन भक्ति-भाव के उद्दीपनार्थ हुआ है :—

लाल पाग बाँधे, धरें ललित लकुट काँधे,
मैन सर साँधे सो करन चित छाय कौ।
× × ×
करतु अधीर बीर जमुना के तीर पर,
टौना भर्यौ डोलत ढिटौना नन्दराय कौ ॥

घनानन्द जी ने शृंगार के बाह्य पक्ष का वर्णन जहाँ कहीं भी किया है, उसमें प्रधानता बाहरी चेष्टाओं और व्यापारों की नहीं, अपितु हृदय के उल्लास, तल्लीनता आदि मनोभावों की है।

काव्य-नवनीत हृदय मंथन का परिणाम है। जब आकुल पीर प्राणों में बँध नहीं पाती, तो येनकेन-प्रकारेण उसे व्यक्त करना ही पड़ता है। घनीभूत भावों की अभिव्यक्ति की अदम्य आकांक्षा ही काव्य-कला की मूल प्रेरणा है। जब उर-तंत्री के खिचे संवेदनशील तार एक हल्के आघात से झंकृत हो उठते हैं—जब भावातिरेक-जन्य विह्वलता अभिव्यक्ति के लिये मचल उठती है, तब अनुभूति का निर्झर उद्दाम वेग से सयम का बाँध तोड़कर फूटकर बह चलता है, और तभी करुण रागिनी फूट पड़ती है। भोले भावुक कवि का हृदय विश्वास-घाती सुजान के निष्ठुर व्यवहार से दर्पणवत् चूर-चूर हो गया। अप्रत्याशित विरह की दारुण वेदना ने उनके कोमल उर-प्रसून को झकझोर डाला। उमड़ते हुए बादल, शीतल-मन्द सुरभि-सिक्त समीरण, पपीहे की कातर करुण पुकार, कोयल की सुमधुर कूक, ऋतुराज का वैभव, भावुक हृदय के तारों को झनाझना देते और क्षीण विपंची से एक कोमल करुण झंकार निस्सृत होने लगती। विरह की दारुण अनल-शिखा में प्रणयी प्राण-शलभ का रूप-गुण का दर्प विगलित हो जाता है। घनानन्द की भाव-विह्वल कातर आत्मा पवन के साथ भाई का निकट सम्बन्ध जोड़ते हुए विरह-व्यथा की संजीवनी, निर्मोही सुजान की चरण-धूलि ही लाने के लिए विनती कर रही है—

ए रे बीर पौन ! तेरो सबै ओर गौन;
बारि तोसों और कौन, मनै ढरकौंहीं बनि दै।
+ + +
बिरह बिथा की मूरि आँखिन में राखौं पूरि,
धूरि तिन्ह पाँयन की हा-हा नैंकु आनि दै ॥

इस कवित्त में हृदय की कातर विह्वलता, दैन्य, मोह व्याधि के साथ धूल से ही संतोष कर लेने में मति संचारी भी व्यंजित हो रहा है। पवन के साथ, भ्रातृ-सम्बन्ध और उसके गुणों की प्रशस्ति में व्यवहार-कौशल है।

उमड़ते-घुमड़ते बादलों को देखकर कवि का मन कल्पना के परों पर बैठकर प्रिय के पास उड़ जाना चाहता है। वह उपर्युक्त नीति-कौशल का अवलम्ब लेकर मार्मिक कातरता से उपालम्भपूर्ण वाणी में बादलों से विनय करता है—

पर कारज देह को धारे फिरौ, परजन्य जथारथ ह्वै दरसौ।
निधि नीर सुधा के समान करौ, सबही विधि सुन्दरता सरसौ॥
घन आनँद जीवनदायक हौ, कबों मेरियो पीर हिये परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन, मो अँसुवान को लै बरसौ॥

विश्वासघाती ! हाँ, विश्वासघाती ही कहना उपयुक्त होगा, जिसने स्वयं ही प्रेम का आमंत्रण देकर फूल जैसा कोमल हृदय अपनी निष्ठुर उपेक्षा से मसल डाला; वह विश्वासघाती न कहलाएगा तो क्या कहलाएगा ? अप्रतिम सुन्दर प्रिय की रूप-माधुरी और उसका उमंग के साथ तिरछे नेत्रों से देखकर मुसकराना—इस दृश्य पर यदि भोला भावुक मन मुग्ध हो गया तो इसमें उसका क्या दोष ?

आपुहि ते मन हेरि हँसे, तिरछे करि नैननि नेह के चाव में।
हाइ दई सुविसारि दई सुधि, कैसी करौं सो कहौं कित जाँव मैं॥
मीत सुजान अनीति कहा यह, ऐसी न चाहिए प्रीति के भाव में।
मोहनि मूरति देखिबे को, तरसावत हौ बसि एक ही गाँव में॥

भाग्य की इस विडम्बना को, दैव की इस निर्दय मार को—भुक्तभोगी ही समझ सकता है। स्वयं ही प्रेम का आमंत्रण दिया और जब प्रेम-पथ पर सर्वस्व त्यागकर इतने आगे बढ़ चुके, तो इतनी निपट उपेक्षा कि एक गाँव में रहकर भी दर्शनों के लिए तड़पाते हैं। पर बात कोई नई नहीं। प्रेम-मार्ग के सभी पथिकों को बाद में ऐसी ही प्रायश्चितपूर्ण अनुभूति हुई है। इस सवैया में भी निर्वेद-चापल्य (प्रिय के व्यवहार में), विषाद-व्यग्रता, उपालम्भ तथा औत्सुक्य भावों की समन्वित योजना है। इसी प्रकार कवि की एक और आप-बीती सुनिए—

निसि द्यौस खरी उर माँझ अरी, छवि रंग भरी मुरि चाहनि की।
तकि मोरनि त्यों चख ढोरि रहैं, ढरिगौ हिय ढोरनि बाहनि की॥
चट दै कटि पै बटि प्रान गए, गति सों मति में अवगाहनि की।
घन आनँद जान लख्यौ जब तें, जक लागिऐ मोहि कराहनि की॥

इस सवैया में कवि के सूक्ष्म कौशल पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे कई काव्यमर्मज्ञ मुग्ध हैं।—" 'मुरिचाहनि' और 'तकि मोरनि' से यह व्यक्त किया गया है कि एक बार नायक ने नायिका की ओर मुड़कर देखा और फिर देखकर मुड़ गए और अपना रास्ता पकड़ा। देखकर जब वे मुड़े तब नायिका का मन उनकी ओर इस प्रकार ढल पड़ा, जैसे पानी नली में ढल जाता है। कटि में बल देकर प्यारे नायिका के मन में डूबने के ढब से निकल गए।" यहाँ स्मरण, गुण कथन और व्याधि—विरह-दशाएँ एकत्र पिरोई गई हैं।

विप्रलम्भ शृंगार की योजना में कवि लोग प्रकृति का वर्णन उद्दीपन विभावान्तर्गत करते आए हैं। घनानन्द ने भी इसका विधान किया है। उनका यह कवित्त सहृदयों को बहुत प्रिय है—

"कारी कूर कोकिल कहाँ को वैर काढ़ति री,
कूकि-कूकि अबहीं करै जौ किन कोरि लै।
पैंड़ परै पापी ये कलापी निसि द्यौस ज्योंहीं,
चातक! रे घातक ह्वै तू हू कान फोरि ले॥"

कोयल, मयूर, चातक और घन —सभी ने संघबद्ध होकर अनाश्रित विरहिणी के विरुद्ध अभियान छेड़ दिया है। एक नायिका बड़ी तन्मयता से अपने प्रिय की रूप-चेष्टाओं का स्मरण करती, उसकी भाव-भंगिमा पर मुग्ध होती, उसकी स्मृति रूपी अनन्य थाती के सहारे जीवन के भार को वहन कर रही है। उसे बस एक ही रट लगी है—'प्रिय कब आएँगे?' उसका सारा अस्तित्व इस प्रश्न के ऊपर झूल रहा है। यदि एक बार प्रिय आ जायँ तो जन्म-जन्मातर की सभी साधें पूरी हो जायँ। न जाने वह अवसर कब आयेगा जब वह शृंगार-मूर्ति प्रिय की उज्ज्वल शोभा रूपी अंजन से अपने लालसा भरे नेत्र आँजेगी, पाँवड़ों को पुनीत करने वाले चरणारविन्दों को कपोलों से माँजेगी, अपने सुजान प्रिय की शोभा के रंगों में अपने को डुबो कर अनंग-पीड़ा नष्ट करेगी और प्रिय की अनुकूलता से प्राप्त प्रेमामृत को रखने के लिए टूटे मन रूपी घड़े की दरारों को राँजेगी—

मूरति सिंगार की उजारी छवि आछी भाँति।
...
...
मन-घट दरकनि सुठि राँजिहौं॥

छवि से नेत्रों के आँजने, पदों को कपोलों से माँजने, मन-घट की दरकन को राँजने में सुन्दर व्यंजनाएँ हैं। 'अभिलाष' का सुन्दर निर्व्याज निखरा रूप यहाँ व्यक्त हुआ है। घनानन्द जी ने एक-एक छन्द में विरह की अनेकानेक

दशाओं की मार्मिक व्यंजना की है। वे शृंगार के, मुख्यतः विप्रलम्भ के रस-सिद्ध कवि थे। अनुभूति एवं भावों के गहन से गहन स्तरों तक उनकी पहुँच थी। निम्नांकित छन्द में मोह, आवेग, विषाद, उन्माद, जड़ता आदि अनेक भावों की सुन्दर मनोहारी व्यंजना है—

अंतर हौ किधौं अंत रहौ, दृग फारि फिरौं कि अभागनि भीरौं।
आगि जरौं अकि पानी परौं, अब कैसी करौं हिय का विधि धीरौं।
जो घन आनंद ऐसी रुची, तौ कहा बस है अहा! प्रानिनि पीरौं।
पाऊँ कहाँ हरि हाय तुम्हें, धरनी में धसौं, कै अकासहिं चीरौं॥

विरह और उपालम्भपरक कवित्त-सवैयों में घनानन्द जी के मर्माहत हृदय का अच्छा उद्घाटन हुआ है। बेचारी विरह-विदग्ध नायिका दिन-रात प्रिय के ध्यान में मग्न उनकी बाट जोहती हुई येनकेन प्रकारेण काल-यापन कर रही है। लक्ष-लक्ष अभिलाषाओं से उद्वेलित मानस को लिए उसके नेत्र प्रिय के आगमन-पथ में बिछे रहते हैं—

अभिलाषनि लाखनि भाँति भरी, बरुनीनि रुमांच ह्वै काँपति हैं।

+ + +

जब तें तुम आवनि औधि बदी, तब तें अँखियाँ मग माँपति हैं॥

प्रिय के दर्शनानन्द से वंचित नेत्रों की दशा दयनीय अवस्था को पहुँच गई है। आँखें उन्माद, व्याधि और जड़ता की समवेत दशा को प्राप्त हो गई हैं—

जिनको नित नीके निहारति ही, तिन को अँखियाँ अब रोवति हैं।

× × ×

न खुली मुँदी जानि परैं दुख ये, कछु हाय! जगे पर सोवति हैं॥

बेचारे नेत्रों की बड़ी विचित्र दशा हो गई है। कदाचित् उन्हें भूत की दशा लग गई है, तभी तो व्याधि और उन्माद जैसे रोगों से वे ग्रस्त हैं—

जल बूड़ी जरैं, डीठि पाएहू न सूझि परैं, अमी पिये मरैं, मोह अचरज अति है।
चीर सों न ठकें, बानी बिन बिथा बकें, दौरि परैं न निगोड़ी थकें, बड़ी भूता गति है॥

घनानन्दजी के उपालम्भपरक छन्दों की मार्मिकता और भी बढ़कर है। यह निर्विवाद है कि उनके जैसा व्यंजक, मार्मिक उपालम्भ-काव्य हिन्दी में अन्यत्र नहीं है। कुछ दृष्टांत नीचे दिये जाते हैं। नायिका प्रेम-मार्ग की अनन्यता सहज-सरलतादि की दुहाई देती हुई प्रिय सुजान (कृष्ण) की चतुराई पर कैसी फब्ती कसती है—

अति सूधौ सनेह कौ मारग है, जँह नैंकु सयानप बाँक नहीं।
तहँ साँचे चलैं तजि आपुनपौ, झिझकैं कपटी जो निसांक नहीं॥

घन आनन्द प्यारे सुजान सुनौं, इक एक तें दूसरौ आंकु नहीं।
तुम कौन सी पाटी पढ़े हौ लला ! मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं॥

'मन' और 'छटाँक' के श्लेष और परिवृत्ति न जाने कितने काव्य-मर्मज्ञ मुग्ध हैं। नायक 'कृष्ण' का चातुर्य और नायिका 'गोपी' की सरल निष्कपट अनन्यता एक साथ व्यंजित है। इसी प्रकार नायिका की यह उपालम्भपूर्ण उक्ति कितनी अनुभूति-गर्भ है—

"कान्ह परे बहुतायत में इकलैन की वेदन जानौ कहा तुम।
हौ मन मोहन, मोहे कहूँ न बिथा बिमनैन की मानौं कहा तुम॥

× × ×

आरतिवन्त पपीहन को घन आनँद जू ! पहिचानौ कहा तुम॥

ठीक ही तो है। कोई भुक्त भोगी ही विरह-वैधुर्य की दारुण वेदना का अनुभव कर सकता है। जो सदा सर्वत्र प्रेमिकाओं से घिरा रहता हो और जो सभी को मुग्ध बनाने की क्रिया में दक्ष हो, पर स्वयं कभी विमुग्ध न हुआ हो वह भला दूसरों की वेदना को क्या समझेगा ? नायक कृष्ण की हृदयहीनता निष्ठुरता तथा प्रेमी नायिकाओं की अनन्य परायण भाव प्रवणता का एक और हृदय द्रावक चित्र देखिये। पूर्ण प्रेम का महामंत्र और अविचल प्रतिज्ञा जिसमें अंकित है, अनन्य रुचि से उसी के चरित्रों से जो चित्रित है और जिसमें अनन्य प्रेम विह्वल कातरता के अतिरिक्त कुछ नहीं—वही हृदय-पत्र निपट निष्ठुरता से टूक-टूक तो कर दिया, पर उस पर भूल के भी एक दृष्टि न डाली। इस निष्ठुरता और उपेक्षा की उपमा नहीं हो सकती। यथा—

लैं ही रहे सदा मन और को, दैवो न जानत जान दुलारे।

× × ×

मो गति बूझि परै तब ही, जब होउ घरकिहु आप तें न्यारे॥

सदा मन लेने वाला देने वालों की दशा नहीं समझ सकता। जो संकोच और लज्जा त्याग कर प्रसन्नता पूर्वक सर्वत्र स्वच्छन्दता से विचरण करता हुआ अपनी भ्रमर-वृत्ति का परिचय देता फिरता—वह सर्वस्व त्यागमयी कातर विरह-विधुर रमणियों की दयनीय दशा पर क्या ध्यान देगा ? पर अखण्ड विश्वास और अनन्य भावापन्नता के धनी रसिक राज घनानन्द को विश्वास है कि एक न एक दिन वे अपनी एकनिष्ठ प्रेम साधना से अपने प्रिय को द्रवित कर ही देंगे। हृदय की कातर विह्वल पुकार तो पाषाणों को भी द्रवित करने की क्षमता रखती है, सुजान प्रिय तो फिर भी भावुक और भावना के प्रेमी हैं—

आनाकानी आरसी निहारिबौ करोगे कौलौं,
कहा मो चकित दशा त्यों न दीठि डोलि है।

मौन हू सों देखि हो कितेक पन पालि हौ जू,
कूक भरी मूकता बुलाय आप बोलि है ॥

यह अखंड आत्म-विश्वास ही प्रेम के क्षुरस्य धारवत् दुर्गम पथ के पथिक का एकमात्र सम्बल है। भले ही सुजान प्रिय के कानों तक अपने प्रेमी को कातर पुकार न पहुँचे—भले की कानों में तेल डाले वे अजान बने रहें, पर घनानन्द की एकनिष्ठता में अन्तर नहीं आएगा। हृदय-सुमन के मसल दिये जाने पर भी उसे विश्वास है कि वह और उसका प्रेम विस्मृति के गर्त में नहीं जायगा। उसके प्रणय की अनन्यता की कीर्ति-गन्ध दिग्दिगन्त में अनन्त काल तक गूँजती रहेगी और प्रणय-पथ के भग्नाश हृदय-पथिकों को नई प्रेरणा का प्रकाश प्रदान करती रहेगी—

हेत खेत धूरि चूर-चूर ह्वै मिलैगी तब,
चलेगी कहानी घन आनन्द तिहारे की ॥

अन्त समय का यह कवित्त विरह-वैधुर्य की मार्मिकता में आज भी सहृदयों के मानस का मंथन करने में समर्थ है—

बहुत दिननि की अवधि आस-पास परे,
खरे अरबरनि भरे हैं उड़ि जान कौं।

\+ \+ \+

अधर लगे हैं आनि करके पयान प्रान,
चाहत चलन ये सँदेसो लै सुजान कौं ॥

और यह निर्विवाद है कि घनानन्द का कुसुमादपि मृदुल हृदय सुजान की निष्ठुरता से मुरझा गया किन्तु कौन कह सकता है कि यदि उसके साथ ऐसा निर्मम व्यवहार न हुआ होता तो कवि के काव्य की यह मादक सुरभि दिग्दिगन्त में छाकर हिन्दी-साहित्योद्यान का अमर सम्पन्नता की घोषणा कर पाती ? हिन्दी साहित्योद्यान की यह सुमन मुरझा कर भी अपनी काव्य-कला की कीर्ति-गन्ध से अनन्त को चिरकाल तक महकाता रहेगा।

अभिव्यक्ति-पक्ष

बहिर्वृत्तियों के निरूपक—रीतिबद्ध कवियों के विपरीत घनानन्द जी की रुचि अन्तर्वृत्तियों के निरूपण में अधिक रमी है। अन्तर्वृत्तियों के उद्घाटन में वे अपने समकालीन कवियों में निश्चय ही बेजोड़ हैं। उनकी अनुभूति जितनी सघन और मार्मिक है, अभिव्यक्ति उतनी ही सक्षम। काव्य-अनुभूति और अभिव्यक्ति; अर्थात् 'भावपक्ष' और 'कलापक्ष' की युगपत् साधना है। निर्जीव कलेवर में जिस प्रकार अव्यक्त आत्मा अपना सम्पूर्ण प्रकाश नहीं कर सकती, उसी प्रकार दुर्बल अभिव्यक्ति के साथ अनुभूति की मार्मिक गम्भीरता भी मुरझा

कर रह जाती है। अभिव्यक्ति-पक्ष के पंखों के दौर्बल्य के कारण ही कबीर आदि संत कवियों का मानस-हंस गगन-विहारी उड़ान की क्षमता रखता हुआ भी मन मसोस कर रह जाता है। दूसरी ओर अनुभूति-पक्ष की दुर्बलता कवि के समस्त प्रयत्नों को बौद्धिक व्यायाम-मात्र बना देती है। घनानन्द माँ भारती के उन सौभाग्यशाली पुत्रों में से हैं, जिनके काव्य के दोनों ही पक्ष पुष्ट और माँसल हैं। यद्यपि रीतिकाल के अन्य रीति-बद्ध कवियों की भाँति वे कवि-चातुर्य के फेर में अधिक नहीं पड़े, तथापि उनका काव्य समस्त काव्य-तत्वों से ओत-प्रोत है। रीति-गुण, ध्वनि, उक्ति-वैचित्र्य आदि सभी काव्य-तत्व उनके काव्य में समुचित मात्रा में भाव और रस-व्यंजना में सहायक बनकर प्रयुक्त हुए हैं। उनकी कविता हृदय और बुद्धि—दोनों को तुष्ट करती है। लाक्षणिक वैचित्र्य के साथ—व्यंजना के विविध रूपों की जो मार्मिकता उनके काव्य में व्याप्त है, वह काव्य-मर्मज्ञों की मति को चकित कर देती है।

घनानन्द जी का काव्य अपनी विरोधवृत्ति-मूलकता के लिए विख्यात है। 'विरोधाभास' उनका प्रिय अलंकार है। पर घनानन्द जी की यह चमत्कार-प्रियता केवल वाणी-विलास नहीं कही जा सकती; उनकी विरहानुभूति एवं काव्य-चेतना में समरस एकरूपता है। लाक्षणिक वैचित्र्य-संवलित वैषम्य-मूलकता और भावानुभूति की व्यंजना—दोनों विरोधी से लगने वाले कार्य—उनके एक ही प्रयत्न से सिद्ध हो जाते हैं। ऐसे वाणी के सिद्ध कवि थे वे।

लाक्षणिक वैचित्र्य तथा विरोध वृत्ति के कुछ दृष्टान्त देखिये—

१. **'जल बूड़ी जरै, डीठि पाए हू न सूझि परै,**
अमी पियै मरै, मोहि अचरज अति है।'

२. **'घन आनन्द एक अचम्भो बड़ो, गुन हाथ हू बूड़त कासौं कहों।'**

३. **'अंतर में वासी पै प्रवासी कौ सो अंतर है।'**

४. **'न खुली मुँदी जानि परैं दुखये, कछु हाय जगे पर सोवित हैं।'**

५. **'कूक भरी मूकता बुलाय आपु बोलि है।'**

७. **'सपने बिन पाएइ खोवति है।'**

गुणों की भाँति अलंकारों का वाणी से नित्य सम्बन्ध नहीं। अलंकार भाषा के अनित्य धर्म हैं; अर्थात् वे काव्य के लिए अपरिहार्य नहीं होते। वे रसों और भावों के उपकारक रूप में ही ग्राह्य होते हैं। घनानन्द जी की अलंकार-साधना और वैचित्र्य-प्रियता—उनकी भावभिव्यक्ति की साधक है। देखिये, साँग-रूपक अलंकार की सहायता से प्रेम-राज्य की स्थिति की कैसी मार्मिक व्यंजना इस छन्द में की गई है—

रूप चमूप सज्यौ दल देखि भज्यौ तजि देसहिं धरि-मवासी।
नैन मिलें उर के पुर पैठतै, लाज लुटी, न छुटी तिनका-सी ॥
प्रेम दुहाई फिरी घन आँनद, बाँधि लिए कुल-नेम-गुढ़ासी।
रीझ सुजान सची पटरानी, बची बुधि बापुरी ह्वै करि दासी ॥

समर-नीति और राजनीति को कितने कौशल से शृंगार में घटित किया गया है—सर्वाङ्ग सुन्दर साँगरूपक है। भाषा—प्रसाद और माधुर्य गुण समन्वित है। निस्सन्देह प्रेम के शासन में (और काव्य के राज्य में भी) तर्क-बुद्धि का स्थान भावाश्रित ही है, यहाँ बुद्धि की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं। घनानन्द की भाषा—स्निग्ध, स्फीत और सानुप्रास है। यह उनकी सहज भाषा है। काव्य-कर्म उनके लिए प्रकृत व्यापार था। सानुप्रास-स्फीत वाग्धारा के कुछ दृष्टान्त देखिये—

१. **'कारी कूर कोकिल कहाँ को बैर काढ़ति री।'**
२. **'पैड़ परै पापी ये कलापी निसिद्यौस ज्यों ही।'**
३. **'तछिन ईछन बान बरवान सौं···।'**
४. **'भायल-घायल चौंप चढ़ावत।'**

घनानन्द जी ने निरंग रूपक के भी अच्छे प्रयोग किए हैं। कुछ दृष्टांत दिये जाते हैं—

१. **'आनाकानी आरसी निहारिबौ करौगे कौलौं।'**
२. **'रस सागर नागर स्याम लखे, अभलाखन धार मझार बहौं।'**
३. **'चाह प्रवाह अथाह परे नहि·······।'**
४. **'हेत खेत धूरि चूर है मिलेगी·······।'**

यमक तो उनके काव्य में नैसर्गिक ढंग से स्थान-स्थान पर आ बैठा है। ऊपर के दृष्टान्तों के अतिरिक्त नीचे के इन दृष्टांतों में भी यमक का प्रयोग द्रष्टव्य है—

१. **'हाय दई, सुविसार दई सुधि······।'**
२. **'अन्तर में वासी पै प्रवासी कौ से अंतर है।'**
३. **'अंतर हौ किधौं अंत रहौ······।'**

काव्य-कला-मर्मज्ञों को श्लेष के बल पर अनेकार्थी भाषा का प्रयोग बहुत प्रिय है। रीतिकाल के समस्त कवियों का सर्वाधिक प्रिय अलंकार 'श्लेष' है। घनानन्द जी ने भी इस अलंकार के सुन्दर स्मरणीय प्रयोग किए है—

१. **'तुम कौन सी पाटी पढ़े हौ लला, मन लेहू पै देहु छटांक नहीं।'**
२. **'गुन बाँधि लै मोहब छोरियैजू।'**

घनानन्द जी ने श्लेष के बल पर रत्नाकर जी की भाँति, ऋतुओं को तन पर घटाया है—

बैस की निकाई सोई रितु सुखदायी, ता मैं
तरुनाई उलहत मदन मैमंत है।
× × ×
तेरे तन बन सदा बसत है।

यह प्रेम के अनोखे शासन में ही सम्भव है कि एक साथ ही 'बसन्त' और 'पतझड़' सहबासी बनकर रहते हैं—

किंसुक-पुंज से फूलि रहे। सुलगी उरदौ जु वियोग तिहारे।
× × ×
हैं पतझार बसंत दुहूँ घन ग्रानँद एकहिं बार हमारे॥

निम्न दृष्टांतों में परिकरांकुर का प्रयोग श्लेष के साथ अच्छा बन पड़ा है—

१. 'पर कारज देह को धारे फिरौ, परजन्य जदारथ ह्वै दरसौ।'
२. 'घनग्रानंद जीवन दायक हौ············।'

बिहारी की भाँति 'असंगति' के अच्छे प्रयोग घनानन्द ने किए है—

'गुन बँधे, कुल छूटे, ग्रावौ दै उदेग लूटैं,
उत-जुटैं, इत टूटै ग्रानँद विपति है।'

इसी प्रकार विशेषोक्ति और विभावना अलंकारों का भी सुन्दर प्रयोग हुआहै—

'चीर सौं न ढकैं, बानी बिन बिथा बकैं,
दौरि परै न निगोड़ी थकैं, बड़ी भूतागति है।'

घनानन्द जी की वाणी सालंकार है, किन्तु अपने सौन्दर्य के लिए वह अलंकारों की मुखापेक्षी नहीं। वस्तुतः अनुभूति की सजल मर्म-स्पर्शिता और व्यंजना की तल-स्पर्शी मार्मिकता ही उसकी अमर निधि है, जिस पर गर्व से उन्नत मस्तक—वह किसी भी कवि के काव्य के समक्ष खड़ी हो सकती है।

घनानन्द जी की भाषा बड़ी व्यंजक और लाक्षणिक वैचित्र्य से युक्त है। लक्षणा और व्यंजना के सभी भेद उनकी रचनाओं में अनायास उपलब्ध हो जाते हैं। उनकी व्यंग्यगर्भा लाक्षणिक उक्तियों के कुछ दृष्टांत दर्शनीय हैं—

१. 'पैनी दसाहि लौं सान चढ़ावत।'
२. 'पूँछ विषान बिना पसु जे सु कहा घन ग्रानँद बानी बखानैं।'
३. 'ग्रब ह्वै ग्रमोही बैठे पीठि पहिचान दै।'
४. 'ग्रँखियाँ मन माँपति हैं।'
५. 'बिसास में यों विष घोरिए जू।'
६. 'रुई दिये रहौगे कहाँ लौं बहिराइबे की···।'

घनानन्द जी की भाषा—साहित्यिक व्रजभाषा है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में···"इनकी सी विशुद्ध सरस और शक्तिशाली व्रजभाषा लिखने में और

कोई कवि समर्थ नहीं हुआ। विशुद्धता के साथ प्रौढ़ता और माधुर्य भी अपूर्व ही है।··· भाषा पर जैसा अचूक अधिकार इनका था, वैसा और किसी कवि का नहीं।" घनानन्द का पिंगल-ज्ञान भी विस्तृत था। उन्होंने प्रचलित सभी प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया, किन्तु सवैया और कवित्तों को उन्होंने परिमार्जन की चरम सीमा पर पहुँचा दिया।

रीति-मुक्त काव्य-धारा के कवियों ने रीति-बद्ध कवियों के विपरीत काव्य के साध्य-पक्ष पर अधिक बल दिया, यद्यपि यह बात भी निर्विवाद है कि इन कवियों का साधन-पक्ष भी उतना ही पुष्ट और मांसल है। स्वच्छन्द वृत्ति के इन कवि महानुभावों ने अनुभूति को जितना अधिक महत्व दिया, मानसिक आयाम या बुद्धि-कौशल को उतना नहीं। घनानन्द ने ठीक ही लिखा है कि प्रेम के (और काव्य के भी) राज्य में बुद्धि का स्थान गौण है—

'रीझि सुजान सची पटरानी बची बुधि बापुरी ह्वै करि दासी।'

अभिव्यक्ति की वक्रता (भंगी-भणति) भी इन कवियों के काव्य में है, पर अनुभूति की मर्म-स्पर्शिता के समक्ष वह गौण है। प्रतिभा, शिक्षा और अभ्यास—तीनों काव्य-हेतुओं ने मिलकर घनानन्द को एक महान् कवि बना दिया। उनके काव्य में जीवन-जगत का वैविध्य भले न हो—भावक्षेत्र की व्यापकता भी चाहे न हो; किन्तु प्रेमानुभूति की जो तरल मर्मस्पर्शिता और सहजाभिव्यंजना उनके काव्य में है, रीतिकाल के किसी कवि में नहीं। स्वच्छन्द वृत्ति के रीतिकालीन कवियों में वे श्रेष्ठतम हैं। रसखान में प्रेमानुभूति की सहज अभिव्यक्ति है, पर साहित्यिक निखार नहीं। 'घनानन्द की साहित्यिक भंगिमा-संवलित प्रेम-संवेदना रसखान में नहीं, भक्ति-संवेदना अवश्य है।

घनानन्द की काव्य-कला का आनन्द सहृदय काव्य-मर्मज्ञ रसिक और भक्त—दोनों ले सकते हैं। रसाखान, मीरा आदि प्रेमी भक्त कवियों के पास काव्य-कला मर्मज्ञों के लिए कुछ नहीं। इसके अतिरिक्त आलम, ठाकुर, बोधा द्विजदेव प्रभृति रीति-मुक्त कवियों के काव्य की तो सभी विशेषताएँ घनानन्द जी के काव्य में हैं हीं, कुछ अपनी ऐसी विशेषताएं भी है जो अन्यों में नहीं। तभी उनके प्रेमानुभूति-परक कवित्तों के संग्रहकर्त्ता श्री ब्रजनाथ को लिखना पड़ा— "जग की कविताई के धोखे रहें ह्यां प्रवीनन की मति जाति जकी।" घनानन्द जी का काव्य रागात्मक और वौद्धिक पिपासा का एक साथ तुष्ट करता है। उनके काव्य की सूक्ष्म व्यंजना बड़े-बड़े प्रवीणों की मति को चकित कर देती है। यह लाक्षणिक वैचित्र्ययुक्त व्यंजना की सूक्ष्म मर्मस्पर्शिता घनानन्द को अपने वर्ग का प्रतिनिधि ही नहीं, सर्वोत्तम कवि घोषित करती है। "साक्षात् रस-मूर्ति और ब्रजभाषा के प्रधान स्तम्भों" में एक घनानन्द पर हिन्दी भाषा-साहित्य को गर्व है।

१६

'साकेत' की 'मानस' से तुलना और मौलिकता

गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'रामचरितमानस' में राम-कथा का वर्णन किया है। उनकी 'कवितावली', 'गीतावली' की विषय-वस्तु भी राम-कथा ही है। गुप्तजी के 'साकेत' में राम-कथा वर्णन उससे मिलता भी है, अन्तर भी रखता है। साम्य होते हुए भी वह तुलसी का राम-वर्णन नहीं है। शास्त्रीय सिद्धान्तों में एकता हो सकती है, स्थूलतः वस्तु, चरित्र-चित्रण, आदर्श की व्याख्या आदि में भी समानता हो सकती है, फिर भी सूक्ष्म भेद है। पहले इसी पर विचार कर लिया जाय।

समानताएँ

परस्पर समान बातें तो यह हैं कि रामकथा वही है। राज्याभिषेक होते-होते वनवास, चित्रकूट दंडकासाय होते हुए लंका पहुँचना, राक्षसों का संहार, रावण वध और चौदह वर्ष उपरान्त राम का अयोध्या लौट आना। पात्रों के नाम भी वही हैं—दशरथ, सीता, राम, कौशल्या, सुमित्रा, सुमन्त, वशिष्ठ आदि। भाई भी चार हैं—चारों का विवाह साथ-साथ हुआ है। घटनाएँ भी एक-सी हैं। तुलसी के राम ईश्वर थे। उनका सिद्धान्त था—

'अगुन, अरूप, अलख अज जोई। भगति प्रेम बस सगुन सो होई।।'

देवताओं द्वारा राम-स्तुति, अद्वैत परब्रह्म के रूप में कराई गई है। वे सोलह कलाओं के पूर्ण अवतार हैं, भू-भार हरने के लिए उनका जन्म हुआ है।

"जब जब होइ धरम की हानी" द्वारा तुलसी ने राम के लोक-रक्षक, मर्यादा-पुरुषोत्तम स्वरूप का वर्णन किया है। गुप्त जी भी राम का ब्रह्मत्व अक्षुण्ण रखते हैं। निर्गुण सगुण इसलिये हो गया कि संसार का पथ-प्रदर्शन करना है। प्रथम सर्ग, द्वितीय सर्ग में इस कर्त्तव्य-पक्ष का उल्लेख हुआ है। गुप्त जी ने आरम्भ में स्वयं वर्णन किया है—

'हो गया निर्गुण सगुण साकार है,
ले लिया अखिलेश ने अवतार है।
किसलिए यह खेल प्रभु ने है किया?
मनुज बन कर मानवी का पय पिया?
भक्त वत्सलता इसी का नाम है—
और वह लोकेश लीला-धाम है!
पथ दिखाने के लिए संसार को
दूर करने के लिए भू-भार को...'
पापियों का जान लो अब अन्त है—
भूमि पर प्रकटा अनादि अनन्त है!'

राम ने भी अपने कर्त्तव्य-पक्ष का उल्लेख एक बार दशरथ, कैकेयी के सम्मुख किया है। दूसरी बार अष्टम सर्ग के आरम्भ में सीता से वार्तालाप करते हुए—

'मैं आया उनके हेतु कि जो तापित हैं,
जो विवश, विकल, बलहीन, दीन शापित हैं!
हो जायँ अभय वे जिन्हें कि भय भासित हैं...'

वे स्पष्ट ही मर्यादा की रक्षा करने आए हैं। यह स्वरूप तुलसी के राम से बिल्कुल मिलता है।

राम पिता की आज्ञा पालने के लिए ही वन जाते हैं। सीता, लक्ष्मण उन्हीं का अनुसरण करते हैं, सुमंत सीमा पार कराते हैं, केवट से भेंट होती है। ग्रामीण स्त्रियाँ यहाँ भी सीता से पूछती हैं—ये गोरे-साँवरे कौन हैं? वह सरल-भाव से उत्तर भी देती है—

'जुड़ आईं थीं वहाँ नारियाँ ग्राम की,
वे साधक ही सिद्ध हुईं विश्राम की।
सीता सबसे प्रेम-भाव पूर्वक मिलीं,
लतिकाओं में कुसुम - कली सी वे खिलीं।
'शुभे! तुम्हारे कौन उभय ये श्रेष्ठ हैं?'
'गोरे देवर, श्याम उन्हीं के ज्येष्ठ हैं!'

वैदेही यह सरल भाव से कह गईं,
तब भी वे कुछ तरल हँसी हँस रह गईं !'

तुलसी ने भी लिखा है—

'बहुरि बदन-बिधु अंचल ढाकी। पिय तन चितै भौंह कर बाँकी।
खंजन मंजु तिरीछे नैननि। निज पति कहेउ तिन्हहिं सिय सैननि ॥'

मार्ग-श्रम की जो व्यंजना तुलसी ने नगर से निकलते ही कराई है—

'फिर पूछति हैं चलनो अब केतिक, पर्ण कुटी करिहौ कित ह्वै ?
तिय की लखि आतुरता, पिय की अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै !'

यहाँ गुप्त जी ने वर्णन किया है—

'सीता कुछ भी और न आगे कह सकीं,
हँसते हँसते सती अचानक रो पड़ी—
'मुझको अपने लिए नहीं कुछ सोच है,
तुम्हें असुविधा न हो यही संकोच है !'
'प्रिये हमारे लिए न तुम चिन्ता करो,
अभी नया अभ्यास तनिक धीरज धरो !'

इसी प्रकार चित्रकूट प्रसंग का उद्देश्य भी वही है जो तुलसी का था। भरत, माताएँ, नागरिक, मुनिगण—सभी अपने-अपने तर्कों से उन्हें लौट चलने को कहते हैं लेकिन राम अपने निश्चय पर अटल हैं—

'पर रघुकुल में जो वचन दिया जाता है,
वह लौटा कर अब कहाँ लिया जाता है ?'

और भरत को उनकी चरण पादुका से ही सन्तोष करना पड़ता है—

'बस मिलें पादुका मुझे, उन्हें ले जाऊँ,
बस उनके बल पर, अवधि पार मैं पाऊँ !'

लक्ष्मण-शक्ति का उल्लेख तुलसी ने भी किया था, गुप्त जी ने भी किया है। वैद्य यहाँ भी आकर संजीवनी बूटी का उल्लेख करते हैं जिसे लाने के लिये हनूमान को भेजा जाता है—

'संजीवनी मात्र ही स्वामी, आ जावे यदि रातों-रात,
तो भी बच सकते हैं लक्ष्मण, बन सकती है बिगड़ी बात !''''
आगे बढ़ बोला मैं-'प्रभुवर किंकर कर लेगा यह कार्य !'

उन्होंने मेघनाथ यज्ञ का भी उल्लेख किया है, रावण के आश्चर्य का भी—

'पहुँचे सब निज यज्ञ लग्न था मग्न जहाँ वह···
पशु बलि देकर बली शस्त्र पूजन करता था,
अस्फुट मन्त्रोच्चार कलित कूजन करता था।
ठिठक गए सब एक साथ पल भर निश्चल से
बोले तब सौमित्रि भड़क कर दावालन से·····'

उसी पुष्पक विमान की चर्चा की गई है जिस पर तुलसी के राम बैठ कर अयोध्या लौटे थे। भरत लक्ष्मण ने स्वागत किया—

'पाया, हाँ आकाश कुसुम भी हमने पाया
फैलाता निज गंध गगन में पुष्पक आया।
अगणित नेत्र मिलिन्द उड़े, प्रभु गुण रव छाया
मानुष-मानस लाख तरंगों से लहराया!'

महाकाव्य की शास्त्रीय दृष्टि से तुलसी ने मंगलाचरण किया था—

'वर्णानामर्थ संघानां रसानां छन्द सामपि
मंगलानां च कर्त्तारौ वंदे वाणी विनायकौ!'

गुप्त जी ने भी गणेश व सरस्वती की वंदना की है। सज्जन-प्रशंसा, दुर्जन-निन्दा तुलसी ने की है—

'बिछुरत एक प्रान हरि लेही, मिलत एक दारुन दुख देही।'

गुप्त जी ने भी की है। तुलसी ने जिस प्रकार—

'कवि न होहुँ नहिं वचन प्रवीना, सकल कला सब विद्या-हीना।
कवित विवेक एक नहिं मोरे, सत्य कहौं लिखि कागद कोरे।'

कहकर नम्रता प्रदर्शित की थी, उसी प्रकार गुप्त जी ने यह कहकर की है—

'राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है—
कोई कवि बन जाय सहज संभाव्य है?'

तुलसी अपने व्यक्तिगत जीवन में परम राम-भक्त थे। पंचदेवों की स्तुति के उपरान्त माँगी राम-भक्ति ही—

'मांगत तुलसिदास कर जोरे, बसहु राम सिय मानस मोरे।'
या—'जनम जनम रघुपति भगति, यह वरदान न आन॥'

कहकर अपनी अनन्यता प्रदर्शित की तो गुप्त जी आरम्भ में उन्हीं की चौपाई उद्धृत कर दी है—

'रामचरित जे सुनहि अघाहीं, रस विशेष जाना तिन नाहीं!'

और 'द्वापर' में तो स्पष्ट ही लिख दिया—

'मुझ पर पढ़ने से रहा राम दूसरा रंग।'

अन्तर

इन स्थूल समानताओं की अपेक्षा तुलसी के वृत्त से गुप्त जी का सूक्ष्म अन्तर अधिक है। डा० नगेन्द्र ने प्रधानतः इन भिन्नताओं को बतलाया है—[1]

(१) 'साकेत' में राम-सीता की कहानी प्रधानतः उर्मिला की कहानी बन जाती है। इसी का विकास तथा सगठन मुख्य है।

(२) स्थल संकलन (unity of place) का 'साकेत' में बहुत ध्यान रखा गया है। प्राचीन इतिवृत्तात्मक शैली का अनुसरण नहीं है। कथा राम-जन्म की पौराणिक परम्परा से लेकर महाकाव्य वर्णन पर समाप्त नहीं होती। कुछ स्थल चुन लिये गए हैं—उन्हीं की अन्विति हुई है। अभिषेक संवाद, कैकेयी-मंथरा की कथाएँ स्वयं कही हैं, पर चित्रकूट के उपरान्त वह राम के साथ वन नहीं गया। चित्रकूट भी गया है तो समस्त साकेत के साथ। सब घटनाओं का समाहार नहीं होता है। इस प्रकार स्थल संकलन है।

(३) 'रामचरितमानस' का मुख्य कार्य है—रावण-वध, जबकि 'साकेत' का मुख्य कार्य है—लक्ष्मण-उर्मिला मिलन। साकेत का रंग-स्थल वन, प्रांत न होकर अयोध्या है।

(४) 'साकेत' घटना-प्रधान भी नहीं है, चरित्र-प्रधान महाकाव्य है।

(५) समस्त पात्र व घटनाएँ नायिका के चरित्र-विकास में सहायक हैं।

उपर्युक्त अन्तरों के अतिरिक्त और भी स्पष्ट किए जा सकते हैं—

(६) दोनों की प्रबन्ध परम्परा में अन्तर है। 'साकेत' में 'बालकाण्ड' तो है ही नहीं। अष्टम सर्ग तक 'अयोध्या काण्ड' की कथा ही चलती है। 'मानस' की 'लंकाकाण्ड' तक घटनाएँ यहाँ एकादश-द्वादश सर्गों में समेट दी गई हैं। 'उत्तर काण्ड' की झाँकी सूक्ष्मतः कुछ पहले, कुछ बाद में दे दी गई है। 'मानस' में जो घटनाएँ प्रत्यक्ष हुई थीं, यहाँ परोक्ष कर दी गई हैं। गुप्त जी ने उनका चलता वर्णन कर दिया है—

१. **'थोड़े में वृत्तांत सुनो अब खर-दूषण संहारी का !'**
२. **'गया जटायु इधर सुरपुर को, उधर दशानन लंका को !'**
३. **'कर जटायु संकार बीच में दोनों ने निज पथ पकड़ा ?'**
४. **'तब लंका पर हुई चढ़ाई, सजी ऋक्ष-बानर सेना !'** आदि।

(७) 'मानस' में सीता राम का, धनुष भंग का प्रत्यक्ष वर्णन स्वयं कवि तुलसी ने किया है। 'साकेत' में उर्मिला द्वारा स्मृति रूप कहला दिया गया है—

---

१. **'साकेत' एक अध्ययन**—डा० नगेन्द्र।

'प्रभु चाप न जो चढ़ा सके, उड़ता था मन अंग थे थके,
तब मैं अति आर्त हो उठी, धरजीजी मणि को भिगो उठी !'

और—

'ध्वनि मंडप मध्य छा गई, तब लौं भार्गव मूर्ति आ गई !'—आदि।

(८) पात्रों के चित्रण में भी तुलसी के 'मानस' से अन्तर है। 'मानस' की कैकेयी के लिए तुलसी ने "गई गिरा मति फेरि" वाक्य का प्रयोग किया है। किन्तु 'साकेत' में कैकेयी का विरुद्ध हो जाना दैवात् नहीं है, मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया है। उस पर तो सन्देह एक ओर रहा, उसके पुत्र पर सन्देह किया गया। इसी कारण वह प्रतिरोध करती है। 'मानस' की मंथरा ने कहा है—

'कोउ नृप होहु हमहिं का हानी, चेरि छाँड़ अब होब कि रानी !'

लेकिन 'साकेत' की मंथरा कहती है—

'दण्ड दें कुछ भी आप समर्थ, कहा क्या मैंने अपने अर्थ ?
समझ में आया जो कुछ मर्म, उसे कहना था मेरा धर्म।'

यहाँ भरत के लिए कैकेयी के कान भरना—उसका धर्म हो गया है। उर्मिला का चित्रण तो सर्वथा नवीन है, कौशल्या सुमित्रा में भी भाव, परिवर्तन आ गया है। लक्ष्मण तो केवल सेवा-भाव के अतिरिक्त 'मानस' के लक्ष्मण से बिल्कुल ही भिन्न हो गए हैं। पिता-माता को "दस्युजा के दास" या "अनार्या की जनी" कहना तो एक ओर रहा, वे राम के सामने भी तन जाते हैं—

'उनको इस शर का लक्ष्य चुनूँगा क्षण में,
प्रतिषेध आपका भी न सुनूँगा रण में !'

'मानस' के जिस लक्ष्मण ने सीता-माता के चरणों के ऊपर तक कभी दृष्टि नहीं की थी—केवल पाँव के आभूषण ही पहिचान सके थे—'साकेत' में उसी ने सीता को यह उत्तर दिया है—

'मैं कैसा क्षत्रिय हूँ, इसको तुम क्या समझोगी देवी···
उठा पिता के भी विरुद्ध मैं, किन्तु आर्य-भार्या हो तुम,
इससे तुम्हें क्षमा करता हूँ, अबला हो, आर्या हो तुम !'

ऐसा प्रतीत होता है यहाँ लक्ष्मण सीता को माता की दृष्टि से, आर्य-धर्म की दृष्टि से पूज्य नहीं मानते, अपितु "आर्य भार्या" मात्र होने के कारण उनकी सेवा करते हैं—मानो पद-सेवा के लिये उन्हें बाध्य किया गया हो ! यह चित्रण 'मानस' में कहीं नहीं मिलता।

(९) 'मानस' में तुलसी ने बार-बार घोषणा की है कि राम परब्रह्म हैं, अवतार हैं—मनुष्य नहीं हैं बल्कि मनुष्य-लीला कर रहे हैं। सीता का शृङ्गार-वर्णन करते समय भी वह तुरन्त पाठक से कह देते हैं—सीता जगत-जननी हैं,

पृथ्वी की सामान्य नारी नहीं है—ताकि पाठक बहक न जाय। गुप्त जी ने खुलकर सीता के सौन्दर्य का वर्णन किया है। उनकी सद्यः स्नाता का वर्णन बहुत कुछ विद्यापति की कल्पना का स्मरण करा देता है—

'सुख से सद्यः स्नान किए पीताम्बर परिधान किए...
गोट जड़ाऊ घूँघट की बिजली जलदोपम पट की।
भाव सुरभि का सदन अहा! अमल कमल सा बदन अहा!
अधर छबीले छदन अहा! कुंदु कली से रदन अहा!
साँप खिलाती थीं अलकें, मधुप पालती थीं पलकें,
और कपोलों की झलकें, उठती थीं छवि की छलकें।
गोल गोल गोरी बाहें, दो आँखों की दो राहें!...

—(चतुर्थ सर्ग)

कितना ही सतर्क पाठक चाहे हो—कुछ देर के लिये यह वर्णन पढ़ते समय सीता का जगज्जननी वाला रूप अवश्य भूल जायगा, क्योंकि गुप्त जी ने उस रूप में सीता को लिखा ही नहीं। वे नारी ही हैं, सामान्य जगत की नारी से कुछ उच्च श्रेणी की हैं—बस यही श्रेणी-भेद है। सप्तम सर्ग में कवि ने पुनः सीता के अंग-सौन्दर्य के वर्णन करने का अवसर निकाल लिया है। देखिए—

'पहने थीं दिव्य दुकुल अहा! वे ऐसे,
उत्पन्न हुआ हो देह-संग ही जैसे!
कर; पद, मुख-तीनों अतुल अनावृत पट से,
थे पत्र-पुंज में अलग प्रसून प्रकट से!
कंधे ढक कर, कच छहर रहे थे उनके,
रक्षक तक्षक से लहर रहे थे उनके!'—आदि।

इसी प्रकार राम भी आदर्श पुरुष ही हैं। कवि ने स्वयं प्रश्न किया है—

'राम, तुम मानव हो? ईश्वर नहीं हो क्या?'

इसी कारण आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि गुप्त जी अपने राम को लोक के बीच अधिष्ठित देखने वाले कवि हैं।

(१०) 'साकेत' पर वर्तमान युग की छाप है। राष्ट्रीयता, उच्च-नारी-भावना आधुनिक प्रवृत्तियों के अनुकूल हैं जो 'मानस' में नहीं हो सकता था। तुलसी लिख गए थे—

'ढोल-गँवार-शूद्र-पशु-नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी!'

लेकिन 'साकेत' की नारियाँ शिक्षित, सहयोगी वीर क्षत्राणी के रूप में चित्रित हुई हैं-वह चाहे उर्मिला हो, सुमित्रा हो, या अयोध्या की नागरिका हों।

(११) वस्तु-वर्णन में भी 'मानस' के राम का उद्देश्य—दक्षिण में आर्य-

सभ्यता का प्रचार करना नहीं है। ऋच्छ-वानरों को वहाँ पशु-रूप में ही लिया गया है जिसकी मनोहर झाँकी कभी-कभी आजकल रामलीला के प्रसंग में विभिन्न रंगे हुए चेहरे-मोहरों द्वारा मिल जाती है, जबकि 'साकेत' के राम ने स्वयं अपना उद्देश्य प्रकट किया है—

'मैं दूँगा अब आर्यत्व उन्हें निज कर से।'

यहाँ वे जातियाँ ली गई हैं जो असभ्यता, असंस्कृति, अशिक्षा, अज्ञान के कारण पशु-तुल्य जीवन बिताती थीं। गुप्त जी ने लिखा है—

'बहु जन वन में हैं बने ऋच्छ वानर से।'

हैं वे मनुष्य ही जिन्हें राम संस्कृत-शिक्षित करेंगे! एकादश सर्ग में भी इस उद्देश्य का उल्लेख किया गया है—

'गोदावरी तीर पर प्रभु ने दण्डक वन में वास किया,
अपनी उच्च आर्य संस्कृति ने वहाँ अबाध विकास किया,

× × ×

जय-जयकार किया मुनियों ने दस्युराज यों ध्वस्त हुआ,
आर्य सभ्यता हुई प्रतिष्ठित, आर्य धर्म आश्वस्त हुआ।'

इसी प्रकार 'साकेत' में रावण युद्ध का भी प्रत्यक्ष वर्णन नहीं है। सरमा द्वारा उल्लेख करा दिया गया है, सीता को सुनाती है—

'अब प्रभु के ही निकट देवि अपने को जानो,
मेघनाद क्या मरा, मरा रावण ही मानो!
सारी लंका आज रो रही है सिर धुन कर,
रावण मूर्छित हुआ शुभे, रथ में ही सुन कर।
प्रभु बोले—उठ, जाग बाण प्रस्तुत है मेरा,
मैं सह सकता नहीं, दुःख रावण अब तेरा!'

मानो राम देवताओं के कष्ट निवारण के लिए नहीं, बल्कि रावण का ही दुःख दूर करने के लिए अपने बाण द्वारा निस्तार कर देना चाहते हों।

इस प्रकार तुलसी ने जिन वर्णनों को उपेक्षित करा दिया था; जैसे—उर्मिला का वृत्त—गुप्त जी ने विस्तार पूर्वक अपनी कवि कल्पना से उनमें रंग भरा है और जहाँ उनकी वर्णित कथा ली भी है, नवीन दृष्टिकोण से समझ कर उसे स्थान दिया है। साम्य की अपेक्षा अन्तर ही अधिक लक्षित होता है।

नवीनताएँ

अब यह देखना चाहिए कि गुप्त जी ने 'साकेत' के वर्ण्य-वृत में क्या मौलिक उद्भावनाएँ की हैं? उपर्युक्त अन्तर भी इस क्षेत्र के अन्तर्गत आ सकते हैं, क्योंकि वे नवीनताएँ ही हैं। तुलसी से जो भेद रखा

गया उनका वर्णन कवि की कल्पना शक्ति द्वारा ही सम्भव हुआ, हाँ प्रेरणा चाहे अन्य ग्रन्थों से मिली हो। अतः ये गुप्त जी की उद्भावनाएँ भी हुईं। अन्य स्थलों पर भी ये उद्भावनाएँ की गई हैं। यथा—

(१) 'साकेत' का अर्थ है—अयोध्या। सब घटनाएँ यहीं केन्द्रित हैं।

(२) 'साकेत' का कौटुम्बिक जीवन नवीन है। अब तक की राम-कथाओं में राम अमानवीय थे। गुप्त जी वैष्णव होने के नाते उन्हें अवतारी मानते अवश्य हैं, पर कुटुम्ब में उन्हें पूर्णरूप से प्रतिष्ठित किया है। स्वर्ग से तुलना करते हुए अयोध्या व सरयू को श्रेष्ठ कहा है—

'स्वर्ग की तुलना उचित ही है यहाँ, किन्तु सुर सरिता कहाँ सरयू कहाँ ?
वह मरों को मात्र पार उतारती, यह यहीं से जीवितों को तारती।'

(३) उर्मिला से संबंद्ध सभी वर्णन मौलिक हैं। दशम सर्ग में उसके बाल्यकाल की घटनाएँ वर्णित हैं। सीता के साथ वह भी राम-लक्ष्मण के दर्शन करती हैं, आकृष्ट हो जाती हैं—

'दृग दर्शन हेतु क्या बढ़े, उन पैरों पर फूल से चढ़े।
उनकी मुसकान देख ली, अपनी स्वीकृति आप लेख ली'''।'

× × × ×

'तिरछी यह दृष्टि हो उठी, तकती सी सब सृष्टि हो उठी।
मन मोहित सा विमूढ़ था, प्रकटा कौन रहस्य गूढ़ था ?'

वह पार्वती कथा सुनती थीं, चारों बहिनें खुल कर खेल करती थीं, अटारियों पर चढ़ कर दृश्य देखा करती थीं। इस प्रकार उनका सुखपूर्ण बचपन प्रदर्शित करना नवीनता है—

'वह स्वप्न कि सत्य क्या कहूँ ?
यह मानस लास्य-पूर्ण था, वह पद्मानन हास्यपूर्ण था,
झड़ता उड़ अंशु-चूर्ण था, सरिते, सम्मुख स्वर्ग घूर्ण था।'

उर्मिला के इस वर्णन से सुभद्राकुमारी चौहान की 'मेरा बचपन' शीर्षक कविता का अनायास स्मरण हो आता है।

विवाह के उपरान्त प्रथम सर्ग में दाम्पत्य जीवन की झलक नितान्त मौलिक है। उर्मिला का अरुण पट पहन कर प्रासाद में खड़ा होना, लक्ष्मण का आगमन, मधुर वर्तालाप—सब मौलिक हैं। उसका सौन्दर्य वर्णन नवीन है—

'लोल कुण्डल मंण्डलाकृति गोल हैं, घन पटल से केश, कान्त कपोल हैं।
देखती है जब जिधर यह सुन्दरी, दमकती है दामिनी सी द्युति भरी !'

जायसी ने "हीरा लेइ सो विद्रुम धारा" कहकर इसी सौन्दर्य का संकेत किया है। 'प्रसाद' ने तो श्रद्धा का सौन्दर्य आँकते समय मेघों के बीच बिजली के फूल की कल्पना की थी—

'खिला हो ज्यों बिजली का फूल, मेघ बन बीच गुलाबी रंग।'

तो गुप्त जी ने उर्मिला के रूप में स्वर्ग का फूल इस धरती पर खिला दिया है—

'स्वर्ग का यह सुमन धरती पर खिला !'

संवाद नवीन व युक्ति-युक्त हैं। रात्रि के उपरान्त प्रथम उठने की बात हुई थी, उर्मिला जीत गई तो लक्ष्मण को यह कहकर अपनी रक्षा करनी पड़ी—

'प्रेम में कुछ भी बुरा होता नहीं !'

जब तोता लक्ष्मण के सिखाए वाक्यों को दुहराता है तो उर्मिला कहती है—

'और भी तुमने किया है कुछ कभी
या कि सुग्गे ही पढ़ाये हैं अभी ?'

तो लक्ष्मण—

'बस तुम्हें पाकर अभी सीखा यही।'

कह कर उसे निरुत्तर कर देते हैं। इस प्रकार 'विनोद' गुप्त जी की मौलिक उद्भावना है। अन्त में विदाई का दृश्य भी नवीन है—

'उर्मिला कहने चली कुछ पर रुकी,
और निज अंचल पकड़ कर वह झुकी।
भक्ति सी प्रत्यक्ष भू लग्ना हुई,
प्रिय कि, प्रभु के प्रेम में मग्ना हुई !'

चतुर्थ सर्ग में उर्मिला फिर सामने आई। इस बार वह आर्य नारी के रूप में हैं जिसे पति की आज्ञा शिरोधार्य करनी है। सेवा धर्म में बाधा पड़ेगी, अतः उसने वियोग ही स्वीकार कर लिया—

'आज स्वार्थ है त्याग भरा, है अनुराग विराग भरा,
तू विकार से पूर्ण न हो, शोक-भार से चूर्ण न हो !'

यही त्याग का भाव गुप्त जी ने 'सिद्धराज' में रानकदे द्वारा व्यक्त कराया है—

'प्रेमी तो पराजय भी भोगता है जय भी
सच्चा योग उसका वियोग में ही होता है
मर के जिलाता वह, जीता नहीं मार के।' —(सिद्धराज)

दशरथ की मृत्यु पर वह कैकेयी के सामने जा गिरती है। यह प्रसंग

सांकेतिक अभिव्यक्ति करता है क्योंकि कैकेयी के कारण उसे यह जीवन देखना पड़ा। अष्टम सर्ग में उसे कैकेयी ने छाती से लगा लिया है—

'आ, मेरी सबसे अधिक दुःखिनी आ जा,
पिस मुझ से चंदन लता मुझी पर छा जा !'

उर्मिला का विरह-वर्णन गुप्त जी की नितान्त नवीन मौलिकता है। मानो यशोधरा के शब्दों में वह कह रही हो—

'अब कठोर हो वज्रादपि, ओ कुसुमादपि सुकुमारी
आर्य पुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी !'

—(यशोधरा)

अन्त में मिलन की तैयारी, उसकी उदासीनता, सेवा-भाव की प्रमुखता तथा भारतीय परम्परा के अनुसार प्रिय से भेंट, लक्ष्मण की सान्त्वना—यह सब नवीनता हैं।

(४) पात्रों में सुमित्रा का वीर क्षत्राणी रूप नवीन है। कौशल्या से उसका स्वभाव भिन्न है। जब पुत्र लक्ष्मण को इतना उग्र दिखाया गया तो माता में भी वीरत्व भावना दिखानी ही पड़ती। वनवास की आज्ञा पर वह चुप नहीं रहती, सिंहनी के समान गरजती है—

'स्वत्वों की भिक्षा कैसी, दूर रहे इच्छा ऐसी !'

आर्य-परम्परा किसी अन्याय को सिर झुका कर मानने का विरोध करती है। जो अपना है ही, उसका माँगना क्या?

'प्राप्य याचना वर्जित है, आप भुजों से अर्जित है।
हम पर-भाग नहीं लेंगी, अपना त्याग नहीं देंगी !'

क्योंकि वह वीर प्रसू है जिसके लिए भिक्षा मौत के बराबर है। अतः सुमित्रा पहले तो राम को अपने अधिकारों के प्रति सचेत करती है, फिर लक्ष्मण को ! 'यशोधरा' को गोपा द्वारा भी गुप्त जी ने यही क्षत्रियत्व व्यक्त किया है—

'सखि, वे मुझसे कह कर जाते,
तो कह, क्या मुझको अपनी, पथ-बाधा ही पाते ?
स्वयं सुसज्जित करके क्षण में,
पतियों को प्राणों के पण में;
हमीं भेज देती हैं रण में—
क्षात्र-धर्म के नाते !'

'साकेत' में नारी का यह क्षात्र-धर्म के सुमित्रा द्वारा व्यक्त कराया गया है।

(५) मंथरा का चुपचाप चला जाना नवीन रूप है। वह "मही पर माथा टेक" कर चुपचाप चली जाती है तो कैकेयी के मन में उसकी प्रतिक्रिया होती है। जब व्यक्ति सामने नहीं रहता तो उसकी कही हुई बातों का अधिक स्मरण होता है—

'गई दासी, पर उसकी बात, दे गई मानो कुछ आघात—
भरत से सुत पर भी संदेह, बुलाया तक न उन्हें जो गेह !'

(६) कैकेयी का चरित्र-चित्रण बिल्कुल नवीन है। दोष न तो मंथरा का है, न उसके भाग्य का। वह स्वयं अपने से ही छली गई। इतनी बड़ी आत्म-प्रवंचना 'साकेत' में उसी ने सहन की है ! शपथ लेने से भी क्या उसका कलंक धुल सकेगा—

'दुर्बलता का ही चिह्न विशेष शपथ है,
पर अबला जन के लिए कौन सा पथ है ?'

पहाड़ के बराबर पाप करके क्या राई भर अनुताप करने का उसे अधिकार नहीं—

'क्या कर सकती थी मरी मंथरा दासी,
मेरा ही मन रह सका न निज विश्वासी !'

अपने को ही धिक्कारने लगती है जिसमें ऐसे भाव उत्पन्न हुए—

'थूके मुझ पर त्रैलोक्य भले ही थूके,
जो कोई जो कह सके, कहे, क्यों चूकें ?'

इसका कारण यह है—

'बस मैंने इसका बाह्य मात्र ही देखा,
दृढ़ हृदय न देखा, मृदुल गात्र ही देखा !'

इसका परिणाम यह हुआ कि राम के साथ-साथ सारी सभा चिल्ला उठी—

'सौ बार धन्य वह एक लाल की माई !'

पाठक उससे घृणा नहीं करता, सहानुभूति करता है क्योंकि उसके निर्माता कवि को स्वयं उससे सहानुभूति है। उसी के भाव का साधारणीकरण होता है ! कैकेयी का यह चित्रण गुप्त जी की मौलिकता है।

(७) राम के वनगमन पर प्रजा का सत्याग्रह करना नवीन है।

(८) एकादश सर्ग में भरत-माण्डवी का सवाद मौलिक उद्भावना है। भरत कुटी में बैठे हैं, दोनों ओर दीपकों का प्रकाश है—

'सौध पार्श्व में पर्ण कुटी है उसमें मंदिर सोने का,
जिसमें मणिमय पाद पीठ है, जैसा हुआ न होने का !

केवल पाद पीठ, उस पर है पूजित युगल पादुकाएँ,
स्वयं प्रकाशित रत्न दीप हैं दोनों के दाँए बाँए !
उटज अजिर में पूज्य पुजारी उदासीन-सा बैठा है;
आप देव-विग्रह मन्दिर से निफल लीन-सा बैठा है ?'

तब माण्डवी प्रवेश करती है—हाथों में चार चूड़ियाँ, माथे पर सिंदूर ! भरत के लिए फलाहार लाई है, मन्दिर-दर्शन के उपरांत उन्हें प्रणाम करती हैं। भरत अपना एकनिष्ठ विश्वास प्रकट करते हैं—

'तो भी अपने प्रभु के ऊपर है मुझको पूरा विश्वास,
आर्य कहीं हों, किन्तु आर्य के दिए वचन हैं मेरे पास।
रोक सकेगा कौन भरत को अपने प्रभु को पाने से,
टोक सकेगा रामचन्द्र को कौन अयोध्या आने से ?'

माण्डवी उन्हें राजमहल की स्थिति समझाती है और तो सब भोजन कर चुके—

'पर उर्मिला बहन को यह मैं, आज न जल भी पिला सकी ?'

भरत उपवास करते हैं तो माण्डवी और उदास हो जाती है, "प्रभु का प्रसाद" कहकर उन्हें भोजन कराना चाहती है तो भरत—

'सबके साथ, उसे लूँगा मैं, बीते-बीत रही है रात,
हाय ! एक मेरे पीछे ही, हुआ यहाँ इतना उत्पात ?'

कह कर उसे टाल देते हैं ! माण्डवी अत्यन्त विषाद पूर्वक कहती है—

'हाय ! नाथ धरती फट जाती, हम तुम कहीं समा जाते,
तो हम दोनों किसी मूल में रह कर कितना रस पाते !
न तो देखता कोई हमको, न वह कभी ईर्ष्या करता,
न हम देखते आर्त किसी को, न यह शोक आँसू भरता ?'

दोनों के इस वार्तालाप से जहाँ भरत की कर्त्तव्यनिष्ठा व्यंजित है, वहाँ दाम्पत्य जीवन की करुणा भी। भरत ही यह व्रत निर्वाह कर सके हैं और किसी की स्पर्धा नहीं थी। वस्तुतः 'साकेत' में उर्मिला क्या रोई है—सारे मानव जीवन का एक-एक क्षेत्र करुणा से भर गया है। स्वधर्म की यही परीक्षा लक्ष्मण, राम, भरत—सबको देनी पड़ी है—

'धन्य हुए हम सब स्वधर्म की, जिस इस नई प्रतिष्ठा से,
समुत्तीर्ण होंगे कितने कुल, इसी अतुल की निष्ठा से।'

(६) गुप्त जी की कल्पना को मौलिक उद्भावना करने का एक प्रसंग और मिला—द्वादश सर्ग में अयोध्या के नागरिकों का युद्ध के लिए सन्नद्ध

होना। भरत-शत्रुघ्न की यह सैन्य सज्जा नवीन है। जब हनुमान सूचना दे गए कि लक्ष्मण मूर्च्छित हैं, राम अकेले रह गए हैं तो गुप्त जी को यह अच्छा नहीं लगा कि सूचना मिलने पर भी साकेत निवासी अकर्मण्य बैठे रहें। एकाकी भ्राता की सहायता के लिए भरत सेना सजा कर क्यों न ले चलें ? यह भी तो कर्त्तव्य है, भ्रातृ धर्म है ? बस, नई उद्‌भावना हो गई।

शत्रुघ्न भाई का आदेश पाकर घोड़ा दौड़ाने लगे। श्रुत-कीर्ति ने भी पति को तिलक कर धर्म निर्वाह किया—

'जाओ स्वामी यही माँगती मेरी मति है,
जो जीजी की, उचित वही मेरी भी गति है !'

उसने रात्रि के निस्तब्ध वातावरण में शंख बजाया—तैयार हो जाओ—

'करके ध्वनि संकेत शूर ने शंख बजाया···
उधर भरत ने दिया साथ ही उत्तर मानो···

और क्षण-भर में रण-भेरी बजने लगी—

'एक एक दो हुए, जिन्हें एकादश जानो,
यों ही शंख असंख्य हो गए लगी न देरी;
घनन-घनन बज उठी गरज तत्क्षण रण-भेरी !'

और—**'उठी क्षुब्ध सी अहा ! अयोध्या की नर-सत्ता,**
सजग हुआ साकेत पुरी का पत्ता-पत्ता !'

नागरिक एकदम अस्त्र-शस्त्र बाँधने लगे। उनकी स्त्रियों ने साथ चलने का प्रस्ताव किया तो माताओं ने आर्शीवाद दिया—

'जाओ बेटा—राम काज, क्षण भंग सरीरा !'

तो पुत्रों ने कदम बढ़ा कर घोषणा की—

'अंब तुम्हारा पुत्र पैर पीछे न धरेगा।'

इसी प्रकार चर्चा होती गई—

'ऐसे अगणित भाव उठे रघु-सगर-नगर में,
बगर उठे बढ़ अगर-तगर से डगर डगर में !'

रथ, नाव, जल-थल के बलाध्यक्षों द्वारा सज्जित होने लगे, उल्काओं का प्रकाश मानो अन्धकार को पीता जा रहा था। गुप्त जी ने कितना सजीव वर्णन किया है—

'तुले धुले से खुले खड्‌ग चमचमा रहे थे,
तप्त सादियों के तुरंग तमतमा रहे थे।
हौंस लगावें चाव, धरातल खूँद रहे थे,
उड़ने को उत्कर्ण कभी वे कूँद रहे थे।।

करके घंटा-नाद, शस्त्र लेकर शुण्डों में।
दो-दो दृढ़ रद-दण्ड दबा कर निज तुण्डों में।
अपने मद की नहीं आप ही ऊष्मा सह कर,
झलते थे श्रुत-तालवृन्त दन्ती रह-रह कर !'

इस प्रकार प्रौढ़-जरठ योद्धा भी सज-सजकर चलने लगे—

'हो हो कर उद्ग्रीव लोग टक लगा रहे थे,
नगर जगैया जगर मगर जगमगा रहे थे !'

सैन्य कटिबद्ध हो गई तो भरत-शत्रुघन ने उन्हें युद्ध का प्रयोजन बताया। गुप्त जी के इस वर्णन से मालूम ऐसा पड़ता है—जैसे बाबर अपनी तुर्की सेना को खाँडवा के रण-क्षेत्र में राणा साँगा का सामना करने के लिए शपथ दिला रहा हो !

'साका, साका आज वही साका है शूरो,
सिंधु पार उड़ रही यही स्वपताका शूरो !
क्लीब कापुरुष जाग-जाग कर भी है सोता,
पर साके को शूर स्वप्न में भी कब खोता ?'

\+ \+ \+ \+

उर्मिला भी रणचण्डी का रूप धारण कर चलने को प्रस्तुत हो गई। वह भी सैनिकों को आर्य-मर्यादा की रक्षा के लिए कटिबद्ध कराती है। सूर्य-वंश-चन्द्रवंश की मान-रक्षा का प्रश्न आ गया है—

'विंध्य हिमालय भाल भला ! झुक जाय न वीरो ;
चन्द्र-सूर्य-कुल कीर्ति कला रुक जाय न वीरो !'

(१०) यह उन्मेष नई उद्‌भावना है।

१—कुछ और प्रसंग भी लिए जा सकते हैं। 'साकेत' में दशरथ ही कैकेयी से वरदान माँगने को कहते हैं। कैकेयी यहाँ पहले दिए गए वचनों का स्मरण कराते हुए उनकी पूर्ति नहीं कराती, इसी समय माँगती है—

'भूप ने कहा—'न मारो बोल !'
दिखाऊँ कहो हृदय को खोल ? तुम्हीं ने माँगा कब क्या आप ?-
भला माँगो तो कुछ इस बार, कि क्या दूँ दान, नहीं उपहार ?'

२—'साकेत' की कौशल्या सती होने का प्रस्ताव करती है, वैधव्य दुःख सहने के लिए जीवित नहीं रहना चाहती। परन्तु भरत और वशिष्ट उसे रोक लेते हैं—

'हाय ! भगवान क्यों हमारा नाम ?
अब हमें इस लोक में क्या काम ?

भूमि पर हम आज केवल भार;
क्यों सहे संसार हा हा कार?
क्यों अनाथों की यहाँ ही भीड़?
जीव खग उड़ जाय अब निज नीड़?'

तो वशिष्ट समझाते हैं—

'देवियो, ऐसा नहीं वैधव्य, भाव भव में कौन वैसा सव्य?
धन्य वह अनुराग निगर्त राग; और शुचिता का अपूर्व सुहाग!
× × × ×
तुम जीयो अपना वही व्रत पाल, धर्म की बल वृद्धि हो चिरकाल।
सहन कर जीना कठिन है देवि; सहज मरना एक दिन है देवि!'

३—'साकेत' में भरत ने कैकेयी का दोष भी अपने सिर ले लिया है। कौशल्या के सम्मुख स्वयं अपने को अपराधी कहते हैं—

'भरत-अपराधी भरत—है प्राप्त, दो उसे आदेश अपना आप्त।
आज माँ मुझसे अधम है कौन? मुँह न देखो, पर न हो तुम मौन॥'

४—'साकेत' में राम लक्ष्मण को शक्ति लगने पर मोहाभिभूत होकर आँसू नहीं बहाते बल्कि उद्दीप्त होकर प्रलय जैसी मचा देते हैं और "और भाई का बदला भाई ही" कहते हुए कुम्भकरण को मार गिराते हैं।

'आज काल के भी विरुद्ध है, युद्ध-युद्ध बस मेरा युद्ध-
रोऊँगा पीछे, होऊँगा उऋण प्रथम रिपु के ऋण से;
प्रलयानल से बढ़े महाप्रभु, जलने लगे शत्रु तृण से······
'भाई का बदला भाई ही!' गरज गठे वे घन-गम्भीर;
गज पर पंचानन सम उस पर टूट पड़े उसका दल चीर!'

हेर-फेर

इस प्रकार 'साकेत' के प्रबंध-निर्वाह, घटना-वर्णन, चरित्र-चित्रण, दृश्य-विधान में नवीनता अनेक स्थलों पर लक्षित होती है। कहीं गुप्तजी ने घटनाओं का हेर-फेर कर दिया है—(१) द्वितीय सर्ग में कैकेयी-मंथरा-संवाद, (२) राम का वन-गमन प्रसंग, (३) भरत का आगमन, (४) चित्रकूट सभा, (५) अन्त में राम का युद्ध-वर्णन आदि स्थलों का गुप्त जी ने परिवर्तित रूप में वर्णन किया है। कहीं नवीन प्रसंगों की उद्भावना है। कहीं उपेक्षित प्रसंगों का विस्तृत वर्णन है तो कहीं पूर्व वर्णित अंशों को नवीन दृष्टि से देखा है।

जहाँ तक मौलिकता का प्रश्न है, कोई कवि नितान्त नवीन उद्भावना नहीं करता। या तो किसी ग्रन्थ से वैसा रूप प्रस्तुत करने की प्रेरणा लेता है या उपस्थित प्रसंगों के आधार पर नवीन प्रसंग की संभावना कर लेता है।

1. "There is no invention but discovery in literature." —*Lucas.*

2. "Genius does not be in originality but in intensity and depth of subject matter." —*Immerson.*

जैसा डा० नगेन्द्र ने बतलाया है, गुप्त जी भी चार पुस्तकों से प्रभावित हैं : (१) 'रामचरितमानस', (२) 'बाल्मीकि रामायण', (३) 'उत्तर रामचरित', और (४) 'मेघनाद वध'। चारों से प्रेरणा लेकर उन्होंने 'साकेत' का रूप निश्चित किया है। प्रत्येक कवि ऐसा करता है। स्वयं तुलसी ने 'आध्यात्म-रामायण' आदि से प्रेरणा ली। प्रसाद ब्राह्मणों, उपनिषदों के मूल से "काम गोत्रजा श्रद्धा नामार्षिका"—तथा मनु महाराज को खोज लाए। हरिऔध ने कृष्ण-राधा को नवीन रूप दे दिया। क्योंकि मौलिकता वस्तुतः विषय में नहीं बल्कि अभिव्यक्ति (Presentation) में होती है; और गुप्त जी ने भी 'साकेत' की कथा का स्वरूप बदल दिया है। इसके मूल में है उनकी मौलिकता—नवीन उद्भावना या अभिव्यक्ति करने की क्षमता। इसी कारण 'साकेत' प्राचीन होकर भी नवीन है।

१७

छायावाद पर पाश्चात्य प्रभाव

●

अँग्रेजी शासन के फलस्वरूप भारत के राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक जीवन में नवीन चेतना का संचार हुआ। हिन्दी साहित्य भी इससे अप्रभावित न रह सका। पाश्चात्य सम्पर्क के कारण इसके प्रत्येक क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए जो पूर्ववर्ती साहित्य से सर्वथा भिन्न थे। हिन्दी-साहित्य पर अँग्रेजी-प्रभाव की यह प्रक्रिया १९ वीं शती के पूर्वार्द्ध में ही प्रारम्भ हो गई थी। अँग्रेजी काव्य-प्रवृत्तियों का कुछ अंशों में अनुकरण करते हुए भारतेन्दुयुगीन कवियों ने ब्रिटिश शासकों के स्वागतार्थ तथा उनके निधन पर शोक प्रकट करने के लिये ओड, सानेट, शोकगीत, सम्बोधन गीत, व्यंग्य काव्य तथा आत्म-चरितात्मक कविताओं का प्रणयन किया। द्विवेदीयुगीन काव्य में तो अंग्रेजी का प्रभाव और भी स्पष्ट है। वर्ड्स्वर्थ द्वारा गद्य और पद्य की भाषाओं की एकरूपता का समर्थन किये जाने की भाँति द्विवेदीयुगीन कवियों ने भी गद्य-पद्य के क्षेत्र में एक ही भाषा का प्रयोग किया। आचार्य द्विवेदी ने तो अँग्रेजी और संस्कृत के ग्रन्थों से साहित्य-सामग्री लेने के लिए कवियों को प्रेरित भी किया था—

"इंगलिश का ग्रन्थ समूह बहुत भारी है
× × ×
संस्कृत भी सबके लिए सौख्यकारी है
× × ×
इन दोनों में से अर्थ-रत्न ले लीजे,
हिन्दी के अर्पण उन्हें प्रेमयुत कीजै।"

द्विवेदी जी की इसी प्रेरणा के कारण इस युग के कवियों ने गोल्डस्मिथ, आर्नल्ड, शेक्सपियर, मिल्टन, शैले, वर्ड्स्वर्थ आदि की रचनाओं के हिन्दी अनुवाद किये—और इस प्रकार हिन्दी साहित्य पर अँग्रेजी का प्रभाव दिनानुदिन बढ़ता गया।

छायावाद पर भावगत पाश्चात्य प्रभाव

द्विवेदीयुगीन कविता की भाँति हिन्दी की छायावादी काव्यधारा भी अँग्रेजी साहित्य से पर्याप्त अंशों में प्रभावित रही है। अँग्रेजी के रोमांटिसिज़्म का प्रभाव इस पर सबसे अधिक पड़ा है। 'रोमांसवाद' मन की उस प्रवृत्ति का नाम है जिसके द्वारा वह बाह्य संसार से सम्बन्ध-विच्छेद कर अपने ही आन्तरिक तत्त्वों की ओर उन्मुख होता है।[1] इसी कारण रोमांसवादी कवि बाह्य जगत् के पदार्थों का वर्णन भी इस रूप में करता है—मानो वे उसकी आन्तरिक अनुभूति के परिचायक हों। कवि की वैयक्तिक अनुभूति का उद्घाटन करने के कारण रोमांटिक काव्य मूल रूप में आत्माभिव्यक्ति-प्रधान होता है। छायावादी कवियों पर अँग्रेजी साहित्य का यह प्रभाव कुछ तो बंगला के माध्यम से आया है और कुछ प्रत्यक्ष रूप के। भावपक्ष की दृष्टि से इस प्रकार के काव्य की चार मुख्य प्रवृत्तियाँ हैं—(१) सौन्दर्यवाद, (२) मानवतावाद एवं आदर्शवाद, (३) निराशावाद, तथा (४) रहस्यवाद। छायावादी कविता की भी यही विशेषताएँ हैं।

१. सौन्दर्यवाद

रोमांटिक कवि सौन्दर्य-भावना से अनुप्रेरित होकर प्रकृति अथवा नारी के सौन्दर्य का साक्षात्कार करके अपनी सौन्दर्यानुभूति को कविता के माध्यम से व्यक्त करता है। हिन्दी के छायावादी-काव्य की अधिकांश कविताओं में सौन्दर्य की यह अभिव्यक्ति देखी जा सकती है। अँग्रेजी के सौन्दर्यवादी कवियों

1. "Romanticism is that attitude of mind in which it withdraws istself from commerce with the outer world, and turns in upon things which it finds within itself."
—Abercrombie : *Romanticism*, 2nd edition, p. 22.

(कीट्स, शेली, गोल्डस्मिथ, वर्ड्स्वर्थ, स्विनबर्न आदि) से छायावाद के सौन्दर्य-चेता कवि पर्याप्त प्रभावित रहे हैं। द्विवेदी-युग में पाश्चात्य रोमांटिक कवियों की कुछ कविताओं का अनुवाद किया जा चुका था। इससे उपयुक्त प्रेरणा प्राप्त करते हुए छायावादी कवियों ने सौन्दर्याभिव्यक्ति को प्राथमिकता दी। श्रीधर पाठक ने गोल्डस्मिथ के 'ट्रेवेलर', 'हर्मिट' और 'डेज़र्टेड विलेज' को अनूदित किया था और इन रचनाओं से प्रभावित होकर पंत, प्रसाद, निराला और महादेवी ने प्रकृति का उन्मुक्त चित्रण किया। पंत का स्थान तो हिन्दी के सौन्दर्यवादी कवियों में अद्वितीय है। बाल्यावस्था से ही उन्हें प्रकृति के कोमल रूप के प्रति अगाध प्रेम रहा है। उन्होंने स्वयं भी लिखा है—"कविता करने की प्रेरणा मुझे पहले प्रकृति-निरीक्षण से मिली है, जिसका श्रेय मेरी जन्मभूमि कूर्मांचल प्रदेश को है। + + + + प्रकृति के सुन्दर रूप ही ने मुझे अधिक लुभाया है, प्रकृति का उग्र रूप मुझे कम रुचता है।"

—(आधुनिक कवि : भाग २, पृ० १-३)

पंत पर शेली और वर्ड्स्वर्थ के प्रकृति-प्रेम का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक रहा है। उनकी 'बादल, एक तारा, नौका विहार, प्रथम रश्मि, पर्वत-प्रदेश में पावस, अल्मोड़े का वसंत' आदि कविताएँ प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत की जा सकती हैं। पंत की 'बादल' और शेली की 'The Cloud' कविता में तो बहुत साम्य है। 'प्रसाद' भी प्रकृति के अनन्य प्रेमी रहे हैं। उनके 'चित्राधार, कानन कुसुम, झरना, लहर' आदि काव्य-संग्रहों में प्रकृति के अनेक स्वतन्त्र चित्र मिलते हैं। महादेवी और निराला ने भी प्रकृति-काव्य का सर्जन किया है। महादेवी की 'रश्मि', 'नीहार', 'सांध्यगीत' आदि रचनाएँ तथा निराला की 'परिमल' और 'गीतिका' जैसी कृतियाँ उनके प्रकृति-प्रेम की परिचायिका हैं।

प्रकृति का मानवीकरण अंग्रेजी के रोमांटिक काव्य की प्रमुख विशेषता है। छायावादी कविता में भी इसका आधिक्य है। अतः यह कहा जा सकता है कि हिन्दी में प्रकृति-चित्रण की यह प्रणाली कुछ अंशों में रोमांटिक काव्य से अवश्य आई होगी। वर्ड्स्वर्थ और शेली की भाँति छायावादी कवियों ने भी प्रकृति को हँसते हुए तथा बातें करते हुए देखा है। शेली की 'स्काईलार्क' तथा 'ओड टू वेस्टविंड' जैसी कविताओं के प्रभावस्वरूप पंत ने भी मधुपकुमारि से मधुर गान सुनाने की प्रार्थना की है—

"सिखा दो ना अभि मधुप कुमारि,
मुझे भी अपने मीठे गान।"

तथा— "Teach me half the gladness
That thy brain must know,

Such harmonious madness
From my lips would flow."

—*Shely* ('Skylark' Poem)

प्रसाद, निराला तथा महादेवी के काव्य में भी मानवीकरण के राशि-राशि उदाहरण देखे जा सकते हैं। निराला की 'जूही की कली' तो बहुचर्चित है ही।

अँग्रेजी के रोमांटिक कवियों ने प्रकृति की भाँति नारी के माध्यम से भी सौन्दर्याभिव्यक्ति की है। इस दिशा में नारी के स्थूल रूप का यथार्थ चित्रण करने की अपेक्षा ये कवि नारी-रूप की सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति की ओर अधिक झुके हैं। छायावादी कवियों में भी यह विशेषता इसी रूप में देखी जा सकती है। शचीरानी गुर्टू ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि नारी-सौन्दर्य के अनेक सूक्ष्म चित्र प्रस्तुत करने वाली पंत की 'ग्रन्थि' शीर्षक कविता और शैली की 'एपिपसाइकिडियन' (Epipsychidion) में अद्‌भुत समानता है।

—(देखिए : साहित्यदर्शन, पृ० १६१-१६६)

शैली के अतिरिक्त छायावादी कवि कीट्स के नारी-चित्रों से भी प्रभावित रहे हैं। कीट्स की 'टु द ब्राइट स्टार' (To the Bright Star), 'औड टु साइके' (Ode to Psyche) जैसी कविताओं में थोड़ी-बहुत ऐन्द्रिकता भी आ गई है। इसी के प्रभावस्वरूप पंत की 'प्रथम मिलन', 'अनंग' अथवा 'निराला' की 'जूही की कली', 'शूर्पनखा' आदि कविताएँ भी ऐन्द्रिकता की ओर झुक गई हैं।

२. मानवतावाद एवं आदर्शवाद

अँग्रेजी रोमांटिक काव्य की दूसरी मुख्य प्रवृत्ति मानवतावाद की अभिव्यक्ति है : वस्तुतः अँग्रेजी के रोमांटिक काव्य पर फ्रांसीसी क्रान्ति का प्रभाव पड़ा था। फ्रांस-क्रान्ति के मूल में ये विचार थे कि जन्म, सम्पत्ति आदि के भेद-भाव एक दिन अवश्य ही मिट जाएँगे और मानव बन्धुत्व के एक सूत्र में बँध जाएगा। इस क्रान्ति से प्रभावित होकर वर्ड्‌स्वर्थ, शेली और बॉयरन ने मानव-प्रेम को अपना काव्य-विषय बनाया और जनवादी आदर्शों की अभिव्यक्ति की। फ्रांसिसियों की भाँति भारतवासी भी विदेशी शासन से पीड़ित थे, अतः इस क्रान्ति का प्रभाव इन पर भी अनिवार्यतः पड़ना ही था। इसी कारण रोमांटिक कवियों की भाँति 'निराला' के काव्य में अत्याचार के प्रति विद्रोह की स्पष्ट अभिव्यक्ति हुई है। जिस प्रकार शेली की 'ओड टु वेस्ट विण्ड' शीर्षक कविता में प्रभंजन पश्चिमी स्वतन्त्रता का द्योतक है उसी प्रकार निराला की प्रसिद्ध कविता 'बादल राग' में प्रतीक-पद्धति से अत्याचार के विरुद्ध विप्लव

का सन्देश दिया गया है। वस्तुतः शैली और 'निराला' की आत्माओं में अत्यधिक साम्य है। (देखिए—'हिन्दी काव्य पर आंग्ल प्रभाव', पृ० १७४) शैली की भाँति छायावादी कवियों में 'निराला' ने शोषित-वर्ग के प्रति अपार सहानुभूति व्यक्त की है। 'भिक्षुक', 'विधवा', 'इलाहाबाद के पथ पर' आदि कविताएँ इसी प्रकार की हैं। ये दोनों ही कवि शोषक-वर्ग के प्रति क्रान्ति के अग्रदूत हैं।

मानवतावाद के समर्थक होने के साथ-साथ रोमांटिक कवि एक ऐसे लोक की कल्पना करते थे जहाँ प्रेम का एकान्त साम्राज्य होगा और विश्व के प्रत्येक मनुष्य को शुख-शांति मिल सकेगी। शैली की 'क्वीन मेब' (Queen Mab) तथा 'प्रोमेथियस अनबाउंड' (Prometheus Unbound) नामक काव्यात्मक नाट्य-कृतियों में ऐसी नारकीय यातनाओं से रहित प्रेम-पूरित साम्राज्यों का आदर्श चित्रण किया गया है। शैली के इस आदर्शवाद का प्रभाव हिन्दी के छायावादी कवियों में पंत पर सबसे अधिक पड़ा है। उनके ज्योत्स्ना, गुंजन, शिल्पी' आदि काव्य-ग्रन्थ शैली की भाँति आदर्श लोक का निरूपण करते हैं। इनमें कवि ने मनुष्य की शोषण और अत्याचार से मुक्ति की कल्पना की है। पंत जी ने लिखा भी है कि " 'गुंजन' और 'ज्योत्स्ना' में मेरी सौन्दर्य कल्पना क्रमशः आत्मकल्याण और विश्वमंगल की भावना को अभिव्यक्त करने के लिए उपादान की तरह प्रयुक्त हुई है।"

—(आधुनिक कवि : भाग २, पर्यालोचन, पृ० ८)

३. निराशावाद

रोमांटिक कवियों ने आदर्श लोक का निर्माण तो किया, किन्तु वास्तविक जीवन में अत्यधिक दीनता, हीनता और अस्थिरता को देखकर वे अपने मन में निराशा का अनुभव भी करते रहते थे। अवसाद की यह अभिव्यक्ति प्रायः प्रत्येक रोमांटिक कवि में है। शैली ने 'To me this cup has been dealt with another measure'—(From 'Stanzas written in Dejection') कह कर अपने जीवन में व्याप्त विषाद की ओर स्पष्ट संकेत किया है। कीट्स ने भी 'ओड टु मेलन्कली' (Ode to Melancholy) में—

'Ay-in the very temple of Delight,
Veil'd Melancholy has her sovran shrine'.

द्वारा यह व्यक्त किया है कि संसार की प्रत्येक सुन्दर वस्तु अवसाद-ग्रस्त है। अँग्रेजी के रोमांटिक कवियों की यह निराशावादी प्रवृत्ति छायावादी-काव्य की भी विशेषता रही है। पंत की 'परिवर्तन' शीर्षक कविता में यह भावना अत्यन्त स्पष्ट रूप में प्रस्तुत हुई है।

४. रहस्यवाद

रोमांटिक कवि सौन्दर्यवादी होने के कारण सुदूर अतीत में सौन्दर्य की खोज के लिए समकालीन विषम परिस्थितियों से पलायन करता है। वह पारलौकिक सत्ता के प्रति आकृष्ट होकर अपनी घनीभूत मानसिक कुंठाओं को अभिव्यक्ति देता है, अतः उसमें एक प्रकार की रहस्यवादिता आ जाती है। वस्तुतः 'रोमांटिसिज्म और रहस्यवाद की आधार भूमि एक ही है—घनीभूत मानसिक प्रवृत्तियों का प्रकाशन। यही कारण है कि अँग्रेजी रोमांटिक प्रति-वर्त्तन के प्रमुख कवि—ब्लैक, वर्ड्स्वर्थ और शेली—रोमांटिक होने के साथ रहस्यवादी कवि भी हैं। इसी प्रकार आधुनिक हिन्दी कविता में 'प्रसाद', 'पंत', 'निराला', महादेवी और रामकुमार—छायावाद (जो रोमांटिक मनोवृत्ति का ही परिणाम है) के कवि होने के साथ रहस्यवादी कवि भी हैं।'—(देखिए: 'हिन्दी काव्य पर आंग्ल प्रभाव, पृ० १८६) यहाँ यह ज्ञातव्य है कि भारत में रहस्यवाद की एक दीर्घ परम्परा रही है। वेद, उपनिषद् आदि के साथ-साथ 'कबीर', 'जायसी' जैसे कवियों में इसकी पूर्ण सुरक्षा है। अतः छायावादी काव्य की रहस्यवादी भावनाओं को केवल पाश्चात्य प्रभाव का परिणाम ही नहीं माना जा सकता—हाँ, पाश्चात्य साहित्य के सम्पर्क से यह रहस्यवादी भावना समृद्ध अवश्य हुई होगी।

पाश्चात्य कवियों ने बालक और प्रकृति के माध्यम से अपने रहस्यवादी उद्‌गार प्रकट किए हैं। बालक और ईश्वर में उन्होंने अभेद-स्थापन किया है। ब्लेक की 'सौंग्स आव इन्नोसेंस' तथा वर्ड्स्वर्थ की 'ओड टु द इन्टीमेशन आव इममोर्टेलिटी' में बालक को 'महान् दार्शनिक', 'गम्भीर तत्त्ववेत्ता', 'मानवता का पिता' आदि नामों से संबोधित करते हुए बाल्यावस्था को अत्यधिक महत्व दिया गया है। इसी प्रकार छायावादी कवि पंत की 'काला बादल', 'कृष्णा', 'आशंका' आदि कविताओं पर ब्लैक और वर्ड्स्वर्थ का प्रभाव प्रतीत होता है। उन्होंने बाल्यावस्था में गम्भीर रहस्य को देखने का प्रयास किया है—

> **"कौन तुम गूढ़, गहन, अज्ञात,**
> **अहे निरुपम नवजात!"** —(पल्लविनि, पृ० ४४)

बालक की ही भाँति रोमांटिक कवियों ने प्रकृति को भी किसी अन्य सत्ता से प्रतीक रूप में देखा है। वर्ड्स्वर्थ के अनुसार प्रकृति रहस्यमयी सत्ता बनकर सम्पूर्ण विश्व का संचालन करती है—

> "A motion and a spirit that impels.
> All thinking things, all objects of all thought,
> And rolls through all things."

शेली भी प्रकृति को चेतन सत्ता के रूप में स्वीकार करते हैं। अँग्रेजी रोमांटिक कवियों के इस सर्वचेतनवाद से हिन्दी कवि भी प्रभावित हुए हैं। महादेवी और रामकुमार वर्मा की निम्नलिखित पंक्तियाँ प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत हैं—

(अ) "**मेघों में विद्युत् की छवि, उनकी बन कर मिट जाती।**
वे आभा बन खो जाते, शशि किरणों की उझलन में॥"

—(महादेवी)

(आ) "**यह तुम्हारा हास आया !**
इन फटे-से बादलों में, कौन-सा मधुमास आया ?"

—(रामकुमार वर्मा : आधुनिक कवि ३, पृ० ३४)

पंत और प्रसाद भी अपनी अनेक कविताओं में प्राकृतिक पदार्थों में विराट् सत्ता का अभास पाते हैं।

अन्य पाश्चात्य प्रभाव

रोमांटिसिज्म की भाँति छायावादी काव्यधारा पर मैटरलिक के प्रतीकवाद का भी प्रभाव पड़ा है। मैटरलिक ने ऐसे नाटकों का सृजन किया था जिनके पात्रों का अपना व्यक्तित्व नहीं है, वरन् वे कवि के स्वप्न-जगत् के प्रतीक मात्र हैं। इसी प्रकार 'प्रसाद' जी के 'कामायनी' महाकाव्य तथा 'कामना' और 'एक घूँट' नाटकों के पात्रों का लौकिक अस्तित्व तो है ही, साथ ही वे मनस्तत्व एवं स्वप्न-जगत् के प्रतीक भी हैं। पंत का 'ज्योत्स्ना' तथा रामकुमार वर्मा का 'बादल की मृत्यु' काव्य-रूपक भी इसी श्रेणी के हैं।

छायावादी कविता में यत्र-तत्र वैज्ञानिक दृष्टिकोण की उपलब्धि भी अँग्रेजी प्रभाव का परिणाम मानी जा सकती है। रोमांटिक कवि ब्लेक ने पश्चिम में विज्ञान को दानवी शक्ति के रूप में मानकर इसकी उन्नति को अधिक श्रेयस्कर नहीं माना था। ("Blake postulates as a principle that science is evil."—Legui : *Short History of English Literature*; Edition 1945, p. 163) वर्ड्स्वर्थ ने भी 'द वर्ल्ड इज़ टू मच विद अस' में अपने युग के वर्द्धमान यंत्रवाद के विरुद्ध विद्रोह का स्वर व्यक्त किया था। छायावादी कवियों में प्रसाद और पंत भी विज्ञान के विनाशक रूप के विरोधी रहे हैं। 'प्रसाद' ने 'कामायनी' में—"प्रकृत शक्ति तुमने यंत्रों से सब की छीनी ! शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी।"—(पृ० १९९) लिखकर तथा पंत ने 'ज्योत्स्ना' नामक काव्य-रूपक में 'ज्ञान-विज्ञान से मनुष्य की अभिवृद्धि हो सकती है, विकास नहीं हो सकता"—कहकर संहारक यान्त्रिक उन्नति के प्रति अपने विरोध का परिचय दिया है।

छायावादी कविता फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद से भी प्रभावित रही है। प्रसाद की 'कामायनी' तथा पंत-काव्य में इसकी स्थान-स्थान पर उपलब्धि प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत की जा सकती है।

छायावादी काव्य पर कलागत पाश्चात्य प्रभाव

छायावादी कवियों पर पाश्चात्य कविता की कलागत विशेषताओं का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा था। शेली की भाँति छायावादी कवि भी अमूर्त-विधान को अधिक महत्व देते हैं। पंत द्वारा छाया के लिए 'गूढ़, कल्पना सी कवियों की, अज्ञाता के विस्मय सी' अथवा 'प्रसाद' द्वारा लहर के लिए 'शीतल कोमल चिर कम्पन सी, दुर्ललित हठीले बचपन-सी' कहना इसी प्रवृत्ति का सूचक है।

छायावादी काव्य-रूपों पर भी अँग्रेजी-काव्य का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित है। आधुनिक युग में गीतिकाव्य जैसी सशक्त काव्य-विधा का जन्म पाश्चात्य काव्य की प्रेरणा से ही माना जाना चाहिए। यद्यपि यह सत्य है कि हिन्दी-काव्य में पहले से ही गीतिकाव्य की एक सुदृढ़ परम्परा विद्यमान थी, तथापि यह स्वीकार करना पड़ेगा कि वह अँग्रेजी के 'लिरिक' काव्य से सर्वथा भिन्न थी। 'लिरिक्स' में सहजानुभूति अथवा अध्यांतरिकता पर विशेष बल दिया जाता है जबकि पूर्ववर्ती हिन्दी काव्य में अधिकतर गीतिमत्ता का ही ध्यान रखा गया है, न कि अध्यान्तरिकता का। छायावादी काव्य लिरिक की भाँति अध्यांतरिक ही है। अतः यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि पंत, प्रसाद, महादेवी आदि के गीत पाश्चात्य प्रभाव को ग्रहण किये हुए हैं। लिरिकल काव्य में भी छायावादी कवि 'ओड्स' अर्थात् सम्बोधन-गीति की ओर विशेष आकृष्ट हुए हैं। शेली, वर्ड्स्वर्थ आदि की भाँति प्रसाद, पंत, निराला ने किरण, यमुना, जुही की कली, अप्सरा, संध्या आदि को सम्बोधित करके अनेक सम्बोधन गीत लिखे हैं। वर्ड्स्वर्थ की चिन्तनात्मक कविताओं (Reflective Poems) से अनुप्रेरित होकर छायावादी कवियों ने चिन्तन-प्रधान कविताएँ भी यथेष्ट मात्रा में लिखी हैं। अमरीकी कवि वाल्ट ह्विटमेन (Walt Whitman) के मुक्त छन्द (Free Verse) का भी छायावादी काव्य में प्रचलन प्रारम्भ हुआ। निराला ने इसे सबसे अधिक मात्रा में ग्रहण किया।

पश्चिम के तीन सशक्त अलंकार —मानवीकरण, विशेषण-विपर्यय तथा अर्थध्वनन—भी छायावादी कवियों को विशेष प्रिय रहे हैं। प्रत्येक छायावादी कवि में इनके अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं। प्रतीक-विधान भी छायावादी-काव्य की विशेषता है। इसे भी कुछ अंशों में मेटरलिंक के प्रतीकवाद और फ्रांसीसी मेलार्मे आदि के प्रतीकवादी आन्दोलन से प्रभावित माना जा सकता है।

छायावादी कवि पश्चिम के अभिव्यंजनावाद से भी प्रभावित रहे हैं। अभिव्यंजनावाद के अनुसार काव्य में भावपक्ष की अपेक्षा कलागत विशेषताओं का अधिक ध्यान रखा जाता है। छायावादी काव्य में भी कला-संस्कार की चरम उपलब्धि है। किन्तु यहाँ यह ज्ञातव्य है कि छायावादी अभिव्यंजनावाद की निजी विशेषताएँ हैं। उसमें पश्चिमी अभिव्यंजनावाद की भाँति भावपक्ष की एकान्त उपेक्षा नहीं की गई। वाल्ट ह्विटमैन, एज़रापाउण्ड, कमिंग्ज़, टी० एस० इलियट आदि ने कलावाद के नाम पर जिस प्रकार की अद्भुत कविताएँ लिखी थीं वे छायावादी कवियों में प्रायः अनुपलब्ध ही हैं। सत्य तो यह है कि छायावादी कवियों ने कलापक्ष की सुन्दर प्रस्तुति के साथ-साथ भावों का भी सुन्दर प्रतिपादन किया है। कलावाद का ही एक रूप 'संवेदनावाद' (Impressionism) भी है। इसके अन्तर्गत कवि के शब्द व्याकरण और शब्द-कोश से भिन्न सर्वथा नवीन अर्थों की प्रतीति कराते हैं। 'सम्वेदनावादी कवि सर्वथा निरंकुश होता है। भाषा, छन्द और कला-सौन्दर्य के शास्त्रीय नियमों से मुक्त, वह अपनी असामान्य सम्वेदनाओं के प्रति ही उत्तरदायी होता है।" (छायावाद-युग, पृ० २६०) छायावादी कवियों में पंत और निराला के काव्य में कहीं-कहीं कुछ शब्द सर्वथा नवीन अर्थों में प्रयुक्त किये गए हैं। अतः वहाँ इस सम्वेदनावाद का प्रभाव लक्षित किया जा सकता है—वैसे यह विशेषता प्रयोगवादी काव्य की है, न कि छायावादी काव्यधारा की।

उपसंहार

उपर्युक्त अध्ययन के आलोक में यह कहा जा सकता है कि छायावादी काव्यधारा पाश्चात्य कविता से पर्याप्त मात्रा में प्रभावित रही है। अंग्रेजी के रोमांटिसिज़्म का प्रभाव इस पर सबसे अधिक पड़ा है। प्रतीकवाद, अभिव्यंजनावाद, सम्वेदनावाद आदि से भी यह प्रेरित रही है। शेली, कीट्स, वर्ड्स्वर्थ, बायरन आदि रोमांटिक कवि छायावादी कवियों के आदर्श रहे हैं। पंत और रामकुमार वर्मा ने तो रोमांटिक कवियों के इस प्रभाव को स्पष्ट रूप में स्वीकार भी किया है। (देखिए : 'हिन्दी काव्य पर आंग्ल प्रभाव', परिशिष्ट 'घ' तथा 'ङ', पृ० २७६-२८२) प्रो० क्षेम ने भी अँग्रेजी के रोमानी पुनर्जागरण युग के कवियों और छायावादी कवियों में अन्तर्साम्य का उल्लेख किया है—"स्वछन्दतावाद जीवन के भार-स्वरूप बन्धनों और साहित्यिक रूढ़ियों की हीनार्थता के विरुद्ध विद्रोह है। छायावाद ने भी तत्कालीन जीवन की भारभयता, कृत्रिमता, प्रकृति-विरोधिता और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य-हीनता के विरुद्ध स्वर ऊँचा किया है। फिर दोनों में कोई विरोध मानना कहाँ से सिद्ध होता है?"

—(छायावाद के गौरव-चिन्ह, पृ० ३६५)

अतः यह स्पष्ट है कि हिन्दी का छायावादी काव्य पाश्चात्य रोमांटिक काव्य से प्रभावित रहा है। वस्तुतः डा० रवीन्द्र सहाय वर्मा का यह मत नितान्त उपयुक्त है कि—"दो युद्धों के बीच की हिन्दी-कविता पर अँग्रेजी का शक्तिशाली प्रभाव पड़ा है। इस युग की सब प्रमुख प्रवृत्तियाँ—सौन्दर्यवाद, विद्रोहात्मक-आदर्शवाद, निराशावाद और रहस्यवाद—अँग्रेजी साहित्य और अँग्रेजी विचारों की ऋणी हैं। × × × हिन्दी काव्य की शैली और रूप पर भी अँग्रेजी का इतना ही महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है।"

—(हिन्दी काव्य पर आँग्ल प्रभाव, पृ० २१५-२१६)

१८

प्रसाद-साहित्य में भक्ति और दर्शन

●

प्रसाद जी शिव के परमभक्त थे और उनका सारा परिवार कट्टर शैव था। उसमें कुछ सदस्य तो इतने अधिक शिवोपासक थे कि वे यदि शिव से इतर अन्य किसी देवता का नाम सुनते थे, तो तुरन्त अपने कान बन्द करके 'शिव', 'शिव' कहने लग जाते थे। शिव की परमप्रिय काशी में रहने के कारण शिव के प्रति इतनी अधिक आस्था, श्रद्धा एवं भक्ति हो जाना स्वाभाविक भी था। इसी कारण प्रसाद जी ने अपनी आरम्भिक कविताओं में शिव को ही एक मात्र संसार का सृष्टा, संरक्षक एवं संहारक स्वीकार किया है, क्योंकि वे शिव ही अपनी महाशक्ति द्वारा संसार का विकास करते हैं—

नील निर्मल नवल सोहत सुखद मंजु प्रकाश,
सुप्रसन्न महेश की लहि महाशक्ति विकाश।[1]

संसार का विकास करके वे इसी संसार में व्याप्त भी है और इससे परे भी हैं, किन्तु सूक्ष्म रूप धारण करके इस सम्पूर्ण वसुधा को धारण करते हैं—

जो सर्वव्यापक तऊ सबसे परे है,
जो सूक्ष्म है पर तऊ बसुधा धरे है।[2]

---

१. इन्दु, कला २, किरण ४, सं० १९६७, पृ० १२२।
२. वही, पृ० १२२।

जब शिव को इस सृष्टि का संहार करना होता है, तब वे तांडव नृत्य करते हैं और उस तांडव नृत्य द्वारा पंचभूतों को समेट लेते हैं, किन्तु उनका यह संहार कार्य भी भयदायक, कष्टदायक एवं पीड़ाकारक नहीं होता, अपितु वे संहार-कार्य द्वारा भी संसार में आनन्द का अखण्ड स्रोत प्रवाहित करते हैं, क्योंकि इससे संसार को समस्त कष्टों से मुक्ति प्राप्त होती है। प्रसाद जी ने इसी करण 'धर्मनीति' नामक कविता में लिखा है—

दुखी है मानव देव अधीर, देखकर भीषण शान्त समुद्र,
व्यथित बैठा है उसके तीर, और क्या विष पीलेगा रुद्र।
करेगा तब वह तांडव नृत्य, अरे दुर्बल तर्कों के भृत्य।
गुंजरित होगा शृंगी नाद, धूसरित भव वेला में मंद्र।
कपेंगे सब सूत्रों के पाद, युक्तियाँ सोवेंगी निस्तन्द्र।
पंचभूतों को दे आनन्द, तभी मुखरित होगा यह छंद।[1]

इसी कारण प्रसाद जी शिव को अपना सर्वस्व मानते थे। उनका ही स्तवन करते थे और उन्हें ही अखंड ब्रह्मांड नायक, आलोकपूर्ण, अखंड आनंद-कंद एवं अखिल लोक' विहारी मानते थे—

आलोक पूर्ण सब लोकन में बिहारी,
आनन्द-कंद, जग-वंद्य विभो पुरारी।
ब्रह्मांड मंडल अखंड प्रताप जाके,
पूरो रहै निगम हूँ गुण गाह थाकै।[2]

प्रसाद जी शिव को ही भ्राता, पिता, मित्र—सब कुछ मानते थे, शिव ही उनके वेद-पुराण थे, शिव ही जगत् रूप थे और शिव ही जगत् के बंधन से मुक्त करने वाले थे। उन चन्द्रशेखर चन्द्रनयन, त्रिनेत्रधारी, गिरिजापति गिरीश की प्रार्थना करते हुए प्रसाद जी ने एक मात्र शिव को ही अपना सर्वस्व स्वीकार किया है—

भ्रातृ पित्र सुमित्र तुमही तुमहि वेद पुरान,
भव तुमहि भव छिद तुमहि हौ तुमहिं एक न आन।
चन्द्र भाल सु चन्द्र नैन त्रिनैन गिरिश गिरीश,
रक्ष रक्ष कृपालु पाहि दयाब्धि हे जगदीश।[3]

---

१. कानन-कुसुम, पृ० ८९।
२. इन्दु, कला २, किरण ३, सं० १९६७ वि०।
३. वही, कला २, किरण १, सं० १९६७ वि०।

शिव-भक्ति की यह भावना उत्तरोत्तर विकसित होती गई और प्रसाद जी ने अपने अंतिम महाकाव्य 'कामायनी' में भी शिव के प्रति केवल अपनी भक्ति-भावना ही व्यक्त नहीं की, अपितु शिव के दार्शनिक स्वरूप की भी चरम अभिव्यक्ति की। इसी कारण 'कामायनी' में प्रसाद जी की शिव-भक्ति का अत्यन्त उज्ज्वल एवं प्रौढ़ रूप विद्यमान है—

देखा मनु ने नर्तित नटेश, हत चेत पुकार उठे विशेष।
यह क्या? श्रद्धे! बस तू ले चल, उन चरणों तक दे निज संबल।
सब पाप-पुण्य जिसमें जल-जल, पावन बन जाते हैं निर्मल।
मिटते असत्य से ज्ञान लेश, समरस अखंड आनन्द वेश।[1]

इतने उच्च कोटि के शिव-भक्त होते हुए भी प्रसाद जी में राम तथा कृष्ण के प्रति भी अटूट श्रद्धा-भक्ति दृष्टिगोचर होती है। इसी कारण एक ओर 'चित्रकूट' नामक कविता में अपने भगवान् राम की महत्ता का प्रतिपादन किया है, तो दूसरी ओर 'कुरुक्षेत्र तथा 'श्रीकृष्ण जयंती' नामक कविताओं में भगवान् कृष्ण के महत्व का चित्रण किया है।[2] इसके साथ ही भगवान् के विविध अवतारों की ओर संकेत करते हुए अपनी उदार भक्ति भावना एवं व्यापक आस्तिम्य बुद्धि का भी परिचय दिया है—

गज समान है ग्रस्त त्रस्त द्रोपदी सदृश है।
ध्रुव-सा धिक्कृत और सुदामा-सा वह कृश है।
बँधा हुआ प्रहलाद सन्देश कुत्सित कर्मों से।
अपमानित गौतमी न थी इतनी मर्मों से।
धर्म विलखता सोचता हम क्या हो गये,
थककर कुछ अवतार ले, तुम सुखनिधि में सो गये।[3]

इस तरह यद्यपि प्रसाद जी के हृदय में शिव-भक्ति की ही प्रधानता थी, तथापि वे अन्य अवतरों के प्रति भी आस्था एवं विश्वास रखते थे। उनमें धार्मिक संकीर्णता न थी। वे साम्प्रदायिकता के पंकिल प्रभाव से सर्वथा उन्मुक्त होकर धार्मिक सहिष्णुता में विश्वास रखते थे। इसीलिए अपने भगवान् को विविध रूपों में देखा है, उसको सर्वव्यापक एवं सर्वत्र विद्यमान सिद्ध किया है तथा मंदिर-मस्जिद के झगड़े से ऊपर उठने की सलाह दी है—

---

१. **कामायनी**, पृ० २५४।
२. **कानन-कुसुम**, पृ० ९५, १११ तथा १२३।
३. पृ० ९४।

इस भाव को हमारे उसको तो देख लीजे,
धरता है वेश वो ही जैसा कि उसको दीजे।
यों ही अनेक रूपी बनकर कभी पुजाया,
लीला उसीकी जग में सबमें वही समाया।
मस्जिद, पगोडा, गिरजा, किसको बनाया तूने,
सब भक्ति-भावना के छोटे-बड़े नमूने।
सुन्दर वितान कैसा आकाश भी तना है,
उसका अनन्त मन्दिर यह विश्व ही बना है।[1]

प्रसाद जी उस जगदाधार को सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त देखते हैं। उनके लिए वह जल, थल, अनिल, अनल, तारा, शशांक—सब में विद्यमान है। यह विश्व उसका अनन्त मन्दिर है और वह जगत् के जन-जन में अपनी छटा बिकीर्ण कर रहा है। उस जग-व्यापक को त्रिपुरी में देखना या कुटी बनाकर समाधि में देखना सर्वथा अनुचित है। इसीलिए प्रसादजी 'तुम्हारा स्मरण' कविता में कहते हैं—

आँख बंद कर देखे कोई रहे निराले में जाकर,
त्रिपुरी में, या कुटी बनाले समाधि में खाये गोता।
खड़े विश्व-जनता में प्यारे हमतो तुमको पाते हैं,
तुम ऐसे सर्वत्र सुलभ हो पाकर कौन भला खोता।[2]

प्रसाद जी ने उस सर्व व्यापक एवं अशरीरी को विश्व-शरीरी स्वीकार किया है। वे ईश्वर तथा विश्व को पृथक् नहीं मानते; और न ईश्वर तथा जीव के पार्थक्य को ही स्वीकार करते हैं। इतना ही नहीं, वे भगवान् की शक्ति को न तो अचिंत्य एवं अनिर्वचनीय मानते हैं और न वे उसके स्वरूप शक्ति तथा बहिरंग शक्ति जैसे भेद करते हैं। प्रसाद जी की दृष्टि में तो भगवान् नित्य ही इस जगत् में विद्यमान रहकर अपनी लीला किया करते हैं और वे जड़-चेतन सभी पदार्थों के अणु-अणु में गति-विधि का संचालन करते हुए इसी जगत् के अन्तर्गत नित्य विराजमान रहते हैं—

चेतन की चित्कला विश्व में जिसकी सत्ता,
जिसकी ओतप्रोत व्योम में पूर्ण महत्ता।
स्वानुभूति का साक्षी है जो जड़ का चेतन,
विश्व शरीरी परमात्मा-प्रभुता का केतन।

---

१. कानन-कुसुम, पृ० ६।
२. वही, पृ० ६१।

अणु-अणु में जो स्वभाव-वश गति-विधि निर्धारक,
नित्य नवल सम्बन्ध-सूत्र का अद्भुत कारक।
जो विज्ञानकार है, ज्ञानों का आधार है,
नमस्कार सदनन्त को ऐसे बारम्बार है।[1]

आगे चलकर 'कामायनी' में भी प्रसाद जी का यही स्वर गूँज रहा है —

कर रही लीलामय आनन्द महाचिति सजग हुई सी व्यक्त,
विश्व का उन्मीलन अभिराम इसी में सब होते अनुरक्त।[2]

उस विश्वव्यापी जगत्-नियंता के बारे में प्रसाद जी के ये सुदृढ़ विचार थे कि वह समस्त संसार का नियामक होते हुए भी इसी संसार में विद्यमान रहता है। वह इसका नियमन भी करता है और अन्त में अपने ही अन्तर्गत इस अपनी रचना को समेट लेता है। इसीलिए 'चन्द्रगुप्त' नाटक में प्रसाद जी ने लिखा है—"समस्त आलोक, चैतन्य और प्राणशक्ति प्रभु की दी हुई हैं। मृत्यु के द्वारा वही इनको लौटा लेता है।"[3] अतएव वह प्रभु सत्य, चिरंतन, अनिंद्य सौंदर्य स्वरूप, विश्वात्मा, परमानन्दमय, परमेश्वर, शान्त, सर्वज्ञ, परमधाम, परमपद, परमतेज, अनन्त शक्ति-सम्पन्न, सर्वतंत्र स्वतन्त्र आदि है। उस ब्रह्म की अनन्त शक्तियाँ है, जिनमें से पाँच शक्तियाँ प्रमुख हैं, जो चित् शक्ति, आनन्द-शक्ति, इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति कहलाती हैं। 'चित् शक्ति' के कारण वह चेतनस्वरूप दृष्टिगोचर होता है, 'आनन्द शक्ति' के कारण वह अखंड आनन्द स्वरूप है, 'इच्छाशक्ति' के कारण वह स्वेच्छानुकूल सृष्टि की रचना करता है, 'ज्ञानशक्ति' के कारण वह ज्ञानस्वरूप है और 'क्रियाशक्ति' के कारण वह सतत क्रियाशील होकर जगत् में लीला करता रहता है। इनके अतिरिक्त उसकी अनन्त शक्तियों में से एक 'नियति' नाम की और एक विलक्षण शक्ति है, जिसे 'नियामिका शक्ति' कह सकते हैं और जिसके द्वारा वह सम्पूर्ण जगत् का नियमन, शासन अथवा नियन्त्रण करता है। इसी के द्वारा विश्व का उत्थान एवं पतन होता है; और इसी के द्वारा सम्पूर्ण दम्भियों एवं अहंकारी व्यक्तियों पर नियन्त्रण रखा जाता है। प्रसाद जी ने ब्रह्म की इस 'नियति-शक्ति' का उल्लेख कितने ही स्थानों पर किया है और उसे मानव के कर्म-चक्र का प्रवर्त्तन

---

१. कानन-कुसुम, पृ० ४४।
२. कामायनी, पृ० ५३।
३. चन्द्रगुप्त नाटक, पृ० १०३।

करने वाली तथा सम्पूर्ण जड़ एवं चेतन की नियामिका सिद्ध किया है।[1] परन्तु नियति का शासन-क्षेत्र इस विश्व तक ही सीमित है, जैसे ही जीवात्मा इस सीमित विश्व से ऊपर उठकर उस असीम शिवरूप ब्रह्म की ओर बढ़ने लगता है वैसे ही उसके ऊपर से नियति का नियन्त्रण हट जाता है और वह शिवरूप या ब्रह्मरूप हो जाता है। इस तरह प्रसाद जी की दृष्टि में नियति दम्भ एवं अहंकार का नियन्त्रण करके विश्व का शासन करती है, उसकी समुचित व्यवस्था करती है, तथा उसमें सन्तुलन स्थापित करती है। वह केवल भाग्य-मात्र ही नहीं है, जिसका कि सम्बन्ध प्रायः चेतन जगत् तक ही रहता है, अपितु वह जड़ तथा चेतन—दोनों की शासिका एवं नियामिका है तथा सदैव कल्याण-कार्य ही किया करती है।

प्रसाद जी ने ब्रह्म और जीव तथा ब्रह्म एवं जगत् में एकत्व स्थापित करते हुए दोनों में अभेद स्वीकार किया है। वे ब्रह्म की ही भाँति जीव को भी स्वतन्त्र, व्यापक एवं सर्वशक्ति-सम्पन्न स्वीकार करते है। केवल माया-जन्य त्रिविध पाशों या मलों के कारण यह स्वतन्त्र एवं सर्वशक्तिमान जीव मलिन, अस्वतन्त्र एवं अशक्तिमान हो जाता है तथा जगत् के शुद्ध मार्ग से भटक कर उस अशुद्ध मार्ग की ओर प्रवृत्त हो जाता है, जो रजोगुण एवं तमोगुण से परिपूर्ण है। प्रायः शैव-दर्शन में जीव को 'पशु' कहा गया है, क्योंकि वह आणव, कार्म एवं मायीय—तीन प्रकार के पाशों से आबद्ध रहता है। यदि जीव इन पाशों से मुक्त हो जाय तो वह शिवत्व को प्राप्त हो जाता है। इसके लिए शैवदर्शन में तीन उपाय बताये गये हैं, जिन्हें शांभवोपाय, शाक्तोपाय तथा आणवोपाय कहा जाता है। इनमें 'आणवोपाय' प्रारम्भिक सोपान है, जिसके द्वारा जड़ और चेतन में व्याप्त भेद का ज्ञान होता है, 'शाक्तोपाय' द्वितीय सोपान है, जिसके द्वारा जड़ और चेतन के भेद तथा अभेद—दोनों का ज्ञान प्राप्त होता है। परन्तु शांभवोपाय अन्तिम सोपान है, जिसके द्वारा सर्वत्र अभेद का ज्ञान होकर जीवात्मा को शिवत्व की प्राप्ति हो जाती है। प्रसादजी ने 'कामायनी' में मनु के जीवन-चित्रण द्वारा जीव के उक्त तीनों उपायों का उल्लेख करते हुए अन्त में शिवत्व को प्राप्त होता हुआ दिखाया है, जिसके फलस्वरूप मनु को जड़ और चेतन—सभी समरस एवं अभिन्न दिखाई देते हैं और कहीं कोई भेद-भाव दिखाई नहीं देता। प्रसादजी ने लिखा भी है—

> **मनु ने कुछ-कुछ मुसक्या कर कैलाश ओर दिखलाया,**
> **बोले "देखो कि यहाँ पर कोई भी नहीं पराया।**

---

१. **कामायनी**, पृ० ३४, ८३, १५८, २००...आदि।

हम अन्य न और कुटुम्बी हम केवल एक हमीं हैं,
तुम सब मेरे अवयव हो जिसमें कुछ नहीं कमी है।
शापित न यहाँ है कोई तापित पापी न यहाँ है,
जीवन वसुधा समतल है समरस है जो कि जहाँ है।

प्रसादजी ने शैव विचारधारा से अत्यधिक प्रभावित होने के कारण तथा आधुनिक युग के अनुकूल दार्शनिक विचारों का प्रचार करने के कारण जगत् की सत्यता का बड़ी दृढ़ता के साथ समर्थन किया है। वेदांत केशरी शंकराचार्य ने 'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या' का उद्घोष करते हुए संसार के मिथ्यात्व का प्रतिपादन किया था और उसका प्रभाव कबीर, सूर, तुलसी आदि सभी हिन्दी के कवियों पर पड़ा, जिसके फलस्वरूप उक्त कवियों ने भी संसार को नश्वर, क्षणिक एवं असत्य घोषित किया। परन्तु प्रसादजी की दृष्टि में संसार की नश्वरता एवं असत्यता उचित नहीं थी। वे जीव और ब्रह्म की एकता अथवा ब्रह्म और जगत् की एकता तो स्वीकार करते थे, परन्तु जीव या जगत् को असत्य मानना उन्हें प्रिय न था। वे संसार को नश्वर एवं असत्य कहकर दुःख का घर, आपत्तियों का समुद्र एवं वेदना का बसेरा नहीं मानते थे, अपितु उनकी दृष्टि में संसार भी अखंड आनन्द से परिपूर्ण था। प्रसाद जी ने सन् १९०९ में 'इन्दु' के अन्तर्गत 'भक्ति' नामक एक लेख लिखा, जिसमें संसार की सत्यता घोषित करते हुए उसे आनन्दमय भी बताया—"हम जो करते हैं, जो सुनते हैं, जो देखते हैं, जो समझते हैं, सब वही हैं। सबका करने वाला वही है। जब यह बुद्धि हो जाती है, तब मनुष्य को आनन्द ही आनन्द मिलता है, संसार आनन्दमय प्रतीत होता है।"[१] ऐसे ही आगे चलकर 'भक्तयोग' नामक कविता में पुनः आप संसार को असत्य मानकर सुख की खोज में संसार से विमुख होकर भटकने वाले एक व्यक्ति को ईश्वर की मूर्ति द्वारा संसार की सत्यता समझाते हैं तथा संसार में ही रहकर यहाँ सतत कर्म करने की प्रेरणा प्रदान करते हैं—

वह मूर्ति बोली—'भक्तवर ! क्यों यह परिश्रम हो रहा,
क्यों विश्व का आनंद-मंदिर आह ! तू यों खो रहा।
यह छोड़कर सुख है पड़ा किसके कुहक के जाल में,
सुख-लेख मैं तो पढ़ रही हूँ स्पष्ट तेरे भाल में।
सुन्दर सुहृद सम्पत्ति सुखदा सुन्दरी ले साथ में,
संसार यह सब सौंपना है चाहता तव हाथ में।

---

१. इन्दु, कला १, किरण ८, सं० १९६६।

फिर भागते हो क्यों ? न हटता यों कभी निर्भीक है,
संसार तेरा कर रहा स्वागत, चलो सब ठीक है ।[1]

इसके अनन्तर 'तितली' उपन्यास में तो प्रसादजी स्पष्ट रूप से शंकर के अद्वैतवाद की कटु आलोचना करते हुए उसे केवल तत्कालीन साम्प्रदायिक परिस्थितियों से लोहा लेने के लिए अथवा बौद्धों को परास्त करने के लिए ही उपयुक्त मानते हैं । इसीलिए वहाँ शैला पहले बाबा रामनाथ से यही पूछती है—"आपके वेदान्त में जो जगत् को मिथ्या और भ्रम मान लेने का सिद्धान्त है, वही यहाँ के मनुष्यों को उदासीन बनाता है । संसार को असत् समझने वाला मनुष्य कैसे किसी काम को विश्वास पूर्वक कर सकता है ?" इस बात को सुनकर बाबा रामनाथ के मुख से प्रसादजी कहते हैं—"वह वेदान्त पिछले काल का साम्प्रदायिक वेदान्त है जो तर्कों के आधार पर अन्य दार्शनिकों को परास्त करने के लिए बना । सच्चा वेदान्त व्यावहारिक है । वह जीवन-समुद्र आत्मा को उसकी सम्पूर्ण विभूतियों के साथ समझता है ।"[2] जगत् की इसी सत्यता पर जोर देते हुए प्रसाद जी 'जनमेजय का नागयज्ञ' में भी स्पष्ट घोषणा करते हैं—"यह पूर्ण सत्य है कि जड़ के रूप में चेतन प्रकाशित होता है । अखिल विश्व एक सम्पूर्ण सत्य है । असत्य का भ्रम दूर करना होगा, मानवता की घोषणा करनी होगी, सबको अपनी समता में लाना होगा ।"[3] 'कामायनी' में भी आगे चलकर इसी तथ्य का उद्घाटन किया गया है और यहाँ स्पष्ट ही इस सुख-दुःख से परिपूर्ण जगत् को विश्वात्मा का मंगलमय शरीर कहकर अनंत सौंदर्य से परिपूर्ण एवं चिर सत्य घोषित किया गया है—

अपने दुःख-सुख से पुलकित यह मूर्त विश्व सचराचर,
चिति का विराट वपु मंगल यह सत्य सतत चिर सुन्दर ।[4]

अब प्रश्न यह उठता है कि जब प्रसाद जी संसार को सत्य एवं चिर सुन्दर मानते हैं और चिति या विश्वात्मा का मंगलमय शरीर कहकर अखंड आनन्दपूर्ण स्वीकार करते हैं तब फिर आपने संसार को अत्यन्त घोर कष्टमय, असत् एवं क्षणिक क्यों कहा है ? इसका कारण यह है कि प्रसाद जी प्रायः सारनाथ नित्यप्रति घूमने जाया करते थे और बौद्ध भिक्षु धम्मपाल अनागरिक आपके परम मित्र थे । उनके सम्पर्क में आने के कारण तथा बौद्धधर्म सम्बन्धी

---

१. **कानन-कुसुम**, पृ० ३० ।
२. **तितली**, पृ० ६४ ।
३. **जनमेजय का नागयज्ञ**, पृ० १३ ।
४. **कामायनी**, पृ० २८८ ।

ग्रन्थों का अवलोकन करने के कारण प्रसाद जी की विचारधारा पर बौद्धमत के कतिपय विचारों की भी छाप पड़ गई। इसीलिए बौद्धमत से प्रभावित होकर प्रसादजी ने 'राज्यश्री' नाटक में संसार को दुःखमय घोषित किया है और अपने हृदय में स्नेह एवं करुणा को स्थान देते हुए सभी प्रकार की तृष्णा से दूर रहने का उपदेश दिया है—

अब भी चेत ले तू नीच,
दुःख-परितापित धरा को स्नेह-जल से सींच।
शीघ्र तृष्णा-पाश से नर ! कंठ को निज सींच,
स्नान कर करुणा सरोवर, धुले तेरा कीच।[1]

इसके साथ ही बौद्धों ने संसार को क्षणिक मानकर यहाँ की सम्पूर्ण वस्तुओं को गतिशील, चंचल एवं नश्वर घोषित किया है—और कहा है कि यहाँ सुख तो क्षणिक है, परन्तु दुःख सदैव विद्यमान रहता है और यह जगत् पूर्णतया सारहीन है। 'अजातशत्रु' नाटक में इसी कारण प्रसादजी ने लिखा है—

चंचल चन्द्र, सूर्य है चंचल, चपल सभी ग्रह तारा हैं,
चंचल अनिल, अनल, जल, थल सब चंचल जैसे पारा हैं।
जगत प्रगति से अपने चंचल मन की चंचल लीला है,
प्रतिक्षण प्रकृति चंचला जैसी यह परिवर्तन-शीला है।
अणु-परमाणु, दुःख-सुख चंचल, क्षणिक सभी सुख साधन हैं,
दृश्य सकल नश्वर-परिणामी, किसको दुःख किसको धन हैं।
क्षणिक सुखों को स्थायी कहना दुःख मूल यह भूल महा,
चंचल मानव ! क्यों भूला तू, इस सीठी में सार कहाँ ?[2]

उक्त विचारधारा पर स्पष्ट ही बौद्धमत का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इन विचारों को व्यक्त करने का अभिप्राय यह था कि प्रसादजी बौद्धों की भाँति संसार को क्षणिक, नश्वर एवं दुःखमय कहकर मानव-मात्र के हृदय में प्राणियों के लिए करुणा, अहिंसा, मुदिता, एवं मैत्री भाव जगाना चाहते थे। परन्तु प्रसाद जी की मूल विचारधारा यह न थी, क्योंकि 'कामायनी' में भी आपने पहले "किन्तु जीवन कितना निरुपाय लिया है देख नहीं संदेह, निराशा है जिसका परिणाम सफलता का वह कल्पित गेह"—कहकर मनु के मुख से संसार की क्षणिकता एवं दुःखपूर्ण अवस्था की ओर संकेत किया है, परन्तु

१. राज्यश्री, पृ० ५५।
२. अजातशत्रु, पृ० ४८-४९।

तुरन्त ही आप श्रद्धा के मुख से "एक तुम यह विस्तृत भूखंड प्रकृति वैभव से भरा अमंद, कर्म का भोग, भोग का कर्म—यही जड़ का चेतन आनंद" कहकर इस जीवन को आनन्दमय बनाने के लिए जगत् का सुन्दर एवं आनन्दमय स्वरूप प्रस्तुत करते हैं।

संसार को चिर सत्य, सुन्दर एवं आनन्दमय मानने का अभिप्राय यह नहीं है कि प्रसादजी सांसारिकता को अधिक महत्व देते थे और वे भौतिकवादी थे। प्रसादजी की दार्शनिक विचारधारा का अध्ययन करने पर यही ज्ञात होता है कि वे आरम्भ से ही अध्यात्मवादी कवि थे। उनकी आरम्भिक कविताओं पर तो आध्यात्मिकता की गहरी छाप स्पष्ट दिखाई देती है। हाँ, इतना अवश्य है कि अपनी प्रौढ़ वेला में वे पश्चिम के भौतिकतावादी दर्शन से भी भली प्रकार परिचित हो गये थे। इसकी सर्वप्रथम झलक 'कामना' नाटक में दृष्टिगोचर होती है। प्रसादजी की दृष्टि में भौतिकवादी दर्शन उन्नति-बर्द्धक तो है, परन्तु इससे लालसा, तृष्णा एवं महत्वाकांक्षाओं की ही वृद्धि अधिक होती है और इसका परिणाम बड़ा ही भयप्रद एवं विध्वंसकारी होता है। इससे मानव का कल्याण नहीं हो सकता। 'कामना' में विवेक के मुख से प्रसादजी ने कहा भी है—"इस विराट विश्व और विश्वात्मा की अभिन्नता, पिता और पुत्र, ईश्वर और सृष्टि—सबको एक में मिलाकर खेलने की सुखद क्रीड़ा भूल जाती है, होने लगता है विषमता का विषमय द्वन्द्व। तब सिवाय हाहाकार और रुदन के क्या फैलेगा ?"[१]

इस भौतिकवादी दृष्टिकोण को महत्व देते हुए अथवा अपने विचारों के पूर्व-पक्ष को प्रस्तुत करते हुए प्रसादजी ने 'कंकाल' उपन्यास में भी लिखा है—"हमारी सभ्यता और संस्कृति आध्यात्मिक कही जाती है, परन्तु अपने लोक व्यवहार में हम इतने पतित हैं कि पश्चिम की भौतिक सभ्यता इससे कहीं अच्छी। परलोक बनाने का गर्व करते हुए भी हम इस लोक को नरक बना रहे हैं। पश्चिमी सभ्यता ने मानव मात्र के लिए भौतिक सुखों की योजना की है और करोड़ों सामान्य जनों के जीवन में स्वर्ग को उतारा है। परन्तु अध्यात्म का पागल भारतवर्ष आज अपनी प्राचीनता से जर्जर हो रहा है। इस दुःख और आत्म-प्रताड़न को दूर करने के लिए अपनी सभ्यता पर से हमें अध्यात्म का आवरण हटाकर ऐहिक सुख और समृद्धि पर उसकी प्रतिष्ठा करनी होगी।"[२] प्रसादजी का यही स्वर 'तितली' उपन्यास में भी सुनाई

---

१. कामना, पृ० ६८।

२. कंकाल, पृ० १३८।

पड़ता है। वहाँ पर भी आप लिखते हैं—"जिसको हम धर्म या सदाचार कहते हैं, वह भी शान्ति नहीं देता। सब में बनावट, सब में छल-प्रपंच!......इससे तो अच्छी है पश्चिम की आर्थिक भौतिक समता, जिसमें ईश्वर के न रहने पर भी मनुष्य को सब तरह की सुविधाओं की योजना है।"[१]

भौतिकवाद का यह रूप अंकित करते हुए भी प्रसाद जी भौतिकवाद के पूर्णतया समर्थक न थे, क्योंकि वे भौतिकवाद की उन सम्पूर्ण बुराइयों को जानते थे, जिनके फलस्वरूप योरोप अनेक यातनायें सहन कर रहा है। इसी कारण आपने 'कंकाल' में ही लिखा है—"किन्तु आज का बुद्धिजीवी पश्चिम की भौतिक समृद्धि से भी पूर्ण रूप से आश्वस्त नहीं होना चाहता। देख रहा है कि पश्चिम की सभ्यता ने सुख की दौड़ की होड़ लगादी है और अतिकाम से पीड़ित करोड़ों नर-नारी भीतर से किसी भी प्रकाश को न पाकर अपनी आत्मा को नष्ट कर रहे हैं। भारतीय आत्मवाद उसे इस यांत्रिक संस्कृति का पूरक जान पड़ता है। पश्चिम की भौतिक सभ्यता की भित्तियाँ आज हिलती जान पड़ती हैं। उसने साम्यवाद के नाम पर जिस साम्य और जनहित की योजना की है, वह केवल भौतिक सुखों और सुविधाओं तक सीमित है।"[२]

अतएव प्रसादजी ने अकेले भौतिकवाद को जीवन के लिए कल्याणकारी स्वीकार नहीं किया है। वे मानव-जीवन के कल्याण हेतु भौतिकता तथा आध्यात्मिकता—दोनों का समन्वय आवश्यक समझते थे। इसीलिए आपने 'कंकाल' में स्पष्ट लिखा है—"इस साम्य शरीर में जीव मात्र की एकता की अध्यात्मभावना को प्रतिष्ठित करना होगा। इस प्रकार पूर्व और पश्चिम का समन्वय मानवता के नये स्रोत उन्मुख करेगा।"[३] प्रसादजी की इसी समन्वयवादी विचार-धारा की गूँज 'तितली' उपन्यास में भी सुनाई पड़ती है—"मैं मानता हूँ कि पश्चिम एक शरीर तैयार कर रहा है, किन्तु उसमें प्राण देना पूर्व के अध्यात्मवादियों का काम है। यहीं पूर्व और पश्चिम का वास्तविक संगम होगा जिससे मानवता का स्रोत प्रसन्न धार में बहा करेगा।"[४] प्रसादजी की इसी समन्वयवादी विचारधारा को 'कामायनी' में भी देखा जा सकता है, क्योंकि वहाँ पर प्रसादजी ने भौतिकवाद के आधार पर अत्यधिक उन्नति करने वाले सारस्वत नगर को अंत में ध्वस्त दिखाया है, किन्तु जिस समय इड़ा और श्रद्धा-

१. तितली, पृ० १३०।
२. कंकाल, पृ० १३९।
३. कंकाल, पृ० १३९।
४. तितली, पृ० १३०।

पुत्र मानव उस नगर का भौतिकता एवं आध्यात्मिकता के समन्वय के आधार पर पुनर्निर्माण करते हैं, उस समय वहाँ की जनता में एक नई स्फूर्ति, नई चेतना एवं नवीन प्रगति का स्रोत उमड़ता हुआ दिखाई देता है, वे संतुलित एवं समन्वित जीवन व्यतीत करने लगते हैं, उनके पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन में समरसता स्थापित हो जाती है और सम्पूर्ण राष्ट्र में एक कुटुम्ब-सा बन जाता है।[1]

अतः सिद्ध है कि प्रसादजी श्रद्धा एवं विश्वास से परिपूर्ण शिव के सगुण रूप के उपासक थे। वैसे उनके हृदय में आध्यात्मिकता का स्रोत बचपन से ही प्रवाहित था और अपनी प्रौढ़ वेला में वे भौतिकवाद की सुख-समृद्धि की ओर भी आकृष्ट हुए थे, परन्तु वे जानते थे कि भौतिकवादी दृष्टिकोण सर्वथा अपूर्ण है, उससे न तो जनता को स्थायी शान्ति एवं सुख प्राप्त होता है, और न उससे मानव का कल्याण ही हो सकता है। इसके साथ ही प्रसादजी अकेले अध्यात्मवादी दृष्टिकोण को भी संसार के लिए सर्वथा हितकर एवं सुखकर नहीं समझते थे; क्योंकि इससे जनता के अकर्मण्य हो जाने का भय है, अपने धर्म से विमुख हो जाने का भय है; और संसार को असत्य मानने के कारण संसार से पराङ्मुख होने अथवा अपने कर्त्तव्य-क्षेत्र से पलायन करने का भी भय है। इसीलिए प्रसादजी ने भौतिकता एवं आध्यात्मिकता—दोनों का समन्वय करके अपने एक ऐसे व्यावहारिक दर्शन की प्रतिष्ठा की है, जिसके अपनाने से मानव अभ्युदय एव निश्रेयस—दोनों की प्राप्ति कर सकता है तथा उसे इसी जगत् में अपना कर्त्तव्य करते हुए चिर शान्ति एवं अखंड अनंद की उपलब्धि भी हो सकती है।

---

१. देखिए—**कामायनी**, आनंद सर्ग, पृ० २८७।

१६

कामायनी में भाव एवं रस-योजना

●

'कामायनी' के अधिकांश आलोचकों का मत है कि इसमें हास्य-रस के अतिरिक्त, अन्य सभी रसों का अक्षय स्रोत प्रवाहित हो रहा है। अपने कथन की पुष्टि में उन्होंने सभी रसों के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं तथा उनमें आश्रय, आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव एवं संचारियों का भी दिग्दर्शन कराया है। "कामायनी में अंगी-रस" के प्रश्न पर मतभेद है। अधिकांश विद्वान् इसका अंगीरस 'शान्त' को मानते हैं; कुछ इसमें शृंगार रस के प्राधान्य को स्वीकार करते हुए, इसका अवसान 'शान्त' में मानते हैं। जो आलोचक मनु के मुमूर्षु होकर गिर पड़ने पर कामायनी के कथानक की स्वाभाविक समाप्ति मानते हैं, वे 'करुण' को इसका अंगी रस मानते हैं। एक आलोचक-प्रवर ने इसका अंगीरस 'आनन्द' माना है।

आदि से अन्त तक पढ़ लेने के बाद भी, कामायनी में रस की विशुद्ध अनुभूति तो कहीं-कहीं ही होती है; मन पर जो प्रभाव पड़ता है, वह परम्परागत रस की पृष्ठभूमि से किसी न किसी सीमा में पार्थक्य अवश्य रखता है। इस पृथकता के स्वरूप का आलोचन तथा उसके कारणों का विश्लेषण 'रस खोजने' की विधि से नहीं किया जा सकता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि सम्पूर्ण

कामायनी की कथा को भावधारा का विवेचन—उसके बदलते हुए, मोड़ खाते हुए रूपों के सन्दर्भ में हो। यों तो सभी महाकाव्यों में एक से अधिक रसों की योजना की जाती है, विभिन्न प्रकार के भावों के निरूपण से कथा आगे बढ़ती चलती है। किन्तु परस्पर भिन्न भाव एवं रसों की योजना होते हुए भी आद्योपान्त अंगी-रस की अभिव्यक्ति होना और बात है, तथा क्रम-क्रम से रसों की धारा बहाते चलना और बात है। एक में अंगी-रस रूपी सरिता आदि से अन्त तक बहती है, बीच-बीच में अनेक नाले एवं झरने मिलते चलते हैं, यदि कहीं दूसरी सरिता-धारा आ भी आती है तो उसमें भी अवगाहन कर लेने के बाद, पुनः छोड़े हुए सूत्र को पकड़ लिया जाता है। अलग-अलग रस-नियोजन कुछ इस प्रकार है कि हम एक सरिता में अवगाहन करने के बाद, उससे अपना सम्बन्ध विच्छिन्न करके दूसरी सरिता की ओर चल देते हैं, तथा मुड़कर भी पहली सरिता की ओर दृष्टिपात नहीं करते। कामायनी में भाव एवं रस-योजना पहली पद्धति पर न होकर, दूसरी पद्धति पर अधिक आधारित है। यह बात दूसरी है कि अधिकांश भाग में पूर्णरूपेण किसी एक रस की ही नहीं; रसों की भी विशुद्ध अभिव्यक्ति नहीं हो पायी है। कहीं रस के साथ बौद्धिक अतिरेक के कारण उद्भूत द्वन्द्व, अनास्था, उद्वेग आदि वृत्तियों का वर्णन है, तो कहीं रस को दर्शन ने आच्छादित कर रखा है। कथा एवं भाव-धारा के बदलते हुए रूपों के परिप्रेक्ष्य में, कामायनी की भाव भूमियों एवं रस-योजना का वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है :—

(१) कामायनी के आरम्भ से स्वप्न-सर्ग का प्रारम्भिक भाग,
(२) स्वप्न सर्ग के मध्यम भाग से संघर्ष सर्ग तक,
(३) निर्वेद सर्ग से आनन्द-सर्ग तक।

१. आरम्भ से स्वप्न सर्ग का प्रारम्भिक भाग

इस भाग में मनु-श्रद्धा मिलन, मनु का श्रद्धा को छोड़कर चले जाना, मनु-इड़ा मिलन, श्रद्धा का विप्रलम्भ भाव आदि वर्णित हैं। रस-विधान की दृष्टि से कामायनी के इस भाग में कुछ अंश बहुत महत्वपूर्ण हैं। श्रद्धा एवं मनु का पारस्परिक आकर्षण, संयोग श्रृंगार, मनु और इड़ा का आकर्षण तथा मनु के जाने के बाद श्रद्धा का वियोग भाव एवं पुत्र कुमार के कारण वात्सल्य भाव आदि ऐसे स्थल हैं जो भाव, रस एवं मनोविज्ञान की दृष्टि से ग्राह्य एवं सुन्दर हैं। तत्सम्बन्धित, निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :—

(क) श्रद्धा का रूप-वर्णन—'श्रद्धा सर्ग' में श्रद्धा के रूप-सौन्दर्य का बहुत सुन्दर चित्रण हुआ है, जो आलम्बन का भव्य एवं मनोहर चित्र प्रस्तुत

कर सकने में समर्थ हुआ है। "विश्व की करुण कामना मूर्ति" श्रद्धा, नित्य यौवन छवि से दीप्त है; मुख के पास घुँघराले केश, नील परिधान, मुख पर अनुपम मुसकान—सबने मिलकर एक अनोखी मनोहारिता ला दी है :—

नील परिधान बीच सुकुमार,
खुल रहा मृदुल अध-खुला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल,
मेघ बन बीच गुलाबी रंग।

+ + +

नित्य यौवन छवि से ही दीप्त,
विश्व की करुण कामना मूर्ति।
स्पर्श के आकर्षण से पूर्ण,
प्रकट करती ज्यों जड़ में स्फूर्ति।

उषा की पहिली लेखा कांत,
माधुरी से भीगी भर मोद;
मद भरी जैसे उठे सलज्ज,
भोर की तारक द्युति की गोद।

(ख) संयोग शृंगार—संयोग शृंगार की अभिव्यक्ति 'वासना सर्ग' एवं 'कर्म सर्ग' में दो स्थलों पर हुई है। वासना सर्ग में मनु के हृदय के धड़कते कम्पन, एवं अशान्त व्याकुल वक्ष आदि के संकेतों से उसकी सम्भोग इच्छा का प्रतिपादन किया गया है—

मनु निखरने लगे ज्यों-ज्यों यामिनी का रूप,
वह अनन्त प्रगाढ़ छाया फैलती अपरूप,
बरसता था मदिर कण सा स्वच्छ सतत अनन्त,
मिलन का संगीत होने लगा था श्रीमंत।

छूटती चिनगारियाँ उत्तेजना उद्‌भ्रान्त,
धधकती ज्वाला मधुर, था वक्ष विकल अशांत।
वात चक्र समान कुछ था बाँधता आवेश,
धैर्य्य का कुछ भी न मनु मनु के हृदय में था लेश।

—(वासना सर्ग)

इन्द्रिय अभिलाषाओं की पूर्ति के इच्छुक मनु ने मनुहार पूर्वक श्रद्धा से सोम का प्याला पीने को कहा। श्रद्धा इस आग्रह को न टाल सकी। नारी के समर्पण में, मानव की वासना रंग खेलने लगी। निभृत-गुहा में अग्नि-शिखा बुझ गयी—आँखें प्रिय आँखों में डूब गयीं, अधर अधर-रस में लीन हो गए :—

आँखें प्रिय आँखों में, डूबे
अरुण अधर थे रस में
हृदय काल्पनिक विजय में, सुखी
चेतनता नस नस में ।

\+ \+ \+

और एक फिर व्याकुल चुम्बन,
रक्त खौलता जिससे ।
शीतल प्राण धधक उठता है,
तृषा तृप्ति के मिस से ।
दो काठों की संधि बीच उस,
निभृत गुहा में अपने ।
अग्नि-शिखा बुझ गयी, जागने,
पर जैसे सुख सपने । —(कर्म सर्ग)

(ग) मनु-इड़ा मिलन—जब श्रद्धा के अधरों का रस मनु की प्यास नहीं बुझा पाता, तो वह भ्रमर की भाँति किसी और की खोज में श्रद्धा को छोड़कर चला जाता है। सारस्वत प्रदेश में आने पर उसे 'इड़ा' बाला के दर्शन होते हैं। 'आलम्बन' को देखकर 'आश्रय' मनु पुकार उठता है—

निस्वन दिगंत में रहे रुद्ध सहसा बोले मनु "अरे कौन
आलोकमयी स्मित चेतनता आई यह हेमवती छाया"
तन्द्रा के स्वप्न तिरोहित थे, बिखरी केवल उजली माया
वह स्पर्श दुलार दुलार पुलक से भर बीते युग को उठता पुकार
वीचियाँ नाचतो बार-बार ।

(घ) श्रद्धा का प्रवास विप्रलम्भ—विरहिणी श्रद्धा के सूने जीवन का मर्मस्पर्शी चित्र प्रसाद जी ने अंकित किया है—

कामायनी कुसुम वसुधा पर पड़ी, न वह मकरंद रहा,
एक चित्र सब रेखाओं का, अब उसमें है रंग कहाँ !

—(स्वप्न सर्ग)

वन बालाओं के निकुंजों में वेणु मधुर स्वर से निनादित होने लगते हैं, परदेश को गये उनके प्रिय लौट आते हैं। इधर एक लम्बा युग ही प्रतीक्षा करते-करते थक गया है, किन्तु श्रद्धा का 'परदेसी' प्रत्यागत नहीं हुआ है। ऐसी स्थिति में उसकी पलकों से अश्रु कणों का बरसना अत्यन्त स्वाभाविक है :

वन बालाओं के निकुंज सब भरे वेणु के मधु स्वर से,
लौट चुके थे आने वाले सुन पुकार अपने घर से,

किन्तु न आया वह परदेसी युग छिप गया प्रतीक्षा में,
रजनी की भीगी पलकों में तुहिन बिंदु कण-कण बरसे।

—(स्वप्न सर्ग)

(ङ) **वात्सल्य भाव**—मनु तो नहीं लौटा, किन्तु जब उसका प्रतिनिधि, सुन्दर बालक चंचल गति से दौड़ता फिरता है, तो एक प्रेमिका के विरह-भाव के स्थान पर, एक माँ की ममता जाग उठती है—

"माँ" फिर एक किलक दूरागत गूँज उठी कुटिया सूनी,
माँ उठ दौड़ी भरे हृदय में लेकर उत्कंठा दूनी।
लुटरी खुली अलक, रज धूसर बाहें आकर लिपट गईं,
निशा तापसी की जलने को धधक उठी बुझती धूनी।

× × ×

"मैं रूठूँ माँ और मना तू कितनी अच्छी बात कही,
ले मैं सोता हूँ अब जाकर, बोलूँगा मैं आज नहीं,
पके फलों से पेट भरा है, नींद नहीं खुलने वाली।"
श्रद्धा चुम्बन ले प्रसन्न कुछ, कुछ विषाद से भरी रही।

—(स्वप्न सर्ग)

यहाँ एक नारी के वात्सल्य भाव में विरह उसी प्रकार झाँक रहा है, जिस प्रकार झीने आँचल में से दीपक की लौ दिखायी दे जाती है।

कथा के इस भाग में, इस प्रकार के कुछ अन्य स्थलों को छोड़कर, शेष समस्त कथा में प्रमुख रूप से मनु का अन्तर्द्वन्द्व अभिव्यक्त हुआ है, जिसमें चिन्ता, त्रास, अभाव, जिज्ञासा, कौतुहल, व्यथा, आशा, करुणा, ईर्ष्या, द्वेष, कटुता, डाह, आश्चर्य, उद्वेग, वासना आदि का मनोवैज्ञानिक वर्णन हुआ है। मनु के हृदय का अन्तर्द्वन्द्व आधुनिक भौतिकवादी युग के मानव जीवन के बहुत निकट पड़ता है। जिस प्रकार आज के युग में हमारी समस्त आशाओं, विश्वासों एवं आस्थाओं की नींव हिल गयी है और उसके स्थान पर निराशा, शंका, द्वेष, वासना एवं उद्वेग की जड़ें जमने लगीं हैं, उसी के अनुरूप ही मनु भी श्रद्धा के सात्विक सन्देश को नहीं अपना पाता, वह निर्बाध विलास चाहता है। उसके जीवन में शान्ति नहीं है, सन्तोष नहीं है, आनन्द नहीं है। उसका मन तो उद्वेग से उद्वेलित है, अंतस्तल दुर्ललित लालसा से युक्त है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मनु का यह अन्तर्द्वन्द्व हृदय को इतना प्रभावित नहीं करता, जितना मस्तिष्क को छूता है; इतना रस-बोध नहीं कराता जितना पाठक को कुछ सोचने को विवश करता है। यह अन्तर्द्वन्द्व किसी भाव को स्थिर भी नहीं होने देता, तथा किसी भाव को स्थिर न होने देना, रस-सिद्धान्त के विरुद्ध पड़ता है।

इस प्रकार कामायनी के इस भाग में एक ओर हृदय-स्पर्शी, अनुभूति-जन्य शृंगार रस युक्त स्थल हैं, तो दूसरी ओर समसामयिक मानव की मन:स्थिति के अनुकूल विविध बुद्धिवेष्टित विचार एवं भाव भी हैं, जो हमारे हृदय की परतों में प्रवेश कम करते है; हमारे मस्तिष्क की सतहों को झकझोरते अधिक हैं।

२. स्वप्न सर्ग के मध्यम भाग[1] से संघर्ष सर्ग तक

इस भाग में श्रद्धा का स्वप्न एवं सारस्वत प्रदेश में मनु और प्रजा का युद्ध वर्णित हैं। श्रद्धा के स्वप्न (पृ० १८५-१८६) में भयानक रस व्यंजित है। काव्य की भाव-भूमि सहसा मोड़ लेती है। शृंगार तथा अन्तर्द्वन्द्वमयी स्थिति से हम सहसा एक भयानक लोक में पहुँच जाते हैं। अन्तरिक्ष में रुद्र हुँकार, भयानक हलचल, देव-शक्तियों का क्षुब्ध होना, रुद्रनयन का खुलना आदि घटनाएँ हमें भयानक रस से आप्लावित कर देती हैं। कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती हैं—

अन्तरिक्ष में हुआ रुद्र हुंकार भायानक हलचल थी।
\+ \+ \+ \+
उधर गगन में क्षुब्ध हुईं सब देव-शक्तियाँ क्रोध-भरी,
रुद्र नयन खुल गया अचानक, व्याकुल काँप रही नगरी।
\+ \+ \+ \+
प्रकृति त्रस्त थी, भूतनाथ ने नृत्य विकम्पित पद अपना,
उधर उठाया, भूत-सृष्टि सब होने जाती थी सपना।
आश्रय पाने को सब व्याकुल स्वयं कलुष में मनु संदिग्ध,
फिर कुछ होगा यही समझ कर वसुधा का थर-थर कँपना!

इन पंक्तियों को पढ़ने के बाद हम किसी प्रलयकारी दृश्य के उपस्थित होने की सम्भावना में आँखें मूँदते ही हैं, कि मनु और प्रजादल के संघर्ष में प्रजादल झुँझलाता, शस्त्रों को चमकाता अन्धड़ गति से बढ़ आता है। तीक्ष्ण नुकीले तीरों की वर्षा होती है। क्रूर मनु अपने खड्ग से जन-प्राणों को कुचलते हुए आगे बढ़ते हैं। उसके हृदय का क्रोध, रौद्र रस में अभिव्यंजित हो उठता है—

आज साहसिक का पौरुष निज तन पर लेखें,
राज दंड को वज्र बना-सा सचमुच देखें।

१. स्वप्न सर्ग का मध्यम भाग—पृ० १८१ (कामायनी—सप्तम संस्करण)।

प्रसादजी ने युद्ध का अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन किया है, किन्तु यह संक्षिप्त वर्णन भी मन पर प्रभाव डालने में समर्थ है। केवल ८-१० पंक्तियों में भी युद्ध का चित्र उभर आया है। किन्तु प्रसाद जी मनु के "उत्साह" की अभिव्यंजना ठीक नहीं करा पाये हैं। किलात और आकुलि के आह्वान का प्रत्युत्तर कि, "अरे! जिनको अपना समझकर मैंने अपनाया था, वही यज्ञ पुरोहित किलात और आकुलि! कायरों तुम दोनों ने ही मेरे विरुद्ध उत्पात मचाया है। तो फिर आओ देखो, कि बलि कैसी होती है"—उसके हृदय में स्थित 'उत्साह' की सूचना मात्र ही दे सका है।

३. निर्वेद सर्ग से आनन्द सर्ग तक

मनु के मुमूर्षु होकर गिर पड़ने पर, कथा का अन्त-सा हो जाता है। रौद्र का अवसान दुखान्त रूप में हो जाता है। इसके बाद कथा में अप्रत्याशित रूप से नया मोड़ आता है। यह कथा का स्पष्ट रूप से तीसरा मोड़ है तथा दूसरे मोड़ से भी अधिक चमत्कृत कर देने वाला है। इस भाग में मनु और श्रद्धा का पुनर्मिलन, मनु का पश्चाताप, नटराज का नृत्य, त्रिपुर दर्शन, समरसता एवं आनन्द की अनुभूति आदि वर्णित हैं। 'स्वप्न सर्ग' के मध्य से हम 'सामान्य' से 'भयानक' में प्रवेश करते हैं। कथा के इस भाग में 'सामान्य' से 'अद्भुत' तक पहुँचने के बीच कुछ देर शान्त चित्त होने का समय दिया गया है। 'निर्वेद सर्ग' में मनु के आत्मग्लानिमय उद्गारों की अभिव्यक्ति हुई है—

किन्तु अधम मैं समझ न पाया,
उस मंगल की माया को।
और आज भी पकड़ रहा, हूँ,
हर्ष-शोक की छाया को।

—(निर्वेद सर्ग)

इसके बाद फिर एक नाटकीय घटना घटती है। मनु श्रद्धा-कुमार-इड़ा सबको छोड़कर चले जाते हैं। श्रद्धा भी कुमार इड़ा को सौंपकर पुनः मनु की खोज में निकल पड़ती है। एक लता से आवृत्त गुहा में मनु मिल जाते हैं और इसके बाद श्रद्धा एवं मनु के साथ-साथ पाठक भी अद्भुत लोक का दर्शन करने लगता है। 'दर्शन सर्ग' के उत्तरार्द्ध में अन्तर्निनाद ध्वनि से पूरित चित् सत्ता नटराज के नृत्य के वर्णन से कामायनी के अन्त तक यदि अद्भुत एवं शान्त रसों की योजना है तो इसी के साथ-साथ शैवागम प्रत्यभिज्ञादर्शन की पृष्ठभूमि भी है। दार्शनिक पृष्ठभूमि के कारण पाठक को अद्भुत के साथ-साथ अलौकिक लोक में भी जाना पड़ता है; उस समरस अखंड आनन्द वेश मूर्ति के अलौकिक लोक में

जहाँ पाप-पुण्य सब जलकर पावन एवं निर्मल बन जाते हैं; इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया-लोक श्रद्धा की महाज्योति की मुसकान से एकलय हो जाते हैं और दिव्य अनाहत नाद निनादित हो उठता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यह सब वर्णन पाठक को रसत्व की अवस्था तक नहीं ले जाता है। जिस प्रकार श्रद्धा मनु को त्रिलोक की ओर, ढाढस बँधाकर ले चलने में ही समर्थ होती है; मनु श्रद्धा के साथ सहज गति से नहीं चल पाते; ठीक उसी प्रकार पाठ भी कथा के साथ स्वाभाविक रूप से बह नहीं पाता, अपने मन को घसीटता हुआ काव्य के पन्ने पटलता है। त्रिपुर के अलौकिक लोक का वर्णन पढ़ने पर जो अर्थ प्रतीति होती है, सायास आत्म सात् करना पड़ता है। इतना परिश्रम करने के बाद भी पाठक चमत्कृत ही होता है, तन्मय की अवस्था वे रसत्व की दशा तक नहीं पहुँच पाता। दार्शनिक वर्णन की अर्थ-प्रतीति भी प्रत्येक सहृदय को नहीं हो पाती है। जो शैव-दर्शन से परिचित हैं, वस्तुतः उनको ही इस भाग का वास्तविक अर्थ-बोध होता है।

डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित ने कामायनी में साधारणीकरण की समस्या का विश्लेषण करते हुए अपने विचार इस प्रकार प्रकट किए हैं—"...... कभी-कभी साधारणीकरण कुछ विशेष स्तर के लोगों के लिए सम्भव हो पाता है। उदाहरणार्थ—'कामायनी' काव्य को लोक-सामान्य भावभूमि पर लाने वाला काव्य कदाचित् ही कोई कह सकता है। सभी पाठक उसके दार्शनिक दृष्टिकोण को समान रूप से ग्रहण नहीं कर सकते......अतः साधारणीकरण के सम्बन्ध में भी एक सीमा-रेखा खींची जा सकती है। वह यह कि समान स्तर के पठित अथवा श्रुत व्यक्ति ही यदि एक भावभूमि पर उपस्थित होते हों तो भी साधारणीकरण ही माना जाएगा.........विशेषतः श्रव्यकाव्य के सम्बन्ध में यह मार्ग अपनाना ही पड़ेगा; क्योंकि उसके रसास्वाद के लिए दृश्य का सहारा नहीं रहता, सूक्ष्म बुद्धि, कल्पना, ज्ञान एवं अनुभव-विशालता पर निर्भर रहना पड़ता है।"[1]

अगर दूसरी दृष्टि से देखें तो यह तर्क उपस्थित किया सकता है कि श्रव्यकाव्य की भावभूमि को दृश्यकाव्य की अपेक्षा की लोक-भूमि के अधिक निकट होना चाहिए। इसका कारण यह है कि दृश्य-काव्य में तो हम एक बार को अलौकिक भूमि से तादात्म्य कर सकते हैं; उसमें रस ले सकते हैं, क्योंकि वहाँ सब प्रत्यक्ष होता है, अलौकिक एवं अदृष्ट सत्ता की भी प्रत्यक्ष प्रतीति करायी जाती है, किन्तु श्रव्यकाव्य में तो हम केवल शब्दों के माध्यम

१. रस-सिद्धान्त : स्वरूप विश्लेषण—डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित, पृ० १४३।

से रस एवं कथा का परिज्ञान एवं अनुभव करते हैं। श्रव्य एवं दृश्यकाव्य में लोक-भूमि के कौन अधिक निकट होना चाहिए, यह यहाँ अवान्तर विषय है अतः यदि डॉ० दीक्षित के तर्क को एक बार मान भी लें, तो भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि जहाँ काव्य लोक-सामान्य भावभूमि से काफी भिन्न हो जाता है, वहाँ सब सहृदय रसास्वाद नहीं कर सकते हैं। वहाँ, जो सहृदय विशेष रूप से उसकी विशिष्य भूमि पर पहुँचने में समर्थ हो पाते हैं—केवल वे ही उसका रसास्वादन कर सकने में समर्थ होते हैं। इस परिप्रेक्ष्य में जब हम कामायनी की कथा के इस भाग पर विचार करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इस कथा की दार्शनिक भावभूमि को वही आत्मसात् कर सकेंगे, जो प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के पंडित हों। दर्शन से अनभिज्ञ सहृदयों को तो निराश ही होना पड़ेगा।

'आनन्द सर्ग' में तो वर्णन ही उस अनन्त-अखंड 'आनन्द' का है, जो समस्त रसों का आधार है। "आनन्द" कोई रस नहीं, अपितु प्रत्येक रस से "आनन्द" ही मिलता है। अभिनवगुप्त पादाचार्य ने रस को "आत्म-विश्रान्ति" की स्थिति कहा है। उससे उनका यही अभिप्राय जान पड़ता है कि वह अखंड अनुभूति मात्र है……रस की वास्तविक अवस्था तन्मयी भवन की अवस्था है, जहाँ हम अपने और अपने से सम्बन्धित विषय-ज्ञान को एक मात्र एक अनुभूति में लय कर देते हैं।"[1] 'आनन्द सर्ग' में तो समस्त रसों के मूल एवं प्रभाव "आनन्द", "आत्म-विश्रान्ति" एवं "एकमात्र एक अनुभूति" का ही वर्णन किया गया है। यह आनन्द व्यंजित अथवा ध्वनित नहीं, वर्णित तथा कथित है—

समरस थे जड़ या चेतन,
सुन्दर साकार बना था।
चेतनता एक बिलसती,
आनन्द अखंड घना था।

—(आनन्द सर्ग)

इस अखंड आनन्द की अनुभूति मनु, श्रद्धा एवं सारस्वत प्रदेश वासियों को काव्य की कथा में हो जाती है। हो सकता है प्रसाद जी के मानस ने भी सृजन प्रक्रिया के समय इस आनन्द की विशुद्ध अनुभूति कर ली हो, किन्तु उसी प्रकार की अनुभूति वे अपने पाठकों तक सम्प्रेषणीय कर सकने में समर्थ हो सके हैं, यह विचारणीय है।

---

१. **रस-सिद्धान्त : स्वरूप विश्लेषण**—डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित, पृ० ३९०।

२०

आलोक के कवि 'निराला'

●

विज्ञान के युग में अध्यात्म की बात करना कदाचित् रूढ़िवादिता ही मानी जायगी; परन्तु वास्तव में यह मान्यता केवल उन विद्वानों की है जो यह नहीं जानते या मानते कि विज्ञान अपनी प्रगति में निषेधात्मक नहीं होता, किसी विशिष्ट परिस्थित में विज्ञान अपनी सीमायें स्वीकार कर अवश्य लेता है, परन्तु किसी विषय के परिणाम पर अविश्वास नहीं करता। कुछ आधुनिक विद्वानों ने प्राचीन एवं आधुनिक साधकों की जीवनचर्या का, उनकी साधना का, तथा साधना से प्राप्त भौतिक तथा मानसिक परिवर्तनों का वैज्ञानिक रीति से अध्ययन किया है, तथा सिद्ध किया है कि सभी साधकों का साधना में एक ऐसा स्तर अवश्य आता है जहाँ जाकर वे अपनी बाह्य सीमाओं को खोने लगते हैं और एक प्रकार की ऐसी सामान्य स्थिति को प्राप्त हो जाते हैं जहाँ सम्पूर्ण भौतिकता अपना स्वरूप खोने लगती है तथा सारा संसार एक अभौतिक पदार्थ से परिव्याप्त लगने लगता है। ऐसे आलोकमय संसार की कल्पना सभी धर्मों में तथा सभी गुणों से सामान्य रूप से मिलती है। इसलिए कहा जा सकता है कि दर्शनों या धर्मों का रूप भिन्न हो सकता है, परन्तु आध्यात्मिक सिद्धि की जो अनिवार्य विशेषता है; यथा—आलोकमयता, सृजनात्मकता, सर्वत्र आत्मानुभूति आदि—वे सर्वत्र सामान्य रूप से मिलती हैं। यह सब कुछ साधकों की साधना

की साक्षी पर ही नहीं, वरन् कलाकार-साधकों की कलात्मक अभिव्यक्तियों के आधार पर ही सिद्ध किया जा सकता है। साधक कलाकारों की कलाकृतियों में एक प्रकार की ऐसी आलोकमयता देखी गयी है जो उन्हें कृत्रिम या बौद्धिक रहस्यवादियों से सहज ही भिन्न सिद्ध कर देती है। आधुनिक हिन्दी को केवल एक ही साधक रहस्यवादी कवि मिला है और वह है—महाकवि 'निराला', जिसके चिन्तन और आचरण में एकरूपता मिलती है, साथ ही उस समूचे साहित्य में जो साधना से सम्बन्धित है, सर्वत्र आलोक अनिवार्य रूप से मिलता है, सदा नये-नये रूपों में। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रहस्यवाद की जो कटु समीक्षा की थी, वह केवल उसके अनुभूति-पक्ष की दुर्बलता तथा साधारणीकरण की असम्भावना के कारण ही। मूलतः वे रहस्यवाद के विरोधी नहीं थे। इसीलिए उन्होंने कबीर, जायसी, मीरा आदि के रहस्यवाद की आलोचना नहीं की, क्योंकि वे जानते थे कि इसका रहस्यवाद अनुभूत है, सत्य है; जबकि आधुनिकों का काल्पनिक है, बौद्धिक है, इसलिए असत्य है। निराला जी के साधक-रूप को कदाचित् आचार्य शुक्ल देख नहीं पाए थे। बाद में निराला जी का वह रूप हिन्दी में बहुत-कुछ 'विक्षिप्त' के नाम से प्रसिद्ध हो गया या कर दिया गया।

निराला जी का जैसा अद्वितीय व्यक्तित्व था वैसा ही अद्वितीय व्यक्तित्व उनकी कविता का है। कविता का व्यक्तित्व कविता के उन गुणों से बनता है जो एक कविता को दूसरी कविता से भिन्न सिद्ध कर देते हैं। इन्हीं भिन्न विधायक गुणों या तत्वों का जब किसी विशेष कवि के समस्त काव्य में सामान्य रूप से अस्तित्व मिलता है तो हम उस कवि के काव्य को 'व्यक्तित्व-निष्ठ काव्य' कह सकते हैं। यदि इसी दृष्टि से विचार करें तो स्पष्टतः ज्ञात होगा कि आधुनिक काल के समस्त हिन्दी कवियों में निराला-काव्य सर्वाधिक व्यक्तित्व-निष्ठ काव्य है, अर्थात् निराला जी के काव्य को वह व्यक्तित्व प्राप्त है जो स्वयं 'निराला' है, अपने आप में अकेला है, स्वयं प्रकाशित है। निराला-काव्य-व्यक्तित्व की अनेक विशेषताएँ हैं, परन्तु उनमें सर्वाधिक प्रमुख विशेषता है—आलोक। 'आलोक' शब्द से मेरा तात्पर्य केवल भौतिक प्रकाश मात्र से नहीं है, परन्तु दार्शनिक और कलात्मक अर्थों से है!

कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह जी ने मुझे बताया है कि एक बार जब निराला जी गीतिका के प्रसिद्ध गीत—

तुम्हीं गाती हो अपना गान
व्यर्थ मैं पाता हूँ सम्मान।

लिख चुके थे तो उन्होंने निराला जी से पूछा कि 'पंडित' जी यह सब क्या है, इसका मतलब क्या है?' इस प्रश्न पर निराला जी का उत्तर था—'जिस समय

मैं लेखनी पकड़ता हूँ तो ऐसा लगता है कि जैसे कोई एक प्रकाश-पुञ्ज मेरे अँगूठे पर पूंजीभूत हो गया है और वही सब कुछ लिख जाया करता है, मैं कुछ नहीं लिखता।' इस प्रसंग के अतिरिक्त और भी कई ऐसे ही प्रसंगों की साक्षी दी जा सकती है, परन्तु सबसे बड़ी साक्षी तो निराला जी के वे गीत ही हैं जिनमें उक्त तथ्य स्वतः-साक्ष्य बनकर उपस्थित है। 'गीतिका' के ४२, ६१, ८० संख्यक गीत इस कथन की पुष्टि करते हैं।

'आलोक' शब्द या आलोकवाची शब्दों का प्रयोग निराला-काव्य में 'प्रायः सर्वत्र' मिलता है जो अपनी अर्थ-छाया (Shades of Meaning) की दृष्टि से इतना वैविध्यपूर्ण है कि उसको यहाँ किसी एक अर्थ-कोटि में बाँध लेना असम्भव है। आलोक, ज्योति, प्रकाश, आभा, आतप, वह्नि, अनल, किरण, प्रतिभा, ज्योत्स्ना आदि अनेक शब्दों का प्रयोग निराला जी ने केवल अपनी व्यंगात्मक कविताओं को छोड़कर 'प्रायः सर्वत्र', परन्तु सर्वत्र ही भिन्न अर्थाभासों या छायाओं के साथ किया है। 'राम की शक्ति-पूजा' का प्रारम्भ—

रवि हुआ अस्त ज्योति के पत्र में लिखा अमर
रह गया राम-रावण का अपराजेय समर।

से होता है। इसी प्रकार 'तुलसीदास' का आरम्भ भी भारत के सांस्कृतिक सूर्य के अस्त के साथ होता है। प्रार्थना के प्रायः सभी गीतों में कवि ने प्रकाश की याचना की है। ऐसा लगता है कि निराला जी का अभीष्ट केवल प्रकाश ही है। अपने लिए ही नहीं, वरन् जग के लिए भी वे यही माँगते हैं—

जग को ज्योतिर्मय कर दो।

अथवा—

आओ मेरे आतुर उर पर
नव जीवन के आलोक...।—(परिमल, गीत सं० ३७)
काट अंध उर के बंध-स्तर
बहा, जननि ज्योतिर्मय-निर्झर,
कलुष-भेद-तम हर प्रकाश कर,
जगमग जग कर दे। —(वही, गीत सं ०१)

'गीतिका' के गीत सं० ११ से स्पष्ट लगता है कि निराला जी ने अपनी प्रतिभा को अग्नि ही माना है, वे कहते हैं—

मेरे स्वर की अनल-शिखा से
जला सकल जग जीर्ण दिशा से
हे अरूप, नव रूप विभा के

चिर स्वरूप पा के आओ
मेरे प्राणों में आओ।

गीतिका के ही १६वें गीत में कवि ने पुनः पुनः 'ज्योतिर्मयी' का आह्वान किया है तथा तुम को 'किरणासव' पिलाकर 'उर मिला' ने की कामना की है। 'परिमल' की 'क्या दूँ' कविता में भी हमें यही आलोक-कामना दिखाई पड़ती है। ऐसा प्रतीत होता है कि निराला जी को आलोक के आभास मात्र से संतोष नहीं होता, उन्हें क्रियाशील, वेगवान आलोक प्रिय है, अर्थात् जिस आलोक की उन्होंने पुनः पुनः कामना की है—वह परम ज्ञान की निर्भ्रान्त शांत स्थिति का प्रतीक ही नहीं, वरन् जीवन की प्रगति-शील चेतना का द्योतक भी है। स्वामी विवेकानन्द के वेदान्त में ज्ञान और कर्म का जैसा सुन्दर समन्वय मिलता है, वैसा ही जीवन की सम्पूर्णता का समाहार निराला जी के आलोक में दृष्टिगोचर होता है। इसीलिए उन्होंने अनेक स्थानों पर 'ज्योतिःप्रपात' की बात की है। तथा 'प्रभाती' (परिमल) में बताया है कि 'जीवन-प्रसून के उषा नभ' में खुलते ही 'धाराएँ ज्योति सुरभि उर भर, चतुर्दिक कर्मलीन' हो बह चलती हैं। कवि अपने प्रिय से कहता है कि तुम—

गत-स्वप्न-निशा का तिमिर-जाल
नव करणों से धो लो
मुद्रित दृग खोलो।

लेकिन निराला-काव्य में आलोक केवल प्रार्थित पदार्थ नहीं है; वह तो उनकी कल्पना में सदा उपस्थित एक ऐसी सत्ता है, जिससे उनका प्रत्येक गीत सदा आलोकित होता रहता है। निराला जी ने अपने गीतों को 'जागरण' (जो आलोक का ही परिणाम या कार्य है) कहा है। यह 'गीत जागरण' कवि तब पाता है, जब 'अजस्र-रूप-रस-घन-किरणों' को देखकर 'जीवन की विद्युत-शत-तरंग कम्पित' होकर 'नयन-च्युत-सित-मधुर-ज्योति' से चुम्बित होकर, 'घन-वरण-कमल' रूपी जीवन खुल जाता है। गीतिका (४२ वाँ गीत) में कवि ने कहा है—

छंद की बाढ़ वृष्टि अनुराग
भर गये रे भावों के झाग।
आ गया बन जीवन-मधुमास।
हुआ मन का निर्मल आकाश।
रच गया नव किरणों का रास।
खेलते फूल ज्योति के फाग। —(गीतिका, गीत सं० ८०)

अपने 'मुखर गीत' के स्वर की तुलना में कवि कहता है कि 'विद्युत

ज्यों धन में'। निराला जी की आलोक-प्रियता का दूसरा प्रमाण उनका आलोक-मूलक उपमान-विधान है जिसके कुछ उदाहरण यहाँ देखे जा सकते हैं—

फूल सी देह द्युति-सारी
मुसका दी आभा ला दी
मार दी मुझे पिचकारी—(गीतिका, गीत सं० ५५)

× ×

गंगा ज्योति जल कण। —(भारती वंदना)

और भी—

रिपु के समक्ष जो था प्रचण्ड
आतप ज्यों तम पर करोद्दण्ड। —(तुलसीदास, ४)

× ×

ज्योतिर्मय प्राणों के चुम्बन संजीवन —(तुलसीदास, ८)

इस प्रकार की आलोकमूलक उपमान-विधान की अनूठी उक्तियाँ निराला-काव्य में स्थान-स्थान पर देखी जा सकती हैं; इसलिए यहाँ दो-चार और उदाहरण देकर ही संतोष करेंगे। गीतिका के गीत सं० ४४ में दुख अरण्य के किसलयों को 'ज्वाला' कहा गया है; गीत सं० ४७ में 'शशिप्रभा-दृग' से बहते अश्रुओं को 'ज्योत्स्नास्रोत' और तुलसीदास सं० ८६ में रत्नावलि को 'अनला प्रतिमा' कहा गया है।

निराला-काव्य का कोई भी सचेत विद्यार्थी यह पता लगा सकता है कि आलोक की कुछ विशेष भंगिमा निराला जी की अभिव्यंजना की ऐसी विशेषता बन गयी है कि जो अपनी मौलिकता में अनुपमेय है तथा अन्य किसी कवि में नहीं खोजी जा सकती। 'ज्योति की तन्वी' निराला जी की एक ऐसी ही उक्ति है। 'वन-वेला' कविता में बेला को कवि 'सम्बोधन' करता है—'हे वन्य वन्हि की तन्वि नवल'। इसी प्रकार प्रकाश की केवल एक ही किरण का मार्मिक वर्णन गीतिका (गीत सं० ८३) में द्रष्टव्य है तथा प्रभात की किरणों का वर्णन 'परिमल' की 'प्रथम प्रभात' नामक कविता में। इस सबसे ऐसा प्रतीत होता है कि निराला जी को जैसे सर्वत्र एक प्रकार का आलोक दृष्टिगोचर होता था जो उनको इतना प्रिय भी था कि वह उनकी अभिव्यक्ति का अनिवार्य तत्व बन गया है। कुछ ऐसे विशिष्ट स्थल, ऐसी स्थितियाँ तथा अनुभूतियाँ रूप है, जहाँ निराला-काव्य का गम्भीर विद्यार्थी यह तो सहज अनुमान कर लेता है या कर सकता है कि अब आलोक अनिवार्यतः आ रहा है, परन्तु उसकी भंगिमा क्या होगी, उसका रूप क्या होगा, कुछ भी कल्पनीय नहीं रहता; क्योंकि निराला-काव्य में जैसा कि स्वयं निराला जी ने 'परिमल' की भूमिका, पृष्ठ २३

पर कहा है, पुनरुक्ति से ही नितान्त मुक्त वरन् अधिकांश कल्पना उनकी निजी है।

उक्त विभिन्न उपमान या प्रतिमान-विधान में आलोक के साथ-साथ कवि ने आलोक या आलोकवाची शब्दों का प्रयोग आलोक से भिन्न अर्थ में भी किया है। "शिवाजी का पत्र" नामक कविता में कई स्थानों पर कवि ने भारत की "गई ज्योति" की ओर संकेत किया है जहाँ उसका अर्थ भारत का अतीत गौरवलोक ही कवि को अभीष्ट लगता है। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक कविताओं में जोवन, आशा, करुणा, प्रेम, सौंदर्य, रूप आदि अनेक शब्दों के साथ किरण, आभा आदि कोई न कोई आलोकवाची शब्द जोड़कर कवि ने इन शब्दों के अर्थ की आलोकमयता व्यंजित करने के साथ-साथ वैचारिक भूमिका पर इन शब्दों को अनूठा अर्थ-विस्तार प्रदान कर दिया है।

उपरिकथित आलोक की, निराला-काव्य में स्थिति के अतिरिक्त एक और अभिव्यंजना-प्रणाली है जहाँ निराला जी विशेष रूप से सफल हुए हैं, और वह है प्रतीक-योजना। 'प्रतीक' शब्द का जो अर्थ पश्चिम में, विशेष रूप से फ्रेंच साहित्य में 'Symbol' शब्द द्वारा व्यक्त होता है, उसका वास्तविक, स्वाभाविक और मार्मिक प्रयोग केवल निराला-काव्य में ही मिलता है, आधुनिक हिन्दी के अन्य कवियों में प्रतीक बहुत कुछ रूपक, रूपकातिशयोक्ति, लुप्तोपमा या एलैगरी की सीमा तक ही आ कर रह जाता है। शुद्ध प्रतीक अपने वास्तविक अर्थ में मुझे निराला-काव्य में ही मिले हैं, अन्यत्र जहाँ भी मिले हैं वे तो बहुत कुछ कृत्रिम या अनुकृत ही लगते हैं, अस्तु—

अब हमें देखना है कि निराला-काव्य की प्रतीक-योजना में आलोक-विधान का रूप व स्थान क्या है। निराला जी के प्रतीक-विधान का जो लघु रूप है, उसके विषय में यहाँ कुछ भी कहना असम्भव है। अतः उनके किसी वृहद काव्य के आलोक-सम्बन्धी प्रतीक का उदाहरण देकर संतोष करेंगे, क्योंकि निराला जी की प्रायः सभी बड़ी कविताएँ अन्ततोगत्वा प्रतीकात्मक हो जाती हैं। निराला जी जिसे 'कविता की परिणति'[1] कहा करते थे, वह प्रतीक-योजना की अन्तिम मरोड़ ही है।—(द्रष्टव्य है : 'जागो फिर एक बार' शृंगार वाली कविता की अन्तिम पंक्तियाँ या 'वह तोड़ती पत्थर' की अन्तिम पंक्ति।

---

१. इस सूचना के लिए मैं श्री कुँवर चंद्रप्रकाश सिंह जी के प्रति आभारी हूँ। उन्होंने मुझे बताया था कि श्री निराला जी बार-बार यह कहा करते थे कि "आधुनिक हिन्दी के कवियों की कविता में वह परिणति नहीं मिलती," इस वाक्य का प्रयोग वे बहुत किया करते थे।

ये पंक्तियाँ कविता के प्रथम सरलार्थ को एक ऐसा मरोड़ दे देती हैं कि कविता फिर से पढ़नी पड़ती है और प्रतीकार्थ एक दम स्वत: ही स्पष्ट हो जाता है)।
'राम की शक्ति-पूजा' और 'तुलसीदास', इन दोनों कविताओं में आलोक-मूलक प्रतीक बड़े ही स्पष्ट हैं। 'राम की शक्ति-पूजा' में जो आलोक-मूलक प्रतीक-विधान हैं वे पूरी कविता में व्याप्त नहीं हैं, परन्तु 'तुलसीदास' में तो इसके दो-तीन स्तर हैं।

'तुलसीदास' में आये दोनों पात्र—तुलसी और रत्नावली, चारित्रिक विकास की दृष्टि से क्रिया-शून्य हैं, परन्तु परिवर्तन कवि ने दोनों ही पात्रों में प्रदर्शित किया है। यह परिवर्तन कार्य-कलापों के घात-प्रतिघात के परिणाम-स्वरूप या घटनाओं के कारण, न बताकर कवि ने स्पष्ट ही इन दोनों पात्रों को प्रतीकात्मक बना दिया है; अर्थात् इन पात्रों की मानवीयता का सहज चित्रण बहुत ही कम अंशों में कवि ने सप्रयोजन किया है, साथ ही अधिकांश में इनमें स्वत:स्फूर्त मानसिक तथा आध्यात्मिक परिवर्तनों का चित्रण करके (जो कई स्थानों पर Mythmaking और Mystic हो गया है) कवि ने इन पात्रों के चरित्रार्थ की बहु-विधि सम्भावनायें प्रस्तुत कर दी हैं, इसीलिए ये सामान्य प्रबन्ध-काव्य के सहज पात्र न रहकर प्रतीकात्मक बन गये हैं।

तुलसी का पात्र एक सामान्य प्रतीक का सुन्दर उदाहरण है, जबकि रत्नावली का पात्र आलोक-मूलक प्रतीक के रूप में हमारे सामने आता है। रत्नावली का पात्र हमारे सामने केवल दो स्थलों पर विशेष रूप से आता है—एक, तुलसी की कल्पना में चित्रकूट-दर्शन के समय, और दूसरे, तुलसी के श्वसुर गृह में पहुँचने पर तथा क्षणिक रूप में अपने भाई से वार्तालाप करते समय, जब वह उसे लिवा जाने के लिए आता है। तीनों ही स्थानों पर रत्नावली का चित्रण कवि ने आलोकपुंज के रूप में ही किया है। उसके चरित्र की निश्चयात्मक रेखाएँ उभर कर आती ही हैं कि सारे पात्र को कवि ने ऐसे आलोक से आवरित चित्रित कर दिया है कि उसकी ये आलोक-रेखाएँ अपने आप में प्रतीकात्मक मूल्य तथा महत्व प्राप्त कर जाती हैं। परिणामस्वरूप रत्नावली का पात्र मानवीय न रहकर, दैवी हो जाता है, मात्र अभिधेयार्थ न रहकर प्रतीकार्थ बन जाता है, और इसके प्रतीकात्मक अर्थ-विकल्प की अनेक सम्भावनाएँ हमारे सम्मुख प्रस्तुत हो जाती हैं, सफल प्रतीक-योजना की यह महती विशेषता है। रत्नावली के पात्र के प्रतीकार्थ के लिए निम्नलिखित छंद विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं—३८, ४६, ५१, ५७, ५९, ८४, और ८६।

'तुलसीदास' की प्रथम पक्ति और अंतिम पंक्ति यदि ध्यान से पढ़ी जाय तो स्पष्ट होगा कि इस प्रबंध-काव्य की कथा 'सूर्य के अस्त और उदय' की

कथा है, निराला जी ने इस सूर्यालोक के अस्तोदय के प्रतीक का बड़ा ही सफल और सुन्दर नियोजन किया है। कथानक के आदि-अन्त में ही प्रकाशपुंज सूर्य का नियोजन नहीं, वरन् इस कथानक के विकास में घटनाओं के घात-प्रतिघात की अपेक्षा प्रकाश-पुँजों की क्रिया-प्रतिक्रिया अधिक दृष्टिगोचर होती है। भारत के सांस्कृतिक सूर्य के अस्त के साथ ही मुग़ल संस्कृति के शशधर की की किरणों का पृथ्वी के अधरों पर ज्योतिर्मय प्राणों के चुम्बन, उसी के बीच ज्योति-चुम्बिनी कलशों से युक्त राजापुर से निकल कर प्रतिभालोक से मंडित तुलसी का चित्रकूट की आलोकित प्रकृति में मिहिर-द्वार-दर्शन की कामना आदि-आदि अनेक ऐसे वर्णन मिलते हैं—जिनसे सम्पूर्ण कथानक की विकासधारा प्रकाश-पुंजों से गुँथी सी लगती है, और इसीलिए प्रथम पंक्ति में सूर्य का अस्त होना और अंतिम पंक्ति में 'प्राची दिगंत उर में पुष्कल रवि रेखा' का उल्लेख अपने सामान्य अर्थ से ऊपर प्रतीकात्मक महत्व प्राप्त कर लेते हैं। परिणाम-स्वरूप 'तुलसीदास' काव्य का कथानक अपनी प्रबंध-वक्रता के कारण प्रतीकात्मक बन जाता है, और यह प्रतीक भी आलोक-मूलक ही है।

यहाँ अतिशय प्रयुक्त आलोकवाची शब्द, कवि की पुनः पुनः आलोक-कामना, आलोक-मूलक विभिन्न उपमानों तथा प्रतीकों की सम्यक् व्याख्या करने का अवकाश नहीं है; फिर भी आलोक-सम्बन्धी निराला जी के इन सभी प्रयोगों को देखकर इतना अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि निराला जी की काव्य-योजना और चिन्तनधारा में 'आलोक' का विशेष महत्व है। यह शब्द उनकी विशिष्ट दार्शनिक मान्यता तथा साधनात्मक अनुभूति का परिचायक है। वैसे भारतीय चिन्तनधारा की परम्परा में यह शब्द ज्ञान के प्रतीक के रूप में प्रचलित है; परन्तु निराला जी ने इस शब्द के परम्परा-प्राप्त दार्शनिक अर्थ को भावनात्मक विस्तार प्रदान किया है जिसकी समुचित व्याख्या निबन्ध की सीमा में सम्भव नहीं है। कवि के इन शब्दों के साथ—

> **प्रतिपल तुम ढाल रहे सुधा मधुर ज्योति धार,**
> **मेरे जीवन पर प्रिय यौवन बन के बहार।**
> **कितनी ही तरुण अरुण किरणें**
> **देख रहा हूँ अजसन दूर ज्योति यान द्वार।**

महाकवि के चरणों में परिश्रम-प्रसून की श्रद्धाञ्जलि सादर समर्पित है।

२१

महाकवि 'निराला' की काव्य-भाषा

●

साहित्यकार या कवि की अर्थमयी भावमग्न चेतना जब उदबुद्ध होकर मानस से बाहर प्रकट होना चाहती है—तब वह शब्दों में नहीं, अपितु वाक्यों में ही अपने स्वरूप को उपस्थित करती है। अर्थ की यह सरस एवं चमत्कारमयी अभिव्यक्ति ही 'साहित्य' कहाती है। अर्थ और वाक्य का यह मेल ही तो 'साहित्य' नाम से विख्यात हुआ है। अर्थमयी चेतना का वैखरी रूप ही तो 'भाषा' है। कवि की यह चेतना जब रसमयी बन जाती है तो उसकी अभिव्यक्ति केवल 'भाषा' ही नहीं, अपितु 'काव्य-भाषा' कहाती है। इसीलिए सामान्य साहित्य-भाषा से काव्य-भाषा सदा अधिक सरस तथा प्रभावशालिनी होती है। उसके प्रभाव का मूल कारण—उसका अपना सौन्दर्य तथा रमणीयता है। काव्य-भाषा की रमणीयता वाक्यांशों तथा वाक्यों में आये हुए शब्दों की शक्तियों पर ही विशेषरूपेण निर्भर करती है। आचार्यों ने उन्हें अभिधा, लक्षणा, व्यंजना तथा तात्पर्य नाम से अभिव्यक्त किया है।

वाक्य से पद और पद से शब्द का स्वरूप समझा जा सकता है। एक प्रकार से शब्द ही 'वाणी' का पर्याय है। हमारे शास्त्रों में जो उपमान वाणी को प्राप्त हुए हैं उनमें से 'कामधेनु' और 'जलदांगना' नाम बड़े सार्थक हैं। शब्द-धेनु आदि मानव-समाज से आज तक निरन्तर दुही जा रही है, किन्तु

उसके दुग्ध में लेश-मात्र भी कमी नहीं आयी। काव्य-भाषा में तो यह जलदांगना अनेक रूपाकार रखकर विभिन्न ऊँचाई के भाव-प्रदेशों में अर्थ की वर्षा किया करती है। वाणी की इस वर्षा में स्नान करके विज्ञ सहृदय पाठक को आनन्द ही नहीं, अपितु लोकोत्तरानन्द प्राप्त होता है। इसीलिए वाणी की इस अर्थ-वर्षा का जल 'जल' नहीं, अपितु 'अमृत' है। महाकवि भवभूति ने वाणी का विशेषण 'अमृत'[1] लिखकर उपर्युक्त कथन का ही समर्थन किया था।

एक बार अकबर बादशाह ने बीरबल से पूछा कि जलों में कौनसा जल श्रेष्ठ है? तो बीरबल ने बताया कि 'जमना-जल'। इस पर बादशाह अकबर ने झुँझलाते हुए कहा—"बीरबल! दुनिया तो श्रेष्ठता तथा पवित्रता की दृष्टि से जलों में जल 'गंगा-जल' बताती है और तुम 'जमना-जल' को सर्वोत्तम बता रहे हो।" बीरबल ने फिर भी अपनी ही बात को दुहराते हुए निवेदन किया—'बादशाह सलामत! जलों में जल तो जमना-जल ही है। गंगा-जल 'जल' नहीं है, वह तो 'अमृत' है। जलों में उसकी गिनती करना अपने ऊपर पाप चढ़ाना है।' इसी दृष्टि-बिंदु से यह कहा जा सकता है कि काव्येतर विधाओं की भाषाएँ यदि जल हैं तो काव्य-भाषा 'अमृत' है।

वैसे तो पद-संयोजना से भाषा को कोमल, मधुर अथवा कठोर बनाया जा सकता है; किन्तु कुछ भाषाएँ अपनी प्रकृति के अनुसार स्वयं भी कोमल या कठोर हुआ करती हैं। अलीगढ़ जनपद की बोली कोमल है तो मेरठ जनपद की कठोर। ठीक उसी प्रकार कोई कवि यदि वैदर्भी रीति या माधुर्य गुण का प्रेमी है तो दूसरा गौड़ी रीति और ओज गुण का; और तीसरा पांचाली रीति और प्रसाद गुण का। ऐसा भी होता है कि वस्तु-सामग्री अर्थात् वर्ण्य विषय के अनुसार कवि की भाषाभिव्यक्ति विभिन्न रूपिणी बन जाती है; किन्तु फिर भी गीतकार कवि के गीतों में सर्वाङ्गीण दृष्टि से एक विशेष स्वर भी सुनाई पड़ा करता है।

यदि हम महाप्राण श्री निराला जी के काव्य-ग्रन्थों—परिमल, गीतिका, तुलसीदास, अनामिका (नवीन), कुकुरमुत्ता, अणिमा, बेला, नये पत्ते, अपरा और अर्चना—का भाषा-रचना की दृष्टि से अध्ययन करें तो विदित होगा कि उनमें शब्द-संयोजना आवश्यकतानुसार कोमल, सरस और कठोर है। फिर भी हमारे इस कवि का अपना एक विशिष्ट स्वर है जिसकी शैली में ओज का प्राधान्य स्पष्टतः दिखाई पड़ता है। इस महाप्राण कवि के शब्द-विन्यास को गौड़ी रीति के माध्यम से अभिव्यक्त होना ही अधिक प्रिय है।

---

१. 'वन्देमहि च तां वाणीं अमृतां आत्मनः कलाम्।'—भवभूति

अर्थ से पृथक् शब्द में अपनी निजी एक कोमलता, मधुरता अथवा कठोरता हुआ करती है, जिसका मूलाधार उस शब्द का वर्णविन्यास हुआ करता है। 'रवि' और 'मार्तण्ड' शब्द अर्थ में समान होते हुए भी श्रोता के मानस-पटल पर अपना प्रभाव पृथक्-पृथक् प्रकट करते हैं। 'रवि' माधुर्य को प्रकट करता है तो 'मार्तण्ड' ओज से परिपूर्ण है। 'मार्तण्ड' का व्यंजन-संयोग और टवर्गीय वर्ण का पुट अर्थ से पृथक् एक निराली ध्वन्यात्मक प्राणता तथा उग्रता प्रस्तुत कर रहा है। वर्णों और उनसे निर्मित शब्दों की ऐसी ध्वन्यात्मक प्राणता की प्रकृति का अध्ययन करने के उपरान्त ही तो काव्य-प्रकाशकार आचार्य मम्मट ने यह घोषित किया था कि जब काव्य में पद-विन्यास के समय प्रत्येक वर्ग के प्रथम वर्ण के साथ द्वितीय वर्ण का संयोग हो अथवा अन्य वर्णों के साथ 'र' का संयोग हो अथवा टवर्गीय वर्ण और श, ष द्वित्व के साथ आएँ और उनकी लम्बी-लम्बी समासान्त पदावली भी हो, तो वह रचना ओज गुणपूर्ण कहाती है।[1] टवर्गीय वर्णों के शब्दों में पौरुष और ओज रहता है। तभी तो 'वेणु' शब्द पुल्लिग और उसका पर्यायवाची 'बाँसुरी' शब्द स्त्रीलिंग है।

वर्णों की ध्वनि के आधार पर हम यदि गहरी और पैनी निगाह से देखें तो पर्यायवाची दो शब्द भी अपना अलग-अलग अर्थ रखते हैं। शब्दार्थ-मर्मी कुशल कवियों के लिए 'पानी' और 'जल', 'लड़ाई' और 'युद्ध', 'शंकर' और 'रुद्र' तथा 'निर्मल' और 'स्वच्छ' का एक अर्थ नहीं है। इसीलिए वेदार्थ-मर्मी यास्क मुनि ने कहा है कि शब्द में से अर्थ इस प्रकार झलक देता है जिस प्रकार बारीक तथा झीने वस्त्र में से शरीर की कान्ति दृष्टिगोचर हुआ करती है। मुनीश्वर यास्क के लिए अर्थ 'देवता' है और भागवतकार के लिए अर्थ 'अव्यक्त ओंकार' है। उसका वैखरी रूप ही व्यक्त-शब्द ब्रह्म है।[2] किस शब्द में वर्णविन्यासोद्भूत ओज और किसमें माधुर्य है, इसे महाकवि निराला की लेखनी पूर्णरूपेण परख लेती है। वह समुचित तथा समुपयुक्त शब्दों में अर्थ को अभि-व्यक्त करना जानती है। नर और नारी अथवा पुरुष और प्रकृति के रूप और सम्बन्ध को उपस्थित करने वाले चित्र कवि ने 'तुम और मैं' शीर्षक कविता में

---

१. "योग आद्य तृतीयाभ्यामन्त्ययो रेण तुल्ययोः।
टादिः शषौ वृत्तिदैर्घ्यंगुम्फ उद्धत ओजसि॥"
—मम्मट : काव्यप्रकाश, सूत्र १००।

२. "शब्दब्रह्मात्मनस्तस्य व्यक्ताव्यक्तात्मनः परः।"
—श्रीमद्भागवत, ३-१२-४८।

जिस शब्दार्थ-कौशल के साथ चित्रित किये हैं, वे सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य में अप्रतिम हैं। नर का ओज एवं पौरुष और नारी की सरसता एवं कोमलता जिन प्रतीकों एवं उपमानों से व्यक्त की जा सकती है, उनके समुपयुक्त पर्याय-वाची शब्दों को कवि ने चुन-चुनकर प्रयुक्त किया है। ओज और माधुर्य का एक साथ आनन्द यदि सच्चे शब्द-कौशल में कहीं प्राप्त किया जा सकता है तो निराला जी की इन निम्नांकित कुछ पंक्तियों में—

> **तुम तुङ्ग हिमालय शृंग,**
> **और मैं चंचलगति सुर-सरिता।**
> **तुम विमल हृदय-उच्छ्वास,**
> **और मैं कान्त-कामिनी कविता।**
>
> \+ \+ \+
>
> **तुम रण ताण्डव उन्माद नृत्य,**
> **मैं मुखर मधुर नूपुर-ध्वनि।**
> **तुम नाद वेद ओङ्कार सार,**
> **मैं कवि शृंगार शिरोमणि।**

शुद्ध गौड़ी रीति, परुषा वृत्ति और ओज गुण की पदावली की महा-प्राणता यदि कोई देखना चाहता है तो उसे महाप्राण निराला जी की 'राम की शक्ति-पूजा' शीर्षक कविता को अवश्य पढ़ना चाहिए। उसे पढ़कर पाठक को विदित हो जायगा कि निराला जी के नाम के पहले 'महाप्राण' विशेषण क्यों जोड़ा जाता है—

> **राघव-लाघव—रावण वारण—गत युग्म प्रहर,**
> **उद्धत लंकापति - मर्द्दित-कपिदल - बल-विस्तर,**
> **अनिमेष राम विश्वजिद् दिव्य शरभङ्ग-भाव—**
> **विद्धाङ्ग बद्ध-कोदण्ड-मुष्टि-खर रुधिर-स्राव,**
> **रावण-प्रहार - दुर्वार विकल वानर - दल-बल—**
> **मूर्च्छित-सुग्रीवाङ्गद - भीषण - गवाक्ष-गय - नल—**
> **वारित-सौमित्र - भल्लपति - अगणित-मल्ल-रोध,**
> **गर्जित-प्रलयाब्धि - क्षुब्ध हनुमत् - केवल-प्रबोध,**
> **उद्गीरित-वह्नि-भीम - पर्वत-कपि-चतुः प्रहर—**
> **जानकी-भीरु - उर आशाभर - रावण - संवर।**

'तुलसीदास' नामक खण्ड-काव्य में कविवर निराला जी ने परुषा तथा कोमला वृत्तियों का गंगा-जमुनी सम्मेलन प्रदर्शित किया है। अपने स्वभाव के अनुसार उसमें भी कवि परुषा वृत्ति की ओर ही अधिक झुका हुआ मालूम

पड़ता है। पुस्तक के प्रारम्भ में ही निराला जी अपनी भावमयी चेतना को इन शब्दों में प्रकट करते हैं—

भारत के नभ का प्रभापूर्य
शीतलच्छाय सांस्कृतिक सूर्य,
अस्तमित आज रे—तमस्तूर्य दिङ्मण्डल।

संयुक्त व्यंजन एवं दीर्घ समासों की पदावली वीर, भयानक और रौद्र रसों का स्वरूप उपस्थित करने में सफल सिद्ध होती है, शृङ्गार और करुण रस के लिए समास-रहित सरल पदावली ही उत्तम ठहरती है। इसे निराला जी के अंतस् का कवि अच्छी तरह जानता है। इसीलिए 'अनामिका' और 'गीतिका' नामक काव्य-पुस्तकों की अनेक कविताएँ आपको ऐसी मिलेंगी, जिनकी भाषा पांचाली रीति अर्थात् कोमला वृत्ति से परिपूर्ण है। सारांश यह है कि उनकी पद-रचना असमस्त, सरल और प्रसाद गुणयुक्त पायी जाती है। 'प्रिया से' शीर्षक कविता के पद-विन्यास का सारल्य देखिए—

मेरे इस जीवन की है—
तू सरस साधना कविता।
मेरे तरु की है तू—
कुसुमित प्रिये कल्पना-लतिका॥

—('अनामिका' से)

पत्थर तोड़ती हुई एक मजदूरनी का करुण चित्र कवि से वैसी ही सरल शब्दावली में चित्रित किया है—

वह तोड़ती पत्थर—
देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर,
वह तोड़ती पत्थर।

—('अनामिका' से)

'गीतिका' की निम्नांकित चार पंक्तियाँ भी समासहीन सरल पद-रचना में अभिव्यक्त हैं, क्योंकि इनका रस शृंगार है—

सोचता उन नयनों का प्यार।
अचानक भरा सकल भण्डार॥
आज और ही और संसार।
और ही सुकृत मंजु पावन॥

कवि की उद्बुद्ध चेतना का चित्र जब शब्दरूपा कला के माध्यम से कविता का रूप धारण करता है, तब ऐसे विलक्षण क्षण भी आते हैं कि वाच्यार्थधारिणी अभिधा-शक्ति हार मानकर बैठ जाती है, उस समय कुशल

कवि के मानस की प्रतिभा का वेगवान् बल पाकर शब्द वाष्प की भाँति ऊपर को उठता है और फिर जलद की भाँति भारी होकर ऐसी अर्थ-वर्षा करता है कि उसके उपरान्त कवि-चेतना के चित्र इन्द्र-धनुष की तरह स्वतः ही मधुर रूप में दृष्टिगोचर होने लगते हैं। ऐसे मधुर चित्र लक्षणा-शक्ति चित्रित किया करती है। काव्यशास्त्र के बीसियों अलंकारों की जननी यही लक्षणा-शक्ति है। लक्षणा ही तो नेत्रों को कमल, मीन, खंजन, मृग आदि कहती है। काव्य-रचना के मार्ग में जहाँ लक्षणा थककर बैठ जाती है, वहाँ व्यंजना-शक्ति के सहारे ही कवि की कला प्रकट होती है। वास्तव में भाषा का अर्थ-जगत् उसका लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ ही है। कवि-मानस का सीमातीत सूक्ष्म अर्थ व्यंजना (ध्वनि) के ही साथ आता है। इसीलिए प्रतिभाशील कुशल कवि अपने भावों को व्यंजना के माध्यम से विस्तृत बनाया करते हैं और 'शब्द की गागर में अर्थ का सागर' भरा करते हैं। कवि की सन्ध्या-सुन्दरी अम्बर-पथ से किस प्रकार चली है, उसकी रूप-सज्जा और कवि के शब्दों का व्यंजना-व्यापार निम्नांकित पंक्तियों में दृष्टव्य है—

अलसता-की-सी लता,
किन्तु कोमलता की वह कली।
सखी नीरवता के कन्धे पर डाले बाँह,
छाँह-सी अम्बर-पथ से चली।

उक्त पंक्तियों में शब्द अपने अभिप्राय की प्रधानता का परित्याग करके कुछ विशेष अर्थों को व्यक्त कर रहे हैं। इसीलिए यह शब्द-योजना ध्वनि-काव्य कहलाने की अधिकारिणी है। सन्ध्या की सखी नीरवता (शान्ति) है। मैत्री एक-सी प्रकृति वालों में ही हुआ करती है; अतः इससे ध्वनित है कि सन्ध्या स्वभाव से शान्त प्रकृति वाली है। सखियाँ प्रायः कुमारियों की ही होती हैं, विवाहिता नारियों को सखियों की उतनी आवश्यकता नहीं होती। अतः सखी का साथ में होना यह व्यंजित करता है कि सन्ध्या-सुन्दरी अभी कुमारी ही है। सखी (नीरवता) के कन्धे पर बाँह डालना—यह भी प्रकट करता है कि संध्या-सुन्दरी अभी मुग्धा नवयौवना है और स्वभाव की अल्हड़ है। सखी के कन्धे पर बाँह डाले हुए आना—यह भी ध्वनित करता है कि सखी (नीरवता) के साथ संध्या-सुन्दरी की बड़ी गहरी मित्रता है। संध्या के लिए 'छाँह' का उपमान प्रस्तुत करने से यह व्यंजित है कि सन्ध्या-सुन्दरी शरीर से बड़ी पतली है। अम्बर-पथ से नीचे उतरने में संध्या ने सखी के कन्धे का सहारा लिया है; अतः वह सुकुमारी एवं कोमलांगिनी भी है। यदि हिन्दी भाषा की उर्दू शैली में कहें तो यह कहा जा सकता है कि 'शाम' एक नाज़नी और नाज़पर्वरदह् है। संध्या-

सुन्दरी न तो भूलोक की नारी है—और न उसे कभी इस पृथ्वी पर चलने का काम ही पड़ा है, जिससे उसका शरीर सबल और कठोर बनता अथवा कठोरता सहने का अभ्यासी होता। उक्त पंक्तियों में महाकवि निराला जी ने मानवीकरण के द्वारा छायारूपिणी संध्या को कुमारी का रूप देकर कमाल कर दिया है। यहाँ अनेक वस्तु-ध्वनियों का सम्मेलन दिखाई पड़ रहा है। श्री निराला जी के ऐसे ही ध्वनिपरक चित्रों पर मुग्ध होकर श्री जयशंकर 'प्रसाद' जी ने निराला जी के काव्य के सम्बन्ध में लिखा था—'चित्रों की रेखाएँ पुष्ट, वर्णों का विकास भास्वर है। दार्शनिक पक्ष गंभीर और व्यंजना मूर्तिमती है।'

निराला जी ने अपनी कविताओं में व्याकरण-सम्बन्धी कुछ विशेष प्रयोग भी किये हैं। ऐसे प्रयोग कर्त्ता और क्रिया के रूपों से विशेष सम्बन्ध रखते हैं। निराला जी के मत से 'तुम' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है—(१) अपने से बड़े के लिए सम्मानार्थ में, और (२) समान आयु अथवा समान पद वाले के अर्थ में। जब सम्मानार्थ में 'तुम' का प्रयोग होता है, तब निराला जी भूतकालीन क्रिया को अनुनासिक बना देते हैं, जैसे—'तुम जाती थीं।' किन्तु जब समानता के अर्थ में प्रयोग किया जाता है तो वे लिखते हैं—'तुम जाती थी।' अर्थात् सहायक क्रिया अनुनासिकता से रहित प्रयुक्त की जाती है। 'गीतिका' के ६१ वें गीत में कवि ने लिखा है—'कण्ठ की तुम्हीं 'रही' स्वर-हार।' यहाँ 'रही' के स्थान पर हिन्दी व्याकरणानुसार 'रहीं' होना चाहिए था। इसे हम भाषा के क्षेत्र में कवि का एक क्रान्तिकारी चरण-न्यास ही कह सकते हैं। 'मार दी तुझे पिचकारी'—(गीतिका, छन्द ५५); 'जग धोका तो रो क्या ?'—(गीतिका, छन्द ४६); '(जब) चाह, तुम्हें चहते।'—(गीतिका, छन्द २१) आदि निराला जी के भाषा-विषयक ऐसे ही अपने प्रयोग हैं। इनका कारण संगीत के स्वर भी हो सकते हैं, जिनमें बँध जाने के कारण कवि को वैसा लिखने के लिए बाध्य होना पड़ा होगा। बंग-साहित्य से प्रभावित होने के कारण— निराला जी ने अपनी कविताओं में संगीत को कवित्वमय और कवित्व को संगीतमय बनाने की अधिक चेष्टा की है। इसीलिए कहीं-कहीं अर्थ-बाधकता वाले पद-विन्यास की परवाह उन्होंने नहीं की। बँगला भाषा के प्रभाव के कारण ही उनकी कविताओं में क्रियापदों का प्रायः लोप पाया जाता है। साराांश यह कि उनके वाक्य-विन्यास पर बंग-शैली का स्पष्ट प्रभाव प्रतिलक्षित होता है।

महाकवि 'निराला' की भाषा संस्कृत के तत्सम शब्दों से परिपूर्ण, साहित्यिक खड़ीबोली है, जिसे संगीत के मंच पर सुशोभित करके शृंगार की मधुरिमा और वीर का ओज प्रदान किया गया है। इसीलिए खड़ीबोली की

कर्कशता निराला जी की कविताओं में नहीं है। उनकी रचनाओं में जहाँ बौद्धिक तत्त्व अधिक है—वहाँ भाषा जटिल और दुरूह हो गई है, किन्तु हृदय-तत्त्व की प्रधानता प्राप्त करके वह संस्कृत की ललित एवं कोमलकान्त पदावली की स्वर-लहरी से अभिमण्डित भी हो गई है। वह कोमलकान्त पदावली विशेषतः अभिधात्मक शब्दों को लेकर ही चली है।

बँगला भाषा के कुछ शब्द बड़े सुन्दर ढंग से निराला जी ने अपनी कविताओं में प्रयुक्त किये हैं। फारसी आदि विदेशी भाषाओं के शब्दों को तो वे बड़े विचार के साथ ही प्रयुक्त करते हैं। उन शब्दों के प्रयोग से भाषा प्राणवन्त ही बनी है।

कलामर्मज्ञ कुशल कवि की सबसे बड़ी पहचान यह है कि वह सदा पूर्ण समर्थ एवं अर्थव्यंजक शब्दों का ही प्रयोग किया करता है। संज्ञा-शब्दों के साथ में अनेक विशेषण-शब्दों का प्रयोग कवि की असमर्थता तथा अल्पज्ञता का द्योतक है। सच्चे कवि उच्छिष्ट-भोजी नहीं होते और विशेषणों का अधिक प्रयोग भी नहीं करते। शब्द-मर्मी कुशल कवि 'नील कमल' के स्थान पर 'इन्दीवर' और 'पूर्णमासी के चन्द्र' के स्थान पर 'राकेश' लिखना अधिक कलापूर्ण मानता है। यह बात हमें निराला जी की काव्य-पुस्तकों में भी मिलती है। अनुप्रासमयी शब्द-योजना के तो वे पूर्णतः सफल कवि हैं—

वसन वासनाओं के रँग रँग।

—(अनामिका, पृ० ३१)

\+ + +

नीरज-नीलनयन, बिम्बाधर।

—(वही, पृ० १०७)

\+ + +

तरु की तरुण-तान शाखें।

—(वही, पृ० १४३)

अन्त में, सारांश रूप में यही निवेदन किया जा सकता है कि निराला जी की लेखनी ने खड़ीबोली हिन्दी को नवीन संगीत-शैली के गीत प्रदान किये हैं और गीतों के शब्दों में ओज और माधुर्य को भरा है। उनके गीतों में ध्वनिमूलक अलंकारों की संगीतमयी शोभा देखते ही बनती है—

मौन रही हार।
प्रिय-पथ पर चलती सब कहते शृंगार।

कण-कण कर कंकण किणि-किणि रव किंकिणी।
रणन-रणन नूपुर उर लाज लौट रंकिणी।
\+ \+ \+
बजें सजे उर के इस सुर के सब तार॥ मौन०॥

खड़ीबोली की कविता को छन्द के बन्धन से मुक्त करके श्री निराला जी ने उसे नये स्वर तथा अभिनव संगीत-शैली प्रदान की है। 'कुकुरमुत्ता' में हमें कवि की विचित्र व्यंग्यात्मक शैली के दर्शन होते हैं। काव्य में नये-नये प्रतीकों[1] का प्रयोग कोई इस कवि से सीख ले।

---

१. रूखी री यह डाल बसन वासन्ती लेगी। —(गीतिका)
'रूखी डाल' प्रतीक है—हमारे तत्कालीन परतंत्र भारत का।
'वासन्ती बसन' प्रतीक है—स्वतन्त्रता का।

२२

राम की शक्तिपूजा : कुछ विचार

●

'रवि हुआ अस्त'···

प्रेक्षागृह में अँधेरा हो गया। लेकिन सामने 'ज्योति के पत्र' पर राम-रावण का समर दिखाया जाने लगा। आँखें कुछ चौंधियाई-सी रहीं पहले-पहले, फिर धीरे-धीरे सब कुछ स्पष्ट होने लगा। एक के बाद एक चित्र आता रहा। तीक्ष्ण-शर-संधान और 'शत-शेल-सम्वरण-शील' सेना द्वारा 'नील-नभ-गर्जित-स्वर', फिर एक सेना का दूसरी को फँसाने के लिये रचा गया व्यूह प्रत्यूह, क्रुद्ध वानर-सेना का रोष-गर्जन और इसके बाद एक नितान्त नवीन चित्र—

'विच्छुरित-बह्नि-राजीवनयन-हत-लक्ष्य-बाण'

झट परिवर्तन और रावण का 'क्लोज-अप' 'लोकित-लोचनों' के साथ सामने है। राम बड़े कौशल से रावण के प्रहारों को व्यर्थ कर देते थे। इसी आक्रमण-प्रत्याक्रमण में राम के सब साथी मूर्च्छित हो गये, केवल गर्जित प्रलयाब्धि के समान हनूमान ही सतर्क रहे। रावण के तामस के आगे केवल वे ही 'जानकी भीम-उर-आशा-भर' थे।

दर्शक देखेंगे कि निराला जी ने अपनी यह रचना सवाक्-चित्र की तरह एकदम प्रारम्भ कर दी है। इस प्रारम्भ में नाटकीयता है। दर्शक (पाठक)

एकदम रुद्ध-श्वास हो जाते हैं और सामने चित्र क्षिप्र-गति से आते-जाते रहते हैं। कविता का यह प्रारम्भ राम-रावण-युद्ध के समान ही क्षिप्रगति से हुआ है। इसकी यह निजी विशेषता है । इस प्रारम्भ के साथ कवि ने युद्ध के सभी मुख्य चित्र पाठकों के सामने फैला दिये हैं । और यदि मैं यह कहूँ कि 'राम की शक्ति-पूजा' कवि की कुशल लेखनी के बनाये गये सवाक्-चित्रों की 'ऐलबम' है तो कोई अत्युक्ति न होगी ।

इस कविता में राम-रावण के युद्ध का वर्णन अवसाद की पृष्ठभूमि में हुआ है। युद्ध अनिर्णीत रहा था। सन्ध्या हो गई और इसके साथ ही अन्धकार के समान राम की सेना पर एक निराशा की गहरी पर्त सी छा गई ! रावण को इस युद्ध में रोकना कठिन रहा था, राम स्वयं घायल हो गये थे। शाम को युद्ध स्थगित करके जब दोनों सेनाएँ लौटीं तो एक के शोर से पृथ्वी भी टलमल हो रही थी । आकाश व्याकुल दिखाई पड़ता था । उधर-वाहिनी मौन धारण किये थके स्थविरों सी खिन्न लौट रही थी । उसकी यह चुप्पी रावण-सेना के अट्टहास में और भी भयावह लगती थी ।

सब आकर शिविर में बैठ गये । राम का धनु-गुण आज ढीला था। चिन्तामग्न जब वे एक श्वेत शिला पर आकर बैठे तो सब उन्हें घेर कर चुप-चाप उनका मुँह ताकने लगे । अमावस्या की रात्रि और पीछे सागर का भी मानो राम की निराशा पर पछाड़ खाकर गिरना-उठना वातावरण में एक घुटन-सी भर रहे थे । बस एक टिमटिमाती हुई मशाल सुदूर भविष्य में आशा की क्षीण रेखा के समान यदाकदा चमक उठती थी। कवि इस प्रकार वातावरण तैयार करके राम के स्मृति-पट पर धीरे से कुमारी सीता का विवाह पूर्व का चित्र उतार लाता है। राम और सीता का जनक-वाटिका में वह पहला साक्षात्कार ! लताओं का झुटमुट, जब दोनों की पलकें एक बार उठीं और झुक गईं । राम मानो योगी की तुरीयावस्था में पहुँच गये थे। बस यहीं चित्र पलटता है । अब राम अपने अमोघ बाणों द्वारा राक्षसों का वध याद कर रहे थे । लेकिन उन बाणों का प्रभाव आज रावण पर क्यों व्यर्थ ही रहा ? ठीक है जब देवी ही दुराचारियों की प्राण रक्षा करे तो सज्जन कहाँ जायें ? राम सहज मनुष्य की तरह रो उठे ।

हनुमान जो इस समय स्वामी के चरणारविन्दों की सेवा करते हुए समाधि सुख लाभ कर रहे थे, इन अश्रुओं को देखकर चौंके। उनके होते हुए राम अपने को असमर्थ अनुभव करें ? हनुमान के सेवकत्व को धिक्कार है। बस हनुमान अपने क्रोध से आकाश को निगलने के लिये गरज उठे। शिव का आसन डोला । वे पार्वती से बोले, देवी इस ब्रह्मचारी को रोको । यह तो हमें

ही ग्रसने चला आ रहा है। देवी ने अंजना रूप धरा हनूमान को माता बनकर फटकार सुनाई और शान्त करके लौटा दिया।

अब विभीषण आगे बढ़े। उनके अस्त्र थे—राम को उनकी पुरानी प्रतिज्ञाओं का स्मरण दिलाना। लेकिन राम क्या करते? युद्ध में उन्होंने कोई कसर नहीं छोड़ी थी। पर जब "अन्याय जिधर, हैं उधर शक्ति" तो वे क्या करें? अन्त में जाम्बवान के प्रस्ताव से सभा खिल उठी। आराधन का उत्तर आराधन से ही देना होगा। राम को यह प्रस्ताव पसन्द आया। दशभुजाओं वाली देवी की वे उसके सेवक सिंह के समान सेवा करके अपनी शक्ति बढ़ाएँगे। हनूमान को इस पुरश्चरण के लिये १०८ कमल लाने भेजा गया। साधना शुरू हुई। मूलाधार, स्वाधिष्ठान आदि चक्रों को बेधता हुआ राम का मन छठे दिन आज्ञा चक्र पर उपविष्ट हुआ। एक ही कमल बचा था, शेष सब देवी अर्पित हो चुके थे। देवी को राम की परीक्षा लेने की सूझी। रात को छिपकर आईं और कमल उठाकर ले गईं। अब पुरश्चरण क्योंकर पूर्ण हो? आसन से उठना पाप होगा और अर्घ्य के लिये कमल नहीं। राम को सूझा, उनके नेत्र भी तो कमलवत् हैं। क्यों न यही एक अर्पित कर दिया जाए? नेत्र-छेदन को ज्यों ही उन्होंने ब्रह्मशर उठाया कि देवी तुरन्त उदय हुईं। राम की परीक्षा पूर्ण हुई। देवी ने वरदान दिया कि विजय राम की ही होगी। और पटाक्षेप हो गया।

यह थी 'राम की शक्ति-पूजा' की संक्षिप्त कथा। इस कथा का मुख्य भाग राम की मानवोचित चिन्ता का मनोवैज्ञानिक चित्रण है। कथा बड़ी सन्तुलित, सुगठित और भावपूर्ण है। पृष्ठभूमि में प्रकृति भी पात्रों के भावों के अनुकूल हँसती-रोती है। जिस दिन युद्ध अनिर्णीत रहा और सन्ध्या होने पर बन्द कर दिया गया तब सन्ध्या के धुँधले प्रकाश के समान ही राम को अपनी विजय धुँधली प्रतीत हो रही थी। जब दोनों दल लौट रहे थे तो एक के महोल्लास से बिंध कर आकाश भी विकल हो उठा था क्योंकि यह उल्लास असत्पक्ष का था, और दूसरी ओर राम की सेना चुपचाप, बिखरी-बिखरी स्थविर-दल के समान लौट रही थी तो—

'प्रशमित है वातावरण, नमित मुख सान्ध्य कमल'

राम सम्बन्धी आधिकारिक कथा के साथ हनूमान की प्रासंगिक कथा है। राम के नेत्रों से जब दो आँसू ढुलक कर गिरे तो हनूमान क्रोधोन्मत्त होकर आकाश में उड़ गये। रावण की शक्ति का वे अपने तेज से वारण करना चाहते थे। तभी शिवजी द्वारा प्रेरित पार्वती अंजना रूप में आकाश में प्रकट हुईं और हनूमान को बालकोचित उद्दण्डता के लिये प्रताड़ित कर अदृश्य हो गईं।

हनूमान नम्र होकर नीचे उतर आये। इस प्रासंगिक कथा की मुख्य कथा के साथ संगति बैठाने की कई लोगों ने चेष्टा की है, लेकिन यह बादरायण-सम्बन्ध ही रहा है। हनूमान के आकाश में उड़ने को इन लोगों ने यदि उनका मानसिक अन्तर्द्वन्द्व माना होता तो भी कुछ हद तक मान्य था। हनूमान राम के अनन्य सेवक थे और अद्वितीय वीर भी। स्वामी को कष्ट में अश्रु बहाते देख उनका चुप बैठे रहना भी अनुचित था, लेकिन देवी का माता बनकर पुत्र हनूमान को फटकारना मुख्य कथा में क्षेपक सा है। जैसे पाँच टाँगों वाले बैल का तमाशा दिखाने वाले भोले बाबा पीठ पर चिपकी पाँचवीं टाँग के स्वाभाविक और सजीव होने के तर्क दिया करते हैं, कुछ वैसे ही तर्क इस प्रासंगिक कथा को स्वाभाविक मानने के हैं। यों राम की कथा सहज, स्वाभाविक और सन्तुलित है।

बंगाल में प्रचलित कथा के अनुसार राम ने रावण को विजय करने के लिये शक्ति की पूजा की थी। देवी भागवत पुराण और शिव-महिम्न-स्तोत्र के अध्येताओं का कहना है कि उनमें भी राम द्वारा देवी की पूजा और कमल चढ़ाने का उल्लेख आया है।[1] मुझे ये दोनों ग्रन्थ देखने का सौभाग्य नहीं मिला, लेकिन इस कथा को निराला ने इन्हीं स्रोतों से ग्रहण किया होगा, ऐसा मानने में मुझे कोई आपत्ति नहीं।

राम की शक्तिपूजा के चिन्तन के विषय में कहा जाता है कि निराला जी ने इसकी कल्पना स्वामी रामकृष्ण परमहंस के अनुकूल की है। स्वामी विवेकानन्द के 'अम्बा स्तोत्र' में भी देवी का इसी रूप में स्तवन हुआ है। दशों दिशाओं जैसी दशभुजा वाली देवी के विषय में निराला राम के मुख से कहलवाते हैं—

> **देखो, बन्धुवर, सामने स्थित जो वह भूधर,**
> **शोभित शत-हरित-गुल्म-तृण से श्यामल सुन्दर।**
> **पार्वती कल्पना हैं इसकी मकरन्द-बिन्दु,**
> **गरजता चरण-प्रान्त पर सिंह वह, नहीं सिन्धु।**
> **दशदिक्-समस्त हैं हस्त और देखो ऊपर,**
> **अम्बर में हुए दिगम्बर अर्चित शशि-शेखर।**
> **लख महाभाव मङ्गल पद-तल धँस रहा गर्व,**
> **मानव के मन का असुर मन्द हो रहा खर्व।**

---

१. 'निराला : काव्य और व्यक्तित्व'—धनंजय वर्मा, पृ० १५४।

राम की साधना योग-मार्ग के अनुरूप हुई है। योगी जब सुषुम्ना की वक्र चढ़ाई करते हुए मूलाधार, स्वाधिष्ठान आदि चक्रों को पार कर सहस्रार तक पहुँचता है तो उसे ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होती है। राम भी इसी साधन को अपनाते हैं—

क्रम-क्रम से हुए पार राघव के पंच दिवस,
चक्र से चक्र मन चढ़ता गया ऊर्ध्व निरलस।

और—

चढ़ षष्ठ दिवस आज्ञा पर हुआ समाहित मन।

फिर तो सांसारिकता से वितृष्णा हो गई, जीवन की समस्याओं का अन्त हो गया। त्रिकुटी पर ध्यान स्थिर हो गया और साधना देवी के पद (द्विदल) पर पहुँची।

राम का शक्ति को अन्तर्मन में इस प्रकार जगाना योग-मार्ग से इस बात में भी साम्य रखता है कि अन्त में 'होगी जय, होगी जय, हे पुरुषोत्तम-नवीन' कहकर महाशक्ति राम के मुख में ही लीन हो जाती है। यहाँ 'पुरुषोत्तम-नवीन' शब्द भी व्याख्या-सापेक्ष है। राम को साधारण मानव के समान चिंताकुल चित्रित करके अन्त में अपनी ही शक्ति के भरोसे विजयी होने का वरदान देना—आज के हत-शक्ति मानव को नई आशा से संचारित करना है। राम अपनी पराजय से खिन्न हैं। पहली स्मृतियाँ, जनक-वाटिका में कुमारी सीता से साक्षात्कार और ताड़का, सुबाहु, विराध आदि राक्षसों को सहज ही मार गिराना—राम की वर्त्तमान पराजय को और गहरा किये दे रहे थे। उन्होंने जाम्बवान से अपनी आन्तरिक गुप्त-शक्ति जाग्रत करने की प्रेरणा प्राप्त की। लेकिन पूजा के बीच में ही इन्दीवर की चोरी से वे विचलित हो उठे—

धिक् जीवन जो पाता ही आया है विरोध,
धिक् साधन जिसके लिये सदा ही किया शोध !

फिर भी राम इस क्षणिक दुःख से विचलित नहीं हुए। अपना नेत्र ही अर्पित करने को उद्यत हो गये। आज मनुष्य को ऐसी ही दृढ़ धारणा की आवश्यकयता है। निराला ने अपनी मौलिक सूझ के द्वारा कथा के इस अंश को बड़ा प्रभविष्णु बना दिया है। स्यात् इसी कारण इस काव्य में लोग कवि का जीवन निहित मानते हैं।

'राम की शक्ति-पूजा' एक प्रबन्ध-काव्य है, लेकिन मैं यह शास्त्रीय-दृष्टि से नहीं कह रहा। प्रबन्ध-काव्य इस अर्थ में है कि यह मुक्तक नहीं। इसमें महाकाव्यात्मक गरिमा है। महदुद्देश्य, गाम्भीर्य, गरिमामयी उदात्त-शैली, प्रभावान्विति आदि महाकाव्य के गुण इसमें प्रभूत हैं। इसमें प्रकृति के विराट्

चित्र हैं, अलौकिक प्रभावों की व्यंजना है, स्थल-स्थल पर नाटकीयता है। हनूमान का आकाश-गमन और अवतरण, राम का नेत्रार्पण को उद्यत होना और दुर्गा का आकर हाथ थामना, इस कृति को एक अपूर्व औदात्य प्रदान करते हैं। इसकी कथा में महाकाव्योचित पाँचों कार्यावस्थाओं का सफल नियोजन हुआ है। राम की सभा का विषाद 'प्रारम्भ', राम की निराशा-जन्य हनूमान की उत्तेजना, विभीषण की प्रेरणा, और जाम्बावान का शक्तिपूजा के लिये परामर्श 'प्रयत्न', पूजा-विधान और साधना 'प्राप्त्याशा', दुर्गा का इन्दीवर चुराना और राम का नेत्र अर्पण को उद्यत होना 'नियताप्ति' और अन्त में देवी का वरदान 'फलागम' हैं। इतना सब होते हुए 'राम की शक्तिपूजा' महाकाव्य नहीं। इसमें राम के सम्पूर्ण जीवन का चित्र नहीं। महाकाव्य के समान इसका बाह्य रूप भी नहीं। वस्तुतः यह तो एक कथांश को प्रबन्धबद्ध करने का विधान है। महाकाव्य की शैली का इसमें स्वच्छन्द प्रयोग किया गया है। कुछ लोगों के मतानुसार इसे महाकाव्य का एक 'सर्ग' कहना चाहिए; पर यह इस काव्य की गरिमा के प्रतिकूल है। इसे खण्डकाव्य भी नहीं कह सकते। यह जीवन के किसी खण्ड का चित्रण नहीं करता, इसमें तो राम के जीवन की एक घटना की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है, सम्पूर्ण लंकाकाण्ड भी नहीं। इसे पाश्चात्य विधा Ballad (कथात्मक वीर-गति) या Heroic Poem (लघुवीर काव्य) मानना भी असमीचीन है। हाँ, इसे 'लघुकाव्य' कहा जाना चाहिये। 'लघुकाव्य' शब्द इसकी प्रबन्धात्मकता और आकार—दोनों की रक्षा करता है।

भाव की दृष्टि से 'राम की शक्तिपूजा' बड़ी सशक्त रचना है। 'उत्साह' स्थायी भाव इसमें आद्यन्त विद्यमान है। पराजय-जन्य निराशा और स्मृति-रूपेण सीता-मिलन-सम्बन्धी शृंगार भी इसे परिपुष्ट ही करते हैं। अन्त में इसे एक औदात्य पर उन्नीत किया गया है। प्रारम्भ के युद्ध वर्णन में निराशा भी वातायन से झाँकती रहती है लेकिन राम की आत्मशक्ति के अर्जित होते ही वह विलीन हो गई है और अन्त में एक विशेष प्रकार का तुष्टि-पूर्ण उत्साह है। हनूमान की उत्तेजना और विभीषण के प्रबोधन में भी यही उत्साह विद्यमान है, लेकिन हनूमान के द्वारा उद्धत वीरता की व्यंजना हुई है।

'राम की शक्तिपूजा' का काव्य-सौन्दर्य भी अद्वितीय है। इस लघुकाव्य में पात्रों का चरित्र, रूप और उनके कार्य, प्रकृति का मसृण और विराट् सौन्दर्य, समयानुकूल वातावरण गरिमामयी उदात्त शैली में एक विशेष प्रवाह के साथ व्यक्त हुआ है। पहले हम पात्रों को लेते हैं। पात्रों की आकृति और कार्य उनके स्वभाव का परिचय देते हैं। क्रोध के कारण राजीवनयन राम के बाण भी युद्ध में लक्ष्यच्युत हो जाते थे। रावण द्वारा अपनी सेना का संहार किया

जाता देख वे चकित और दु:खी हो जाते। इसी निराशा में जब वे शाम को लौटे तो—

श्लथ धनुगुण है, कटिबन्ध स्रस्त—तूणीर-धरण,
दृढ़ जटा-मुकुट हो विपर्यस्त प्रतिलट से खुल
फैला पृष्ठ पर, बाहुओं पर वक्ष पर विपुल;
उतरा ज्यों दुर्गम पर्वत पर नैशान्धकार,
चमकतीं दूर ताराएँ ज्यों हों कहीं पार।

यहाँ दुर्गम पर्वत के रूप में राम की विराट् कल्पना का सौन्दर्य पाठक स्वयं देखेंगे। राम की वेशभूषा उनकी निराशा को व्यक्त कर ही रही है। इसी प्रकार पूजा के लिये वे जब पद्मासन लगाए बैठे हैं तो प्रातः की प्रथम किरण के साथ ही—

फूटी रघुनन्दन के दृग महिमा ज्योति हिरण;
है नहीं शरासन आज हस्त—तूणीर स्कन्ध,
वह नहीं सोहता निविड़ जटा-दृढ़ मुकुट-बंध ?

दुर्गा का पार्वतीय रूप हम पीछे दिखा आए हैं। एक और रूप देखिये—

मातः दशभुजा, विश्व ज्योतिः ,.. ......
हो विद्ध शक्ति से है महिषासुर खल-मर्दित,
जनरंजन-चरण-कमल तल धन्य सिंह गर्जित !

इसी प्रकार काव्य के अन्त में शक्ति की अद्भुत कल्पना साकार हुई है।

हनूमान का विराट् चित्र समुद्र के समान ही गर्जित है। वह युद्ध में भीमकाय पर्वत के समान अग्नि-विकीर्ण करता रहा था। उसका यही रूप उसके आकाश गमन समय का है—

उद्वेल हो उठा शक्ति-खेल-सागर अपार

सीता के लिये तो कवि ने मानो पहले स्वयं अन्तर्मन में उसका रूप अवस्थित किया है। कवि-साधना-कर्म में अचानक वह कंचन छवि कवि-मस्तिष्क में कौंध जाती है। इसी प्रकार राम के मन में भी—

ऐसे क्षण अन्धकार घन में जैसे विद्युत
जागी पृथवी-तनया-कुमारिका-छवि,

वह 'ज्योतिः प्रपात स्वर्गीय' थी और उसके कमनीय नयनों की शोभा देखकर राम तुरीयावस्था में पहुँच गये थे। सीता के इस रूप से उसके प्रेरक-चरित्र का भी स्पष्ट आभास है।

'राम की शक्तिपूजा' की वातावरण-योजना इतनी सजीव और समयानुकूल है कि उसके परिदृश्य में रखे गये पात्रों के भाव प्रकृति से बिम्ब-

प्रतिबिम्बवत् हो गये हैं। युद्ध-समाप्ति के समय सेनाओं के लौटते समय के चित्र हम पीछे दे आए हैं। सभा जब रात्रि के समय राम को घेर कर बैठी थी तो वातावरण में एक अजीब घुटन थी; सूचीभेद्य अन्धकार बाहर तो था ही, सबके हृदयों में भी जैसे छाया जाता था। रावण को विजित करने का कोई उपाय ही नहीं सूझ रहा था—

है अमा निशा; उगलता गगन घन अन्धकार,
खो रहा दिशा का ज्ञान, स्तब्ध है पवन-चार;
अप्रतिहत गरज रहा पीछे, अम्बुधि विशाल;
भूधर ज्यों ध्यान मग्न; केवल जलती मशाल।

वातावरण-निर्माण में कवि की दृष्टि प्राकृतिक उपमानों की ओर विशेष रही है। मनुष्य जब खिन्न होता है तो उसे चारों ओर खिन्नता ही दिखाई देती है। इस सत्य को कवि ने प्रकृति के माध्यम से देखा है, अतः वातावरण-निर्माण और पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण में प्रकृति-चित्रण कहीं पृष्ठभूमि के रूप में और कहीं अनागत का सूचक बन गया है। राम की शक्ति-पूजा में प्रकृति के भीषण रूप अधिक हैं लेकिन उसका कोमल रूप भी मनमोहक है। अमा-निशा में आकाश का घना अन्धकार उगलना हम पीछे देख चुके हैं। यहाँ सागर उद्वेलन देखिये—

शत घूर्णावर्त्त तरंग-भंग, उठते पहाड़,
जल-राशि राशि-जल पर चढ़ता खाता पछाड़,
तोड़ता बँध—प्रतिसन्ध धरा, हो स्फीत वक्ष
दिग्विजय-अर्थ प्रतिपल समर्थ बढ़ता समक्ष।

यहाँ घूर्णावर्त्त सागर के बड़े-बड़े भँवरों के समान ही घूर्णित दिखाई देता है। 'उठते पहाड़' जायसी से "उठै लहर परवत की नाईं" की स्मृति ताजा कर देता है। लगता है हम किनारे पर बैठे हों और सामने सागर ज्वार पर हो। एक लहर लीलने को चली आए और किनारे के पत्थरों से टकराकर लौटती दिखाई दे। लहरों का यह उलटना ही तो 'जल-राशि' का क्रम 'राशि-जल' कर देता है।

पर्वत की देवी के रूप में विराट् कल्पना की चर्चा हो चुकी है। प्रकृति का एक कोमल रूप भी देखिये। जब जनकवाटिका में राम ने प्रथम बार सीता के दर्शन किये—

काँपते हुए किसलय—झरते पराग समुदय,—
गाते खग नवजीवन-परिचय,—तरु मलय वलय

प्रकृति का उपयोग वातावरण-निर्माण, भाव-चित्रण, रूप-चित्रण आदि के लिये भी हुआ है। ऊपर जनक-वाटिका का चित्र खगों के कारण स्वाक् है ही; किसलय, पराग और मलय-वलय ने इसे 'गन्धचित्र' भी बना दिया है।

'राम की शक्तिपूजा' की शैली महाकाव्योचित गरिमामयी उदात्त और समर्थ है। कवि का आधार तत्सम शब्द और समास हैं जिनका प्रचुर प्रयोग इस काव्य के प्रारम्भ में ही हुआ है। 'शर-विधृत', 'वेग-प्रखर' जैसे छोटे समासों के बाद जरा लम्बे समास 'शत-शेल-सम्वरण-शील' और 'नील-नभ-गर्जित स्वर' हैं। और आगे तो पूरी पंक्ति ही समास है—

'विच्छुरित-वह्नि राजीवनयन-हत-लक्ष्य-वाण'

ऐसी शैली के द्वारा युद्ध की मारकाट की क्षिप्रता का चित्र भी उतरा है, और कवि की समाहार शक्ति भी सामने आई है। हाँ, ऐसे वर्णनों में दुरूहता का जो आरोप लगाया गया है, वह भी निराधार नहीं है।

यह शैली अवसरानुकूल चित्र उपस्थित करती है। युद्ध के बाद रात्रि में राम की सेना की निराशा में यह शैली वैसी ही संकुल है। राम-सीता-मिलन-स्मृति में यह धीरे-धीरे सिहरन उपजाती है तो हनूमान के आकाश-गमन में यह भी सागर की तरह उद्वेलित हो उठती है। 'राम की शक्तिपूजा' की शैली समस्त काव्य में जिस गंभीर उच्चता पर स्थित है, उससे नीचे उतर कर कभी सामान्य होने का आभास तक नहीं देती। मजेदार बात यह है कि इस काव्य में एक भी शब्द विदेशी नहीं कहा जा सकता। और इतने पर भी यह कवि की कष्टपूर्ण प्रयत्न-सिद्धि प्रतीत नहीं होती।

दार्शनिक विचारों की अभिव्यक्ति भी बड़ी सहज रीति से हुई है। 'अस्ति-नास्ति', 'अजपा', 'आज्ञा', 'त्रिकुटी' और 'सहस्रार' जैसे शब्द अनायास ही प्रयोग किये गए प्रतीत होते हैं, कवि इन्हें ढूँढ़ने के लिये ग्रन्थों से नहीं उलझता फिरा। शुद्ध तत्सम शब्दों में—विच्छुरित, विधृत, उद्‌गीरित, विपर्यस्त दुराक्रान्त, सम्वृत, घूर्णावर्त, पुरश्चरण —जैसे शब्द उल्लेखनीय हैं। चतुः, तेजः, ज्योतिः और मातः—जैसे शब्द तो संस्कृत के कलेवर विसर्गादि के साथ आए हैं। भाव यह कि इन शब्दों को साधारण पाठक की बुद्धि से ऊँचा मानते हुए भी ऐसा कहने को जी चाहता है कि इनके स्थानापन्न दूसरे शब्द नहीं लाए जा सकते। यदि ऐसा हुआ होता तो शायद इस काव्य की आत्मा मर जाती।

छन्दों के क्रान्तिकारी प्रयोक्ता होते हुए भी निराला जी ने 'राम की शक्तिपूजा' में तुकान्त छन्द का प्रयोग किया है। इस छन्द की चौबीस (२४) मात्राएँ हैं, अन्त में या तो गुरु-लघु (ऽ।) हैं या लघु-लघु (।।)। समस्त काव्य में मुझे केवल दो पंक्तियाँ ही ऐसी मिलीं जिनके अन्त में लघु-गुरु (।ऽ) है—

जानकी ! हाय उद्धार प्रिया का हो न सका;
वह एक और मन रहा राम का जो न थका।

और दो पंक्तियाँ दो गुरुओं के अन्त की—

विचलित लख कपिदल क्रुद्ध युद्ध को मैं ज्यों ज्यों;
झक-झक झलकती वह्नि वामा के दृग त्यों-त्यों।

चौबीस मात्रा के इस छन्द में बड़ा प्रवाह और नाद-सौन्दर्य है। ताल पर चलते हुए शब्द-समुदाय छन्द के पुलिनों में अबाध रूप से आगे बढ़े हैं। शैली की सामासिकता और तुकान्तता को देखते हुए इसे एक चमत्कार ही कहना चाहिए।

नाद-सौन्दर्य और अनुप्रास की सफलता देखिये—

लौटे युग दल, राक्षस-पद-तल पृथ्वी टलमल।

इसी प्रकार छन्द के मध्य में भी अनुप्रास लाने का प्रयत्न किया गया है—

काँपते हुए किसलय,—झरते पराग समुदय,—
गाते खग नव जीवन-परिचय,—तरुमलय वलय—
ज्योतिः प्रपात स्वर्गीय,—ज्ञात कवि प्रथम स्वीय,—
जानकी-नयनकमनीय प्रथम कम्पन तुरीय।

अप्रस्तुत-योजना और अलंकारों की कुछ चर्चा करके इसको समाप्त करूँगा। रूपक, उपमा और उत्प्रेक्षा के उदाहरण पीछे अन्य कई प्रसंगों में आ चुके हैं। अप्रस्तुत-योजना की भी प्रकारान्तर से चर्चा हो चुकी है। एक पूर्णोपमा देखिये—

देखा, हैं महाशक्ति रावण को लिये अङ्क,
लाञ्छन को ले जैसे शशाङ्क नभ में अशङ्क।

अपह्नुति—

गरजता चरण-प्रान्त पर सिंह वह, नहीं सिन्धु।

अनुप्रास और वीप्सा का संकर—

ले लिया हस्त लक-लक करता वह महाफलक।
साधु, साधु, साधक-धीर, धर्म-धन-धन्य राम।

व्यतिरेक—

कुछ समय अनन्तर इन्दीवर-निन्दित लोचन

असंगति-अनुप्रास और वीप्सा का संकर—

विचलित लख कपिदल क्रुद्ध युद्ध को मैं ज्यों-ज्यो,
झक-झक झलकती वह्नि वामा के दृग त्यों-त्यों।

यह कहना पुनरुक्ति ही होगी, किन्तु अन्त में फिर कहना चाहूँगा कि 'राम की शक्तिपूजा' महाकाव्य नहीं तो उससे कम भी नहीं। ऐसे अमर-काव्य नित्य नहीं लिखे जाते। ये तो किसी युग-पुरुष की युग को अमर देन होती है। 'राम की शक्तिपूजा' ऐसा ही अमर काव्य है। राम के भावों में उत्थान-पतन दिखाते हुए अन्त में उन्हें जिस स्थिति पर पहुँचाया गया है, रामकाव्य की परम्परा में वह विशेष महत्त्वपूर्ण है। भाव, भाषा, शैली—किसी भी दृष्टि से यह काव्य—अपनी उपमा आप है।

२३

महादेवी के काव्य की पीड़ा में निहित—प्रेम-तत्त्व

•

महादेवी जी के सम्पूर्ण काव्य को पढ़कर ऐसा लगता है, मानो उसका सृजन ओठों की हँसती हुई पीड़ा से हुआ है। उनके 'प्रियतम' उन्हें 'इस पार' चुपचाप मधुमय मुरली की तान सुनाने आए थे। अनेक युग बीत गए वे न जाने कहाँ चले गए; साधिका 'उनका' सा मनमोहन गान नहीं सीख पायी। 'उस पार' के 'मूल मिलन' के बाद से उसके जीवन में 'पीड़ा का साम्राज्य' बस गया है।

'चल चितवन के दूत' ही उसकी पलकों में हलचल मचा गए हैं, इसी कारण—

> **'जीवन है उन्माद तभी से**
> **निधियां प्राणों के छाले,**
> **माँग रहा है विपुल वेदना—**
> **के मन प्याले पर प्याले।**

उसका मन असीम वेदना का पान करना चाहता है। इसका कारण यह है कि उसके जीवन में जो वेदना है—वह उसके 'मधुमय' द्वारा प्रदत्त है। इसीलिए 'प्रिय-विरह' में 'सूनेपन की मतवाली रानी' अपने प्राणों रूपी दीपक

को प्रज्ज्वलित कर दीपावली मनाती रहती है। उसका समस्त जीवन ही वेदनामय हो गया है—

मेरी आहें सोती हैं—
इन ओठों की ओटों में,
मेरा सर्वस्व छिपा है—
इन दीवानी चोटों में।

प्रकृति का सौन्दर्य उसकी पीड़ा को कम कर सकने में तो असमर्थ है ही; उसे पहचान भी नहीं पाता; ढूँढ़ भी नहीं पाता—

कितनी बीतीं पतझारें—
कितने मधु के दिन आये,
मेरी मधुमय पीड़ा को—
कोई पर ढूँढ़ न पाये।

उसके नीरव मानस रूपी सूने पथ में, 'वे' अपने पैरों की चाप छिपाये धीरे-धीरे आए थे तथा आकर उसकी समस्त मधुवाली मदिरा ढुलका दी और उसके स्थान पर उसकी जीवन रूपी छोटी-सी प्याली को हँसकर पीड़ा से भर दी। ऐसा लगता है जैसे 'पीड़ा' ही परब्रह्म की सत्ता की सर्वव्यापकता का प्रतीक हो। दुःखात्मक ब्रह्म से मिलने की साधना भी तो दुःखपरक ही होनी चाहिए। साधिका को जब इस रहस्य का आभास मिला तो 'पीड़ा' में ही मधुरिमा के दर्शन करना उसकी जीवन साधना का अनुक्रम हो गया—

इस मीठी सी पीड़ा में—
डूबा जीवन का प्याला,
लिपटी सी उतराती है—
केवल आँसू की माला।

परमात्मा का यदि एक बार भी आभास मिल जाए तो आत्मा उसको पाने के लिए विह्वल हो उठती है। साधिका के मधुमय तो 'रश्मि' बनकर आए थे और अप्रत्याशित रूप से हृदय रूपी आत्मा में व्यथा का वाण बेंधकर अन्तर्धान हो गये; दृगों की अश्रुभरी मनुहार और मूक प्राणों की पुकार भी उन्हें रोक न सकी। 'उनकी' सुधियाँ प्राणों में कसक-कसक उठती हैं, वह उनको किस प्रकार ढूँढ़ निकाले—यही विकट समस्या है—

अलि कैसे उनको पाऊँ?
वे आँसू बनकर मेरे
इस कारण ढुल-ढुल जाते,

इन पलकों के बन्धन में,
मैं बाँध बाँध पछताऊँ।

साधना के प्रथम चरण में उसकी चेतना 'नीर भरी दुख की बदली' के समान उमड़कर मिटती-सी अनुभव करती है किन्तु बाद को बदली के मिटने में वह दुख का अनुभव नहीं करती, प्रत्युत विसर्जन में ही उसे गौरव की प्रतीति होती है—

मेघ सी घिर झर चली मैं
पंथ के हर शूल का मुख
मोतियों से भर चली मैं।

इस प्रकार पहले उसे नष्ट होने में दुःख होता है। बाद को वह एक नया रहस्यान्वेषण करती है कि—

सृष्टि का है यह अमिट विधान,
एक मिटने में सौ वरदान।
नष्ट कब अणु का हुआ प्रयास
विफलता में है पूर्ति विकास।

साधिका को कुछ सन्तोष होता है। और आगे बढ़ने पर जब उसे यह ज्ञात हो जाता है कि 'एक के मिटने, में शत-शत् विकास की समस्याएँ निहित हैं, तब वह जलना चाहती है, मधुर मिलन में मिट जाना चाहती है; अपनी आत्मा को सर्वात्मा में मिला देना चाहती है। चूँकि 'नाश' और 'सृजन' सृष्टि के चिरन्तन पक्ष हैं; असीम तम और चिर प्रकाश निरन्तर अपना खेल खेलते रहते हैं। अज्ञात प्रिय द्वारा प्रदत्त पीड़ा ही उसका मार्ग है; और वही प्रिय को प्राप्त करने का एकमात्र साधन है, अतः वह पीड़ा से समझौता कर लेती है—

प्राण हँस कर ले चला चिर व्यथा का भार
स्वर्ण-शर से साध के
घन ने लिया उर बेध
स्वप्न विहगों को हुआ यह
क्षितिज मौन निषेध,
क्षण चले करने कणों का पुलक से शृंगार!

चिर व्यथा के भार से जब उनके प्राण समझौता कर लेते हैं, तब व्यथा ही मधुर हो जाती है। इसी मधुर व्यथा को उन्होंने आगे चलकर अपना आराध्य एवं साध्य-सा मान लिया है। वस्तुतः सम्पूर्ण काव्य में उन्होंने वेदना को उदात्त बनाने का प्रयास किया है। संयोग में एकाकारिता है, जड़ता है;

चिर वियोग की पीड़ा ही आनन्द प्रदान करती है। विरह के बिना प्राण चिरन्तन प्रिय का परिचय प्राप्त नहीं कर सकते। सुख हृदय-पट बन्द कर देता है; दुख ही उन्हें खोलता है। जीवन की सत्यता एवं यथार्थता विरह में ही निहित है। विरह-जल में ही जीवन-कमल विकसित होता है—

'विरह का जलजात जीवन, विरह का जलजात'

विरह-वेदना से ही जीवन में आनन्द आता है। दुःख में हमारी प्रवृत्ति अन्वेषण प्रिय हो जाती है। जगत एवं परब्रह्म के परिचय का माध्यम दुःख ही है। उसी के द्वारा जगत के बाह्य और मन के आभ्यन्तर सौन्दर्य का वास्तविक परिचय मिलता है। पीड़ा रूपी अग्नि द्वारा जलने से ही दीपक रूपी आत्मा पवित्र हो सकती है। इसी कारण वह कहती है—

मधुर मधुर मेरे दीपक जल
युग-युग प्रतिदिन प्रतिक्षण प्रतिपल
प्रियतम का पथ आलोकित कर।

× × ×

वे यह अच्छी प्रकार अनुभव करती हैं कि जब तक जीवन में वेदना नहीं होगी, तब तक साधक चिर सजगता का अनुभव नहीं कर सकेगा। इसी कारण वे अपने 'प्रिय' के वियोग में निरन्तर अविरल अश्रु बहाना चाहती हैं—

झरते नित लोचन मेरे हों।

पीड़ा में पलकर ही शुद्धानुभूति सम्भव है जिसमें 'प्रिय' से मिलन हो सकता है। जिस प्रकार पाटल का कोमल पुष्प कांटों में ही विकसित होता है, उसी प्रकार शूलों रूपी कष्टों के मध्य ही साधक इस योग्य हो सकता है कि उसे आराध्य की सहानुभूति प्राप्त हो सके। यही कारण है कि साधिका को विरह ज्वाला शान्ति प्रदान करती है। ज्वाला वस्तुतः ब्रह्म का ही रूप है। इस कारण उसकी कामना है—

नित जलता रहने दो तिल-तिल
अपनी ज्वाला में उर मेरा
इसकी विभूति में, फिर आकर
अपने पद चिन्ह बना जाना

वस्तुतः पीड़ा, वेदना एवं विरह—साधिका के चिन्तन, विचार और अनुभूति में एक प्रकार का जीवन-दर्शन बनकर आया है।

साधना-पथ की समस्त बाधायें उन्हें प्रिय हैं। इस कारण वह ज्वाला के देश की ओर प्रस्थान करना चाहती हैं (जहाँ अंगारे ही हैं), क्योंकि विरह ही उनका आराध्य लक्षित होता है—

खोना पाना हुआ जीत वे हारे ही हैं।
प्रिय पथ के यह शूल मुझे अति प्यारे ही हैं।

जो 'प्यास' को ही जीवन समझती हो, वह तृप्ति में किस प्रकार जीवित रह सकती है—

प्यास ही जीवन, सकूँगी
तृप्ति में, मैं जी कहाँ?

सर्वात्मवाद से प्रेरित वह सृष्टि के कण-कण में ईश्वर की सत्ता देखती है। इसी कारण सुख और दुख—दोनों ही मधुर हैं—

मधुर मुझको हो गए सब मधुर प्रिय की भावना ले।

सुख और दुख—दोनों ही जीवन के सत्य हैं किन्तु उनका प्रिय दुख के रास्ते से ही आता है और उसे पीड़ा से ही कसकर पकड़ा जा सकता है। इसलिए वे कहती हैं—

करुणामय को भाता है, तम के परदों में आना।
हे नभ की दीपावलियों, तुम पल भर को बुझ जाना।

साधिका की पीड़ा में ही प्रेम की मधुरता निहित है, इस कारण वह विरह में मिलन का अनुभव करती है। पीड़ा एवं विरह में मिलन के रहस्यमय और सूक्ष्म संकेत कवयित्री ने दिए हैं। साधना के चरण में वह अपने मन से प्रश्न करती है कि न जाने कौन उसकी कसक में निरन्तर अलक्षित भाव से माधुर्य का संचार करता है। यही जानने की उसकी अभिलाषा है—

पा लिया मैंने किसे इस
वेदना के मधुर क्रय में?
कौन तुम मेरे हृदय में?

ज्यों ही निस्सीम प्रिय उसके सीमित हृदय में आबद्ध हो जाता है त्यों ही विरह की रात सहसा मिलन-सुख प्रदान कर नवीन प्रभात का सन्देश देने लगती है। रात और-दिन साधारण जीवन के क्रम मात्र नहीं रह जाते, अपितु रात उसके प्रियतम के नयनों की श्याम पुतलियों के समान काली तथा दिन उसकी उज्ज्वल स्मिति के समान कान्तिमान हो जाता है—

मैं मिटी निस्सीम प्रिय में,
वह गया बँध लघु हृदय में;
अब विरह की रात को तू,
चिर मिलन का प्रात रे कह।

× × ×

एक प्रिय-दृग-श्यामला सा,
दूसरा स्मित की विभा सा;
यह नहीं निशिदिन इन्हें,
प्रिय का मधुर उपहार रे कह !

प्रिय-सान्निध्य प्राप्त होने पर उसका प्रियतम उसे आराम करने के लिए कहता है—क्योंकि "याम् अन्तिम ढल चुका है।"

साधना-पथ पर अग्रसर होने पर उसने निर्वाण सुख को प्राप्त कर लिया। प्रिय-दर्शन से उसका जीवन उज्जवलता से परिपूरित हो उठा—'थके चरणों ने सूने तम में विद्युत-लोक बसाया।' उनका स्पर्श कर उसके प्राणो ने मरण के दूत का रूप धारण कर मरण पर विजय प्राप्त कर ली—

देते हो तुम फेर हास निज करुणा जल कणमय कर,
लौटाते हो अश्रु मुझे अपनी स्मिति के रंगों से भर।
आज मरण का दूत तुम्हें छू
मेरा पाहुन प्राण बन गया
पथ मेरा निर्वाण बन गया।

इस प्रकार साधिका 'पीड़ा' से पहले समझौता करती है क्योंकि वह प्रिय-प्रदत्त है। तत्पश्चात् पीड़ा के ही माध्यम से वह 'प्रिय' को प्राप्त करना चाहती है। इस अवस्था में उसके लिए सुख-दुख सब मधुर हो जाते हैं। किन्तु जब उसे यह विश्वास हो जाता है कि उसका प्रिय केवल पीड़ा के ही माध्यम से पकड़ा जा सकता है तो वह पीड़ा के ही मार्ग पर चलती है। पीड़ा एवं वेदना के मार्ग पर चलते-चलते उसे अपने सूक्ष्म प्रिय के दर्शन भी होने लगते हैं। साधिका अब प्रिय को प्राप्त कर सुख नहीं चाहती, उसमें भी पीड़ा ही ढूँढना चाहती है। जो साध्य-प्राप्ति का साधन मात्र था, उसी को साध्य एवं आराध्य मान लेना तथा प्रिय में भी उसी की प्राप्ति की कामना करना साधिका का जीवन दर्शन है। यही कारण है कि वह अमर लोक की आकांक्षा नहीं करती; वह अपने पीड़ामय संसार में ही मग्न रहना चाहती है—

क्या अमरों का लोक मिलेगा, तेरी करुणा का उपहार,
रहने दो हे देव अरे, यह मेरा मिटने का अधिकार।

अब प्रिय पथ के शूल उन्हें प्रिय लगने लगते हैं। वे मिलन का नाम भी लेना नहीं चाहतीं, विरह-वेदना का आनन्द क्या कम है ? जीवन की पूर्णता संयोग में नहीं, विरह में है। उनके लिए अतृप्ति ही विजय है; तृप्ति हार है। तृप्ति से जीवन में निष्क्रियता आ जाती है। जब इच्छायें पूर्ण हो जाती हैं, तो उनके प्रति विरक्ति हो जाती है। इसी कारण साधिका भगवान्

से प्रार्थना करती है कि कभी उसके लघु प्राणों में सन्तोष का कण मात्र भी व्याप्त न करना, क्योंकि वह वेदना में ही प्रसन्नता का अनुभव करती है —

चिर ध्येय यही जलने का
ठंढी विभूति बन जाना;
है पीड़ा की सीमा यह
दुख का चिर सुख हो जाना।
मेरे छोटे जीवन में
देना न तृप्ति का कण भर;
रहने दो प्यासी आँखें
भरती आँसू के सागर।

बादल का सजल होना इसी में है कि सारा जल बरसा कर रीता हो जाए; सुख की पूर्णता इसी में है कि उससे मन फिर जाए। यही कारण है कि कामनाओं की चिर तृप्ति जीवन को निष्फल बना देती है।

वह अपने प्रियतम के माध्यम से तो सब कुछ देखना चाहती है; किन्तु प्रियतम को नहीं देखना चाहती। वह साधना करते-करते समाप्त हो जाना चाहती है; पंथ की सीमा प्राप्त नहीं करना चाहती—

तुम अमर प्रतीक्षा हो, मैं
पग विरह-पथिक का धीमा;
आते जाते मिट जाऊँ
पाऊँ न पंथ की सीमा!

कवयित्री वियोग के समय को रोते-रोते काट देने की इच्छा रखती है। वह वियोग-रत ही रहना चाहती है; संयोग के समय छिप जाना चाहती है। वह अपने जीवन को चिर अतृप्तिमय बना लेना चाहती है, यही उसकी इच्छा है और इसी के प्रति ललक भी है—

तुम हो प्रभात की चितवन
मैं मधुर निशा बन आऊँ;
काटूँ वियोग-पल रोते
संयोग-समय छिप जाऊँ।

आरम्भ में वह मिलन के ऐसे क्षणों के लिए लालायित होती है जिनमें पीड़ा की मधुर कसक अन्तर्हित हो। किन्तु जब उसे यह आभास होता है कि यह भी तो एक प्रकार की तृष्णा ही है तो वह कह उठती है—

पाने में तुमको खोऊँ
खोने में समझूँ पाना।

प्रकृति भी उसे यह बताती हुई लक्षित होती है कि अमरता जीवन का ह्रास है एवं मृत्यु जीवन का चरम विकास है। वह भी मिलन का नाम लेना नहीं चाहती, विरह में निमग्न रहना चाहती है—

शून्य मेरा जन्म था
अवसान है मुझको सबेरा;
प्राण आकुल के लिए
संगी मिला केवल अँधेरा।
मिलन का मत नाम ले मैं विरह में चिर हूँ!

किसी के आँसू के सदृश्य प्यार को कण-कण में ढालकर तथा किसी का सुकुमार स्वप्न पलकों में पालकर जब साधिका एकाकी रूप से आँसुओं के देश में धूलि-भरे मार्ग पर चलने लगी, तो ऐसा लगता है कि चलते-चलते गन्तव्य स्थल प्राप्त हो गया—

मरण का उत्सव अजर है,
गीत जीवन का अमर है।
मुखर कण का संग मेला,
पर चला पंथी अकेला।
मिल गया गन्तव्य, पग को कंटकों के वेष में।

मुरझाए सुमन, मूक तृण, बेसुध पिकी एवं चिर पिपासित चातकी सबने मिलकर साधिका को इस रहस्य से अवगत कराया कि खोज ही चिर प्राप्ति का वर है; साधना ही सुन्दर सिद्धि है, रुदन में सुख की कथा एवं विरह में मिलन-प्रथा निहित है। किन्तु साधिका का जीवन-दर्शन तो भिन्न ही है। वह तो विरह के पंथ में आदि-अन्त मानती ही नहीं है। उसे विरह का जगत ही प्रिय है, मुक्ति से उसे कोई प्रयोजन नहीं है—

और कहेंगे मुक्ति-कहानी
मैंने धूलि व्यथा भर जानी,
हर कण को छू प्राण
पुलक बन्धन में बँध जाता है!
मिलन उत्सव बन क्षण आता है!
मुझे प्रिय! जग, अपना भाता है!
मुझे प्रिय! पथ, अपना भाता है।

जब उसे पीड़ा पथ ही प्रिय है, तब वह यह क्यों पूछे कि पथ और कितना शेष है?—

'मैं क्यों पूछूं यह विरह निशा कितनी बीती क्या शेष रही ?'

वह तो मिटने में ही निर्माण का रूप मानती है—

'मिटने को कर निर्माण चली ।'

'पीड़ा' के माध्यम से ढूँढे हुए 'प्रिय' में भी पीड़ा ही ढूँढना चाहती है—

तुमको पीड़ा में ढूँढा,
तुममें ढूढूँगी पीड़ा

इस प्रकार चिर अतृप्ति की साधना में लीन रहने वाली साधिका का भाव ही महादेवी जी का काव्य है ।

२४

'दीपशिखा' की भाव-भूमि

काव्य के विधायक तत्त्वों में भाव-तत्त्व का प्रमुख स्थान है। कवि के अनुभूतिजन्य मनोवेग ही काव्य की सृष्टि करते हैं। भाव-भूमि के अभाव में काव्य की कल्पना ही सम्भव नहीं है। 'भाव' काव्य का प्राण-तत्त्व है जिसके द्वारा काव्य-मूर्ति निर्मित की जाती है। महादेवी भाव-प्रधान कवयित्री है और उन्होंने गीतों के माध्यम से प्रणय, वेदना, करुणा, लोक-कल्याण आदि भावों की अभिव्यक्ति की है। कुछ विद्वानों ने उनके गद्य में विद्रोह का स्वर तथा पद्य में पलायन की भावना का उल्लेख कर उनकी भाव-धारा को विभक्त करने का प्रयत्न किया है। इस विभाजन से महादेवी पर काव्य में पलायनवादी होने का जो आरोप लगाया गया है वह युक्ति-संगत नहीं है। महादेवी की भाव-धारा पर व्यक्तिगत-विषमता, संसार की नश्वरता, दुःखवाद आदि का निश्चित रूप से प्रभाव पड़ा है लेकिन उन पर यह आरोप लगाना कि उनका काव्य पलायन-वादी है, असत्य एवं भ्रामक है। उनके काव्य में बिरहानुभूति एवं दुःखवाद की प्रधानता चाहे हो, लेकिन करुणा तथा लोक-मंगल की भावना सर्वत्र बिखरी पड़ी हैं। इस दृष्टि से 'दीपशिखा' का विशेष महत्त्व है। इस संकलन में विरह-व्यथा एवं रहस्य-भावना के साथ कवि की साधना का रूप तथा लोक-कल्याण की भावना पूर्व रचनाओं की अपेक्षा अधिक सशक्त रूप में अभिव्यक्त हुई हैं।

'दीपशिखा' में कवयित्री की साधना का स्वरूप बड़े स्पष्ट रूप में हमारे सामने आता है। कवयित्री की साधना आत्म-विसर्जन तथा आत्म-त्याग की साधना है जो 'दीपक' तथा 'मेघ' के प्रतीक के रूप में अभिव्यक्त की गई है।

'दीपशिखा' की भाव-भूमि को कवयित्री की पूर्व-कृतियों की भाव-भूमि की परम्परा में देखना ही समीचीन होगा। कवि की भावधारा एक छोर से प्रारम्भ होकर अन्तिम परिणति की ओर उन्मुख होती है और क्रमिक रूप से अन्तिम सत्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करती है। महादेवी की 'नीहार, रश्मि, नीरजा, सांध्यगीत' तथा 'दीपशिखा' रचनाओं में कवयित्री की भाव-भूमि का क्रमिक विकास हुआ है, लेकिन इन सब रचनाओं में 'दीपशिखा' की कविताएँ ही कवयित्री की साधना की अन्तिम स्थिति एवं परिणति की धूमिल झाँकी को स्पष्ट करने में सफल हुई हैं। 'दीपशिखा' के गीतों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवयित्री जिस साधना में लीन है उसकी अन्तिम परिणति का समय आ गया है। इस दृष्टि से 'दीपशिखा' की अन्तिम तीन कविताएँ विशेष महत्त्व-पूर्ण हैं। महादेवी ने 'दीपशिखा' की भूमिका में साधना में विश्वास का संकेत किया है, "दीपशिखा में अविश्वास का कोई कम्पन नहीं है। नवीन प्रभात के वैतालिकों के स्वर के साथ इसका स्थान रहे, ऐसी कामना नहीं, पर रात की सघनता को इसकी लौ झेल सके, यह इच्छा तो स्वाभाविक ही रहेगी।" कवयित्री की साधना की अन्तिम सिद्धि ईश्वरीय-मिलन, मोक्ष आदि नहीं है बल्कि दीपक के समान निरन्तर साधना में लीन रहकर अपने आत्म का विसर्जन करना ही उसकी सर्वोच्च-स्थिति एवं सिद्धि है। 'दीपशिखा' में ५१ गीत हैं और उसकी भाव-भूमि को निम्नलिखित रूपों में रखा जा सकता है—

१—दीपक के समान जलने की भावना।
२—मेघ के समान आत्म-विसर्जन।
३—विरह-भावना।
४—रहस्य-भावना।
५—करुणा, सुख-दुःख का समन्वय एवं लोक-कल्याण की भावना।
६—साधना एवं निर्वाण-भावना।

१. दीपक के समान जलने की भावना

'दीपशिखा' में लगभग दस-बारह गीत दीपक को सम्बोन्धित करके लिखे गये हैं। इन गीतों का प्रस्तुत संकलन में क्या महत्त्व है, यह 'दीपशिखा' नामकरण से ही स्पष्ट हो जाता है। 'दीपशिखा' में महादेवी ने 'दीपक' को आत्मा का, 'तेल' को आन्तरिक स्नेह का, 'अन्धाकर' को पीड़ा का और 'झंझावात' को

अनेक विघ्न-बाधाओं के प्रतीक के रूप में ग्रहण किया है। उनके गीतों में आत्मा के लिए आने वाले सभी प्रतीकों में दीपक सबसे अधिक उपयुक्त एवं प्रभावशाली है। 'दीपशिखा' के प्रथम गीत में ही दीप की तरह अविराम जलने की भावना स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त हुई है—

दीप मेरे जल अकम्पित,
घुल अचंचल !

कवयित्री ने दीपक के प्रतीक से अपनी साधना का वर्णन किया है। उनकी महत् इच्छा है कि दीपक अन्धकार में अपने आलोक से पथ को आलोकित करता रहे। दीपक की उजली मूक-व्यथा शून्य संसार में आलोक-किरणों का वितरण कर रही है—

विश्वासहीन सा जग सोता,
शृङ्गार - शून्य अम्बर रोता,
तब मेरी उजली मूक-व्यथा—
किरणों के खोले केश रही !

दीपक की 'रात-सी नीरव व्यथा तम-सी अगम मेरी कहानी' होने पर भी वह अपनी कठिन साधना से भयभीत नहीं होता। मोम-सा तन तथा दीप-सा मन जला जा रहा है लेकिन निशा कब समाप्त होगी, यह जानने की उसे कोई उत्सुकता नहीं है—

मैं क्यों पूछूँ यह विरह निशा;
कितनी बीती क्या शेष रही ?

कवयित्री को दीपक के अमरत्व में विश्वास है। रात्रि धीरे-धीरे कम होती जा रही है और दीपक अपने अस्तित्व के बारे में सोचता है। महादेवी उसे सान्त्वना देती हुई कहती हैं—

पूछता क्यों शेष कितनी रात ?
अमर सम्पुट में ढला तू,
छू नखों की कांति चिर संकेत पर जिनके जला तू,
स्निग्ध सुधि जिनकी लिये कज्जल-दिशा में हँस चला तू,
परिधि बन घेरे तुझे वे उँगलियाँ अवदात !

महादेवी की प्रबल आकांक्षा है कि साँझ का दूत 'दीपक' प्रभाती तक निरन्तर जलता रहे। 'दीपक' पथ के अपरिचित एवं स्वयं के अकेले होने पर भयभीत नहीं होता। विघ्न-बाधाओं से उसके संकल्प एवं साधना में और दृढ़ता आती है। कवयित्री दिग्भ्रान्त झंझा एवं अनेक बाधाओं के बीच दीप के निरन्तर प्रभात तक प्रज्ज्वलित रहने का विश्वास व्यक्त करती है—

झंझा है दिग्भ्रान्त रात की मूर्छा गहरी,
आज पुजारी बने, ज्योति का यह लघु प्रहरी,
जब तक लौटे दिन की हलचल,
तब तक यह जागेगा प्रतिपल,
रेखाओं में भर आभा-जल
दूत साँझ का—इसे प्रभाती तक चलने दो !

'दीपक' के प्रतीक के साथ कवयित्री ने अपनी आत्म-साधना, रहस्यानुभूति एवं लोक-कल्याण की भावना को सम्बद्ध किया है। अलौकिक प्रिय दीपक को प्रज्ज्वलित करके अन्धकार में सतत जलने को कह जाता है। क्या वही अन्तिम याम ढल जाने पर सोने को नहीं कहता ? कवयित्री ने दीपक के प्रतीक से एक मार्मिक रहस्यानुभूति का वर्णन किया है—

खोलकर जो दीप के दृग,
कह गया तम में बढ़ा पग,
देख श्रम-धूमिल उसे करते निशा की साँस जगमग,
क्या न आ कहता वही,
'सो, याम अन्तिम ढल चुका है।'

महादेवी की आत्म-साधना ही लोक-मंगल की साधना कही जा सकती है। उनका आत्म-दीपक संसार के तिमिर का नाश करने के लिए, दिग्भ्रान्त झंझा के बीच भी ज्योति का वितरण करता रहता है। महादेवी में लोक-कल्याण की भावना का अभाव देखने वाले आलोचक निम्नलिखित पंक्तियों पर अपनी दृष्टि डालें, उन्हें अपने मत के असत्य एवं मिथ्या होने का सरलता से ज्ञान हो जायेगा—

पथ न भूले, एक पग भी,
घर न खोये, लघु विहग भी,
स्निग्ध लौ की तूलिका से
आँक सबकी छाँह उज्ज्वल !

२. मेघ के समान आत्म-विसर्जन

मेघों के आत्म-बलिदान तथा लोक-कल्याण की भावना से भी महादेवी ने प्रेरणा ग्रहण की है। 'दीपशिखा' के कुछ गीतों में महादेवी ने इन्हीं भावनाओं को अपनी साधना के रूप में अभिव्यक्त किया है। 'दीपशिखा' से पूर्व कवयित्री का मन—'नीर भरी दुःख की बदली, उमड़ी कल थी मिट आज चली'—की भावना से आक्रान्त हैं लेकिन 'दीपशिखा' के गीतों में उसकी यह भावना उदात्त एवं लोक-कल्याणपरक बनकर हमारे सामने आती है। महादेवी घटा से कहती है—

प्यासे का जान ग्राम,
झुलसे का पूछ नाम,
धरती के चरणों पर
नभ के धर शत प्रणाम,
गल गया तुषार-भार बनकर वह छवि-शरीर !

कवयित्री ने एक गीत में स्वयं को मेघ के रूप में चित्रित किया है। मेघ का आत्म-विसर्जन एवं संसार के कल्याण की भावना—महादेवी की साधना का प्रमुख अंग है। वह कहती है—

मेघ सी घिर झर चली मैं !
पंथ के हर शूल का मुख
मोतियों से भर चली मैं !

३. विरह-भावना

महादेवी के गीतों का मूल स्वर—वेदना ही है जो व्यक्तिगत विषमता, अज्ञात-प्रिय की वेदना, करुणा तथा लोक-कल्याण की भावना से युक्त है। महादेवी की वेदना कभी समाप्त न होने वाली वेदना है, लेकिन कवयित्री ने इसे बड़ी प्रसन्नता से ग्रहण किया है—'प्राण हँसकर ले चला चिर व्यथा का भार।'

महादेवी ने अपनी विरहावस्था का बड़ा मार्मिक चित्र उतारा है—

मेरे सार्थवाही स्वप्न
अंचल में व्यथा भरपूर
आँखें मोतियों का देश
साँसें बिजलियों का चूर !

कवयित्री की व्यथा रात-सी नीरव है तथा उसकी तम-सी अगम कहानी है। उसकी वेदना अगम एवं अनन्त है और व्यथा का अन्तिम गीत वह अभी तक नहीं गा सकी है। वह विरह-पथ की चिर-पथिक है और उसका अन्त स्वीकार नहीं करतीं—

अलि विरह के पंथ में मैं तो न इति-अथ
मानती री !

महादेवी की विरह-भावना मधुरता एवं अमरता से युक्त है और उन्होंने विरह में ही मिलन का अनुभव किया है। उनकी व्यथा साधारण विरह-व्यथा नहीं है, वह निर्वाण-प्रदान करने की अद्भुत शक्ति से सम्पन्न है।

४. रहस्य-भावना

महादेवी की रहस्यानुभूति के सम्बन्ध में आलोचक एक मत नहीं हैं। डा० नगेन्द्र महादेवी की रहस्यानुभूति में काम का स्पदंन पाते हैं, जिसका

आधार सर्वथा पार्थिव है। इसके विपरीत कुछ विद्वानों का मत है कि उनके आध्यात्मिक संस्कारों के कारण उनके काव्य में आत्मा का परमात्मा के प्रति विरह-निवेदन है जो मिलन के लिए व्याकुल है। महादेवी के अनुसार रहस्योपासक अखण्ड चेतन के प्रति आत्मसमर्पण करता है तथा इस अलौकिक आत्मसमर्पण को समझने के लिए लौकिक का सहारा लेना होता है। 'अलौकिक रहस्यानुभूति भी अभिव्यक्ति में लौकिक ही रहेगी।' लौकिक अभिव्यक्ति के कारण ही आलोचकों को उनकी रहस्यानुभूति की सत्यता में सन्देह होता है। कवयित्री ने 'उस पार' के लोक की एक मधुरमयी कल्पना की है और अज्ञात देश के अज्ञात प्रिय के प्रति प्रणय-निवेदन किया है। कवयित्री इधर मतवाली है और उधर उसका प्रिय अलबेला सा है। महादेवी ने 'दीपशिखा' के दो गीतों के माध्यम से अपने उन आलोचकों को उत्तर दिया है जो उनकी रहस्यानुभूति की सत्यता में सन्देह करते हैं—

जाने क्यों कहता है कोई,
मैं तम की उलझन में खोई,
धूममयी वीथी-वीथी में,
लुक-छिप कर विद्युत सी रोई,

मैं कण-कण में ढाल रही अलि आँसू के मिस प्यार का !
मैं पलकों में पाल रही हूँ यह सपना सुकुमार किसी का !

+ + +

जो न प्रिय पहचान पाती !
मेघ पथ में चिन्ह विद्युत के गये जो छोड़ प्रिय-पद,
जो न उनकी चाप का मैं जानती सन्देश उन्मद,
किसलिए पावस नयन में,
प्राण में चातक बसाती ?

कवयित्री के प्राण अपने प्रिय के एक इंगित के लिए शत बार मचल चुके हैं। उसे अपने प्रिय की प्रेमभरी क्रियाओं का स्मरण हो आता है—प्रिय ने पलकों पर धर-धर अगणित शीतल चुम्बन लिए थे। अपनी साँसों से वेदना के क्षणों को पोंछ कर हिम-स्निग्ध करों से बेसुध प्राण को सुलाया था। जिस किरणांगुलि ने स्वप्न भरे एवं अतल स्नेह को ढाल दिया, ऐसा प्रिय क्या मुझे याद न आयेगा—

जिस किरणांगुलि ने स्वप्न भरे,
मृदुकर - सम्पुट में गोद लिया,

चितवन से ढाला अतल स्नेह,
निश्वासों का अमोद दिया।
कर से छोड़ा;
उर से जोड़ा।
इंगित से दिशि-दिशि में मोड़ा।
क्या याद न वह आता अजान ?

कवयित्री इसी 'अजान-प्रिय', 'अलबेले प्रियतम' के एक इंगित तथा एक निमन्त्रण के लिए व्याकुल है। वह उसके एक निमन्त्रण मात्र से ज्वाल के सिन्धुओं को पार करने का साहस रखती है। कवयित्री के सुकुमार सपने प्रिय की स्मित से उजले हो उठते हैं और आँखों के आँसू स्पर्श करने से 'अमर-करुणा वरदानी' बन जाते हैं। 'दीपशिखा' के गीतों में महादेवी की रहस्यानुभूति बड़े मार्मिक रूप में अभिव्यक्त हुई है। लौकिक उपमानों के द्वारा अभिव्यक्त होने पर भी अनुभूति अलौकिक ही है। 'दीपशिखा' में महादेवी की रहस्यानुभूति कल्पनाजन्य नहीं कही जा सकती, वह अनुभूतिजन्य है और उसकी सत्यता में किसी को सन्देह नहीं होना चाहिए।

५. करुणा, सुख-दुःख का समन्वय एवं लोक-कल्याण की भावना

महादेवी के काव्य में विरहानुभूति, अलौकिक प्रणयानुभूति, नीरवता, तम-प्रियता आदि की प्रधानता होने पर भी वह सामाजिक कल्याण एवं करुणा की भावना से अछूता नहीं है। महादेवी पर अन्तर्मुखी होने तथा एकांत-साधना का आरोप लगाना सर्वथा असत्य है। उन्होंने स्वयं 'दीपशिखा' की भूमिका में इस आरोप का खंडन किया है, "जीवन की दृष्टि से मैं बहुधंधी हूँ, अतः एकान्त काव्य-साधना का प्रश्न उठाना ही व्यर्थ होगा।……भाव और विचारगत जगत की सब सीमाएँ न छू सकने पर भी मेरे कर्मक्षेत्र की विविधता कम सारवती नहीं।" कवयित्री अपने साधना-मंदिर में दीपक की लौ के समान निरंतर एकाकी, नीरव एवं अकम्पित जलते हुए भी करुणा-जल से युक्त है। व्यक्तिगत विरह-वेदना एवं पीड़ा के प्रभाव में कवयित्री ने सुख दुखः से मिश्रित लोक-जीवन को विस्मृत नहीं किया है। वह पीड़ा की साधिका अवश्य है, लेकिन पीड़ा की नींव पर लोक-कल्याण का भवन निर्मित किया है। कवयित्री के हृदय में पीड़ा का बीज अंकुरित एवं पल्लवित होकर लोक मंगल के विशाल वृक्ष के रूप में विकसित हो चुका है, जिसकी छाया सर्वत्र करुणा का प्रसार करती है। साधना में स्वान्तः सुखाय के तत्व होने पर भी वह 'जन-सुखाय' से दूर नहीं है। देवेन्द्र सत्यार्थी ने लिखा है, "महादेवी ने अपनी कविता में जिस

व्यक्तिगत साधना की बात उठाई है, उसका महत्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता। जब वे कहती हैं 'दीप मेरे जल अकम्पित, घुल अचंचल' तो हम उनके शब्दों में एक ऐसे व्यक्ति की साधना देख सकते हैं जिसमें जन-कल्याण की अटूट भावना भरी है।"

'दीपशिखा' के गीतों का, करुणा एवं लोक-कल्याण की दृष्टि से विशेष महत्व है। अपनी पूर्व-कृतियों की अपेक्षा 'दीपशिखा' में महादेवी की करुणा एवं लोक-मंगल की भावना अधिक सशक्त एवं प्रांजल रूप में व्यक्त हुई है। डा० नगेन्द्र के अनुसार, " 'दीपशिखा' में फारसी की शमअ की तरह ऐन्द्रिय वासना की दाहक ज्वाला नहीं है, वरन् करुणा की स्निग्ध लौ है, जो मधुर-मधुर जलती हुई पृथ्वी के कण-कण के लिये आलोक वितरित करती है।" कवयित्री ने एक गीत में स्वयं को 'सरितविकल' कहकर 'करुणा की वाहक-अभिनव' घोषित किया है और भू के अंचल पर आवास करने की कामना की है :—

मैं गति विह्वल,
पाथेय रहे तेरा दृग-जल,
आवास मिले भू का अंचल,
मैं करुणा की वाहक अभिनव !

महादेवी की करुणा—समस्त लौकिक विषमता का उत्तर है। उनकी करुणा भू के जनों की सेवा करने वाली है। इसके साथ ही उन्होंने अपने गीतों में सुख-दुःख का सामंजस्य स्थापित किया है। कवयित्री ने स्वयं 'नीरजा' और 'सान्ध्यगीत' के लिए कहा है कि इनमें अनायास ही मेरा हृदय दुःख-सुख में सामंजस्य का अनुभव करने लगा। 'दीपशिखा' के दो-तीन गीतों में सुख-दुख के समन्वय की भावना व्यक्त हुई है। कवयित्री के अनुसार सुख तथा दुःख दोनों एक ही उर में पले तथा एक ही मार्ग पर चले हैं—

"एक ही उर में पले,
पथ एक से दोनों चले हैं।
पलक - पुलिनों पर अधर,
उपकूल पर दोनों खिले हैं।
एक ही झंकार में युग अश्रु-हास घुला चुकी हूँ।"

वे जग की रेखा-रेखा में सुख-दुःख का स्पन्द भर देने का व्रत लेती हैं। महादेवी के समान अन्य छायावादी कवियों—प्रसाद और पंत—ने भी अतिशय सुख एवं दुःख के आक्रान्त मानव जीवन में चिर-सुख एवं आनन्द की सृष्टि के लिये सुख-दुःख के सामंजस्य को वाणी दी है। प्रसाद ने 'आँसू' काव्य में कहा है—

मानव जीवन वेदी पर,
परिणय हो विरह-मिलन का।
दुःख - सुख दोनों नाचेंगे,
है खेल आँख का मन का।

पंतजी ने भी अति सुख एवं अति दुःख से पीड़ित मानव-जीवन में सुख और दुःख को समरूप बाँटने की बात कही है। इस प्रकार छायावादी कवियों की सुख-दुःख के सामंजस्य की साधना—उनकी लोक-कल्याण की भावना का ही एक अंग है, जिसको हृदयंगम करके लोक-जीवन चिर-सुख, शान्ति एवं आनन्द की प्राप्ति कर सकता है। इस सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र का मत द्रष्टव्य है—"महादेवी जी का मन क्रमशः व्यक्तिगत पीड़ा को लोक-व्यापी बनाता हुआ दुःख-सुख का सामंजस्य स्थापित करता रहा है।"

'दीपशिखा' में महादेवी की लोक-कल्याण की भावना एवं साधना बड़े स्पष्ट रूप में मुखरित हुई है। उन्होंने दीपक, मेघ एवं सरिता के प्रतीक के द्वारा अपनी जन-कल्याण की भावना को वाणी प्रदान की है। कवयित्री दीपक के रूप में मानव-मन के तिमिर को दूर करने के लिए अपनी आत्मा के आलोक को प्रज्ज्वलित करती है, मेघ के रूप में लोक-कल्याण के लिये आत्म-विसर्जन को तत्पर है एवं सरिता के रूप में व्यथित मानव-भू-अंचल को करुणा की अभिनव धारा से शीतल बना देती है। जन कल्याण के लिये आत्म-विसर्जन करने वाले मेघ की प्रत्येक कम्पन पर कवयित्री शत-शत निर्वाण न्यौछावर करने को तत्पर है—

जो नभ की जलती साँसों पर
हिम-लीक बनाने को गलता,
कण-कण में आने को घुलता
उस घन की हर कम्पन पर मैं
शत शत निर्वाण लुटा जाती।

कवयित्री का एकाकी प्राण जलते, खिलते, बढ़ते जग में घुल-मिलकर चलता है। उसकी साधना सर्वजनीन है तथा व्यक्तित्व सर्वत्र फैला है—

संसृति के प्रति पग में मेरी,
साँसों का नव अंकन चुन लो,
मेरे बनने-मिटने में नित,
अपनी साँसों के क्षण गिन लो!
जलते-खिलते-बढ़ते जग में घुल-मिल एकाकी प्राण चला!
सपने-सपने में सत्य ढला।

'दीपशिखा' के लगभग आधे गीत लोक-कल्याण की भावना से युक्त हैं। दीप, मेघ, सरिता आदि से सम्बन्धित सभी गीत लोक-कल्याण की भावना से परिपूर्ण हैं और सच तो यह है कि कवयित्री ने अपनी इसी भावना को अभिव्यक्त करने के लिये इन गीतों की रचना की है।

६. साधना एवं निर्वाण-भावना

महादेवी ने अपने गीतों में अन्य छायावादी कवियों के विपरीत काव्य-साधना के उद्देश्य एवं स्वरूप को व्यक्त किया है। भारत के सभी दर्शनों में मोक्ष या निर्वाण को अन्तिम सिद्धि के रूप में स्वीकार किया गया है। साधक एक निश्चित साधना-पथ पर चलकर, साधना के सफल होने पर, मोक्ष या निर्वाण प्राप्त करता है। निष्काम-भाव से भगवान् का भजन करने वाला भक्त भी परम-गति या मोक्ष प्राप्त करने की लालसा से मुक्त नहीं होता। सत्य तो यह है कि सभी दार्शनिक विचारों का जन्म आत्मा को परम-गति या मोक्ष या निर्वाण प्राप्त कराने की समस्या को लेकर हुआ है, और इन विभिन्न दार्शनिक विचारों में साधना एवं सिद्धि (मोक्ष) के अलग-अलग अस्तित्व को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है। लेकिन महादेवी ने अपने गीतों में साधना और सिद्धि (मोक्ष) के एकत्व को स्वीकार करते हुए दोनों के अलग-अलग अस्तित्व का खंडन किया है। महादेवी ने खोज को चिर-प्राप्ति का वरदान माना है तथा साधना को सुन्दर सिद्धि के रूप में ग्रहण किया है। शलभ दीप की लौ में जलकर दीप बन जाता है—

खोज ही चिर प्राप्ति का वर,
साधना ही सिद्धि सुन्दर।
रुदन में सुख की कथा है,
विरह मिलने को प्रथा है।
शलभ जलकर दीप बन जाता निशा के शेष में !
आँसुओं के देश में !

'दीपशिखा' के गीतों में महादेवी ने साधना सम्बन्धी मौलिक दृष्टिकोण को उपस्थित किया है। उन्हें मुक्ति या निर्वाण प्राप्त करना अभिप्रेत नहीं है, वे तो निरन्तर साधना में लीन रहना चाहती हैं। उन्होंने तो केवल धूलि-व्यथा को ही जाना है; उसे ग्रहण एवं आत्मसात् किया है, मुक्ति-कहानी को तो उन्होने और व्यक्तियों को कहने के लिये छोड़ दिया है—

और कहेंगे मुक्ति कहानी,
मैंने धूलि-व्यथा भर जानी !

एक-दो स्थलों पर कवयित्री ने मुक्ति की बात अवश्य कही है लेकिन वहाँ पर भी वह ब्रह्म में लीन हो जाने की अभिलाषा से युक्त नहीं है। एक स्थल पर कवयित्री ने अग्निपथ में सजल मुक्ति-जलजात खिलने की कामना की है और दूसरे स्थल पर अमिट घन सा अखिल रस-रूपमय निर्वाण को देने की प्रार्थना की है—

खिले अग्नि पथ में सजल,
मुक्ति-जलजात !

× × ×

अमिट घन-सा दे अखिल रस रूपमय निर्वाण !

'अग्नि-पथ का मुक्ति-जलजात' तथा 'अमिट घन-सा रस-रूपमय निर्वाण' प्राप्त करने की कामना महादेवी के मौलिक-चिन्तन एवं निस्वार्थ-साधना की ओर संकेत करती है। अग्नि-पथ से अभिप्राय—कवयित्री की विरह-साधना एवं विघ्नों तथा कंटकों से युक्त पथ का है। उन्होंने एक अन्य स्थान पर कहा भी है–

"मिल गया गन्तव्य, पथ को कंटकों के वेष में।"

महादेवी इसी कंटकों के पीड़ा-पथ को निर्वाण मानती हैं, पथ के शूल उनके लिये वरदान हैं तथा साधना-पथ पर पड़ने वाला प्रत्येक पग शत-शत वरदानों से युक्त है—

पथ को निर्वाण माना,
शूल को वरदान जाना।

× × ×

पथ मेरा निर्वाण बन गया,
प्रतिपग शत वरदान बन गया !

'दीपशिखा' के गीतों में महादेवी ने अपनी साधना की अन्तिम स्थिति एवं परिणति का संकेत किया है। यद्यपि साधना की अन्तिम परिणति की बात कहीं भी स्वीकार नहीं की है तथा उन्होंने 'चिर-पथिक' होने की बात को बड़े प्रबल शब्दों में लिखा है। लेकिन 'दीपशिखा' के अन्तिम दो-तीन गीतों में उनकी साधना का अन्त होते हुए दिखलाई देता है। महादेवी ने अपनी साधना की अभिव्यक्ति के लिये दीप के प्रतीक को प्रमुख रूप से ग्रहण किया है। रात्रि के समाप्त होने पर दीपक के जीवन का भी अन्त हो जाता है। 'दीपशिखा' के दो गीतों (४९ व ५०) में महादेवी ने रात्रि के अन्त तथा ऊषा के आगमन का भावपूर्ण वर्णन करते हुए कहा है, 'राख से अंगार-तारे झर चले हैं, अंधेरा अनेक रूपों में अपने पंखों को खोल रहा है और चितेरा दीपक अपनी तूलिका को रखकर सो गया है। अलस पलकों से अपना पता मिटाकर स्वप्नों ने नयनों को छोड़ दिया है तथा मृदुल तिनकों में अपनी व्यथा को छिपाकर खग अपने

बसेरे को छोड़, उड़ गया है। ऊषा अपनी किरणों के साथ उदित होती है और सूर्य अरुण शतदल सा हँस उठता है—

हँस उठा अब अरुण शतदल
सा ज्वलित दिन मान।

प्रातःकालीन विहग अपने बसेरे को छोड़कर जब आकाश में उड़ चलता है तो उसके पथ का साथी सबेरा ही होता है, लेकिन रात्रि के आगमन पर वह पुनः अपने घोंसले में आकर विश्राम करता है। महादेवी ऐसे विहग को करुणा-सजल वरदान को साथ लेकर उड़ने का संदेश देती हैं—

नभ, अपरिमित मैं भले हो पंथ का साथी सबेरा,
खोज का पर अंत है यह तृण-कणों का लघु बसरा।
तुम उड़ो ले धूलि का
करुणा-सजल वरदान !

महादेवी ने एक अन्य गीत में कहा है कि जो दीप के दृगों को खोल कर तम में पग बढ़ाने के लिये कह गया था, वही अन्तिम याम ढल चुकने पर सोने के लिये कहता है। 'दीपशिखा' के गीतों में अन्तिम याम ढल चुका है और 'सजल है कितना सबेरा' की लालिमा नभमंडल पर आलोक का प्रसार करती हुई दिखलाई देती है। इस प्रकार दीपक के समान कवयित्री की साधना भी समाप्त हो जाती है, लेकिन इस परिणति के बाद की स्थिति अभी धूमिल एवं अस्पष्ट है। सम्भव है कि कवयित्री की भविष्य में आने वाली रचनायें साधना की परिणति के उपरान्त की धूमिल अवस्था को स्पष्ट कर सकेंगी।

सारांश में 'दीपशिखा' के गीतों में विरह, रहस्य तथा लोक-कल्याण की भावना की अभिव्यक्ति प्रमुख रूप से हुई है। प्रायः सभी गीतों का वर्ण्य-विषय उन्हीं तीनों भावनाओं में से कोई न कोई रहा है। इन भावनाओं की अनुभूति इतनी प्रबल एवं सशक्त है कि महादेवी की चेतना पर अन्य भावनायें अपना प्रभाव डालने में असमर्थ रही हैं। इन भावनाओं की प्रबल अनुभूति का मूल कारण—इनका परस्पर सम्बद्ध होना है। मूल रूप से विरह, रहस्य एवं लोक-कल्याण की भावना एक सूत्र से बँधी हुई हैं, वे एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। महादेवी विरह-पथ की साधिका हैं तथा उनका विरह काम-पीड़ा से उत्पन्न होने पर भी 'दीपशिखा' में अलौकिक प्रिय का विरह बनकर सामने आता है। 'दीपशिखा' के किसी भी गीत में काम का स्पन्दन नहीं है, तथा कवयित्री ने अपनी व्यक्तिगत-लौकिक पीड़ा को उदात्त बनाकर अलौकिक प्रिय से सम्बद्ध कर लिया है।

कवयित्री ने अपनी पूर्व-कृतियों में अपनी व्यक्तिगत लौकिक-पीड़ा को उदात्त एवं स्वस्थ रूप देने का बराबर प्रयास किया है, लेकिन 'दीपशिखा' के गीतों में ही उसे पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। कवयित्री की विरह-भावना जहाँ रहस्य-भावना से सम्बद्ध है वहाँ वह लोक-कल्याण की भावना को भी आत्मसात् किये हुए है। कवयित्री की हृदय-भूमि में अंकुरित विरह-लता पर रहस्य-भावना एवं लोक-कल्याण के दो कुसुम खिले हुए हैं जो अपना भिन्न-भिन्न अस्तित्व रखते हुए भी विरह-लता की नींव पर खिले हैं। कवयित्री विरह-पथ की चिर-पथिक है और वह अपनी साधना के द्वारा लोक-कल्याण के निमित्त करुणा का प्रसार करती है। सुख-दुःख का समन्वय, दीपक एवं मेघ के समान आत्म-विसर्जन को साधना तथा साधना को ही मोक्ष के रूप में ग्रहण करना, कवयित्री की सशक्त लोकमंगल की भावना की सूचना देते हैं। इसके साथ ही 'दीपशिखा' के कई गीतों में विरह, रहस्य एवं लोक-मंगल की भावना एक ही स्थल पर प्राप्त होती है। कवयित्री ने एक ही गीत की निम्नलिखित पक्तियों में अपनी विरहानुभूति, रहस्यानुभूति एवं लोक-कल्याणानुभूति की एक साथ अभिव्यक्ति की है—

यह सपने सुकुमार तुम्हारी स्मित से उजले।
छूकर मेरे सजल दृगों की मधुर कहानी,
इनका हर कण हुआ अमर करुण वरदानी,
उड़े तृणों की बात तारकों से कहने यह
चुन प्रभात के गीत, सांझ के रंग सजल ले!

'दीपशिखा' में ऐसे अनेक गीत हैं जिनमें उपर्युक्त तीनों अनुभूतियाँ एक ही स्थल पर वर्णित की गई हैं। इस प्रकार अलौकिक प्रिय के अभाव से उत्पन्न विरह-भावना एवं विरह-साधना लोक-कल्याण की साधना से भिन्न नहीं हैं। इनकी अभिन्नता ही कवयित्री की अनुभूति में प्रबलता एवं दृढ़ता ला सकी है। कवयित्री की आत्मचेतना इन अनुभूतियों में इतनी घुल-मिल गई है कि एक ही गीत में तीनों भावनाओं के चित्र स्वतः ही उतरते चले आते हैं। सत्य एवं सघन अनुभूति के कारण ही ऐसा हो सका है, अन्यथा काल्पनिक अनुभूतियों में यह सब कुछ होना सम्भव नहीं है।

अन्त में 'दीपशिखा' की भाव-भूमि का विशेष महत्व है; क्योंकि कुछ मौलिक विशेषताओं के साथ महादेवी की साधना को स्पष्ट करने में सफल रही है। भाव-पक्ष की दृष्टि से वह महादेवी की सभी काव्य-कृतियों में विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण स्थान की अधिकारी है।

२५

हिन्दी गद्य-साहित्य के निर्माण में द्विवेदी-युग की महत्ता

●

आधुनिक हिन्दी गद्य-साहित्य का आरम्भ का सन् १७०० से माना जाता है, और उसी प्रकार भारतेन्दु-युग की समाप्ति सन् १९०० के आस-पास समझी जाती है। भारतेन्दु-युग की पार्श्वभूमि पर बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से द्विवेदी-युग का आगमन होता है और उसकी सीमा सन् १९२० तक मानी गई है। बीसवीं शताब्दी का आरम्भ हिन्दी गद्य की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। इस नये युग में जो लेखक सामने आये, उन्होंने हिन्दी गद्य-साहित्य को सम्पन्न बनाया। इस युग या समय में जो भी रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं, उनके द्वारा आधुनिक गद्य-साहित्य के विविध रूपों में परिवर्तन होते गये हैं। इस महान् युग का सूत्रपात पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने किया और उन्हीं के परिश्रम से हिन्दी गद्य का सर ऊँचा हो गया।

द्विवेदी-युग के निर्माण की दृष्टि से उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम शतक में ऐसी दो-तीन घटनाएँ हुईं कि उनके कारण द्विवेदी-युग के निर्माण में बहुत सुविधा हुई। हिन्दी की दृष्टि से काशी की नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना (१८९३) एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण घटना है। सभा के द्वारा प्रकाशित 'नागरी-

प्रचारिणी पत्रिका' प्रकाशन हिन्दी गद्य की दृष्टि से अपना एक विशेष महत्व रखती है। इस पत्रिका में हिन्दी शोध-सम्बन्धी रचनाएँ प्रकाशित होने लगीं और आलोचना साहित्य के प्रति आकर्षण निर्माण होने में सुविधा मिली। पत्रिका के प्रकाशन बाद दूसरे ही वर्ष (१७६७) सभा ने 'आर्यभाषा पुस्तकालय' की स्थापना की और हिन्दी-साहित्य के अध्ययन के लिए सब प्रकार की सुविधाएँ निर्माण हुईं। पं० मदन मोहन मालवीय जी ने "कोर्ट करेक्टर एण्ड प्रायमरी एज्युकेशन" नाम की एक पुस्तक लिखी और उनके इस ग्रन्थ को सन् १६६७ में संयुक्त प्रान्त के गवर्नर के सामने नागरी मेमोरण्डम के प्रतिनिधि-मंडल ने अपने निवेदन-पत्र के साथ उपस्थित किया। उसी प्रकार सभा ने "शुड नागरी बी इन्ट्रोड्युस्ड इन कोर्ट ?" नाम की पुस्तक छपवा कर उसकी हजारों प्रतियाँ जनता में वितरित कीं। सभा के इस परिश्रम के कारण हिन्दी को अदालत में स्थान मिला और हिन्दी लोक-व्यवसाय का साधन बनी। इसी प्रकार हिन्दी गद्य के विकास के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार होने की परिस्थितियाँ उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में निर्माण हुईं।

बीसवीं शताब्दी का प्रारम्भ हिन्दी-गद्य की दृष्टि से अत्यन्त महत्व रखता है। न्यायालय में हिन्दी का प्रवेश और काशी की 'नागरी-प्रचारिणी सभा' द्वारा हिन्दी की हस्तलिखित पुस्तकों की खोज का आरम्भ—हिन्दी का महत्व एवं प्रसार बढ़ाने में अधिक सहायक हुए। सन् १६०० में प्रयाग से 'सचित्र सरस्वती' पत्रिका का प्रकाशन हुआ। इसी साल काशी से भी 'सुदर्शन' नाम की पत्रिका प्रकाशित होने लगी। इन पत्रिकाओं के प्रकाशन के कारण हिन्दी की गति में तीव्रता आई और हिन्दी-गद्य के प्रसार में अधिक सुविधाएँ निर्माण हुईं।

काशी की 'नागरी प्रचारिणी सभा' के कारण हिन्दी का कार्य-क्षेत्र बहुत बढ़ने लगा। हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज होने लगी और उसके संरक्षण की व्यवस्था भी सभा द्वारा हुई। इसी प्रकार हिन्दी की अप्रकाशित रचनाएँ लोगों के सामने आईं और हिन्दी के साहित्य-भंडार का रूप लोगों के सामने उपस्थित हुआ। इसी प्रकार सभा द्वारा हिन्दी का शब्दकोश तैयार कराने का कार्य १६०७ से आरम्भ हुआ। सभा की भाषा-नीति भी हिन्दी-गद्य की दृष्टि से अत्यन्त उपयुक्त ठहरी। सभा के कार्य-क्षेत्र में हिन्दी के अनुसंधान को भी महत्त्व का स्थान मिला। नागरी-प्रचारिणी पत्रिका का संपादन-कार्य बाबू श्यामसुन्दर दास, पं० रामचन्द्र शुक्ल जैसे विद्वान् लोगों ने किया। इन लोगों के परिश्रम के कारण ही पत्रिका का स्तर बहुत ऊँचा हुआ।

हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के इतिहास में सरस्वती का प्रकाशन एक युगांत-

कारी घटना है। पाठकों की रुचि के अनुसार इसमें मनोरंजक एवं साहित्यिक रचनाएँ प्रकाशित होने लगीं। सन् १९०३ में इसका सम्पादन-कार्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के हाथ में जाने के कारण पत्रिका का संपादन बहुत ही कलापूर्ण ढंग से होने लगा और उसके पाठकों की संख्या बढ़ने लगी। द्विवेदी जी ने पत्रिका में सब प्रकार के लेखों को प्रकाशित कराने की सुविधाएँ प्रदान कीं और इसी नीति के कारण हिन्दी लेखकों की संख्या में भी वृद्धि हुई। पत्रिका में सब प्रकार के लेखों को स्थान मिलने लगा और इसमें गद्य, पद्य, नाटक, उपन्यास, निबन्ध, चम्पू, इतिहास, जीवन-चरित, पत्र, हास्य, पुरावृत्त, विज्ञान, शिल्प-कला आदि सम्बन्धी लेखों तथा रचनाओं का समावेश होने लगा। इसी कारण नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, समालोचना आदि हिन्दी-गद्य के विविध रूपों का विकास होने में सहायता मिली।

भारतेन्दु-काल में भाषा के बारे में अनेक प्रयोग होते रहे, परन्तु भाषा का कोई ठीक रूप स्थिर नहीं हो पाया था। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने भाषा को ठेठ हिन्दी का रूप देने की दृष्टि से 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' (१८९९) और 'अधखिला फूल' (१९०७) नामक दो उपन्यास लिखे। परन्तु उपाध्याय जी की भाषा में गद्य का सुगठित रूप दिखाई नहीं पड़ा। इसी प्रकार भाषा में कृत्रिमता आई थी। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी जी ने हिन्दी की शक्ति समझकर भाषा को व्याकरण-सम्मत बनाया और उसका साहित्यिक तथा यथार्थ रूप लोगों के सामने रखा।

द्विवेदी जी ने अपनी भाषा का रूप स्थिर करने की दृष्टि से राजा शिवप्रसाद, राजा लक्ष्मण सिंह, प्रतापनारायण मिश्र आदि गद्य-लेखकों की भाषा की परम्परा को समझा। उन्हें इन लेखकों की भाषा में एक प्रकार की अपरिपक्वता, शिथिलता और व्याकरण की अवहेलना का दर्शन हुआ। भाषा-शुद्धि के इस कार्य को द्विवेदी जी ने अपना महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य समझा। परन्तु द्विवेदी जी उर्दू और हिन्दी के झगड़े में नहीं पड़े। वे भाषा-द्रष्टा थे और उन्हें भाषा के शुद्ध रूप से साहित्य को भी शुद्ध करना था। उनकी भाषा का आदर्श-साधारण से साधारण विषय पर लिखने योग्य भाषा का निर्माण करना था। उन्होंने भाषा का लक्ष्य साधारण विषय तथा सामान्य पाठक की दृष्टि से निश्चित किया।

इस प्रकार द्विवेदी जी ने भाषा की दृष्टि से एक क्रान्तिकारी कार्य किया। उन्होंने अपने काल के नये तथा पुराने लेखकों का ध्यान भाषा की शुद्धता की ओर आकर्षित किया। उन्होंने ऐसे लेखकों की रचनाओं की आलोचना करना आरम्भ किया जो अपनी रचनाओं में व्याकरण की साधारण

भूलों की ओर भी ध्यान नहीं देते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि अनेक लेखक भाषा की शुद्धता का महत्व समझने लगे और भाषा का शुद्ध रूप अपनी-रचनाओं में करने लगे। द्विवेदी जी का भाषा पर संस्कार करने का यह कार्य पुराने लेखक तक ही सीमित नहीं रहा। उन्होंने नये लेखकों की भाषा को शुद्ध करने का कार्य एक साहित्यकार के रूप में न कर, एक कुशल संपादक के रूप में किया। द्विवेदी जी ने नये लेखकों की रचनाओं की प्रवृत्तियों का अध्ययन करके हिन्दी साहित्य के विकास की दृष्टि से अनेक नये लेखकों को साहित्य-निर्माण में निर्देशन दिया। उसी प्रकार अपनी रचनाओं के हिन्दी गद्य का आदर्श लोगों के सामने रखकर भाषा के रूप में कान्तिकारी परिवर्तन किया। हिन्दी-गद्य के रूप के सम्बन्ध का यह आन्दोलन भाषा के महत्व को सिद्ध कर सका। द्विवेदी जी के 'अनस्थिरता' शब्द को लेकर वाद-विवाद चलता रहा और हिन्दी-गद्य मे एक वाद-विवाद के लिए उपयुक्त शैली का सूत्रपात हुआ। बाबू बालमुकुन्द ने 'आत्माराम' नाम से जो लेख प्रकाशित किया, उसका उत्तर पं० गोविन्दनारायण मिश्र ने 'आत्माराम की टें-टें' लेखमाला से दिया। भाषा के प्रश्न को लेकर यह झगड़ा 'भारतमित्र' तथा 'सरस्वती' में बरसों तक चला।

द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' का संपादन कार्य १७ वष तक किया और इस कालावधि में उन्होंने हिन्दी-साहित्य की सेवा अनेक दृष्टियों से की। उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा हिन्दी-गद्य की शैलियों का निर्माण किया। उन्होंने परिस्थितियों के अनुसार अपनी भाषा-शैली को परिष्कृत करके उसे सजीव तथा विशुद्ध रूप दिया। परन्तु द्विवेदी जी का महत्त्व केवल भाषा के सुधार की दृष्टि से नहीं आँकना चाहिए। उन्होंने अपनी साहित्य-सेवा द्वारा नये-नये लेखकों का निर्माण किया। द्विवेदी जी ने इन लेखकों की रचनाओं को 'सरस्वती' पत्रिका में प्रकाशित कर उनके लेखन-कार्य को प्रोत्साहन दिया। उसी प्रकार इन लेखकों की कठिनाई को समझकर उनका ठीक मार्ग-प्रदर्शन किया। इसलिए उनकी 'पत्रिका' में लेखों के विषयों की विविधता मिलती है। उन्होंने अनेक साहित्यिक तथा आलोचनात्मक निबन्ध लिखकर साहित्य की विविध समस्याओं की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया।

इसी प्रकार द्विवेदी जी कार्य (काव्य-क्षेत्र) व्यापक बना। उनके इस कार्य-क्षेत्र की सीमा सन् १९२० तक मानी जाती है। इसी समय के भीतर हिन्दी-गद्य के विविध रूपों में नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध और समालोचना का विकास प्रचुर मात्रा में हुआ। इन रूपों के विकास का इतिहास इस प्रकार संक्षेप में दिया जा सकता है और तत्कालीन हिन्दी-गद्य की महत्ता का मूल्यांकन किया जाता है। यथा—

नाटक

भारतेन्दु के कारण जनता में नाट्य-साहित्य अत्यन्त प्रिय बन गया था और हिन्दी में नाटकों को एक नयी परम्परा स्थापित हो गयी थी। परन्तु भारतेन्दु-काल की यह विकास-परम्परा द्विवेदी-काल में थोड़ी शिथिल हो गयी। इस काल में पाठकों का मन उपन्यास, कहानी, निबन्ध, जीवन-चरित, आलोचना आदि की ओर अधिक आकर्षित हुआ और द्विवेदी जी ने अपनी सारी शक्ति भाषा के सुधार की ओर केन्द्रित करने के कारण नाटकों के विकास की ओर देखने को उन्हें समय नहीं मिला। नाटक का सम्बन्ध रंगमंच से होता है और रंगमंच की दृष्टि से इस समय कोई सुधार नहीं हो सका।

इस समय उपन्यास-साहित्य का प्रचार जनता में अधिक था और बहुत सी पत्रिकाएँ केवल उपन्यास-साहित्य का प्रचार एवं प्रसार करने की दृष्टि से निकाली गई थीं। उसी प्रकार अंग्रेजी, बंगला, संस्कृत आदि नाटकों के अनुवाद प्रकाशित होते थे। इसलिए हिन्दी नाटकों के निर्माण के लिए कम प्रोत्साहन मिला। नाटक लिखने में अधिक परिश्रम करना पड़ता था, इसीलिए उस समय के अधिकांश साहित्यकार कविता, कहानी, निबन्ध, आलोचना आदि की ओर आकर्षित हुए। इसी काल में भारतेन्दु के समान कोई प्रतिभाशाली नाटककार का निर्माण नहीं हुआ। कुछ नाटक केवल रंगमंच की दृष्टि से लिखे गये। परन्तु, उनका अभिनय जनता के सामने प्रस्तुत करने वाली कम्पनियों में व्यावसायिकता कम होने के कारण रंगमंच ने लिए नाटक लिखने की परम्परा का सूत्रपात इस काल में हुआ।

इस युग में नाटकों की संख्या कम मिलती है, परन्तु इसमें पौराणिक ऐतिहासिक, सामाजिक आदि प्रकार के नाटक लिखे गये। पौराणिक आख्यानों को लेकर लिखे गये नाटकों में जयशंकर प्रसाद का 'करुणालय' (१९१२), बद्रीनाथ भट्ट का 'तुलसीदास' (१९१५), मैथिलीशरण गुप्त का 'चन्द्रहास' (१९१६), पं० माधव शुक्ल का 'महाभारत' (१९१६), हरिदास माणिक का 'पाण्डव प्रताप या युधिष्ठर' (१९१७), और माखनलाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन-युद्ध' (१९१८) प्रसिद्ध हैं। ऐतिहासिक नाटकों में बद्रीनाथ भट्ट का 'तुलसीदास' (१९१५), और कृष्ण प्रकाश सिंह का 'पन्ना' (१९१४) महत्व की रचनाएँ हैं। इसी प्रकार इसी काल में भारत की सांस्कृतिक परम्परा पर प्रकाश डालने का काम बेचन शर्मा 'उग्र' के 'महात्मा ईसा' (१९१८) नाटक ने किया। उग्रजी ने यह नाटक तीन अंकों में लिखकर अपनी शैली की नवीनता का परिचय दिया।

उपन्यास

उपन्यास की निर्मिति की दृष्टि से यह युग अत्यन्त महत्त्व का है और इसमें सामाजिक, तिलस्मी, जासूसी, ऐतिहासिक, भाव-प्रधान आदि अनेक प्रकार के उपायास लिखे गये। उसी प्रकार इस काल में बंगला, अंग्रेजी, मराठी आदि भाषाओं में सुन्दर उपन्यासों का अनुवाद हिन्दी में हुआ। हिन्दी उपन्यासों का प्रचार करने की दृष्टि से 'उपन्यास' (१९०१), 'उपन्यास लहरी' (१९०२), 'उपन्यास कुसुमांजलि' (१९०४), 'उपन्यास बहार' (१९०७), 'उपन्यास-प्रचार' (१९१२) आदि पत्रिकाओं में केवल उपन्यास ही प्रकाशित हुए और उनके द्वारा जनता में उपन्यासों का प्रचार हुआ। यह काल-विभाग घटना-प्रधान उपन्यासों की दृष्टि से अत्यन्त महत्व का है। इसी काल में तिलस्मी, साहसिक, ऐयारी, जासूसी आदि प्रकार के उपन्यास लिखे गये और हिन्दी उपन्यास-साहित्य की सम्पन्नता बढ़ गई।

इस काल के उपन्यासों में प्रताप नारायण मिश्र कृत 'कमाल कुण्डला' (१९०१), किशोरीलाल गोस्वामी कृत 'कनक-कुसुम' (१९०३), जनार्दन झा कृत 'माधवी कंकण' (१९१२), रुद्रनारायण कृत 'राजपूत जीवन प्रभात' (१९१२), ब्रजनन्दन सहाय कृत 'सौन्दर्योपासक' (१९१९) आदि प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार देवकीनन्दन खत्री, अयोध्यासिंह उपाध्याय, नाथूराम प्रेमी, गोपालराम गहमरी, लज्जाराम शर्मा मेहता, ईश्वरी प्रसाद शर्मा आदि ने सब प्रकार के उपन्यास लिखकर हिन्दी उपन्यास की परम्परा को आगे बढ़ाया। इनमें बंगला से अधिकतर अनूदित उपन्यास हैं और अन्य उपन्यासों पर बंगला उपन्यासों का स्पष्ट प्रभाव है। इस काल के अधिकतर उपन्यास पाठकों के मनोरंजन एवं मनोविनोद के लिए लिखे गये हैं। इसी कारण उपन्यासों के आदर्श, कथावस्तु, चरित्र-चित्रण आदि पर कम ध्यान दिया गया।

इस युग की एक विशेष कृति के रूप में प्रेमचन्द जी के 'सेवासन' (१९१८) उपन्यास को स्थान मिला है। इस उपन्यास के प्रकाशन के साथ हिन्दी उपन्यास-साहित्य में एक नये युग का आरम्भ होता है। प्रेमचन्द ने अपने 'हिन्दी का उपन्यास साहित्य' शीर्षक निबन्ध में अपनी साहित्य सेवा का आदर्श इस प्रकार लिखा है—"हमें अपने युवकों को प्रणय-रहस्यों का पाठ पढ़ाने की, उनके हृदय में आग लगाने की आवश्यकता नहीं है।........हमें देश में उन भावों का संचार करना है जो हमें इस संग्राम में मर्दों की भाँति खड़े होने में सहायक हों।" प्रेमचन्द जी के इस जीवन-दर्शन का मार्ग-प्रदर्शन हिन्दी उपन्यास को आगे बढ़ा सका।

कहानी

इस युग में कहानी-साहित्य को जन्म मिला। उसी प्रकार हिन्दी कहानी बीस वर्ष की अवधि में विकास की सीढ़ी पर पहुँच गई। इसका श्रेय 'सचित्र सरस्वती' पत्रिका और 'सुदर्शन' पत्रिका को और तत्कालीन प्रकाशित होने वाली 'इन्दु', 'गृहलक्ष्मी' (१९१०), 'कन्या मनोरंजन' (१९१२), 'हिन्दी-गद्यमाला' (१९१८) आदि पत्रिकाओं को देना चाहिए। इन पत्रिकाओं के अंकों में हिन्दी-कहानी के उद्‌भव और विकास का रूप अंकित है। बा० पुरुषोत्तम टंडन द्वारा संपादित 'भाग्य का फेर' कहानी सन् १९०० के 'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित हुई। यह हिन्दी की पहली कहानी मानी जा सकती है और उसका प्रकाशन हिन्दी कहानी-साहित्य में एक नये युग का सकेत देता है।

इस काल-खंड में यदि हिन्दी कहानियों का प्रारम्भिक रूप मिलता है। परन्तु इसी काल-खंड में आज के आधुनिक एवं प्रसिद्ध कहानीकारों की प्रारंभिक एवं श्रेष्ठ कहानियाँ लिखी गईं। वृन्दावनलाल वर्मा, जयशंकर प्रसाद, राधिका रमणसिंह, पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, प्रेमचन्द आदि कहानीकारों की क्रमशः 'तातार और एक राजपूत' (१९१०), 'ग्राम' (१९१०), 'कानों में कंगना' (१९१३), 'उसने कहा था' (१९१६), 'पंच परमेश्वर' (१९१६) आदि प्रसिद्ध एवं आरम्भिक कहानियाँ प्रकाशित हुईं। इस प्रकार भविष्य की कहानी का सूत्रपात इसी युग में हुआ। वास्तविक रूप में हिन्दी-कहानी का बचपन और यौवन, इन दोनों का सामंजस्य इस युग में दिखाई पड़ता है।

इस युग के हिन्दी कहानी-साहित्य के निर्माण को प्रेरणा देने का कार्य शेक्सपियर के नाटक और बंगला की कहानियों ने किया। आरम्भ में शेक्सपियर के नाटकों का आख्यायिकाओं के रूप में मर्मानुवाद हुआ। पाश्चात्य साहित्य रूप को भारतीय रूप-विधान आत्मसात करने का यह पहला एवं सफल प्रयत्न महत्वपूर्ण है। इसी प्रकार संस्कृत के 'रत्नावली' एवं 'मालविकाग्निमित्र' नाटकों का आख्यायिकाओं के रूप में अनुवाद हुआ। जयशंकर प्रसाद, प्रेमचन्द, सुदर्शन आदि प्रथम श्रेणी के कहानीकारों की प्रतिभा का विकास इसी काल में भी स्पष्टतया दिखाई पड़ता है। हिन्दी कहानी-साहित्य की यह देन द्विवेदी-युग द्वारा हिन्दी-गद्य को दी गई।

निबन्ध

इस युग में निबन्धों का निर्माण तत्कालीन पत्रिकाओं के द्वारा प्रचुर मात्रा में हुआ। इन पत्रिकाओं में 'हिन्दी-प्रदीप', 'सरस्वती', और 'सुदर्शन' पत्रिकाओं को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। संपादकों के रूप में काम करने वाले

उनके संपादक पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा पं० माधव प्रसाद मिश्र ने सब प्रकार के विषयों पर निबन्ध लिखकर निबन्ध की भारतेन्दु-कालीन परम्परा को आगे बढ़ाया। पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री ने मराठी के सुप्रसिद्ध निबन्धकार विष्णुकृष्ण शास्त्री चिपलूणकर के 'निबन्ध माला' निबंध-संग्रह का हिन्दी में अनुवाद 'निबन्धमालादर्श' शीर्षक से किया। इसी प्रकार आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'बेकन-विचार-ग्रन्थावली' के रूप में अंग्रेजी के प्रसिद्ध निबन्धकार बेकन के ३६ निबन्धों का अनुवाद प्रकाशित किया। इन अनूदित निबन्धों में अधिकतर विचार-प्रधान निबन्ध थे और इनके द्वारा हिन्दी-निबन्धकारों के सामने निबन्ध का आदर्श रखा गया। इस प्रकार तत्कालीन निबन्धकारों के रचनाओं पर इनका प्रभाव पड़ने में सहायता मिली।

इस काल के निबन्धकारों में—गोविन्द नारायण मिश्र, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, मिश्रबन्धु, सरदार पूर्णसिंह आदि भी प्रसिद्ध निबन्धकार हैं। हर एक में निबन्ध शैली का अलग-अलग रूप मिलता है। इन लोगों ने ऐसे अनेक निबन्ध लिखे हैं कि इनका स्थान हिन्दी निबन्ध-साहित्य में हमेशा के लिए ऊँचा रहेगा। सरदार पूर्णसिंह की शैली में निबन्धों का एक स्वतन्त्र रूप मिलता है। उन्होंने केवल छः निबन्ध लिखे, परन्तु उनके निबन्धो में एक विशेष प्रकार की स्वाभाविकता तथा लाक्षणिकता मिलती है। पं० माधवप्रसाद मिश्र की शैली का प्रभाव एवं परम्परा इनके निबन्धों में मिलती है।

महावीर प्रसाद जी अपने निबन्धों द्वारा लोक-कल्याण का आदर्श रखना चाहते थे। इसलिए उन्होंने अपने निबन्धों के लिए ऐसे चरित-व्यक्तियो को चुना कि जिन्होंने लोक-कल्याण का उद्देश्य अपने सामने रखकर ही लोक सेवा की है। निबन्धकारों में उनका स्थान चिन्तनात्मक निबन्धों की दृष्टि से ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने अधिकतर व्याख्यात्मक तथा आलोचनात्मक शैली के ही निबन्ध लिखे हैं। उनके निबन्धों की आलोचनात्मक शैली का विकास पं० रामचन्द्र शुक्ल, पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पं० जगन्नाथ प्रसाद मिश्र, स्वर्गीय बाबू गुलाब राय, पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी आदि की रचनाओं में मिलता है। द्विवेदी जी की यह महत्त्वपूर्ण देन हिन्दी-गद्य के विकास में बहुत सहायक हुई।

आलोचना

भारतेन्दु-काल में हिन्दी आलोचना का सूत्रपात 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' द्वारा हो चुका था। उसी प्रकार इस काल-विभाग में 'सरस्वती' (१६००), 'सुदर्शन' (१६००), 'समालोचक' (१६०२) आदि पत्रिकाओं में भी आलोच-

नात्मक रचनाएँ प्रकाशित होने लगीं। वास्तव में पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी जी के संपादक होने के बाद आलोचनात्मक साहित्य लिखने के लिए प्रोत्साहन मिलने लगा और प्रकाशित पुस्तकों की समालोचना करने की दृष्टि से १९०४ से 'सरस्वती' में 'पुस्तक परीक्षा' स्तंभ आरंभ किया गया। इसी प्रकार द्विवेदी-युगीन समालोचना साहित्य का आरम्भ हुआ।

इस काल के समालोचना साहित्य के निर्माणकर्त्ताओं में बाबू श्याम-सुन्दर दास, पं० रामचन्द्र शुक्ल, मिश्रबन्धु, माधव प्रसाद मिश्र, अंबिकादत्त व्यास आदि का स्थान ऊँचा है। ये साहित्यिक द्विवेदीकालीन समस्याओं से परिचित थे। इसलिए उन्होंने अपनी प्रतिभा का उपयोग मौलिक साहित्य निर्माण करने की अपेक्षा हिन्दी-साहित्य में उभरी हुई समस्याओं का निराकरण करने का प्रयत्न किया। इस प्रारम्भिक अवस्था में हिन्दी आलोचना में नया युग प्रस्थापित करने का कार्य मिश्रबन्धुओं के 'हिन्दी नवरत्न' (१९११) और 'मिश्रबन्धु विनोद, भाग १-३' (१९१४) ने किया। 'हिन्दी नवरत्न' में एक विशेष मानदण्ड के साथ कवियों का श्रेणी विभाजन हुआ है, और यही उनकी मौलिकता है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उनके 'हिन्दी नवरत्न' तथा 'मिश्रबन्धु विनोद' के कारण हिन्दी में गम्भीर तथा विश्लेषणवादी समालोचना की ओर आलोचकों का ध्यान आकर्षित किया गया। हिन्दी में तुलनात्मक ग्रन्थों का आरम्भ करके, हिन्दी साहित्य को विभिन्न विभागों में बांटकर, हरएक विभाग के कवियों की समीक्षा में कवि का व्यक्तित्व और तत्कालीन परिस्थितियों के आधार पर उनका मूल्यांकन करके—इन ग्रन्थों में समीक्षा और रसवाद का कांत संयोग हुआ है। तुलनात्मक आलोचना की यह परम्परा पद्मसिंह शर्मा, कृष्णबिहारी मिश्र आदि की रचनाओं में पल्लवित हुई। इसी प्रकार इस काल की आलोचना का निखरा हुआ रूप भविष्य में स्व० बाबू श्यामसुन्दर दास, पं० रामचन्द्र शुक्ल आदि की समर्थ रचनाओं में मिलता है। द्विवेदी-युगीन समालोचना पद्धति का यह प्रभाव हिन्दी आलोचना-साहित्य को आगे बढ़ाने की दृष्टि से उपकारक हुआ।

इसी प्रकार द्विवेदी-कालीन गद्य-साहित्य के विविध रूपों के विकास पर संक्षेप में लिखा जा सकता है। वास्तव में इस युग में जो भी गद्य-लेखक निर्माण हुए उन्होंने अपनी रचनाओं के द्वारा हिन्दी को समृद्ध करने का प्रयत्न किया। इस युग के इन साहित्यिकारों की यह लगन और परिश्रम करने की पद्धति आधुनिक गद्य-साहित्य की निर्मिति की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखती है। यदि इस युग में इतने अच्छे गद्य-लेखक नहीं होते और उनके द्वारा इतना

साहित्य निर्माण नहीं होता, तो हिन्दी साहित्य का अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य में जो स्थान है, वह कदापि नहीं बन सकता।

हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य का हमेशा किसी न किसी रूप में विरोध होता आया है। परन्तु हरएक विरोध का सामना करके हिन्दी साहित्य समृद्ध की दृष्टि से आगे ही बढ़ रहा है। हिन्दी-गद्य की दृष्टि से भी यही लिखा जा सकता है। इन गद्यकारों की रचनाओं के कारण हिन्दी गद्य-साहित्य इतना समृद्ध हो सका। हिन्दी गद्य-साहित्य के निर्माण में पं० महावीर प्रसाद. द्विवेदी जी का हाथ प्रचुर मात्रा में है। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी हिन्दी के लिए एक युग का संदेश लेकर आये थे; इसी कारण वे अपने युग में हिन्दी-गद्य के निर्माण में अपना स्थान प्रस्थापित कर सके और हिन्दी-गद्य को इतना महत्व दे सके।

२६

नाट्य-परम्पराएँ एवं प्रसाद के नाटकों का वस्तु और शिल्प-स्तर

जिस समय जयशंकर प्रसाद ने अपना साहित्यिक जीवन आरम्भ किया उस समय हिन्दी-नाटक के क्षेत्र में मौलिक कार्य का अभाव ही था। प्रायः ऐलिजाबेथकालीन शेक्सपियर अथवा बंगला नाटकों का अनुवाद ही हो रहा था। भारतेन्दु की नाट्य परम्परा के नाट्यकार अब अधिकांशतः काल-कवलित हो चुके थे। ऐसे समय में प्रसाद के सामने तीन नाट्य-परम्पराएँ विद्यमान थीं, जिनमें वे प्रयोग कर हिन्दी साहित्य को श्रेष्ठ एवं उन्नत स्तर की नाट्यकला से युक्त कृतित्व प्रदान कर सकते थे। इस कारण प्रसाद की नाट्य-कला अथवा उनके द्वारा प्रतिपादित मौलिक योगदान की विवेचना से पूर्व नाट्य परम्पराओं का संक्षिप्त परिचय आवश्यक हो जाता है। ये नाट्य परम्पराएँ जिनसे प्रसाद जी परिचित थे तथा जिनका उनके नाटकों पर परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से प्रभाव पड़ा है, मुख्य रूप से तीन हैं—

१. भारतीय संस्कृत नाट्य-परम्परा

प्रसाद के समय में यह पम्परा प्रायः मृत-प्राय थी। भारतेन्दु ने ही इस परम्परा में काफी परिवर्तन ला दिया था। इस परम्परा में रस को प्रधानता

दी जाती है। रस ही आनन्द है और आनन्दोपलब्धि ही भारतीय साधना का साध्य भी। रस-निष्पत्ति के हेतु इस परम्परा के नाटकों में रसोद्रेकमय परिस्थितियाँ लायी जाती हैं, भावपूर्ण सम्वादों द्वारा विविध पात्रों की संवेदनाएँ अभिव्यक्त की जाती हैं। संस्कृत नाटक इसी कारण कौतूहलवर्द्धक कम, भावपूर्ण अधिक हैं, उनमें आगे की कथा जानने की इतनी जिज्ञासा नहीं होती जितनी वर्तमान दृश्यों में रमने की इच्छा होती है। पात्रों में बौद्धिक स्तर पर अन्तर्द्वन्द इतना प्रधान नहीं हो पाता जितना हार्दिक स्तर पर भावना की तीव्रता छलकती है। कालिदास कृत 'अभिज्ञान शाकुन्तल' एवं भवभूमि कृत 'उत्तर रामचरित' आदि नाटक इस पद्धति के श्रेष्ठ उदाहरण हैं।

२. यूरोपीय ऐलिजाबेथकालीन नाटकों की परम्परा

इस प्रकार की परम्परा में शेक्सपियर के नाटक सर्वश्रेष्ठ एवं प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। अन्तर्द्वन्द्व, कौतूहल एवं जिज्ञासा—इन नाटकों का प्राण होता है। इनमें दर्शक की कौतूहल वृत्ति बढ़ती ही जाती है। वह 'वर्तमान' से सन्तुष्ट नहीं रहता अपितु सदैव 'आगे' की गति के प्रति औत्सुक्यपूर्ण दृष्टि रखता है। इसी कारण इन नाटकों के कथानक में प्रवाह भी मिलता है और वह पूर्ण रूप से गठित भी होते हैं। एक कथानक के ही अन्तर्गत कभी-कभी उपकथानक, कभी समानान्तर कथानक और कभी विलोम कथाओं की योजना होती है।

शैक्सपियर के नाटक साहित्य एवं कला—दोनों की दृष्टि से बहुत ही उन्नत एवं श्रेष्ठ हैं। परन्तु प्रसाद जी के समय से पूर्व ही भारतवर्ष में इस परम्परा के नाटक व्यवसायी कम्पनियों द्वारा भिन्न-भिन्न भाषाओं में अनूदित कराकर अथवा इस परम्परा में भिन्न-भिन्न भाषाओं में सस्ते नाटक लिखवाकर खेले जा रहे थे। जहाँ धन कमाना ही साध्य हो जाता है, वहाँ कला का अन्त हो जाता है। इसी कारण इस परम्परा के नाटकों का भारतवर्ष में रूप अत्यन्त विकृत हो चुका था। प्रायः चटकीले गाने, सजधज की वेशभूषा, आतंकित दृश्य, कौतूहलवर्द्धक सस्ती जन-रुचियाँ ही रंगमंच की शोभा हो गयी थीं। इनमे साधारण जनता को क्षणिक रोमांस की प्राप्ति हो जाती थी, व्यावसायिक कम्पनियाँ भी यही चाहती थीं। उन्हें परिष्कृत, प्रबुद्ध दर्शकों की मनोवृत्तियों को सन्तुष्ट करने से क्या प्रयोजन ?

३. यूरोपीय नाटकों की नवोदित परम्परा

प्रसाद जी के कुछ वर्ष पूर्व ही इस प्रकार के नाटकों का आरम्भ हुआ था। जब समाज ने नयी चेतना ग्रहण की, उसकी नयी समस्याएँ उत्पन्न हुई तो

केवल कौतूहल जनता की तृप्ति शान्त न कर सका। अब नाटक केवल कौतूहल की चीज न रह गया, अपितु अपनी ही समस्याओं के प्रकटीकरण का एक साधन बना। इसके प्रवर्त्तक इब्सन तथा बर्नार्डशा आदि थे। यद्यपि इस परम्परा के नाटक प्रसाद के समय में भारत में नहीं आए थे किन्तु इस परम्परा के नाटककारों की भारतीय साहित्य में चर्चा होने लगी थी। इस ओर स्वयं प्रसाद जी ने अपने निबन्धों में इंगित किया है।

अपनी ही समस्याओं के प्रकटीकरण के कारण ये नाटक यथार्थ के अधिक निकट थे। हम अपने दैनिक जीवन में जो कार्यकलाप करते हैं उनका ही नाटक में एक संदेश के साथ अभिनय होना चाहिए, ऐसा इस परम्परा के नाटककारों का विश्वास है। इसी कारण नाटक का विषय, भाषा, पात्र-योजना, उनकी वेशभूषा, रंगमंच की साज-सज्जा आदि सब में यह ध्यान रखा रखा जाने लगा कि कहीं ये हमारे यथार्थ जगत से इतर की वस्तु न बन जाएँ।

यह पहले कहा जा चुका है कि इस परम्परा के नाटककार समाज के यथार्थ चित्रों को उनकी समस्याओं के साथ प्रकट करते हैं तथा उन्हीं चित्रण में एक सन्देश भी निहित रहता है। इस प्रकार इस परम्परा के नाटकों द्वारा सामाजिक कथानकों के द्वारा किसी सन्देश या नाटककार की किसी विशिष्ट धारणा को अभिव्यक्त किया जाता है। समाज की जीती-जागती रीतियों के चित्रण द्वारा समाज को ही संदेश वहन कराना—इन नाटककारों का उद्देश्य है।

प्रसाद के नाटक : वस्तु-तत्त्व एवं भाव-स्तर

यहाँ इन नाट्य परम्पराओं के परिप्रेक्ष्य में प्रसाद जी के नाटकों के वस्तु-स्तर एवं शिल्प-स्तर की विवेचना ही अभीष्ट है। यों तो प्रसाद जी के नाटकों के वस्तु-तत्त्व में तीनों परम्पराओं की खोज की जा सकती है किन्तु यदि प्रभाव की खोज को छोड़ दें, तो उनके नाटकों का वस्तु-तत्त्व इब्सन और बर्नार्डशा की परम्परा के अधिक निकट है। यह उल्लेखनीय है कि यहाँ परम्परा के अधिक निकट होने का अर्थ—परम्परा का प्रभाव नहीं है। हमारे यह कहने का उद्देश्य कि प्रसाद जी अपने नाटकों के वस्तु-तत्त्व में यूरोपीय नवोदित परम्परा के अधिक निकट हैं, यह है कि वे अपने चिन्तन में उन नाटककारों के अधिक निकट हैं जो रस अथवा कौतूहल की अपेक्षा भाव या सन्देश को नाटक का प्राण मानते हैं। प्रसाद जी ने सन्देश को प्राण-तत्त्व मानकर जो भावधारा दी है, वही उनके नाटकों की सबसे महान् वस्तु है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि समस्या-नाटकों की भाँति आप भारतीय सांस्कृतिक उत्थान के लिए चिन्तनशील थे। यद्यपि आपने यथार्थ सामाजिक घटनाओं को अपने नाटक का विषय नहीं

बनाया है, घटनाएँ तो भारतीय इतिहास के अनैतिहासिक युग (वैदिक काल) से लेकर बारहवीं शताब्दी तक की ही चुनी हैं, तथापि इन ऐतिहासिक घटनाओं का उद्देश्य—अन्ततोगत्वा भारतीय सांस्कृतिक उत्थान के लिए सन्देश संवहन करना ही है। वस्तुतः प्रसाद जी समसामयिक भारतीय सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थिति से असन्तुष्ट थे और इसी कारण वह इसी स्थिति को सुधारना चाहते थे। कुछ आलोचकों ने प्रसाद जी को पुनरुत्थानवादी कहा है; यथा—डा० नगेन्द्र ने कहा है कि, "उनके नाटकों में पुनरुत्थान की प्रवृत्ति बड़ी सजग रहती है।"[१]

मेरी दृष्टि में प्रसाद को सांस्कृतिक पुनरुत्थानवादी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पुनरुत्थानवादी सदैव नवीन व्यवस्था को पूर्ण रूप से निषिद्ध ठहराकर, पुरानी व्यवस्था और रीति एवं शैली को फिर से ज्यों का त्यों ले आना चाहता है। वह यह नहीं मानता कि जैसे नदी की धारा लौटकर अपने उद्गम की ओर नहीं जा सकती, वैसे ही संस्कृति की धारा भी फिर से प्राचीन धारा में नहीं बदली जा सकती।

वस्तुतः प्रसाद जी सांस्कृतिक पुनरुत्थान नहीं चाहते थे, वे संस्कृति को विकासशील एवं प्रवाहमान मानते थे। उनकी दृष्टि में, "परिवर्तन ही सृष्टि है, जीवन है।" भारत की प्राचीन ऐतिहासिक घटनाओं से नाटकों की कथा-वस्तु चुनने का अर्थ—केवल इतना ही है कि वह इतिहास के झरोखे से यह समझाना चाहते थे कि जिस समय हमारा देश उन्नति के चरमोत्कर्ष पर था, उस समय हमारी संस्कृति के श्रेष्ठ उपादान क्या थे, तथा जिस समय हमारे समाज में विघटन हुआ उसके क्या कारण थे ? विघटन को हमने किस रीति से दूर किया ? इस पारायण से वह यह भी सन्देश देना चाहते थे कि हमारी वर्तमान सामाजिक एवं सांस्कृतिक अवनति के क्या कारण हैं ? तथा हम इस अवनति को रोककर, श्रेयस्कर, कल्याणकर एवं मंगलप्रद मार्ग पर किस प्रकार आगे बढ़ सकते हैं ?

इस प्रकार सांस्कृतिक पुनर्जागरण की भावना उनके समस्त नाटकों का मूलाधार है तथा इसकी अभिव्यक्ति उन्होंने भारतीय इतिहास के ऐसे गौरवशाली युगों के इतिहास से की है जिनमें हमारे समाज का विघटन तो होता है किन्तु समाज की कुछ शक्तियों के कारण समाज पुनः संगठित हो जाता है। प्रसाद जी की धारणा थी कि प्राचीन इतिहास का चित्रण किसी भी पददलित जाति में गौरव-भावना का संचार कराने के लिए उपयुक्त साधन है। इस प्रकार प्रसाद जी भारत के प्राचीन इतिहास से तत्कालीन गुलामी की बेड़ियों में जकड़े पददलित

---

१. **आधुनिक हिन्दी नाटक** (पंचम संस्करण)—डा० नगेन्द्र, पृ० ८।

भारत को शिक्षा देना चाहते थे। यही कारण है कि प्रसाद जी ने अपने नाटकों की कथा-वस्तु के लिए ऐसी घटनाएँ चुनी हैं जो हमारे गौरवमय किन्तु साथ ही विघटित काल में घटित हुई हैं। यथा—

'राज्य श्री' में उन्होंने उस युग का चित्रण किया है जब बौद्ध विरोधी सम्राट शशांक का अत्याचार अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका होता है। 'जनमेजय का नागयज्ञ' में उन्होंने आर्य और अनार्य जातियों के पारस्परिक संघर्ष एवं सांस्कृतिक घात-प्रतिघात का चित्रण किया है। इस प्रकार ये देश के आन्तरिक विग्रह की घटनाएँ हैं। जब परस्पर एकता को आघात पहुँचता है तो समाज जर्जरित हो जाता है। भारतवर्ष का इतिहास इस बात का साक्षी है कि भीतरी षड्यंत्र ही हमारी पराजय के लिए उत्तरदायी रहे हैं। जब हमारा समाज विग्रह, षड्यंत्र, भेदभाव, परस्पर डाह, ईर्ष्या, कटुता आदि रोगों से पीड़ित हुआ है, तभी वह हारा है। गुप्त-काल में, जो अतीत भारत का उत्कर्ष काल है, जब भीतरी षड्यंत्र हो जाते हैं, तो केवल पुष्पमित्रों के आक्रमणों से ही युद्ध समाप्त नहीं होता अपितु हूणों के भयानक आक्रमण होने लगते हैं। गुप्त कुल में अव्यवस्थित उत्तराधिकार नियम है, स्कन्दगुप्त अपने कर्त्तव्यों से विमुख है, गुप्त-नरेश, कुमार गुप्त अनन्तदेवी के हाथ के खिलौने हैं, मालव राजवंश में कौटुम्बिक आपत्तियाँ हैं, वहाँ के महाराज विश्ववर्मा का शरीरान्त हो जाता है, विलास में लीन रहने वाले बन्धुवर्मा महाराज पद पर आसीन होते हैं, ऐसे समय मालव पर बर्बर हूणों के आक्रमण होने स्वाभाविक ही हैं। 'चन्द्रगुप्त' नाटक में भी दिखाया गया है कि मगध में प्रजा नन्द के अत्याचारों से त्रस्त है। समाज के अन्दर विलास का तांडव नृत्य है। उधर तक्षशिला नरेश एवं पंजाब नरेश में वैमनस्य इस सीमा तक है कि तक्षशिला नरेश आम्भीक उत्कोच लेकर सिकन्दर की ओर मिल जाता है। पारस्परिक डाह के कारण वह देशद्रोह भी करता है। 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में सांस्कृतिक ह्रास प्रदर्शित है, राजाओं में, शासक वर्ग में नैतिक बल की कमी है।

इन सभी नाटकों के कथानकों द्वारा हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि हमारे समाज या देश पर बाहरी आक्रमण आन्तरिक स्थितियों के प्रतिफल हैं। जब आन्तरिक विग्रह होता है, चाहे उसका रूप धार्मिक, सामाजिक अथवा राजनैतिक में से कोई हो, जब सांस्कृतिक ह्रास होता है, जब नैतिक बल की कमी होती है, तभी बाहरी संकट स्वयमेव मुखरित हो उठता है।

बाहरी संकट रूपी रोग आन्तरिक जर्जर स्थितियों का परिणाम होता है किन्तु यह रोग असाध्य नहीं है। देश के अन्दर से ही कोई न कोई ऐसे शक्ति-

रूप सम्पन्न व्यक्ति अवश्य निकल आते हैं जो अपने प्रबल नैतिक बल अथवा शक्ति, शौर्य, कर्मठता, क्षमा, बलिदान आदि महान् गुणों के आधार पर देश को संगठित कर उसके संकट का विनाश करते हैं। ऐसे पात्रों में 'राज्य श्री' के हर्ष; 'अजातशत्रु' के गौतम, बुद्ध तथा मल्लिका; 'स्कन्दगुप्त' के स्कन्द, देवसेना बन्धुवर्मा, भीमवर्मा एवं मातृगुप्त' एवं 'चन्द्रगुप्त' के चाणक्य, चन्द्रगुप्त, सिंहरण एवं अलका प्रमुख हैं।

ये पात्र श्रेष्ठ संस्कृति गुण रूपा हैं। ध्यान से देखने पर यह स्पष्ट पता चल सकता है कि उनके नाटकों के अधिकांश पात्र सांस्कृतिक चेतनाओं और धाराओं के प्रतीक हैं। प्रसाद जी दो विषम सांस्कृतिक धाराओं का संघर्ष दो सांस्कृतिक कोटि के पात्रों द्वारा ही प्रदर्शित करते हैं। यही कारण है कि प्रत्येक पात्र की नियति अपने सारे देश और समय की संस्कृति की नियति से आबद्ध है। महात्मा बुद्ध धर्म-प्रवर्त्तक ही नहीं, नैतिकता के प्रतीक भी हैं। स्कन्दगुप्त युवराज ही नहीं, अपितु विदेशी आक्रमणों रूपी काले-मेघों में से आच्छादित देश रूपी क्षितिज में आशा-केन्द्र का प्रतीक भी है। चाणक्य तक्षशिला का एक अध्यापक ही नहीं, मातृभूमि भारत के अभ्युत्थान की प्रेरक शक्तियों का प्रतीक भी है, राष्ट्रीय एकता का देवदूत भी। उसका निम्न कथन राष्ट्रीय एकता के भाव भर देता है—

"तुम मालव हो और यह मागध, यही तुम्हारे मान का अवसान है न? पर आत्मसम्मान इतने ही से सन्तुष्ट नहीं होगा। मालव और मागध को भूलकर जब तुम आर्यावर्त्त का नाम लोगे तभी वह मिलेगा···।"[१]

प्रसाद जी की इसी मूल दृष्टि के कारण कथा का वास्तविक संघर्ष पात्रों के निजी स्वार्थों का संघर्ष मात्र नहीं है। यथार्थत: यह संघर्ष सांस्कृतिक धाराओं का संघर्ष है। अपने नाटकों में उन्होंने एक ओर ऐसे पात्र रखे हैं जो श्रेष्ठ मानवीय गुणों से ओत-प्रोत हैं। इसी कारण ये संस्कृति निर्माण करने वाले तत्त्वों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसके विपरीत दूसरी ओर ऐसे पात्रों का भी समायोजन किया गया है जिनमें दानवीय गुण होते हैं, तथा ये मानवीय संस्कृति को अन्दर से जर्जरित कर देने वाले तत्त्वों का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्रत्येक नाटक में इसी प्रकार के विषम रूपों के प्रतिनिधि पात्रों का संघर्ष होता है। इस प्रकार संस्कृति के निर्माता एवं उन्नायक, तथा संस्कृति-ध्वंसात्मक तत्त्वों का संघर्ष ही कथा का मूल संघर्ष बन जाता है। इस संघर्ष में प्रसाद ने संस्कृति की आन्तरिक भाव धाराओं को विकसित कर उन्नायक-पक्ष की ही विजय

१. चन्द्रगुप्त (सप्तम संस्करण)—श्री जयशंकर प्रसाद, पृ० ६०।

दिखायी है। यही कारण है कि व्यक्तिगत स्तर पर भले ही चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त और चाणक्य पराजित हो जाएँ, भले ही चन्द्रगुप्त का कल्याणी से, स्कन्दगुप्त का देवसेना से एवं चाणक्य का सुबासिनी से प्रेम तृप्त एवं फलीभूत न हो सके, किन्तु सांस्कृतिक स्तर पर इसी पक्ष की विजय होती है। यह अन्तर्द्वन्द्व स्कन्द और देवसेना के इन सम्वादों में देखा जा सकता है—

स्कन्द—······"परन्तु इस नन्दन की बसन्त श्री, इस अमरावती की शची, इस स्वर्ग की लक्ष्मी तुम चली जाओ—ऐसा मैं किस मुँह से कहूँ ?······ और किस वज्र कठोर हृदय से तुम्हें रोकूँ ?"

"देवसेना ! देवसेना !! तुम जाओ। हतभाग्य स्कन्दगुप्त, अकेला स्कन्द, ओह !"

देवसेना—"कष्ट हृदय की कसौटी है, तपस्या अग्नि है। सम्राट ! यदि इतना भी न कर सके तो क्या। सब क्षणिक सुखों का अन्त है। जिसमें सुखों का अन्त न हो, इसलिए सुख करना ही न चाहिए······।"[1]

यही कारण है कि प्रसाद जी के नाटक चाहे दुखान्त हों अथवा सुखान्त, किन्तु अन्त में वह समाज के लिए एक सांस्कृतिक सन्देश छोड़ जाते हैं।

इस प्रकार प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक भी पुरातन, समसामयिक एवं भविष्यकालिक अर्थात् चिरन्तन सांस्कृतिक धाराओं के उत्थान-पतन की कहानी है। समस्त नाटकों का प्राण प्रसाद द्वारा व्यक्त सांस्कृतिक संदेश ही है। अपनी इसी धारणा के कारण प्रसाद जी के नाटक मानव-मन, संस्कृति, इतिहास, धर्म, दर्शन की अमूल्य निधियाँ बन गए हैं। केवल वैयक्तिक पात्रों तक ही उनकी चेतना सिमटकर नहीं रह जाती, अपितु सांस्कृतिक चेतनाओं की समग्रता के साथ भी वह आबद्ध है। यही कारण है जो उन्हें यूरोप की नवोदित परम्परा के अधिक निकट बैठा देती है। अपनी सांस्कृतिक धारणा अथवा सन्देश को उभारने के लिए ही उन्होंने अपने नाटकों में संघर्ष-तत्व अथवा रस-तत्व को अपनाया है। इस प्रकार वस्तु रूप में प्रसाद जी का साध्य सन्देश व्यक्त करना है। जो यूरोप की नवोदित परम्परा का भी प्राणतत्व है तथा इसी साध्य को उन्होंने भारतीय संस्कृत नाट्य परम्परा के रस एवं ऐलिजाबेथकालीन नाट्य परम्परा के संघर्ष साधनों द्वारा व्यक्त किया है। संघर्ष एवं रस का समायोजन इस प्रकार हुआ है कि कथानक में यदि एक ओर दर्शक को भविष्य की जिज्ञासा रहती है तो दूसरी ओर वर्तमान में यत्र-तत्र रस-विभोर भी वह होता है, तथा पात्रों में

---

१. **स्कन्दगुप्त** (ग्यारहवाँ संस्करण)–श्री जयशंकर प्रसाद, पृ० १५४-१५५।

यदि एक ओर 'साधारणीकरण' की भावना का आकलन है तो दूसरी ओर उनके 'अन्तर्द्वन्द्व' का चित्रण भी।

प्रसाद के नाटकों का शिल्प एवं गठन

नाटक का शिल्प उसके आंतरिक वस्तु-तत्व के अनुरूप ही होना चाहिए। सफल नाटककार का यह प्रयास होना चाहिए कि वह नाटक के आन्तरिक भाव रूप के अनुरूप ही उसका बाह्य रूप भी गठित करे। यदि बाह्य गठन आन्तरिक भावधारा के अनुरूप नहीं हो पाता है तो यह नाट्यकला की कमजोरी ही कहलायेगी क्योंकि ऐसी दशा में न तो प्राण तत्व ही विकसित हो पाता है और न बाह्य शरीर का रूप ही खिल पाता है। प्रसाद जी के नाटकों का भाव-स्तर तो इब्सन आदि के उन नाटकों का सा है जो भाव-प्रधान नाटक (Plays of Ideas) कहलाते हैं, किन्तु उनका नाट्य-शिल्प ऐलिजाबेथ-कालीन नाटकों की व्यावसायिक परम्परा के अनुरूप ढला है, जिसमें बीच-बीच में संस्कृत नाट्य परम्परा के अनुरूप रस को पोषित करने के लिए भावपूर्ण परिस्थितियाँ जुटायी गयी है। प्रसाद के नाटकों के शिल्प तत्व के ऐतिहासिक क्रम को देखने से यह अवश्य पता चलता है कि उसमें क्रमशः सुधार होता गया है। प्रारम्भिक नाटकों के पद्यात्मक सम्वाद एवं स्वगत कथन की बहुलता कम होती गयी है और 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में शिल्प-विधान काफी निखर कर आया है। किन्तु प्रसाद के नाट्य-शिल्प के उत्स में कुछ अभाव हैं और प्रयास करने पर भी वे उसे अधिक सुधार नहीं पाए हैं। इन अभावों के मूल कारणों का विद्वानों ने जो विश्लेषण किया है, उसको हम इस प्रकार वर्णित कर सकते हैं—

'प्रसाद पहले कवि थे, बाद में कुछ और'—कवि हृदय के कारण तथा भारतीय संस्कृत नाट्य परम्परा का बिलकुल त्याग न कर सकने के कारण, उन्होंने काव्यपूर्ण सम्वादों तथा भाव-प्रधान परिस्थितियों के आधार पर अपने नाटकों में यत्र-तत्र रस को प्रधान रूप से उत्कर्ष देने की चेष्टा की है। किन्तु काव्यपूर्ण एवं भावपूर्ण परिस्थितियों को वर्णित करने के कारण कुछ ऐसी गलतियाँ हो गयी हैं जिन्होंने नाट्य-शिल्प के स्तर को नीचे गिरा दिया है। इस ओर निम्न विद्वानों के कथन द्रष्टव्य हैं—

"प्रसाद अपने नाटकों के वस्तु-विन्यास पर पूर्ण अनुशासन नहीं कर पाए हैं। यह त्रुटि कवि-नाटककार प्रसाद के लिए अधिक आश्चर्यजनक नहीं।"[1]

---

१. **आधुनिक साहित्य** (द्वितीय संस्करण)—श्री नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० ३००।

"प्रसाद का कवि उनके नाटकों में अत्यन्त सजग एवं सचेष्ट ही नहीं, अपने अधिकारों का अनुचित उपभोग भी करता हुआ पाया जाता है⋯नाटक के सम्वाद अस्पष्ट रहस्यवादी गद्य-काव्य के टुकड़े नहीं होते।"[1]

"प्रसाद सभी प्रकार के कथन को अलंकृत करने के पक्ष में हैं, चाहे वह यथार्थवाद और स्वाभाविकता से पूर्ण वद्ध भले ही न हो। यही कारण है है कि उनकी सम्वाद-योजना में जितना कवित्व है, उतना वाग्वैदग्ध्य नहीं; जितनी गम्भीरता है, उतनी तरलता नहीं; जितना चमत्कार है, उतनी स्वाभाविकता नहीं; जितनी भावात्मकता है, उतनी सम्भाषण पटुता और क्षिप्रता नहीं⋯⋯।"[2]

इसके अतिरिक्त कुछ विद्वानों ने उनकी दार्शनिकता को भी इसके लिए उत्तरदायी ठहराया है—"कहीं-कहीं उनकी दार्शनिकता, उनकी नाटकीय कलात्मकता में विघ्न भी उपस्थित करती है, फिर भी उन्होंने उत्कृष्ट दार्शनिक भावना को नहीं छोड़ा।"[3]

"प्रसाद के सम्वादों की कमजोरी उनकी गहन दार्शनिकता में निहित है⋯⋯दार्शनिकता से बोझिल लम्बे भाषण कथा की गति को अवरुद्ध कर देते हैं, चरित्रों को निर्जीव सैद्धान्तिक आच्छादन से ढक देते हैं और सामाजिकों की रसमग्नता में विक्षेप डालते हैं⋯⋯।"[4]

उनका नाट्य-शिल्प "प्रभाव" के कारण ही विकृत नहीं, अपितु अपने आप में भी विकृत है। इसका कारण—समसामयिक ऐलिजाबेथकालीन नाटकों के सस्ते रूप एवं व्यावसायिक परम्परा को अपनाना ही दृष्टिगोचर होता है। प्रसाद जी अपना भाव-स्तर तो ऊँचा बना सके, किन्तु प्रयास करने पर भी समसामयिक शेक्सपियर के नाटकों के सस्ते रूप अथवा पारसी व्यावसायिक कम्पनियों के नाटकों के विकृत शिल्प से अपने को मुक्त न कर सके। प्रसाद के आविर्भाव से पूर्व पारसी नाटक कम्पनियों का बोलवाला था। 'प्रसाद युग' तक 'विक्टोरिया नाटक कम्पनी', 'अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी' और 'न्यू अल्फ्रेड कम्पनी' की स्थापना हो चुकी थी—जिनके लिये बनारस निवासी विनायक

---

१. **हिन्दी नाटककार**—श्री जयनाग नलिन, पृ० ७२-७३।

२. **हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास** (द्वितीय संस्करण)—डा० दशरथ ओझा, पृ० ३६६।

३. **आधुनिक साहित्य** (द्वितीय संस्करण)—श्री नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० २८७।

४. **हिन्दी नाटक**—डॉ० बच्चनसिंह, पृ० ९०।

प्रसाद 'तालिब', अहसान लखनवी, पं० नारायण प्रसाद 'बेताब' दहलवी और आगा 'हश्र' आदि नाटकों की रचना कर रहे थे। पारसी कम्पनियों का उद्देश्य साधारण जनता का मनोरंजन एवं अधिक से अधिक दर्शकों को आकृष्ट कर धनोपार्जन करना था। इन कम्पनियों ने रंगमंच पश्चिम का अपनाया था तथा शेक्सपियर के नाटकों के रूपान्तर के साथ-साथ, उसी अनुकरण पर कथा-वैचित्र्य लिए हुए नवीन नाटक लिखवाए थे। इन नाटकों में वस्तु को अंकों और दृश्यों में विभाजित किया जाता था। अंकों की योजना प्रायः तीन तक रहा करती थी। कथावस्तु अत्यन्त रोमांचकारी होती थी। इन नाटकों में में गीतों की भरमार होती थी। इन नाटकों के अभिनय में सुरुचि का अभाव होता था। सस्ती भावुकता और अरुचि का भद्दा प्रदर्शन इस सीमा तक रहता था कि स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र एवं जयशंकर प्रसाद अभिनयों से असंतुष्ट होकर अभिनयशालाओं से बाहर निकल आये थे। इन कम्पनियों द्वारा शेक्सपियर तथा उन्हीं के अनुकरण पर लिखाए गए जो नाटक खेले जाते थे, उनमें राजकुल के प्रणय प्रसंग, सिंहासन के लिए युद्ध तथा राजनैतिक हत्याओं की प्रधानता रहती थी तथा साथ ही जनता के सस्ते मनोरंजन के लिए भड़कीले चमत्कारपूर्ण दृश्य, प्रभावशाली एवं काव्यात्मक संवाद, तथा बात-बात में नृत्य-गान रहा करते थे। ध्यान से परीक्षा करने पर प्रसाद के नाट्य-शिल्प में यह सभी बातें मिल जाएँगी। 'अजातशत्रु', 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त', 'ध्रुव-स्वामिनी' आदि सभी नाटकों में प्रणय प्रसंग हैं। चाणक्य के समान पात्र के हृदय में प्रणय की स्मृतियाँ सजग हैं। 'अजातशत्रु' में मागन्धी और शैलेन्द्र का प्रणय प्रसंग इस नमूने का अच्छा उदाहरण है। सभी नाटकों में युद्ध की घटनाएँ हैं। सम्पूर्ण नाटकों में दो वर्गों में युद्ध होता हुआ दिखाई देता है और युद्ध का बाह्य कारण भी राजसिंहासन ही है, यह बात दूसरी है कि उसका उद्देश्य शेक्सपियर के नाटकों में दिखाये गये उद्देश्य से बहुत महान् हैं। 'राज्यश्री' में कन्नौज, थानेश्वर और मालवा के मांडलिक राजाओं का, 'विशाख' में विशाख और राजा नरदेव का, 'जनमेजय' में आर्यों और नागों का, 'अजातशत्रु' में कौशल, कौशाम्बी तथा मगध के राजाओं का एवं राज्य में राज्य के उत्तराधिकार के लिए पिता एवं पुत्र का संघर्ष वर्णित है। 'स्कन्दगुप्त' में यदि एक ओर अन्तर्विद्रोह है, राज्य प्राप्ति के लिए पुरगुप्त भटार्क के साथ मिलकर कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य की हत्या कर देता है, अनन्तदेवी, प्रपंचबुद्धि और भटार्क मिलकर शर्वनाग द्वारा स्कन्दगुप्त की माता देवकी की हत्या का षड्यन्त्र रचते हैं तो दूसरी ओर स्कन्द आदि वीर आर्यों एवं विदेशी आक्रान्ता हूणों का युद्ध होता है। 'चन्द्रगुप्त' में भी यदि एक ओर गृह संघर्ष है तो

दूसरी ओर राष्ट्र-भक्त आर्य और विदेशी आक्रान्ता ग्रीक सरदार सिकन्दर का संघर्ष है। इसी प्रकार 'ध्रुवस्वामिनी' में आर्य नरेश चन्द्रगुप्त और शकराज का संघर्ष वर्णित है। प्रायः सभी नाटकों में हत्या या मृत्यु के प्रसंग हैं। 'अजातशत्रु' में श्यामा की हत्या का प्रयास, 'जनमेजय का नागयज्ञ' में जरत्कारु की मृत्यु, 'स्कन्दगुप्त' में कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य की हत्या का प्रयास और उनकी मृत्यु की सूचना; पृथ्वीसेन, महाप्रतिहार एवं दण्डनायक द्वारा आत्म-हत्या, अनन्तदेवी, प्रपंचबुद्धि, भटार्क का शर्वनाग द्वारा देवकी की हत्या का प्रयास, प्रपंचबुद्धि द्वारा देवसेना की हत्या का प्रयास, प्रपंचबुद्धि एवं गोविन्द-गुप्त के निधन की सूचना, बन्धुवर्मा की मृत्यु, देवकी की मृत्यु, विजया की आत्महत्या, पर्णदत्त की मृत्यु तथा 'चन्द्रगुप्त' में भी पर्वतेश्वर द्वारा आत्महत्या का प्रयास, फिलिप की मृत्यु, शकटार द्वारा नन्द का बध, कल्याणी द्वारा पर्वतेश्वर का बध, कल्याणी द्वारा आत्महत्या, मालविका द्वारा आत्महत्या तथा इसी प्रकार 'ध्रुवस्वामिनी' में भी सामन्त द्वारा रामगुप्त का बध आदि के दृश्य सहज ही उपलब्ध हो जाते हैं। प्रत्येक नाटक में काव्यात्मक सम्वाद तथा बात-बात में गीत भी उपलब्ध हो जाते हैं। कई आलोचकों ने तो प्रसाद के नाटकों के सम्वादों की आलोचना ही इस कारण की है कि उनके नाटकों के सभी पात्र—कवि से लेकर दौवारिक तक कवित्वमयी भाषा बोलते हैं।

प्रसाद के नाटकों में गीतों की अधिकता भी दोष को पहुँच गयी है। यद्यपि उनके कुछ गीत बहुत सुन्दर हैं, गीतिकाव्य के सुन्दर उदाहरण हैं, भारतीय भावों से संपृक्त हैं, किन्तु जिस रूप में इन्होंने गीतों को अपने नाटकों में प्रश्रय दिया है वह आपत्तिजनक और पारसी नाटक कम्पनियों द्वारा अभिनीत नाटकों में सन्दर्भ का बिना विचार किए, गाए गए गीतों की याद दिलाता है। 'सज्जन' से 'अजातशत्रु' तक के नाटकों में तो पात्र कभी भी गद्य में बोलते-बोलते पारसी कम्पनियों के अभिनेताओं की भाँति पद्य में तुक मिला देते हैं तथा गुन-गुनाना प्रारम्भ कर देते हैं। नाटक में सन्दर्भानुसार एक-दो स्थलों पर गीतों की योजना की जा सकती है—किन्तु उनके 'विशाख' में २५ कविताएँ हैं, 'अजातशत्रु' में १२, 'जनमेजय का नागयज्ञ' में ६, 'स्कन्दगुप्त' में १३, 'चन्द्रगुप्त' में १३, 'राज्यश्री' में ७ तथा 'ध्रुवस्वामिनी' में ४ गीत हैं। ये गीत भाव एवं कला की दृष्टि से कितने ही उच्च एवं स्तुत्य हों, किन्तु नाटकीय शिल्प की दृष्टि से चिन्त्य हैं। वस्तुतः प्रसाद के नाटकों का वस्तुपक्ष एवं भावस्तर जितना उच्च, श्रेष्ठ एवं गरिमा मंडित है, उसके अनुरूप वे रूप अथवा शिल्प-पक्ष का निर्माण नहीं कर पाए।

२७

समस्या नाटक और 'सिन्दूर की होली'

●

'साहित्य' समाज का प्रतिबिम्ब होता है। समाज की उन्नति अथवा पतन का प्रभाव सदा से साहित्य पर पड़ता चला आ रहा है। प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के उपरान्त राजनीतिक क्षेत्रों में हलचल मची और अनेक राजनीतिक वादों के रूप में राष्ट्रीयता, अन्तर्राष्ट्रीयता का जन्म हुआ। तानाशाही, प्रजातन्त्र और साम्यवाद आदि आदर्श एक-दूसरे को सशंक दृष्टि से देखने लगे। मानव का आर्थिक जीवन भी युद्ध की ज्वाला ने जर्जर बना दिया था। इन राजनीतिक एवं आर्थिक तत्त्वों ने साहित्य को प्रभावित किया और जीवन की अस्तव्यस्तता ने रूढ़िवाद को समाप्त कर एक नवीन दृष्टिकोण की उद्घोषणा की। मनुष्य के पारस्परिक, सामाजिक सम्बन्ध, राजनीतिक आदर्श, आर्थिक सम्बन्ध आदि सब तर्क की कसौटी पर कसे जाने लगे और पाश्चात्य देशों की इस बुद्धिवादी प्रवृत्ति ने बुनियादी साहित्य की नींव रखी।

साहित्य के विभिन्न अंग इस बुनियादी प्रवृत्ति से प्रभावित हुए। नाटक-साहित्य भी अपने आप को इस नवीन दृष्टिकोण एवं विचारधारा से विलग न रख सका। विज्ञान एवं मनोविज्ञान ने नाटक-साहित्य में एक आमूल परिवर्तन उपस्थित कर दिया जो सर्वप्रथम इब्सन के रूप में पाश्चात्य साहित्य में उदय हुआ। इब्सन नवीन विचारधारा लेकर साहित्य में अवतरित हुआ, जिसने

प्राचीन नाटक परम्पराओं एवं रूढ़ियों को अस्वीकार कर बुद्धि के तर्क पर नाटक-रचना पर बल दिया। इब्सन ने समाज की समस्याओं को अपने नाटकों में प्रस्तुत किया जो यूरोप के लिए नवीन वस्तु थी। समाज ही मनुष्य के पतन के लिए उत्तरदायी है। इब्सन का 'डाल्स हाउस' नारी स्वातन्त्र्य एवं अधिकार की समस्या को लेकर आया। नारी को नियन्त्रण में नहीं रखा जा सकता—यह इब्सन ने स्पष्ट बतला दिया। उसके 'वाइल्ड डक' एवं 'घोस्ट्स' स्त्री-समस्या को लेकर लिखे गये। पाश्चात्य साहित्यकार इब्सन की विचार-धारा से प्रभावित हुए और 'शा' ने 'मैन एण्ड सुपर मैन' लिखकर वैवाहिक जीवन की समस्याओं को स्पष्ट किया। गाल्सवर्दी ने 'हड़ताल' लिखकर मजदूरों की समस्या को स्पष्ट किया। नाटक की यह नवीन विधा केवल यौन समस्याओं को ही लेकर नहीं चली, वही समाज के सभी अंगों के लिए स्थान है।

उन्नीसवीं शताब्दी के ढलते हुए प्रहर में नार्वे के नाटककार इब्सन ने नाटकों में बौद्धिक स्वतन्त्रता, व्यक्ति की स्वतन्त्र सत्ता एवं समाज की समस्याओं को जो नवीन कलेवर के साथ प्रस्तुत किया, नाटक की प्राचीन रूढ़ि एवं परम्परा में एक आमूल परिवर्तन था। इब्सन ने निम्नलिखित परिवर्तन किये—

(१) उसने नाटकों में धीरोदात्त या धीरललित एवं उच्च कुल के पात्रों को ही केन्द्र-बिन्दु नहीं बनाया, बल्कि समाज के निम्न से निम्न व्यक्ति को भी उसने अपनाया है।

(२) नाटक की कथावस्तु वर्तमान समाज जीवन की आतुर समस्याओं को लेकर चलती है, एक तरह जनता और कला में दूरी का आभास नहीं रहता और उनमें एक रसता उत्पन्न होती है। समाज अपने रूप के जीवनक्रम को प्रत्यक्ष देखकर हिल उठता है और नाटक में प्रतिपादित समस्या के हल पर सोचने-विचारने लगता है।

(३) नाटक के रंगमंच में नाटक के पात्रों का यथार्थ चित्रण किया जाता है।

(४) भाषा काव्यमय नहीं होती, सरल-सीधी होती है—दैनिक जीवन में व्यवहृत बोली का आश्रय लिया जाता है। इस प्रकार वह नाटककार की भाषा न रहकर सबकी बोली बन जाती है।

इब्सन की प्रेरणा से विभिन्न देशों के साहित्य में इब्सन द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर नाटकों की रचना प्रारम्भ हो गई। इब्सनवादी नाटक वस्तुतः यथार्थ-वादी नाटक हैं जो अपने युग की मनोभावनाओं के अनुरूप विकसित हुए हैं। ये यथार्थवादी नाटक अपने युग की सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, मनोवैज्ञानिक

आदि सभी प्रगतियों और प्रवृत्तियों का प्रतिबिम्ब होते हैं। इब्सन आदि के लिए सिअरो का यह कथन अत्यन्त उपयुक्त है—"नाटक जीवन की अनुकृति है, आचार का दर्पण है, सत्य का प्रतिबिम्ब है।"

यथार्थवादी नाटकों में कथा, पात्र, सम्वाद, शैली को ही स्वीकार किया गया है। अरस्तू द्वारा वर्णित अलंकार तथा संगीत के लिए वहाँ कोई स्थान नहीं है।

इब्सन के विचारों से प्रेरित होकर यूरोप के अन्य देशों में भी नये-नये नाटककार उठ खड़े हुए। चारों ओर आन्दोलन फैल गया। नाट्यकला की पुरानी पद्धति, जिसका आदर्श काल्पनिक चित्रण, बनावट-सजावट और येनकेन-प्रकारेण केवल मनोरंजन ही था, लोगों को अरुचिकर प्रतीत होने लगा। बनावटी बातचीत, तुकान्त वाक्यों, रचना की कृत्रिमता से लोग ऊब गये। दिनोंदिन यह विचार बढ़ने लगा कि नाटकों का लक्ष्य—सामाजिक जीवन और समस्याओं का विवेचन ही होना चाहिए। अतएव जीवन की वास्तविक समस्याओं पर प्रकाश डालने और सुलझाने के लिए ही नाटक लिखे गये। उनमें वास्तविकता, यथार्थता और सत्यता की प्रधानता बढ़ने लगी

भारतीय हिन्दी नाट्य-साहित्य भी इस नवीन क्रान्ति से अपने आपको विमुख नहीं रख सका। जिस प्रकार पाश्चात्य काव्य-धारणाओं ने हिन्दी के अन्य काव्यांगों को प्रभावित किया, उसी प्रकार इब्सन के नाटकों की यथार्थता एवं समाज की समस्याओं को वर्णित करने का दृष्टिकोण हिन्दी नाट्य-साहित्य में रंग लाये बिना न रह सका और साहित्य में 'समस्या नाटक' नाम से एक नवीन विधा का जन्म हुआ। हिन्दी नाटक-साहित्य में इस नवीन विधा के प्रादुर्भाव के अनेक कारण थे। नवीन शिक्षा और दीक्षा ने शिक्षित समुदाय में तर्क एवं मनन का श्रीगणेश कर दिया था। बुद्धितत्त्व का प्राधान्य होता जा रहा था। कपोल कल्पना, कृत्रिमता, आडम्बर, पाखण्ड और खोखले आदर्शवाद की अधिकता के प्रति आधुनिक शिक्षित समुदाय में अरुचि उत्पन्न होने लगी, और वह प्रत्येक वस्तु को बुद्धि एवं तर्क के पलड़े में तौलने लगा। रूढ़ियों की जंजीरों को—चाहे वह लोहे की हो या सोने की—चाहे उन पर धर्म, समय, समाज और अतीत सभ्यता की छाप ही क्यों न पड़ी हो—शिक्षित समुदाय उन सबको तोड़कर एक स्वतन्त्र नैसर्गिक जीवन व्यतीत करने के लिए कटिबद्ध हो उठा। और लक्ष्मीनारायण मिश्र उनके प्रतिनिधि बनकर हिन्दी नाट्य-साहित्य में एक नवीन विधा को लेकर उज्ज्वल आलोक के सदृश्य उदित हुए।

हिन्दी नाट्य-साहित्य में नाटकों की रचना प्रारम्भ हो गई थी और जयशंकर प्रसाद जैसे नाटककार भारतीय सांस्कृतिक रूप को अपनी भावुकता एवं

कल्पना के योग से निर्मित कथावस्तु को अनेक नाटकों के रूप में अवतरित कर चुके थे। जीवन की वास्तविकता, यथार्थता एवं समाज की समस्याओं के लिए वहाँ कोई स्थान नहीं था। लक्ष्मीनारायण मिश्र के उदय होने के कारणों में 'प्रसाद' के वास्तविक एवं तत्कालीन समस्या से दूर, कल्पना एवं भावुकता के मिश्रित नाटक भी उत्तरदायी हैं जिनकी प्रतिक्रिया स्वरूप मिश्र जी जीवन की यथार्थता, वैयक्तिक स्वतन्त्रता, बुद्धितत्त्व की प्रधानता एवं समाज की स्थिति एवं समस्याओं को अपने नाटकों में लेकर अवतरित हुए। डा० देवराज उपाध्याय का कथन है—"मिश्र जी ने नाटकों का जन्म प्रसाद जी की साहित्य पर उग्र-वादिता, काल्पनिक रंगीनी और अनभिनेयता की प्रतिक्रिया के रूप में इब्सन की प्रेरणा से हुआ था। मिश्र जी 'प्रसाद' से भिन्न मान्यताओं को लेकर आये और ये मान्यताएँ ठीक 'प्रसाद' के नाटकों के सिद्धान्तों के विरोध में उत्पन्न हुई थीं।"

समस्या-नाटकों की परम्परा

लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों से पूर्व ही समाज की कुरीतियों का वर्णन नाटककार करने लगे थे। भारतेन्दु एवं उनके समकालीन नाटककारों ने अधिकांशत: मानव की सामाजिक परिस्थितियों पर ध्यान दिया और उनके नाटकों का विषय—बाल-विवाह, विधवा-विवाह, मद्य-निषेध, बहु-विवाह, छुआछूत—आदि समस्याओं की ओर संकेत एवं स्पष्टीकरण करना था। भारतेन्दु ने 'प्रेम योगिनी' नाटक में तत्कालीन कई समस्याओं की ओर देश का ध्यान आकृष्ट कराया था। यद्यपि उस युग के लिए वही समस्या-नाटक थे, किन्तु आज समस्या नाटकों का रूप नितान्त भिन्न हो गया है। आज के समस्या-नाटकों में भावुकता के स्थान पर मनोविश्लेषण की प्रधानता रहती है। पाश्चात्य विचारधारा से वह पूर्णरूप से प्रभावित है। डा० दशरथ ओझा ने भारतेन्दुयुगीन समस्या-नाटकों एवं मिश्र जी द्वारा प्रणीत नाटकों में विभेद करते हुए लिखा है—"भारतेन्दु युग के सामाजिक नाटक समाज की कुरीतियों का प्रत्यक्षीकरण ही नहीं करते थे, प्रत्युत उसके निराकरण का उपाय भी बता देते थे; किन्तु आधुनिक नाटक सामाजिक रोग का निदान मात्र कर देते हैं, उनकी चिकित्सा का भार देश के कर्णधारों पर छोड़ देते हैं।"......"भारतेन्दु युग के सामाजिक नाटकों की रचना में प्रेरणा राममोहन राय और स्वामी दयानन्द से मिलती थी। आज के नाटककार फ्रायड और मार्क्स से प्रेरणा पा रहे हैं। उस युग में हमारे आदर्श कवि थे—कालिदास और भवभूति, आज पथ-प्रदर्शक हैं—'इब्सन' और 'शा'।

—(डा० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक का उद्भव और विकास)

लक्ष्मीनारायण मिश्र ने सर्वप्रथम ही इब्सन से प्रेरणा ले, हिन्दी नाट्य-साहित्य में समस्या नाटकों को जन्म दिया। उनसे पूर्व समस्या का नाटकों में वर्णन होने पर भी मिश्र जी के प्रेरणा-सूत्र वे न बन सके। डा० देवराज उपाध्याय का कथन अत्यन्त समीचीन है—"भारतेन्दु-युग के नाटकों में ही बाल-विवाह, विधवा-विवाह, देश-भक्ति इत्यादि समस्याओं का प्रवेश हो चला था और नाटकों के माध्यम से विचार करने तथा इनके प्रति लोगों के ध्यान आकृष्ट करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो गइ थी, पर फिर भी हिन्दी के समस्या नाटकों के जन्मदाता मिश्र जी ही कहे जायेंगे। कारण कि उनके पहले जितने नाटककार हुए हैं वे राम-कथा या कृष्ण-कथा में निमग्न रहे और यों ही कभी आँख उठाकर तत्कालीन समस्याओं की ओर भी देख लेते हैं। प्रसाद जी चाहते हुए भी आधुनिक समस्याओं के साथ न्याय नहीं कर सके।"

मिश्र जी के नाटक

मिश्र जी ने कुल ६ समस्या नाटकों की रचना की है। यथा—

(१) सन्यासी,
(२) राक्षस का मन्दिर,
(३) मुक्ति का रहस्य,
(४) राजयोग,
(५) सिन्दूर की होली,
(६) आधीरात।

समस्या-नाटकों की परिभाषा

"व्यक्ति अपनी दुर्बलता के लिए उत्तरदायी नहीं है—उसके लिए समाज दोषी है, समाज की रूढ़ियाँ दोषी हैं और जिस नाटक में यह दिखाया जाय वह समस्या-नाटक होता है।"

समस्या-नाटकों की विशेषतायें

(१) सम्पूर्ण नाटक तीन अंकों में विभाजित होता है।

(२) कथावस्तु वास्तविक घटनाओं से ग्रहण की जाती है।

(३) पात्रों को बहुत उच्च वर्ग से नहीं, वरन् मध्य एवं निम्न वर्ग से लिया जाता है। दैनिक जीवन की परिस्थितियों का ही चित्रण होता है।

(४) प्राकृतिक जीवन, जीवन का सबसे बड़ा उद्देश्य माना जाता है जिसमें परतन्त्रता, बन्धन, संयम, नियन्त्रण को कोई स्थान नहीं दिया जाता। प्रत्येक में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता ही महत्वपूर्ण है। व्यक्तिगत जीवन एवं सामाजिक जीवन के संघर्ष में नाटककार व्यक्तिगत जीवन का ही विकास दिखाता है।

समाज में यदि व्यक्तिगत विकास के लिए सामग्री होगी, सामाजिक बन्धन न होंगे, वह समाज भी उन्नतिशील होगा। व्यक्तिगत विकास की धारणा ही नाटककार का मूल आधार होता है।

(५) नैसर्गिकता एवं स्वाभाविकता को ही नाटक में स्थान दिया जाता है। कल्पना एवं भावुकता के स्थान पर यथार्थता एवं बुद्धिवादिता को स्थान दिया गया।

(६) समाज की जटिल समस्याओं को समाज के सम्मुख इस प्रकार रखना कि प्रत्येक दर्शक के मन में वर्तमान समस्या के प्रति विक्षोभ भाव उत्पन्न हो जाये और वह उद्बुद्ध हो उठे। नाटक की समस्या दर्शकों को स्पष्ट हो जाये।

(७) नाटककार का लक्ष्य—समस्याओं का नग्न रूप रखना होता है, सुझाव का प्रस्ताव नहीं करता। समस्या के सुलझाने का कार्य दर्शक एवं नेताओं पर छोड़ दिया जाता है।

(८) समस्या-नाटकों में बोलचाल की भाषा अत्यन्त आवश्यक है। नाटककार रंगमंच की भाषा को काव्य की भाषा नहीं बनाना चाहते। उनकी भाषा में नाटकत्व अनिवार्य है किन्तु वह काव्यमय शैली से नहीं बल्कि तर्कमय शैली से। अलंकारमयी भाषा नहीं—बल्कि व्यंग्यमयी, तर्कमयी एवं विनोदमयी भाषा ही वहाँ ग्राह्य है।

(९) संगीत, नृत्य और गीत के लिए समस्या-नाटकों में कोई स्थान नहीं। समस्या नाटकार का कथन है कि संगीत, नृत्य दर्शक के मन को मूल समस्या से दूर ले जाकर ध्वनि लहरियों से किलोल करने में संलग्न कर देता है। संगीत की रसमयी धारा में मन जब डूबने-उतराने लगता है तो वह मूल समस्या का अवलोकन नहीं कर पाता।

(१०) समस्या-नाटककार पर पताका और प्रकरी के लिए कोई स्थान नहीं। मूल कथा के अतिरिक्त नाटककार के पास अन्तर्कथाओं के लिए कोई स्थान नहीं होता।

(११) रससिद्धि या रस-निष्पत्ति—नाटककार का उद्देश्य नहीं होता। आनन्द उत्पन्न करना–उसका लक्ष्य नहीं अपितु समस्याओं के प्रति दर्शक के मन में विक्षोभ एवं विद्रोह की भावना फूँकना ही उसका उद्देश्य होता है। उसकी मानसिक अवस्था में विद्युत वेग से समस्या को सुलझाने का सुझाव उत्पन्न करना भी नाटककार का लक्ष्य ही है।

(१२) अभिनय की दृष्टि से यह नाटक उपयुक्त होते हैं।

मिश्र जी के नाटक

पाश्चात्य या भारतीय सिद्धान्तों के अनुकूल या प्रतिकूल ?

हिन्दी के विद्वानों में मिश्र जी के नाटकों का लेकर एक विवाद-सा खड़ा हो गया है। कुछ आचार्य मिश्रजी के नाटकों को पूर्णरूप से पाश्चात्य विचारधारा से प्रभावित मानते हैं, और कुछ विद्वान् इसके विरोध में कहते हैं कि वे पूर्णरूप से भारतीय हैं। केवल नाटकों के सम्बन्ध में ही आज हिन्दी विद्वानों के दो मत नहीं हैं—अपितु आधुनिक युग में पाश्चात्य विचारधारा ने जो हमारे जीवन एवं साहित्य को प्रभावित किया है, विद्वान् लोग जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में—साहित्य के प्रत्येक अंग पर पाश्चात्य प्रभाव आँकना चाहते हैं। हिन्दी साहित्य में कोई नवीन विधा का आविर्भाव हुआ नहीं कि विद्वानों ने उसके जन्म स्थान की खोज प्रारम्भ कर दी। **डा० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'** का कथन कितना समीचीन है—"बहुधा किसी नई विधा के हिन्दी में आने पर दो दल हो जाते हैं। उनमें से एक का अभिप्राय उस विधा को हिन्दी का सिद्ध करना होता है तो दूसरे का उसे विदेश का—विशेष रूप से अंग्रेजी का।"

लक्ष्मीनारायण मिश्र प्राचीनता के आवरण एवं देह को झाड़कर नवीनता के रंग-मंच पर आये—जो पाश्चात्य विचारधारा की ही देन थी। मिश्रजी का प्रेरणासूत्र पाश्चात्य समाज का बुद्धिवादी दृष्टिकोण था जिसके प्रभाव के कारण उन्होंने समस्या नाटक को जन्म दिया। इब्सन और शा ही उनके पथ-प्रदर्शक एवं प्रेरणा-सूत्र थे। 'सन्यासी' (१९२७) की प्रेरणा के बारे में स्वयं लक्ष्मीनारायण मिश्र ने लिखा है—"पहले महायुद्ध की समाप्ति पर कैथराइन की 'मदर इण्डिया' निकल चुकी थी। यूरोप और अमरीका के कितने ही लेखक काले, भूरे और पीले से गोरों को सावधान रहने की चेतावनी दे रहे थे। रंगीन जातियों को सब ओर से हीन कहने की चेष्टा की जा रही थी। 'हिडमन क्लांड', 'पुटनमवील','लाथ्रास्नोदार' आदि कितने ही राजनीतिक लेखक इस बात की घोषणा कर रहे थे कि भविष्य में गोरों का संकट रंगीन जातियों से बढ़ेगा। काशी हिन्दू विश्वविश्वविद्यालय के पुस्तकालय में इस तरह का साहित्य बराबर बढ़ रहा था जिसके पढ़ने का सुयोग मुझे विद्यार्थी जीवन में वहीं मिल गया। इस प्रकार की जो प्रतिक्रिया हुई, उसी ने हिन्दी के प्रथम समस्या-नाटक 'सन्यासी' को जन्म दिया। जाति के गौरव-बोध, अपनी संस्कृति और अपने पूर्वजों की विभूति निष्ठा ने, 'अन्तर्जगत' के कवि को समस्या-नाटककार बना दिया।"

इस सत्य में कोई असत्यता नहीं कि मिश्र जी ने इब्सन, शा आदि प्रमुख नाटककारों के विचारों और भावनाओं से प्रेरित होकर हिन्दी नाट्य-साहित्य में एक नवीन धारा का प्रवेश किया। 'समस्या-नाटक' नाम की कोई विधा हिन्दी साहित्य में इससे पूर्व नहीं थी। यह पाश्चात्य संसार की ही देन थी जिसको मिश्र जी ने ग्रहण किया। मिश्रजी ने नाटकों की कथावस्तु, पात्र-योजना, भाषा, शैली में आमूल परिवर्तन कर एवं संगीत, मंगलाचरण आदि का बहिष्कार कर हिन्दी नाट्य-साहित्य में एक क्रान्ति उपस्थित कर दी जिनको उन्होंने इब्सन, शा आदि द्वारा नवोन्मेषित बुद्धिवादी प्रवृत्ति से ग्रहण किया था। मिश्रजी ने नाटकों की परम्परा में निम्नलिखित परिवर्तन किये—

(१) नाटकों में केवल तीन अंकों की योजना,
(२) अंक में दृश्यों की समाप्ति,
(३) संगीत एवं गीतों का बहिष्कार,
(४) नाटक को अभिनयात्मक बनाना,
(५) भाषा साधारण एवं जन-भाषा,
(६) समाज की यथार्थ अवस्था का चित्रण,
(७) रस-निष्पत्ति का त्यागना,
(८) मनोविज्ञान के आधार पर पात्रों की योजना।

उपर्युक्त सभी तत्त्व मिश्रजी ने पाश्चात्य जगत से ग्रहण किये थे किन्तु विद्वानों का यह कहना कि मिश्र जी पूर्ण रूप से इब्सन आदि से प्रभावित हैं और उनके नाटकों में भारतीयता के लिए कोई स्थान नहीं है—अत्युक्ति पूर्ण है। मिश्र जी ने स्वयं लिखा है—

"इन समस्या नाटकों ने शुक्ल जी से लेकर आज तक के अधिकांश आलोचकों के नीचे की धरती को जैसे एकदम उखाड़ फेंका। एक स्वर में लोग कहते रहे कि मेरे ये नाटक पश्चिम से प्रभावित हैं—इसीलिए भारतीय मान्यताओं के प्रतिकूल हैं, पर बात ऐसी नहीं थी। एक-एक नाटक के कथानक, सम्वाद और परिणति पर विचार कर लेने पर जो तथ्य सामने खड़ा होता है वह यह है कि नर-नारी के प्रेम और आकर्षण के साथ-ही-साथ हमारे जीवन की जो अन्य समस्याएँ नाटकों में आई हैं, वे भारतीयता को और भी चमका देती हैं। नारी चाहे जिस रूप में पहली बार जिस पुरुष के राग का माध्यम बनती है, उसे जन्म भर उसी के साथ रहना है। इस कठोर नियम और मान्यता में उसे निजी प्रेम को हारना ही पड़ता है। जैसे 'मुक्ति के रहस्य' की आशा देवी अपने प्रेम के देवता उमाशंकर को छोड़कर अपने पतन के साथी डाक्टर की

सहगामिनी बनती है। इस नाटक में जो कहीं आशा उमाशंकर के साथ रह पाती तो वह पश्चिम के स्वतन्त्र प्रेम की विजय उस भारतीय दाम्पत्य विधान पर मानी जाती, जिसमें नारी को जन्म भर एक पुरुष की बनकर रहना माना गया है।"

मिश्र जी ने जिस तर्क-शैली से अपने आपको पूर्णरूप से भारतीय सिद्ध करने का प्रयास किया है उसके विरुद्ध कोई तर्क खड़ा हो ही नहीं सकता किन्तु फिर भी एक कृतिकार का अपनी कृति के प्रति विचार प्रकट करना उचित नहीं जान पड़ता। लेखक जब अपनी ही रचना के प्रति अपना दृष्टिकोण व्यक्त करता है तो वह एक रचनाकार या कृतिकार नहीं रहता, वह एक साधारण पाठक की कोटि में आ जाता है। डा० देवराज उपाध्याय ने ऐसा ही लिखा है—"कोई कृतिकार अपनी कृति के बारे में जो कुछ कहता है---वह सर्वथा निर्भ्रामिक हो, यह कोई निश्चित नहीं है। जब कोई अपनी रचना के बारे में कुछ विचार करने लगता है तो वह भी एक साधारण पाठक की स्थिति में आ जाता है।"

डॉ० देवराज ने यद्यपि मिश्र जी की स्वयं रचना के प्रति दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं किया है परन्तु फिर भी उन्होंने इस तथ्य की स्पष्ट घोषणा की है कि चाहे मिश्र जी ने पाश्चात्य विद्वान् द्वारा प्रदर्शित मार्ग को ग्रहण किया है किन्तु मार्ग के निर्माण में जो पत्थर, चूना आदि का प्रयोग किया है वह भारतीय ही है, भारतीय वातावरण और समाज की ही देन है। डा० देवराज का कथन है—"मिश्र जी की नाट्य-कला में भारतीय आत्मा अपने वास्तविक गौरव के साथ नयी साज-सज्जा में प्रकट हुई है। इनमें यूरोप के विकसित नाटकों की पद्धति का पूर्णरूप से उपयोग किया गया है। लेकिन इतने से ही यह नहीं कहा जा सकता कि वे भारतीय मान्यताओं के प्रतिकूल हैं।

'सिन्दूर की होली' में भी मिश्र जी की वही प्रतिभा चमकती है जिसमें उन्होंने पाश्चात्य विचारधारा को तो अवश्य ग्रहण किया है किन्तु वह सर्वथा भारतीय परम्परा एवं मान्यताओं के अनुकूल ही है। मनोरमा का चरित्र पूर्ण-रूप से भारतीय विधवा नारी के आधार पर आधारित है। मनोजशंकर मनोरमा से विवाह का प्रस्ताव करता है किन्तु मनोरमा भारतीय रूढ़ियों में बंधी एक विधवा की वाणी में बोल उठती है—"मैं तुम्हें अपना दुल्हा तो नहीं बना सकती लेकिन प्रेमी बना लूँगी।"

यह प्रेमी बनाने की भावना अवश्य ही कुछ पाश्चात्य प्रभाव को स्पष्ट करती है किन्तु मनोरमा का 'प्रेमी' बनाने की बात में किसी भी वासना एवं

शारीरिक प्रेम के लिए कोई स्थान नहीं। वह केवल अन्तरात्मा का ही साम्य चाहती है और वह मनोज शंकर से स्पष्ट कह भी देती है—

'मैं विधवा हूँ और तुमको भी विधुर होना होगा।'

मनोरमा की यह निष्ठा, संकल्प भारतीय नारी का रूप प्रस्तुत नहीं करती तो और क्या है? भारतीय नारी ही ऐसी है, जो ऐसी निष्ठा एवं संकल्प व्यक्त कर सकती है—पाश्चात्य नारी इस क्षेत्र से सर्वथा दूर है। मनोरमा भारतीय विधवा नारी की प्रतिनिधि होकर आई है—जो दृढ़ता से वैधव्य का पालन करती है।

मनोरमा अपने पति का जो वर्णन मुरारीलाल के सम्मुख करती है वह अत्यन्त ही मार्मिक है और जो भारतीयता की भावना से कूट-कूट कर भरा पड़ा है। 'इन आँखों से तो कभी नहीं देखा लेकिन कल्पना की आँखों से नित्य देखती हूँ, नित्य। बीस वर्ष का सुन्दर, स्वस्थ, सम्मोहक शरीर, चन्द्रमा सा मुख, कमल सी आँखें, कमान सी भौहें, घने काले रेशम से चमकीले बाल (आँख मूँदकर) वह स्वरूप इस समय मेरे सामने आ गया है।'

डा० दशरथ ओझा का कथन है, "जिसके हृदय में पति का रूप यौवन का सारा आकर्षण लेकर इस तरह जमकर बैठा हो, कोई भी दूसरा पुरुष उसके लिए इतना हीन और दरिद्र होगा कि वह उसकी ओर देखना भी नहीं चाहेगी। अब भारतीयता का इससे अधिक स्वस्थ मुख हम क्या देखा चाहते हैं।"

चन्द्रकला अवश्य ही पाश्चात्य नारी से अभिन्न सी दृष्टिगोचर होती है। किन्तु केवल चन्द्रकला के चरित्र से इसको भारतीयता के प्रतिकूल नाटक नहीं कहा जा सकता। मिश्र जी ने शरीर तो अवश्य ही पाश्चात्य संसार से ग्रहण किया है किन्तु शरीर में जो आत्मा विद्यमान रहती है, जिसके स्पन्दन से शरीर स्पन्दित एवं क्रियाशील रहता है, उनके नाटकों में सर्वत्र विद्यमान हैं। शरीर से प्राण उड़ गये तो समझिये वह व्यर्थ हुआ, नीरस हो गया और उसे श्मशान में फूँक दिया जायेगा। 'प्राण' शरीर का मूल है, उसका आधार है और मिश्र जी के नाटकों का मूल भी भारतीय प्राण ही है जिस पर नाटकों की भित्ति निर्मित की गई है।

समस्या नाटकों की चरित्र-कला और 'सिन्दूर की होली' में चरित्र-चित्रण

१. समस्या नाटक चरित्र-प्रधान नहीं होते, समस्या-प्रधान होते हैं। अतः नाटककार का ध्यान पात्रों के चरित्र वैचित्र्य की ओर उतना नहीं जाता जितना सम-सामयिक समस्या की ओर। मिश्र जी का भी ध्यान

समस्याओं के उभारने की ओर चरित्र-चित्रण की अपेक्षा अधिक है। जहाँ तक चरित्र वैचित्र्य समस्याओं के उभारने में काम आता है वहीं तक मिश्र जी ने उसे ग्रहण किया है। मूल लक्ष्य—समस्या है, न कि चरित्र-चित्रण।

२. अन्य प्रकार के नाटकों में चरित्र का क्रमिक विकास दिखाई पड़ता है, किन्तु समस्या नाटकों में चरित्र पूर्ण निर्मिती के साथ सम्मुख आते हैं। मिश्र के नाटक 'सिन्दूर की होली' में प्रायः सभी पात्र आद्योपान्त एक ही प्रवृत्ति के परिचायक प्रतीत होते हैं।

३. समस्या नाटकों में पात्रों की भावुकता की ओर उतना ध्यान नहीं दिया जाता जितना उनकी बुद्धिवादिता की ओर। अतः प्रत्येक पात्र की कार्यावली का बुद्धि के द्वारा सन्तोषप्रद उत्तर देना पड़ता है।

४. समस्या नाटकों में पात्रों का चरित्र परम्परा और रूढ़ियों के अन्तरालय में निर्मित नहीं होता। वह तो देश-काल, परिस्थिति के मिलन से बनता है।

५. समस्या नाटक में पात्रों के चरित्र में रूढ़ियों को विध्वंस करने और परम्पराओं तो तोड़ने की एक प्रकार की व्याकुलता पाई जाती है। 'सिन्दूर की होली' में चन्द्रकला के चरित्र में इस सिद्धान्त का पूर्ण निर्वाह पाते हैं।

६. यद्यपि समस्या नाटक का प्रत्येक पात्र समस्याओं के विकास में सहायक होता है तथापि समस्या नाटक में एक ऐसा पात्र भी होता है जिसके जीवन का दीप प्रकाश सम्पूर्ण नाटक पर एक विशेष प्रकार की आभा विकीर्ण (छोड़ता) करता जाता है। मुरारीलाल की अर्थ-पिशाचता एवं विलासिता सभी पात्रों पर प्रभाव डालती दिखाई पड़ती है। उसी के कारण मनोजशंकर के पिता का वध हुआ और रजनीकान्त अकारण ही यमद्वार पर भेजा गया। इसी के कारण उसकी एक मात्र पुत्री को वैधव्य का कष्ट सहना पड़ा।

मुरारीलाल

१. अर्थ-पिशाच।

२. विलासी एवं पतन की चरम अवस्था पर पहुँचा हुआ व्यक्ति।

मानव-पतन की चरमावस्था उस स्थान पर दिखाई पड़ती है जब वह अन्याय को न्याय, असत् को सत् और व्यभिचार को संयम मानने लगता है। हम मुरारीलाल को इसी दशा में पाते हैं। मुरारीलाल मनोजशंकर से कहता है, "मेरी इच्छा यह नहीं थी कि रजनीकान्त मारा जाय, लेकिन भगवन्त से रुपये ले लेना मैंने बुरा नहीं समझा। उसने दूसरे को लूटकर रुपया इकट्ठा किया है—यदि इसे लूटना भी माना जाय तो उसे लूट लेना मैंने बुरा नहीं समझा।"

'सिन्दूर की होली' में एक बार पात्र जैसा बन गया वह अन्त तक वैसा ही रहता है। प्रसाद के नाटकों के समान पतित पात्र को उत्थान करने का प्रयत्न यहाँ नहीं है।

'सिन्दूर की होली' में समस्या का रूप

समाजगत या व्यक्तिगत समस्या का विवेचन

नाटक का कथानक वर्तमान सामाजिक जीवन से लिया गया है, उसमें व्यक्ति की समस्याओं को गूँथने का प्रयास किया गया है जिसके कारण नाटक व्यक्तित्व प्रधान बन गया है। समस्यामूलक नाटकों में दो प्रकार की समस्याएँ होती हैं—(१) व्यक्तिगत, और (२) समाजगत।

इसमें प्रधान पात्र 'मुरारीलाल' एक डिप्टी कलक्टर है जो धन के लोभ से अपने मित्र की हत्या कर डालता है। यह रहस्य उसका मुंशी माहिर अली ही जानता है। उसी के सहयोग से हत्याकाण्ड सम्भव हो सका था। हत्या की विभीषिका को छिपाने तथा सम्भवतः उसका प्रायश्चित करने के लिए वह उसके पुत्र मनोजशंकर को अपनी कन्या अर्पित कर देना चाहता है और इसी उद्देश्य से उसकी शिक्षा पर धन व्यय कर उसे आई० सी० एस० बनाना चाहता है। लोभ की तृष्णा के कारण उसकी घूँसखोरी बढ़ जाती है।

भगवन्तसिंह नाम का एक जमींदार जायदाद के लालच से अपने भतीजे रजनीकान्त की—जो अत्यन्त सुन्दर और होनहार युवक था, हत्या का षड्यंत्र रचता है और मुरारीलाल को घूँस देकर उसमें सफल हो जाता है। मुरारीलाल की कन्या चन्द्रकला, चित्रकला की अनुरागिनी होने के कारण विधवा मनोरमा को अपने घर में रख लेती है। मनोरमा के निष्कलंक सौन्दर्य पर मुरारीलाल की वासना पूरित दृष्टि तो जमती ही है, साथ ही मनोजशंकर भी चन्द्रकला की अपेक्षा मनोरमा की ओर अधिक आकर्षित होता है परन्तु मनोरमा भावुकता में न बहकर अपने वैधव्य की कला द्वारा उपासना करती है।

हत्या के पूर्व रजनीकान्त एक बार मुरारीलाल के घर जाता है जिसके तरुण सौन्दर्य पर दोनों युवतियाँ रीझ उठती हैं। मनोरमा की मुग्धता चित्र में साकार हो उठी है, पर चन्द्रकला भीतर ही भीतर घुलती रहती है। इसी समय रजनीकान्त षड्यन्त्रकारियों की लाठियों के प्रहार से घायल होकर डोली में डिप्टी कलक्टर के द्वार पर लाया जाता है—जीवन और मृत्यु के बीच संघर्ष की अवस्था में चन्द्रकला उसके पास दौड़ जाती है। वह मुस्कराकर उसकी ओर एक बार आँख उठाकर देख लेता है, उसकी यह मुद्रा चन्द्रकला को विक्षिप्त सा बना देती है। डाक्टर की चिकित्सा और मनोजशंकर की उपस्थिति से उसके

स्वास्थ्य में कुछ सुधार नहीं होता। मनोरमा रोग का ठीक निदान जानती है अतः वह उसे भावुकतावश रजनीकान्त के काल्पनिक वैवाहिक वियोग की पीड़ा में जलने से रोकती है, पर चन्द्रकला मानसिक संकल्प को ही प्रधानता देती है और उन्माद की दशा में ही अस्पताल में पड़े हुए बेहोश रजनीकान्त के हाथ से अपनी माँग में सिन्दूर भर लेती है और अपने उत्कोच प्रिय पिता की तनिक पर्वाह न करके जीवन यापन के लिए प्रस्तुत हो जाती है। रजनीकान्त की अस्पताल में ही मृत्यु हो जाती है और चन्द्रकला अपने को विधवा मान लेती है।

मनोजशंकर को अपने पिता की हत्या का कारण माहिर अली से ज्ञात होता है। मुरारीलाल के पापों का उद्घाटन हो जाता है। कथानक में बाह्य संघर्ष की अपेक्षा अन्तर्संघर्ष अधिक है। मनोरमा के अन्तर्द्वन्द्व को लेखक ने बहुत जटिल बना दिया है। एक ओर समाज द्वारा आरोपित वैधव्य उसके सर पर अट्टहास कर रहा है, दूसरी ओर मुरारीलाल की तृष्णाभरी आँखें बार-बार घूर रहीं हैं। मनोजशंकर का माधुर्य उसे सराबोर कर डालना चाहता है और पीछे से उसकी सहेली चन्द्रकला का विवर्ण मुख उसे विवश बना देता है क्योंकि जिस रजनीकान्त के प्रथम दर्शन ने चन्द्रकला को मनोजशंकर के प्रति सदा के लिए उदासी बना दिया था, वही दर्शन उसकी कला में रह-रहकर स्पन्दन भर रहा था। चन्द्रकला की असंगत एवं असंयत वृत्ति के प्रति सदय होकर उसने प्रिय की सजीव प्रतिमा के चरणों पर मौन भावनायें ही अर्पित कीं और मनोजशंकर के आकर्षण को भी कला के समान ही अशरीरी रूप देने का उसका निश्चय उसे स्वयं एक पहेली बना रहा है। उसका यह व्यक्तिगत निश्चय उसके लिए सर्वथा आदर्श हो सकता है।

पर इस सामाजिक समस्या का हल हो सकेगा—यह सम्भव नहीं दीखता। इसीलिए इन नाटकों में समाजगत समस्याओं का हल नहीं है, व्यक्तिगत समस्याएँ ही व्यक्ति-वैचित्र्य के द्वारा हल की गई हैं। इस निष्कर्ष का समर्थन चन्द्रकला तथा मनोजशंकर के विशिष्ट आचरणों से हो जाता है। मुरारीलाल उत्कोच लेता है, पर इस जघन्य कार्य के ऊपर दार्शनिकता का आवरण भी चढ़ा देता है। उसका यह दार्शनिक तर्क पाठकों के मन में होने वाली कटुता को कम कर देता है। मनोजशंकर, चन्द्रकला, मनोरमा और मुरारीलाल समाज के प्रतिनिधि चरित्र नहीं कहे जा सकते। वे विशिष्ट चरित्र ही हैं।

माहिर अली और भगवन्तसिंह अवश्य प्रतिनिधि चरित्र कहे जा सकते हैं। माहिर अली से वातावरण के अनुरूप सामाजिक अपराध हो गये हैं, पर उसके हृदय में सच्चे अर्थ में मुस्लिम भावना की पवित्रता रह-रहकर लहरें मार

जाती है। वह रजनीकान्त की हत्या का षड्यन्त्र जानकर चोंकता है—डिप्टी साहब को सतर्क करता है, पर पेट की ज्वाला बड़ी निष्ठुर है, धर्म उसके सम्मुख घुटने टेक देता है। लेखक ने माहिर अली के दिमाग में भी उन्माद भर कर मनोविज्ञान के सत्य की प्रतिष्ठा की है। उसको आँखों के सामने नैतिक पाप स्वप्न को विकृत बनाकर स्वभावतः नाच उठा है।

अभी तक पात्रों की मानसिक कृति और विकृति के सम्बन्ध में ही कहा गया है—जिससे व्यक्त होता है कि नाटक के पात्रों में भावुकता अधिक है, चिन्तन उनमें कम है और व्यापार बहुत ही कम है। नाटककार ने उन्हें जिन्दगी की सड़क पर लाकर छोड़ दिया है, वे अपनी प्रवृत्तियां और परिस्थितियों के चक्कर में रुकते, थकते, ठोकर खाते हुए आगे बढ़ते गये हैं। मनोरमा और चन्द्रकला को लेकर नाटककार ने भारतीय नारी-समस्या की दो रेखाओं को स्पष्ट करने की चेष्टा की है। मनोरमा आठ वर्ष में ही विवाहित होती है और दस वर्ष में विधवा हो जाती है तथा तारुण्य में जीवन की भीषण समस्याओं का सामना करने को विवश होती है। उसके सामने समाज प्रदत्त वैधव्य है—ऐसे पति के प्रति जिसको उसने कभी तारुण्य की आँख से एक बार भी नहीं देखा, जिसके प्रेम ने कभी उसके मन में एक बार भी सिहरन पैदा नहीं की। सजग होने पर उसने सामने संसार का वैभव मुरारीलाल के रूप में खड़ा हुआ है और हृदय के तारों से अपने जीवन को गूंथ देने वाला मनोजशंकर उसके चरणों में लोट जाने को आतुर दीख रहा है।

मनोरमा इन दोनों अवस्थाओं को ठोकर मार कर अपने वैधव्य को खुशी-खुशी स्वीकार करती है। नाटककार ने मनोरमा को समाज प्रदत्त वैधव्य के आगे नतमस्तक कर समाज की रूढ़ियों पर सुन्दर भावुकता की कूँची फेर दी है और उसे अत्यधिक रंगीन बना दिया है। इस तरह भारतीय हिन्दू समाज की सांस्कृतिक भावना को उदात्त रूप दिया गया है।

चन्द्रकला के रूप में शिक्षिता भारतीय नारी की समस्या है। वह समाज द्वारा प्रदत्त अभिशाप या वरदानों में विश्वास नहीं करती। वह अपने ही कर्मों के कटु या मधुर फल भोगने में विश्वास करती है। व्यक्ति स्वातन्त्र्य का आग्रह उसमें दीख पड़ता है। पिता द्वारा आयोजित और प्रस्तावित पति में उसकी आस्था नहीं जमती। वह प्रथम बार दृष्टि-पथ में ठहर जाने वाले के साथ अपने सिन्दूर की आजन्म होली खेलती है। समाज इस प्रेत व्यापार से सहमता है या चौंकता है, इसकी उसे पर्वा नहीं। प्रथम दृष्टि में प्यार (लव इन फर्स्ट साइट) यद्यपि पाश्चात्य फैशन माना जाता है तो भी भारतीय संस्कार से अपरिचित वस्तु नहीं। नाटककार ने आधुनिक समस्या का भी आधुनिक

ढङ्ग से हल न सुझाकर भारतीय प्राचीन संस्कृति की विजय ही घोषित की है—यहाँ स्त्री स्वप्न में भी किसी पुरुष का चिन्तन कर आजीवन उसी की आराधना में अपने माँग के सिन्दूर को सँवारती है। नाटककार ने पश्चिमी शिक्षा, पश्चिमी आदर्श को हमारी अशान्ति का कारण माना है—वे हमारे विकास में बाधक हैं अतः विषैले कीटाणु की तरह समाज के शरीर में उन्हें न प्रविष्ट होने देने का संकेत अपनी कृति में किया है।

इस तरह हम देखते हैं कि पाश्चात्य समस्यामूलक नाटकों में जहाँ आदर्श के प्रति सर्वथा उपेक्षा प्रदर्शित की जाती है वहाँ प्रस्तुत नाटक में उसी की मर्यादा को चरम लक्ष्य पर आसीन करने का प्रयास किया गया है। यथार्थ की भूमि पर आदर्श के गगन चुम्बी प्रासाद को खड़ाकर भारतीय समस्या-नाटकों के एक नये रूप को प्रस्तुत किया गया है जिसमें रोमांस अधिक है, यथार्थ कम है, जीवन की जागृति की अपेक्षा जीवन का स्वप्न ही अधिक उन्मादकारी है।

समस्यामूलक नाटकों में भावावेश का महत्त्व नहीं माना जाता परन्तु यदि 'सिन्दूर की होली' से भावावेग निकाल दिया जाय तो नाटक में कोई समस्या ही नहीं रह जाती। लेखक ने जहाँ-तहाँ चुभते हुए व्यंग्य अवश्य किये हैं जो समस्या-नाटक की टेक्नीक के अनुरूप हैं। उदाहरण—वर्तमान शिक्षा के सम्बन्ध में मुरारीलाल का व्यंग्य एक अच्छी आलोचना है—

'आजकल की शिक्षा में शब्दों का खिलवाड़ खूब सिखाया जाता है।'

पुरुष की वासना पर एक चुटकी—

'क्षमा कीजिये पुरुष आँख के लोलुप होते हैं, विशेषतः स्त्रियों के सम्बन्ध में। मृत्यु शैया पर भी सुन्दर स्त्री इनके लिए सबसे बड़ा लोभ हो जाती है।'

'शारीरिक व्यभिचार से कहीं भयंकर है—मानसिक व्यभिचार।'

'चित्तवृत्ति का विरोध योग है और यही आनन्द है।'

'कानून और कला का साथ नहीं हो सकता है।'

'विधवा अग्नि है—हलाहल है, कोई भी पुरुष उसे छूकर या पीकर नहीं जी सकता।' आदि वाक्यों में नाटककार ने अनुभव की सूक्तियाँ भरी हैं।

नाटक की भाषा में प्रांजलता नहीं है, यत्र-तत्र वह प्रान्तीयता से आक्रान्त है। व्याकरण का शैथिल्य खटकता है परन्तु जब पात्र भावावेग में होते हैं तो यह दोष स्वाभाविक जान पड़ता है। नाटक के सम्वादों में शैथिल्य नहीं है—प्रकृत चोट है। वे कथानक को बिना भार के लक्ष्य तक पहुँचाते हैं और पात्रों के चरित्र में जीवन भरते हैं। चन्द्रकला और मनोरमा के सम्वादों में द्विजेन्द्रलाल राय और जयशंकर प्रसाद का भावप्रवणतामय आवेग स्पष्ट लक्षित है।

इब्सन ने यूरोप के नाटकों को जिस काव्यातिरेक और आदर्श से मुक्ति दी उसी की प्राण-प्रतिष्ठा इस तथाकथित इब्सनवादी नाटक में की गई है। इसे राष्ट्रीय वैशिष्ट्य कहें या तन्त्र-दोष, इसका निर्णय पाठक पर छोड़ते हैं। 'सिन्दूर की होली' की आलोचना यदि एक वाक्य में की जाय तो यही कहा जा सकता है कि—यह जीवन के लिए नहीं है, कला के लिए है; समाज के लिए नहीं है, व्यक्ति के लिए है।

'सिन्दूर की होली' की समस्याएँ

नाटक में समस्याओं का स्थान

समस्या-नाटकों का मूल स्वर—समस्या का यथार्थ चित्रण होता है। समाज की बुराइयों को जैसा का तैसा उपस्थित कर देना—समस्या नाटक का प्राण-तत्त्व होता है। समस्या का प्रधान रूप से विवेचन होने के कारण शेष सभी तत्त्व गौण बनकर आते हैं। नाटकीय तत्त्वों की अवहेलना और समस्या का मुख्य रूप से चित्रण—नाटककार का अभिप्रेत होता है। नाटक में केवल समस्या का विवेचन किया जाता है, उसका समाधान या निर्णय प्रस्तुत करना नाटककार का उद्देश्य नहीं होता। नाटककार तो समस्या के नग्न रूप को समाज के सम्मुख रख देता है, समस्या के सुलझाने का कार्य दर्शक पर छोड़ दिया जाता है। समस्या-नाटकों में रूढ़ि और परम्परा का खोखलापन दिखा कर दर्शक के मन में उनके प्रति विद्रोह-भावना को उत्पन्न करने का प्रयास किया जाता है।

'सिन्दूर की होली' और समस्याएँ

मिश्र जी ने इब्सन, बरनर्ड शा आदि प्रमुख नाटककारों के विचारों और भावनाओं से प्रेरित होकर हिन्दी नाट्य-साहित्य में 'समस्या-नाटक' नवीन धारा का श्रीगणेश किया। पाश्चात्य शिक्षा और समाज में बुद्धि-तत्त्व, नैसर्गिकता, स्वतन्त्रता आदि गुणों का समावेश होने लगा था और इब्सन ने अपने नाटकों में कपोलकल्पना, कृत्रिमता, आडम्बर, पाखण्ड और खोखले आदर्शवाद के विरुद्ध इसी ध्वनि की स्थापना की। इब्सन पुरानी परिपाटी को काल्पनिक, मिथ्या और विचार-शून्य मनोविकारों का कृत्रिम उद्गार समझता था। मनोरंजन को गौण और प्राकृतिक जीवन की समस्याओं को प्रधान स्थान दिया गया। उसने मनुष्य के वैयक्तिक जीवन को सामाजिक जीवन से अधिक महत्व दिया क्योंकि वैयक्तिक जीवन की सुन्दरता पर समाज और सभ्यता की उन्नति अवलम्बित है। व्यक्ति और समाज के घात-प्रतिघात में इब्सन ने अपनी सारी शक्ति व्यक्ति

की रक्षा में लगा दी। मिश्र जी के नाटक यद्यपि इन्हीं विचारों से प्रेरणा लेकर लिखे गये हैं किन्तु वे पूर्णरूप से इब्सन के अनुयायी नहीं। इब्सन के नाटकों में बुद्धिवाद, वैयक्तिक स्वतन्त्रता का समर्थन तथा सामाजिक रूढ़ियों का खोखलापन दिखाकर उनका विरोध किया गया है। मिश्रजी के नाटकों में परम्परा की स्थापना और नवीन शिक्षा से उत्पन्न स्त्री-स्वातन्त्र्य आदि का विरोध किया गया है। नन्ददुलारे वाजपेयी का यही विचार है, "जिस विशेष अर्थ में 'समस्या-नाटक' का शब्द प्रयोग होता है—समस्या नाटकों की विचार सम्बन्धी क्रांतदर्शी धारणा द्वारा हमारे जाने-माने विचारों का खोखलापन दिखाने की जो पद्धति है, उस अर्थ में लक्ष्मीनारायण मिश्र के अनेक नाटक समस्यामूलक नहीं हैं और पाश्चात्य समस्या नाटकों की पद्धति से भिन्न हैं।" मिश्रजी के नाटक पुनरुत्थान-वादी हैं, बौद्धिक नहीं। उनमें भारतीय प्राचीन जीवन को एक नये सिरे से उपस्थित किया गया है। यही कारण है कि वे अपने को भारतीय परम्परा का नाटककार कहते हैं। किन्तु बुद्धिजीवी और परम्परावादी—दो भिन्न तत्त्व एक स्थान पर संगठित नहीं हो सकते। नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है कि उनके नाटकों की भारतीय परम्परा समस्यामूलक नाटकों की निरोधी है।

इब्सन आदि पाश्चात्य नाटककारों ने अधिकतर अपने नाटकों की किसी एक या दो समस्याओं को लेकर रचनायें की हैं। एक नाटक में एक या दो समस्याओं को ही स्थान दिया जाता है। मिश्रजी ने 'सिन्दूर की होली' में अनेक समस्याओं को उपस्थित किया है। कुछ समस्यायें ऐसी हैं जिनका नाटककार ने संकेत भर कर दिया है, और कुछ नाटक के अन्त तक चलती हैं। 'सिन्दूर की होली' की समस्यायें निम्नलिखित हैं—

१. उच्च अधिकारियों में अर्थ-लोलुपता और उत्कोच की समस्या,
२. जमींदारी का आतंक और सामाजिक विषमता की समस्या,
३. अधिकारियों की स्वेच्छा और निरंकुशता की समस्या,
४. पट्टीदार की समस्या,
५. प्राचीन और नवीन विचारों के संघर्ष की समस्या,
६. न्यायालय में अन्याय की समस्या,
७. यौन समस्या :—
   (क) विवाह से पूर्व की समस्या,
   (ख) बाल-विवाह की समस्या,
   (ग) विधवा-विवाह की समस्या,
   (घ) तलाक की समस्या।

१. उच्च अधिकारियों में अर्थ-लोलुपता और उत्कोच की समस्या

मुरारीलाल के चरित्र की अवतारणा कर नाटककार ने अंग्रेज शासनीय उच्च अधिकारियों की धन-लोलुपता और उसके लिए रिश्वत लेने की समस्या को बड़ी सफलता से चित्रित किया है। रिश्वत लेना अधिकारियों में सामान्य बात हो गयी है। हरनन्दन सिंह इसी रिश्वत के बारे में कहता है—'इस जिले में कोई ऐसा अफसर नहीं है जो इनकी तबियत न जानता हो। लाखों रुपया इन्होंने हाकिमों के लिए खर्च कर दिया।' मुरारीलाल रिश्वत लेता है किन्तु छिपाकर नहीं। वह उत्कोच लेना अपना कर्त्तव्य समझता है, बुराई को बुराई से काटना चाहता है। उसकी यह धन-लोलुपता खून करने और हत्याओं में सहायता प्रदान करने में भी नहीं हिचकती। मुरारीलाल के चरित्र से समाज की इस बुराई को बड़ी सफलता से चित्रित किया गया है।

२. जमींदारी का आतंक और सामाजिक विषमता की समस्या

इस समस्या का विवेचन विस्तार से नहीं—हरनन्दन और भगवन्तसिंह के माध्यम से इस समस्या का उल्लेख—लाखों रुपया लूटकर जमींदार लोग अपना घर भर लेते हैं—हरनन्दन तथा भगवन्तसिंह जमींदार के रूप में—मुरारीलाल भगवन्तसिंह के विषय में कहता है—"मैं खूब जानता हूँ। भगवन्त बड़ा जालिम है। लाखों रुपये, रैयत को लूटकर जमा कर लिये हैं।"

भगवन्तसिंह अपने धन के कारण रायसाहब का खिताब प्राप्त कर लेता है। सारा इलाका उसके रोब में है। जो चाहता है, कर लेता है। झूठ सच से जितना चाहता है, लगान वसूल कर लेता है। भगवन्त रजनीकान्त का का खून तक करा देना चाहता है, और वह करा भी देता है। नाटककार जमींदारों के आतंक, निरंकुशता का तो चित्रण करता है किन्तु साथ ही इससे सामाजिक विषमता का संकेत भी मिल जाता है। गरीब अधिक गरीब होते जाते हैं और धनी अधिक धनी। किन्तु जमींदारी तथा सामाजिक विषमता की यह समस्या सम-सामयिक ही नाटक में आई है, नाटककार ने अलग से इसका चित्रण नहीं किया।

३. अधिकारियों की स्वेच्छा और निरंकुशता की समस्या

मुरारीलाल और भगवन्तसिंह से इस समस्या का संकेत—मुरारीलाल डिप्टी कलक्टर है और भगवन्तसिंह रायसाहब और आनरेरी मजिस्ट्रेट—दोनों ही अपनी इच्छा और स्वार्थ के लिए जो उचित होता है करते हैं—न्यायाधीश होने पर भी कानून उनके लिए कोई वस्तु नहीं—दूसरों का धन लूटना, हत्याओं के षड्यन्त्र में भाग लेना, हत्यायें कराना, अपना स्वार्थ सिद्ध करना, दूसरे के लूटे

माल को लूट लेना, अपने स्वार्थ के लिए जनता का ध्यान न करना आदि ही उनके कार्य हैं। उच्च अधिकारियों की यह निरंकुशता और स्वेच्छाचारिता आज भी एक समस्या के रूप में वर्तमान है।

४. पट्टीदारी की समस्या

समस्या का केवल संकेत मात्र—केवल प्रथम अंक में ही उल्लेख—हरनन्दनसिंह और रजनीकान्त परस्पर रिश्तेदार हैं। हरनन्दन भगवन्तसिंह से कुछ रुपये उधार लेता है किन्तु लौटा नहीं पाता। भगवन्तसिंह उसकी जायदाद हड़पना चाहता है और रजनीकान्त से उसकी शत्रुता है। ये लोग रजनीकान्त की सम्पत्ति हड़पना चाहते हैं, भगवन्तसिंह के साथ उसकी पत्ती चलती है—भगवन्तसिंह उसके आने-दो आने की पत्ती को हली हुकूमत नहीं देना चाहता, वह कहता है—"यह दस हजार इसलिए दिया है कि आने दो-आने के पट्टीदारों को भी हली हुकूमत मिले ? जंगल में दो शेर नहीं रहते।······पट्टीदार और दाल तो गलाने की चीजें होती हैं। दाल गल जाने पर मीठी होती है और पट्टीदार गल जाने पर काबू में रहता है।" भगवन्तसिंह अन्त में उसकी हत्या करवा देता है। पट्टीदार के दुर्बल और अंग्रेजी अफसर न होने का परिणाम सामने आ जाता है।

५. प्राचीन और नवीन विचारों के संघर्ष की समस्या

उपर्युक्त समस्याओं से अधिक महत्वपूर्ण—स्वयं नाटककार ने इस समस्या के चित्रण में रुचि ली है। नवीन शिक्षा और विचारों की प्रतिनिधि 'चन्द्रकला' तथा भारतीय प्राचीन आदर्शों और विचारों की अनुयायी 'मनोरमा' है। चन्द्रकला नवीन शिक्षा, स्त्री-स्वातन्त्र्य, उन्मुक्त प्रणय, स्वच्छन्दता की प्रबल समर्थक है—प्राचीन रूढ़ियों और परम्पराओं की कटु आलोचक—मनोरमा का पालन प्राचीन आदर्शों में होता है और वह स्वयं प्राचीन आदर्शों को जीवन में अपना लेती है—समाज के आदर्शों को रूढ़ि और परम्परा कहकर उनका चन्द्रकला के समान विरोध नहीं करती बल्कि सतर्क उनकी स्थापना करती है—नवीन शिक्षा, स्त्री-स्वतन्त्रता आदि नवीन विचारधारा से पूर्ण रूप से परिचित है और वह उनका विरोध भी करती है—वह कहती है कि आज दिन के नये विचार जो संसार को एकदम स्वर्ग बना देना चाहते हैं, पूर्ण रूप से आदर्श विहीन हैं। सामाजिक जीवन के लिए रूढ़ि और परम्परा का पालन अनिवार्य है। उधर चन्द्रचला रूढ़ि और परम्पराओं का खुलकर विरोध करती है। मुरारीलाल भी चन्द्रकला की नवीन शिक्षा और विचारों की आलोचना करता है। नाटककार ने अपना पक्ष मनोरमा के साथ रखा है और वह

भारतीय प्राचीन आदर्श और विचारधारा का समर्थक है। इस दृष्टि से समस्या-नाटकों में जो रूढ़ि और परम्पराओं का खोखलापन दिखाकर उसकी कटु आलोचना दिखाई जाती है, वह यहाँ प्राप्य नहीं। नाटककार स्वयं पुरानी परिपाटी का समर्थक है।

६. न्यायालय में अन्याय की समस्या

मुरारीलाल न्यायाधीश के रूप में आता है और उसी के चरित्र से इस समस्या का संकेत मिलता है। आधुनिक न्याय-व्यवस्था निरपराध की रक्षा और अपराधी को दण्ड देने के लिए नहीं है बल्कि कानून की रक्षा उसका प्रमुख कार्य है। आज गवाहों को कुछ रुपये देकर अपनी ओर किये जा सकते हैं और अपराधी भी साफ बच सकता है। मुरारीलाल कहता भी है—"आज इसने दस हजार दिया है। दस-दस रुपया देकर यह गवाहों को बिगाड़ देता। एक हजाद खर्च नहीं होता और यह छूट जाता। आजकल का कानून ही ऐसा है। इसमें सजा उसको नहीं दी जाती जो कि अपराध करता है, सजा तो केवल उसकी होती है जो अपराध छिपाना नहीं जानता।.......हम लोग मनुष्य और उसके अधिकार की रक्षा के लिएं कुर्सी पर नहीं बैठते—हम लोगों का तो काम है कानून की रक्षा करना।" आज के न्याय में सबूत के बिना कोई भी अपराधी दंडित नहीं हो सकता। न्यायालयों में इसी न्याय और अन्याय की समस्या को नाटक में उठाया गया है। नाटककार ने यद्यपि इस समस्या को प्रमुखता नहीं दी किन्तु दर्शक इस समस्या से प्रभावित अवश्य होता है और वह इस पर सोचता भी है।

७. यौन समस्या

नाटककार ने यौन समस्या के अन्तर्गत चार समस्याओं को सूक्ष्म तथा विस्तृत रूप में उभारा है; यथा—

(क) विवाह से पूर्व की समस्या

लड़की के विवाह की समस्या—पति के निर्वाचन की स्वतन्त्रता—चन्द्रकला अपने पिता के द्वारा प्रस्तावित पति को स्वीकार नहीं करती—विवाह में स्वतन्त्रता चाहती है—आज समाज में शिक्षित लड़कियाँ इस क्षेत्र में स्वतंत्रता चाहती हैं, इस तथ्य को नाटककार ने स्पष्ट किया है।

(ख) बाल-विवाह की समस्या

नाटककार ने इस समस्या का अलग से उल्लेख नहीं किया किन्तु मनोरमा के चरित्र से स्वतः दर्शक इसे अनुभव करने लगता है। मनोरमा का

विवाह ८ वर्ष की अवस्था में ही हो जाता है। इस छोटी-सी आयु में विवाह के बारे में कुछ भी ज्ञान नहीं होता। तारुण्य की सिहरन क्या होती है, एक १० वर्ष की बालिका क्या जाने ? समाज में यह कुरीति आज भी वर्तमान है। नाटककार ने अपना मत पक्ष अथवा विपक्ष में कहीं भी व्यक्त नहीं किया जिससे ज्ञात हो सके कि उसकी स्थापना क्या है ?

(ग) विधवा-विवाह की समस्या

मनोरमा के रूप में—नाटककार ने इस समस्या में रुचि ली है—मुरारीलाल और मनोजशंकर विधवा-विवाह के पक्ष में हैं, और दोनों ही मनोरमा से विवाह करने का प्रस्ताव करते हैं—उनका तर्क है कि विधवा समाज के लिए कलंक है और इस कलंक को धोने का सबसे सरल उपाय विधवा-विवाह है—मनोरमा इस तर्क के पक्ष में नहीं—वह विधवा को कलंक नहीं, आदर्श मानती है जो समाज के लिए अत्यधिक उपयोगी है। वह विधवा के साथ-साथ विधुर को इसी दृष्टि से देखती है—स्वयं मनोरमा विधवा होकर विधवा-विवाह की इच्छुक नहीं—वह समाज के आदर्शों और परम्परा में बँधी चलती है। समाज का ठेकेदार 'पुरुष वर्ग' नारी के उद्धार की बात ले विधवा-विवाह का आन्दोलन प्रारम्भ करता है। समाज में बाल-विधवा विवाह की समस्या आज भी मुँह बाये खड़ी है—उसका उचित समाधान विवाह के अतिरिक्त कुछ और नहीं हो सकता किन्तु नाटककार विधवा-विवाह के पक्ष में नहीं है। वह विधवा को समाज का आदर्श मानता है, समाज के लिए उपयोगी मानता है। वह विधवा के साथ ही विधुर को विधुर रहने की बात कहता है। यद्यपि नाटककार ने इस समस्या को विपक्ष में उठाया है, किन्तु उसका यह समाधान आज के बुद्धिवादी युग को स्वीकार नहीं।

(घ) तलाक की समस्या

विधवा-विवाह के साथ इस समस्या का केवल उल्लेख मात्र—नाटककार का मत है कि विधवा-विवाह के प्रारम्भ से तलाक की समस्या का प्रवेश हो जायेगा—विधवा-विवाह का निषेध वह इसीलिए करता है कि नारी-पुरुष दोनों को जीवन में एक ही बार जीवन साथी चुनने का अधिकार होगा तो तलाक का प्रश्न नहीं होता—तलाक की समस्या वहीं उत्पन्न होती है जहाँ एक के स्थान पर अनेक विवाह होने लगते हैं—तलाक नाटककार की दृष्टि से एक भयंकर बुराई है जो समाज को निगल सकती है। मनोरमा कहती है—"वैधव्य तो मिटेगा नहीं—तलाक का आगमन होगा। अभी तक तो केवल वैधव्य की समस्या थी, अब तलाक की समस्या भी आ रही है।" नाटक की इस समस्या का दर्शक पर मार्मिक प्रभाव पड़ता है।

नाटक की मूल समस्या

नाटक की मूल समस्या को जानना आवश्यक होता है, क्योंकि उससे नाटक के लिखने का उद्देश्य ज्ञात हो जाता है। नाटक की सफलता के लिए भी यह आवश्यक है कि दर्शक का ध्यान किसी एक समस्या पर केन्द्रीभूत हो जाय। समस्या दर्शक के मर्म को छू ले, इसी में नाटककार की सफलता निहित है। दर्शक का मन अनेक समस्याओं फँसा रहेगा तो समस्याओं का प्रभाव कम और छिन्न-भिन्न हो जायेगा। 'सिन्दूर की होली' में अनेक समस्याओं की अवतारणा की गई है, कुछ का संकेत कर दिया गया है और कुछ प्रमुखता लिये हुए हैं। जमींदारी तथा पट्टीदारी की समस्या केवल समसामयिक महत्त्व रखती हैं, नाटककार का इस समस्या को उपस्थित करना उद्देश्य नहीं। उच्च-अधिकारियों में उत्कोच, स्वेच्छा एवं निरंकुशता की समस्या—नाटक में महत्त्व अवश्य रखती है और अफसरों का यथार्थ चित्रण कर देती है किन्तु नाटककार का यह भी उद्देश्य नहीं है। यह समस्या नाटक में गौण स्थान रखती है। न्यायालय में अन्याय की समस्या भी उपरोक्त समस्या से ही सम्बन्धित है क्योंकि दोनों समस्याएँ एक ही व्यक्ति से सम्बन्ध रखती हैं। शासन के उच्च अधिकारियों के हाथ में न्याय व्यवस्था होती है और वे अपनी स्वेच्छा से जो चाहते हैं कर देते हैं। न्याय और अन्याय को परखने की उन्हें आवश्यकता ही नहीं होती।

नवीन तथा प्राचीन विचारों का संघर्ष तथा यौन-समस्या नाटक की प्रमुख समस्या में आती हैं। नवीन तथा प्राचीन विचारों का संघर्ष भी अधिकतर नारी की समस्याओं को लेकर ही हुआ है। चन्द्रकला स्त्री-स्वातन्त्र्य, विधवा-विवाह की समर्थक है किन्तु मनोरमा इसकी विरोधी। नाटक का अधिकतर क्रियाकलाप विधवा-विवाह आदि यौन समस्याओं को ही लेकर चलता रहा है। यौन समस्या सब समस्याओं की जड़ है—सम्पूर्ण द्वितीय अंक इसी समस्या को लेकर चला है। यद्यपि मुरारीलाल की उत्कोच की समस्या की ओर भी ध्यान जाता है किन्तु जो हृदय को उद्वेलित करती है वह है यौन समस्या, वैधव्य और तलाक की समस्या। यौन समस्या में भी विधवा-विवाह की समस्या नाटक का मूल स्वर है। नाटक का अधिकांश कथानक इसी घटना से घिरा रहता है। विधवा-विवाह की समस्या का चित्रण ही नाटककार का नाटक में उद्देश्य रहा है और वही उसकी प्रेरणा बनी है। नाटककार ने स्वयं एक स्थल पर लिखा है—"एक सुधारवादी कांग्रेसी के यहाँ जो अर्द्धशिक्षित थे, पर समझते थे अपने को सर्वज्ञ, विधवा-विवाह पर बहस हुई। बहस समाप्त होने वाली वस्तु नहीं है। वहीं मैंने संकल्प किया कि इस समस्या पर एक नाटक लिखूँगा और 'सिन्दूर की होली' लिखा गया।"

इस प्रकार विधवा-विवाह की समस्या को मूल समस्या कहा जा सकता है।

क्या 'सिंदूर की होली' में समस्याओं की एकता है ?

'सिन्दूर की होली' में समस्याओं की बहुलता है। नाटककार ने छोटे से नाटक में अनेक समस्याओं को उपस्थित किया है। कुज विद्वानों का मत है कि नाटक में समस्याओं की एकता का अभाव है, प्रमुख समस्या का निर्णय अनेक समस्याओं के होने के कारण अत्यन्त कठिन है। वास्तव में 'सिन्दूर की होली' में इतनी समस्यायें हैं कि उनका प्रभाव दर्शक के हृदय पर अपने अंश के अनुकूल नहीं पड़ पाता। मिश्र जी ने स्वयं एक स्थल पर नाटक में एक या दो समस्याओं को चित्रित करने की बात स्वीकार की है, किन्तु 'सिन्दूर की होली' में वे अपने इस कथन का पालन नहीं कर सके। मूल समस्या को खोज निकालना अत्यन्त कठिन है क्योंकि उसमें समस्याओं को एक सूत्र में नहीं बाँधा गया। नन्ददुलारे बाजपेयी ने लिखा है—"समस्या की यह एकता मिश्रजी के प्रारम्भिक नाटकों में नहीं पाई जाती। उनके प्रारम्भिक नाटकों में इतने प्रश्न आये हैं कि नाटक की प्रमुख समस्या क्या है, इसका निर्णय कठिन हो जाता है। 'सिन्दूर की होली' में आखिर क्या समस्या मानी जाय ? नारी की मनोभावना समस्या के रूप में उपस्थित की गई है किन्तु वह वस्तुतः कोई समस्या नहीं है, मनोवृत्ति मात्र।.........उनके नाटकों में या तो समस्यायें इतनी बड़ी होती हैं कि उनको संभाल पाना कठिन हो जाता है या एक ही नाटक में इतनी समस्यायें उलझी रहती हैं कि वे स्पष्ट नहीं हो पातीं। 'सिन्दूर की होली' की समस्या स्पष्ट नहीं हो सकी।"

वाजपेयी जी के तर्क से कोई असहमत नहीं हो सकता—आलोचना उचित और यथार्थ। समस्या के एक न होने के कारण दर्शक का ध्यान विभक्त हो जाता है, दूसरे यह स्पष्ट नहीं होता कि नाटककार वास्तव में किस समस्या को प्रमुखता प्रदान कर रहा है। किन्तु यदि हम नाटककार की घोषणा का ध्यान रखें तो इस समस्या का समाधान सम्भव है। किन्तु फिर भी समस्या-नाटक की विशेषता के अनुसार नाटक में एक या दो समस्याएँ ही उपस्थित हो सकती हैं। मिश्र जी ने इस तत्त्व का भी कोई ध्यान नहीं रखा जिस कारण नाटक में समस्याओं की एकता नहीं रह पाई और उनका प्रकार भी मर्मस्पर्शी न हो सका।

२८

हिन्दी-एकांकी

•

प्रस्तावना

पिछले बीस वर्षों में हिन्दी नाट्य-साहित्य में एकांकी ने जो आशातीत और अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की है, और जिस प्रकार इसकी श्रीवृद्धि हुई है उसने आलोचकों और साहित्य-मर्मज्ञों को अपनी ओर खींच लिया है और वे गम्भीरतापूर्वक इसके साहित्यिक रूप और रचना-कौशल पर विचार करने लगे हैं। कहीं-कहीं तो इसका शास्त्रीय विवेचन भी प्रारम्भ हो गया है।

अपने सुप्रसिद्ध साहित्य के इतिहास में एकांकी के प्रति विचार प्रकट करते हुए गुरुवर पं० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—"दो-एक व्यक्ति अंग्रेजी में एक अंक वाले नाटक देख उन्हीं के ढङ्ग के दो-एक एकांकी नाटक लिखकर उन्हें बिलकुल एक नई चीज कहते हुए सामने लाये। ऐसे लोगों को जान रखना चाहिए कि एक अंक वाले कई उपरूपक हमारे बहुत पहले से माने गए हैं।" इस कथन का अर्थ मेरे विचार में केवल इतना ही होना चाहिए कि एकांकी जैसा साहित्य रूप भारतवासियों के लिये नया नहीं है। वैसे आधुनिक हिन्दी-एकांकी नाटक के लिए पश्चिम का ऋण निस्संकोच रूप से स्वीकार करना पड़ेगा। इसे सिद्ध करना आवश्यक है।

भारतीय और अंग्रेजी एकांकी

भारत का नाट्य-साहित्य बहुत प्राचीन है। संस्कृत साहित्य में नाटकों के अनेक भेद-उपभेद प्राप्त होते हैं। आचार्यों ने दृश्य-काव्यों के दो भेद किये हैं—(१) रूपक, और (२) उपरूपक। रूपक के १० और उपरूपक के १८ भेद हैं। इनमें भाण, व्यायोग, अंक, वीथी, गोष्ठी, नाट्य रासक, उल्लाप्य, प्रेंखल, रासक, हल्लीश और भाणिका—को एकांकी कहा जा सकता है। भास का 'ऊरुभंग' कुछ-कुछ एकांकी माना जा सकता है। यह अवश्य है कि आचार्यों ने इन एकांकियों को अपने सिद्धान्तों के अनुसार बनाया था। पूर्वी और पश्चिमी; दोनों देशों के नाटककारों के सिद्धान्तों के तुलनात्मक अध्ययन से यह बात स्पष्ट प्रगट हो जायगी कि पुराने पूर्वी सिद्धान्त आज के पश्चिमी सिद्धान्तों से सर्वथा भिन्न थे।

अब अंग्रेजी एकांकी के विकास और उसकी शैली पर विचार कर लीजिए—तो यह स्पष्ट हो जायगा कि हिन्दी एकांकी—अंग्रेजी साहित्य के एकांकियों से प्रभावित है। ब्रिटेन के एकांकियों के प्रचलन का बड़ा रोचक और विचित्र इतिहास है। लगभग ७०–८० वर्ष पूर्व वहाँ के रंगमंच के अधिकारी समय से पूर्व आने वाले सामाजिकों के मनोरंजनार्थ एक छोटे-मोटे नाटक का प्रबन्ध कर दिया करते थे। यह नाटक प्रमुख नाटक से पहले होता था। इस प्रकार के नाटक को 'पट-उत्थानक' या 'करटेन रेज़र' अथवा वाडेकिले कहते थे। यह छोटे-छोटे नाटक या तो हास्यरस-प्रधान होते थे या रोमांचकारी।

आज से ठीक ६० वर्ष पूर्व लन्दन के वेस्ट एण्ड थियेटर में १९०३ में 'मंकीजपा' नाम का एक पट-उत्थानक एकांकी खेला गया और उसका अभिनय–पात्र, कथावस्तु की दृष्टि से ऐसा उत्तम बन पड़ा कि उसे देख लेने के पश्चात् दर्शक प्रमुख नाटक को देखे बिना ही चले गये। इन एकांकियों की ओर जन-रुचि का झुकाव देखकर और इससे थियेटर व्यवसाय को हानि पहुँचने की सम्भावना के कारण इनका खेलना बन्द कर दिया गया, किन्तु कालान्तर में इसने अपनी पृथक् सत्ता स्थापित करली और इसका अस्तित्व ही भिन्न हो गया। अंग्रेजी एकांकी के इतिहास से यह सिद्ध हो गया है कि वहाँ एकांकी कभी भी नाटकों का अंग नहीं रहा है। दूसरी बात यह प्रमाणित हुई कि रंग-मंच से करटेन रेज़रों का बहिष्कार एकांकी कला के लिये वरदान बन गया था। रंगमंच से हटकर नाटक साहित्य में एकांकी को स्थान मिला और उसमें बौद्धिकता का प्रवेश हुआ। इससे पहले एकांकी केवल मनोरंजन का साधन था, उसमें न तो अच्छी कल्पना होती थी और न व्यापक प्रभाव। बौद्धिकता के प्रताप से एकांकी में

प्रभावोत्पादकता आ गई और कथोपकथन के माध्यम से जीवन के किसी एक भाग की झाँकी करा देने की क्षमता उसमें आप से आप निहित हो गई।

विदेशों में एकांकी

कहा जा सकता है कि आधुनिक साहित्य में एकांकी एक नया प्रयोग है। मध्य-काल के जापानी साहित्य में एकांकी से मिलते-जुलते नाटकों का उल्लेख है। समय की पाबन्दी, उनकी पहली विशेषता थी। इन कुछ नाटकों को 'नो' कहा जाता था। अंग्रेजी के प्रारम्भिक नाटक 'मिराकेल एण्ड मिस्ट्रीज' अपने वास्तविक रूप में एकांकी ही थे। 'दी फोर पोज एकांकी' हास्यरूपक ही है। बड़े दिन के पर्व पर खेले जाने वाले नाटक अक्सर एकांकी ही होते थे। ऐसे एक एकांकी का उल्लेख थामस हार्डी ने अपने 'रिटर्न आफ दी नेटिव' में किया है। अंग्रेजी साहित्य में भी प्राचीन एकांकी एक अंक की दृष्टि से ही एकांकी थे और उनमें संवादों का ही बाहुल्य था। नाटक की अन्य विशेषताएँ उनमें नाम मात्र को भी न थीं। इस दृष्टि से एकांकी नवीन होते हुए भी नवीन नहीं हैं। पुराने एकांकियों में प्रभाव की दृष्टि से कोई गुण नहीं था पर आज एकांकी ने अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त करली है और कई अंग्रेज लेखकों के एकांकी अपनी कला में श्रेष्ठता प्राप्त कर चुके हैं और आदर्श बन चुके हैं। सिन्जे का 'रेडरस-टू-दी-सी', लार्ड डनसेनी की 'ए-नाइट-इन-ऐन-इन', ओनील का 'इली' उच्च-कोटि के एकांकी हैं। इंगलैण्ड में 'लिटिल थियेटर' और रिपस्टोरी थियेटरों ने इनके विकास में बड़ा योग दिया है। संक्षेप में सन् १९३३ तक इन एकांकियों की लोकप्रियता इतनी बढ़ी कि उसके बाद जोन्स, पिनरो, चैखव और शा जैसे श्रेष्ठ नाटककारों ने एकांकी लिखना आरम्भ कर दिया। आज इंगलैण्ड में अनेक सुप्रसिद्ध लेखकों ने जहाँ उपन्यास, कहानी और अन्य प्रकार की रचनाएँ लिखी हैं वहाँ एकांकी लिखकर भी इस साहित्य को सम्मान प्रदान किया है। इनमें जेम्स ब्रिडी का 'दी अनाटमिस्ट' तथा तोइल का 'वर्ड' का 'ईजी वरचू' प्रसिद्ध हैं। एकांकी की इस उन्नति का श्रेय 'समयाभाव' संक्षिप्तता की प्रवृत्ति को उतना नहीं है जितना नवीन-शैली और घटनाओं की विविधता को है। आज एकांकी को हम अपूर्ण रचना नहीं कह सकते हैं। यह एक पूर्ण साहित्यिक विधा है और परिपक्व बुद्धि का परिचायक है। हिन्दी के एकांकी अंग्रेजी एकांकी से प्रभावित हैं, यह बात उनकी रचना-विधि और कला दोनों से प्रत्यक्ष है। इनकी शैली वही है जो अंग्रेजी एकांकी की है। हिन्दी में दो प्रकार के एकांकी मिलते हैं। प्रथम तो वे हैं जो संस्कृत साहित्य के प्राचीन

एकांकी नाटकों की शैली को अपनाए हुए हैं और दूसरे वे जो पश्चिमी प्रणाली से प्रभावित हैं। प्रथम प्रकार के एकांकी प्रसाद जी तक ही बहुत थोड़ी संख्या में मिलते हैं। उदयशंकर भट्ट का 'विश्वामित्र' इस प्रकार का एकांकी कहा जा सकता है, किन्तु अन्य सभी नाटककारों ने पश्चिमी प्रणाली को ही अपनाया है। डाक्टर रामकुमार वर्मा, भुवनेश्वर प्रसाद, भगवती चरण वर्मा—सबके सब इसी प्रणाली के लेखक हैं।

हिन्दी एकांकी का आरम्भ

हिन्दी एकांकी का आरम्भ कब से माना जाय, इस विषय में जितने मुँह उतनी बातें प्रचलित हैं। डाक्टर सत्येन्द्र, डाक्टर दशरथ ओझा, प्रो० रामचरण महेन्द्र ने हिन्दी एकांकी का आरम्भ भारतेन्दु युग से माना है और हिन्दी का प्रथम एकांकीकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को निश्चित किया है। डाक्टर एस० पी० खत्री, जैनेन्द्रकुमार आदि ने एकांकी का विकास पश्चिम के अनुकरण पर माना है। ऐसा लगता है कि आरम्भ में एकांकी के सम्बन्ध में कुछ विद्वान् एक निश्चित धारणा नहीं बना सके, इसलिए १५ दृश्यों वाले 'अमरसिंह राठौर' को भी एकांकी कहा गया और एक दृश्य वाले 'ग्राम पाठशाला' को भी। इसीलिए प्रतापनारायण मिश्र के 'कलिकौतुक' को एकांकी कहा गया (डाक्टर सत्येन्द्र) और डाक्टर दशरथ ओझा जी ने 'विषस्य विषमौषम्' और 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवित' को भी एकांकी माना। ओझा जी ने तो प्रेमघन जी के 'भारत-सौभाग्य' नाटक को भी एकांकी माना है। इसमें केवल ९३ पात्र हैं।

एक मत यह भी है कि भारतेन्दु काल के एकांकी अधिकांश में 'लघु-रूपक' ही हैं। इसी समय के लिखे चार लघु रूपक और मिलते हैं जिनके रचियता हैं श्री काशीनाथ खत्री। इनके नाम हैं—(१) सिन्धु देश की राज-कुमारियाँ, (२) गुन्नार की रानी, (३) ग्राम पाठशाला, (४) निकृष्ट नौकरी। इन एकांकियों की रचना १८८३-८४ ईसवी के आसपास की है। इनमें से प्रथम दो, प्रारम्भ, विकास और अंत की दृष्टि से आधुनिक एकांकी के बहुत कुछ समीप हैं। 'सिन्धु देश की राजकुमारियाँ' में कथा संक्षेप में यह है कि सिन्धु की विजय के बाद मुहम्मद बिन कासिम राजा की दो कन्याओं पर आसक्त हो जाता है और दोनों राजकुमारियाँ खलीफा के पास बगदाद पहुँचने पर उससे यह कह देती हैं कि वे उसकी झूठी पत्तल हैं। इस पर कासिम की खाल खिंचने का हुक्म होता है। कासिम की खाल देखकर राजकुमारी को खेद होता है और वह झूठ स्वीकार करके सहर्ष फांसी पर चढ़ जाती है।

इस एकांकी में स्थल ऐक्य नहीं है—कार्य ऐक्य है, संघर्ष है, लक्ष्य एक है, रंग-संकेत विस्तृत हैं, पात्र केवल चार-पांच है।

'गुन्नार की रानी' में भी एक कथा है---स्थान ऐक्य है, संघर्ष है और विस्तृत संकेत हैं। अमीर रानी को अपनी बनाना चाहता है और विषाक्त पोशाक पहन कर मर जाता है। 'ग्राम पाठशाला' व 'निकृष्ट नौकरी' दोनों में रंग-संकेत तो आधुनिक हैं, पर शेष और कुछ नया नहीं है। इनमें सूत्रधार भी हैं।

इन दो लघु रूपकों को देखने से ऐसा लगता है कि हिन्दी में अंग्रेजी से भी पहले 'एकांकी' लिखा गया है, पर इसका महत्व ऐतिहासिक ही है, इससे अधिक नहीं, क्योंकि आगे की परम्परा इसके आधार पर नहीं चली है। अतः उन्हें हिन्दी का प्रथम एकांकीकार कहना उचित न होगा।

कुछ आलोचक कविवर प्रसाद को हिन्दी का प्रथम एकांकीकार मानते हैं और 'एक घूँट' को हिन्दी का प्रथम एकांकी। इसे मानना ही पड़ेगा कि प्रसाद ने अपनी नाट्यकला में पूर्वी और पश्चिमी दृष्टिकोणों को किसी हद तक एक करने का प्रयास किया है किन्तु 'एक घूँट' को हिन्दी का प्रथम एकांकी मान लेना एक कड़वा घूँट है जो जल्दी गले के नीचे नहीं उतरता है। इस मत के प्रबल समर्थक बच्चनसिंह जी भी एक घूँट को संवाद, कार्य, गत्वरता आदि सभी दृष्टि से पुरानी परिपाटी का मानते हैं।

श्रीयुत वेदपाल खन्ना जी एकांकी के विकास की पहली अवस्था श्री भारतेन्दु से १९२९ तक मानते हैं। वे 'एक घूँट' को एक महत्वपूर्ण आरम्भिक एकांकी मानते हुए भी यह स्वीकार करते हैं कि 'एक घूँट' से भी हिन्दी के लेखकों को एकांकी लिखने की प्रेरणा नहीं मिल सकी। खन्ना जी एकांकी के विकास की दूसरी अवस्था सन् १९३५ तक, और विकास की तीसरी अवस्था का श्रीगणेश वे भुवनेश्वर के 'कारवाँ' (१९३५) के प्रकाशन से मानते हैं। उसी समय से हिन्दी के लेखकों ने ओनील, शा और गाल्सवर्दी से प्रेरणा ग्रहण की और बुद्धिवाद और यथार्थवाद के आधार पर रचनाएँ लिखना प्रारम्भ कर दिया। यहीं एकांकीकारों के दो दल हो गए और उसकी रूपरेखा का रेखाचित्र मांसल हो गया। प्रथम वे कलाकार थे—जिन्होंने नाट्यविधान तो पश्चिम से लिया पर भारतीय कथानक, वातावरण और दृष्टिकोण का उपयोग किया। दूसरे वे कलाकार थे जिन्होंने विधा ने साथ-साथ समस्याएँ, तर्क और वातावरण सब कुछ विदेश से लिया।

अब तक के विवरण से यह प्रकट है कि हिन्दी का एकांकी साहित्य अपनी टेकनिक के लिए अंग्रेजी साहित्य का आभारी है। अब एकांकी कला के गुण और दोष तथा उसके रचना-विधान पर विचार करना आवश्यक है। इस प्रश्न का हल प्रस्तुत करने से पूर्व मैं स्पष्ट शब्दों में कह देना चाहता हूँ कि

मेरी अपनी नम्र सम्पत्तियों में डाक्टर रामकुमार वर्मा का एकांकी 'बादल की मृत्यु' सच्चे अर्थ में हिन्दी का प्रथम एकांकी है। यह सन् १९३० की रचना है। इसे कुछ लोग नाटक न कहकर अभिनयात्मक गद्य-काव्य भी कहते हैं। इस प्रकार सन् १९४० तक हिन्दी एकांकी साहित्य में अपना स्थान प्रतिष्ठित कर चुका था। तदनन्तर एकांकी के क्षेत्र में और भी प्रगति हुई है, और इस दिशा में नए प्रयोग भी किए गए हैं और दिन प्रतिदिन मौलिकता का विस्तार होता चला आ रहा है।

एकांकी का कला-विधान तथा अन्य साहित्यिक विधाएँ

साधारण रीति से 'एकांकी' उस नाटकीय रचना का नाम है जिसमें एक अंक हो, पर 'एकांकी' कहलाने के लिए केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है। एकांकी अपने मूल रूप में इससे अधिक है और इससे आगे है। किसी लेखक ने लिखा है कि नाटक लिखने की अपेक्षा एकांकी लिखना अधिक कठिन है। बात भी कुछ ऐसी ही है। नाटक और एकांकी में कलेवर के अतिरिक्त वस्तु और शैली—दोनों में महान् अंतर है। थोड़े में बहुत कुछ कहना जिस प्रकार सबको नहीं आता वैसे ही सब नाटककार सफल एकांकी नहीं लिख सकते हैं। एकांकी जीवन के एक पहलू की मार्मिक अभिव्यक्ति है जो कहानी से अधिक प्रभावपूर्ण है।

कहानी की शक्ति कहने के ढग पर है और एकांकी नाटक की उसकी गति पर है। इसमें किसी महत्वपूर्ण अथवा मार्मिक घटना का वर्णन थोड़े से शब्दों में अधिक से अधिक सुन्दर प्रभावशाली ढंग से करना होता है। नाटक और उपन्यास में जीवन के अनेक चित्र, अनेक घटनाएँ और कार्य रहते हैं, पर एकांकी केवल एक अनुभव और जीवन का एक छोटा अंश मात्र होता है। इससे स्पष्ट है कि इसमें विचार या भाव को खूब दबाकर रखना होता है। इसमें लेखक को एक घटना-विशेष के कथन में ही अपना सारा कौशल लगा होता है और उसे अधिक से अधिक प्रभावशाली बनाना होता है तथा नाटकीय प्रभाव की रक्षा भी करनी होती है।

एकांकी के लिए कार्य की एकता, समय की एकता, स्थान की एकता; सब अत्यन्त आवश्यक हैं। इनके पालन किए बिना अच्छा एकांकी लिखा ही नहीं जा सकता। कार्य की एकता और समय की एकता से आकस्मिकता की सृष्टि आप से आप हो जाती है और कौतूहल से नाटकीय प्रभाव बढ़ जाता है। 'कौतूहल' एकांकी का प्राण है। एकांकीकार को विषय के चयन में बहुत ही सावधान रहना होता है और उसके शीर्षकों में ही उसका आधा कुतूहल सुरक्षित

रहता है। फिर उसे विषय के निर्वाह में यह ध्यान रखना पड़ता है कि उसके कथानक में अन्त तक स्थायी रोचकता बनी रहे।

संवाद सभी नाटकों का मूल तत्त्व है, पर एकांकी का तो वह हड्डी का गूदा है। स्वगत को एकांकी में कोई स्थान नहीं है और न लम्बे भाषण को, उसकी तो जान है—संक्षिप्त और तथ्य पर प्रकाश डालने वाली उक्ति जिससे कार्य-क्षमता और गति बढ़ती है।

एकांकी में अधिक पात्र भी अशोभित लगते हैं। प्रधानता तो दो पात्रों को ही होनी चाहिए। प्रत्येक का अपना कार्य होना चाहिए और पात्रों के कथन उनके मानसिक संघर्ष के प्रतीक हों। प्रत्येक पात्र का कुछ न कुछ ऐसा उद्देश्य हो जिससे कथानक को गति मिले, प्रकाश मिले।

एकांकी के रंग-संकेत उसकी अपनी निजी विशेषता हैं। इसके आधार पर नाटककार बहुत कुछ कह देता है और अभिनय में सहायता पहुँचाता है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि अच्छे एकांकी में निम्नलिखित बातें अवश्य होनी चाहिए—

१—समय और स्थल की एकता।

२—कथा का एक ही लक्ष्य हो।

३—कथा का आरम्भ अविलम्ब हो।

४—पात्र अधिक न हों।

५—संघर्ष की प्रधानता हो।

६—संक्षिप्त और थोड़े में बहुत कहा जाय।

एकांकी क्यों लिखे जा रहे हैं?

सुन्दर एकांकी की एक अनघड़ कसौटी बन जाने पर अब यहाँ इस प्रश्न पर भी विचार कर लेना चाहिए कि आज एकांकी क्यों—लिखे जा रहे हैं, और उसने नाटक साहित्य में प्राथमिकता क्यों प्राप्त करली है? डाक्टर आरलो विलयम्स नामक एक आलोचक कथन है—

"The days we live are no longer dramatic, or heroic and the concept or personality, so essential to true drama, is being undermined by doctrines of psycho-analysis and group-psychology." सारांश यह है कि आज का युग जिसमें हम रह रहे हैं—न नाटक का युग है और न वीरता का, और व्यक्तित्व की भावना को जो सच्चे नाटक के लिए अति आवश्यक है, मनोविश्लेषणवाद और वर्ग मनो-विज्ञान के सिद्धान्त जड़ें खोद रहे हैं। सत्य तो यह है कि 'काव्येषु नाटकं-

रम्यम्' नाटक समस्त साहित्यिक विधाओं में श्रेष्ठ है और जिस प्रकार वास्तु-कला (आरचीटेक्चर) से ही समस्त मूर्तिकला की उत्पत्ति और विकास हुआ है उसी प्रकार नाटक में एकता, सामाजिकता और व्यक्ति की तुलना में समष्टि की प्रधानता समस्त साहित्यिक विधाओं में अधिक स्पष्ट होती है और शेष सभी काव्यरूप इसी से प्रेरणा ग्रहण करते हैं। एकांकी अपने मूल रूप में नाटक है और उसका प्रभाव भी वही है इसीलिए आज के भम्भड़ के युग में भी उसका प्रचलन इस रूप में अधिक है। अन्य कारण यह हैं कि आज के व्यस्त जीवन में समय का अभाव हो गया है, लेकिन जीवन की सभी वस्तुओं की आवश्यकता बनी हुई है और जीवन की गति तीव्रतर है, विस्तार असहनीय है और तीखा घूँट या थ्रिल की भी समय-समय पर आवश्यकता है। थ्रिल (हड्डियों में लगने वाला या उन्हें हिलाने वाला) एक झटका है, जिसको मनुष्य बहुत पसंद करता है और जिसका स्वागत करता है और जिसके लगने के पश्चात् वह कुछ हल्कापन अनुभव करने लगता है। इस धक्के या झटके से जीवन में जो एकतरफा नशा होता है वह उतर जाता है। लेकिन सावधानी की बात यह है कि यदि वह धक्का देर तक लगता है या हमारे नैतिक सिद्धान्तों को आघात पहुँचाता है, तो उसमें कचोटने के सुख के स्थान पर कम्प या हड़-कम्पन का कष्ट पहुँचता और फिर उसे शोक या धक्का कहेंगे। थ्रिल या कचोटने का सुख तो सब चाहते हैं इसलिए वह एक-इस्टीट्यूशन या संस्था का रूप ग्रहण किए हुए है, क्योंकि इस मधुर कम्पन या कचौटने में जो सुख है उससे स्नायुओं का बोझ उतर जाता है और हमें मानसिक विश्राम मिलता है तथा हम वातावरण की नीरसता के प्रभाव का भी अतिक्रमण कर लेते हैं। यह थ्रिल या कचोटने का सुख या कौतूहल ही एकांकी का मूल तत्त्व है। इसलिए इसका प्रचलन अधिक है और इसके कलात्मक रूप को भी स्वीकार किया गया है।

'सेठ गोविन्ददास अभिनंदन ग्रन्थ' में डाक्टर भोलानाथ तिवारी ने इसे रुचि विशेष का परिणाम माना है और बड़े साहस के साथ लिखा है—"समय के अभाव या अधिकता की इसमें कोई बात नहीं है। स्वर्गीय मित्रवर सूर्य करण पारीक जी ने भी इसे 'शतधा अभिव्यक्त अभिरुचि' का ही फल लिखा है। इसके प्रचार के अन्य साधारण करणों में तीसरा कारण है व्यापक मनोयोग शक्ति का ह्रास, और चौथा कारण है थोड़े समय के मनोरंजन के लिए साहित्यिक मनोरंजन की माँग। पाँचवा कारण है बंगला और अंग्रेजी की देखा-देखी हिन्दी में इस प्रकार की रचना का श्रीगणेश करने की इच्छा; और इधर जो इसकी बाढ़ आयी है और नए-नए रूप प्रचलित हुए हैं, उन सबके लिए तो रेडियो के संचालक और श्रोता ही अधिक उत्तरदायी हैं। इन कारणों में से

कौन-सा कारण हिन्दी में एकांकी के विकास के लिए प्रधान है ? इस विवाद में पड़ना साहित्यिक अभिरुचि के विरुद्ध है। मैं तो यही कहूँगा कि एक नहीं, अनेक कारणों ने इस साहित्यिक रूप के चलन में योग दिया है और सर्वोपरि कारण तो यह है कि इसमें थोड़े में बहुत कहने की क्षमता है। वही इसकी उन्नति के लिए जिम्मेदार है। डाक्टर रामकुमार वर्मा ने एकांकी के विषय में लिखा है—'इसमें विस्तार के अभाव में प्रत्येक घटना कली की भाँति खिलकर, पुष्प की भाँति विकसित हो उठती है। इसमें लता के समान फैलने की उच्छृङ्खलता नहीं है।' मेरे विचार में कली खिलकर ही फूल बनती है और तभी अपने चरम सौंदर्य की पूर्ण अभिव्यक्ति कर पाती है। कली किस प्रकार फूल होती है, यही सौंदर्य प्रेमियों के आकर्षण का विषय है और उसका मन्थर विकास ही उनका सर्वस्व है। एकांकी में भी कथानक का, कली जैसा लगभग पूर्ण विकसित सौंदर्य जब पात्रों और कथोपकथन की सहायता से विकसित होता है तो उसे देखते ही बनता है और वह अन्त तक कुतूहल की रक्षा करके हमारे विस्मय को बनाए रखता है। एक और स्थान पर उन्होंने लिखा है—मेरे सामने एकांकी नाटक की भावना वैसी ही है जैसे एक तितली फूल पर बैठकर उड़ जाय।' एक और स्थान पर उन्होंने एकांकी को 'कामकुसुम' कहा है। एक सज्जन हैं जो इसे भौतिकवादी और अर्थ-प्रधान युग की देन मानते हैं। मेरी समझ में इनके कथन की लम्बी-चौड़ी परीक्षा न करके हमें यह मानकर प्रसन्न हो जाना चाहिए कि 'भौतिकवादी अर्थ-प्रधान' युग भी सर्वथा बुरा नहीं है क्योंकि उसने हमें 'एकांकी' जैसी सुन्दर चीज दी है।

सारांश यह है कि एकांकी की प्रगति का मुख्य कारण उसकी संक्षिप्तता में निहित है। यह न कोरा संवादात्मक अभिभाषण है। और न मात्र अभिनय। कोरे कौतूहल का सृजन भी उसका उद्देश्य नहीं है। उसके लघु कलेवर में चरित्र-चित्रण के लिए भी स्थान है और तर्क-वितर्क के लिए भी। वह अभिनेय भी है और पठनीय भी। मनोविश्लेषण और संघर्ष के लिए उसमें स्थान है। उसे यथार्थवादी रचना भी बनाया गया है और आदर्शवादी भी। वह रंगमंच की कठिनाइयों की ओर उठाया हुआ कदम है और लम्बे नाटकों की अपेक्षा अधिक मार्मिक प्रभाव उत्पन्न करने की क्षमता लिए हुए है।

एकांकी का ऐतिहासिक कालक्रम और मूल्यांकन

इस रूप में प्रचलित होकर जो एकांकी साहित्य हिन्दी साहित्य को उपलब्ध हुआ है—उसका इतिवृत्त असली रूप में तो २५ साल से अधिक पुराना नहीं है, और वह इतना सामयिक है कि उसके समझने और मूल्यांकन

में अटकलबाजी के लिए कोई स्थान नहीं है। यदि हम इसे और पीछे घसीटना चाहें तो अधिक से अधिक भारतेन्दु जी तक खींच सकते हैं। इस खींचतान से अब तक जो कुछ एकांकी के विकास के सम्बन्ध में लिखा गया है उससे गति-विधि ठीक बैठ जायगी और उसकी उम्र कुछ और बढ़ जायगी। जो लोग एकांकी का विकास भारतेन्दु से मानते हैं उनके अनुसार इसके विकास का पहला चरण सन् १८१५ से आरम्भ होना चाहिए और उस समय के एकांकी नहीं, एक अंक के नाटक लिखने वाले अमुक लेखक उस आरम्भ काल के निर्माता हैं। इनमें भारतेन्दु मण्डल के—(१) लाला श्रीनिवासदास का 'प्रहलाद चरित्र', (२) बदरी नारायण चौधरी का 'प्रयाग रामायण', (३) राधाचरण गोस्वामी के 'भारत में यवन लोग', 'तन-मन-धन श्री गोसाईं जी के अर्पण' तथा 'अमरसिंह राठौर', (४) कृष्णदेव शरण सिंह का 'माधुरी', (५) बालकृष्ण भट्ट का 'रेल का विकट खेल', (६) प्रतापनारायण मिश्र का 'कलिकौतुक', (७) काशीनाथ खत्री के 'सिन्ध देश की राजकुमारियाँ' और 'गन्नौर की रानी' (८) राधाकृष्णदास का 'धर्मालाप', (९) किशोरीदास गोस्वामी का 'चौपट चपेट', आदि अनेक एकांकी लेखक हैं जिनकी रचनाओं को कुछ लोग एकांकी के पूर्वज के रूप में स्वीकार करना चाहते हैं और कहते हैं कि यदि आप इन्हें इसमें सम्मिलित न कीजिएगा तो अन्याय होगा। एक और आलोचक हैं जो इन लेखकों के विषय में अधिक सहानुभूति-पूर्ण दृष्टिकोण रखते हैं। इस प्रकार के आलोचक इस परम्परा को द्विवेदी-युग में भी विकसित होते हुए देखते हैं और सुदर्शन के (प्रताप प्रतिज्ञा), (राजपूत की हार), (आनरेरी मजिस्ट्रेट); रामनरेश त्रिपाठी के (स्वप्नों के चित्र), दिमागी ऐयाशी); पं० बदरीनाथ भट्ट के (लबड़-धौंधौं), तथा उग्रजी के (चार बेचारे) आदि को भी एकांकी मानते हैं। यह लोग प्रसाद के 'एक घूँट' (१९२९) को भी इस विकास-क्रम में रखते हैं।

इसके विरुद्ध जो लोग एकांकी का विकास प्रसाद के 'एक घूँट' से मानते हैं वे यहीं से श्रीगणेश करते हैं और इस प्रथम चरण को सन् १९३८ तक खींचते हैं। इस काल के प्रमुख एकांकी नाटककार हैं—(१) डा० रामकुमार वर्मा, (२) भुवनेश्वर प्रसाद, (३) उदयशंकर भट्ट, (४) जगदीश चन्द्र माथुर, (५) उपेन्द्रनाथ 'अश्क', (६) गोविन्द वल्लभ पन्त, (७) सुदर्शन, (८) सूर्यकिरण पारीक, (९) सज्जाद जहीर इत्यादि, और क्रमशः इनकी रचनाएँ हैं—

(१) 'बादल की मृत्यु' १९३० ; 'पृथ्वीराज की आखें' १९३६ ; (२) 'प्रतिभा का ब्याह' 'ऊसर'; (३) 'एक ही कब्र में' १९३६; 'वर निर्वाचन' १९३८ ; (४) 'मेरी बाँसुरी' १९३६ ; 'भोर का तारा' १९३७ ; 'कलिंग-विजय' १९३७ ; (५) 'पापी' १९३७; 'अधिकार का रक्षक' १९३८ आदि।

जो लोग इस प्रकार का आग्रह करते हैं उनका ध्यान मैं सन् १६२८ के 'हंस' के एकांकी के विशेषांक की ओर आकर्षित करना चाहूँगा और नम्रता-पूर्वक कहूँगा कि उसमें जो विचार व्यक्त किए गए हैं, उनसे यह स्पष्ट है कि सन् १६२६ तक एकांकी साहित्य का स्वरूप ऐसा नहीं बन पाया था कि उस पर गम्भीरता पूर्वक विचार होता। यह स्थिति सन् १६२६ के बाद ही आई। सन् १६३८ के आसपास तो यह साहित्य इस अवस्था को प्राप्त हो गया कि उसके स्वरूप के सम्बन्ध में उठने वाले सभी विवादों और शंकाओं का अन्त हो गया और एकांकी कला, उसका स्थान और स्वरूप—सब कुछ निर्मित होकर दृढ़ हो गया। सन् १६३८ के बाद तो फिर यह साहित्य पूरे यौवन को पाकर आगे बढ़ा है और अनेक स्वनाम धन्य लेखकों ने इसकी श्रीवृद्धि की है।

सन् १६३६ से १६४७ का समय—इस देश में ही क्या, सारे संसार में कष्ट और आतंक का समय रहा है और उसने ,एकांकी लेखकों का ध्यान स्वतः कल्पना की कोरी उड़ान से वस्तुस्थिति—नोन, तेल, लकड़ी—की ओर खींच लिया और वे अपनी रचनाओं में इनका प्रतिनिधित्व करने लगे। एकांकी यथार्थ-वादी रूप में आगे बढ़ा, पर उसने साहित्यिकता नहीं छोड़ी और न वह प्रचार का वाहन बना। प्रतिकूल इसके १६२८ के हंस में लगाए गए 'विज्ञापन' के अभियोग को मिथ्या सिद्ध कर दिया। पहले बताया जा चुका है कि सन् १६३६ से १६४७ तक की क्रान्तिकारी परिस्थितियों ने एकांकी के विकास को एक नई प्रेरणा दी थी। अब स्वाधीनता के बाद १६४७ से १६६५ के पिछले सत्तर वर्षों के एकांकी साहित्य की गति विधि पर विचार करना शेष रह गया है। इन पन्द्रह वर्षों में जो एकांकी संग्रह प्रकाशित हुए हैं उनके नाम देकर में इस प्रबन्ध को बोझिल नहीं करूँगा। अनुचित न होगा कि पिछले पन्द्रह वर्षों में जो साहित्य लिखा गया है उसका झुकाव यथार्थवाद की ओर अधिक है और कहीं-कहीं ऐसे यथार्थ का भी चित्रण हुआ, जो जनरुचि के अनुकूल भी नहीं है।

एकांकी के नए रूप—रेडियो-नाटक, फैन्टेसी आदि

इन्हीं सत्तरह वर्षों में एकांकी की दो-तीन और विधाएँ चल पड़ी हैं। उनकी चर्चा भी संक्षेप में यहाँ कर लेनी चाहिए। इनमें रेडियो नाटकों पर डाक्टर दशरथ ओझा ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी नाटक: उद्‌भव और विकास' में कोई सम्मति नहीं दी है। उन्होंने कहा कि—'रेडियो-नाटक अभी शैशवावस्था में है, इस पर कहा ही क्या जाय ? भारतवर्ष में रेडियो की स्थापना को हुए अभी ३५ वर्ष ही हुए हैं, पर रेडियो को आज सर्वसम्मति से मनोरंजन के

अतिरिक्त शिक्षा-प्रसार का भी साधन मान लिया गया है और रेडियो स्टेशनों की संख्या बढ़ रही है। तीसरी योजना तक तो चार लाख की आबादी का कोई स्थान नहीं बचेगा जहाँ रेडियो स्टेशन न बनाया जाय। जेबी रेडियो या ट्रांजिस्टर ने इधर इसका प्रचार और भी बढ़ा दिया है, वैसे तो सन् १९५० में इस देश में एक लाख भी रेडियो नहीं थे। अब प्रत्येक रेडियो स्टेशन से प्रति सप्ताह एक-दो नाटक प्रसारित किये जा रहे हैं और अनेक नाटककार रेडियो के लिए लिख भी रहे हैं—जिनमें डाक्टर रामकुमार वर्मा, उदयशंकर भट्ट, जगदीशचन्द्रमाथुर, विष्णु प्रभाकर माचवे, भगवतीचरण वर्मा, भारत भूषण अग्रवाल, देवराज दिनेश, जगदीश खन्ना, गिरजाकुमार माथुर आदि मुख्य हैं। प्रश्न यह है कि यह रेडियो-नाटक हैं क्या ? फैन्टेसी, रेडियो रूपक, रेडियो-नाटक, रेडियो रूपान्तर, ध्वनि रूपक—के नाम से प्रचलित ये पाँच उपभेद क्या हैं ?

यह तो मानना ही होगा कि रेडियो ने नाटकों के क्षेत्र में बड़ा उलट-फेर कर दिया है। नाटक जो अब तक दृश्य-काव्य था, रेडियो की कृपा से श्रव्य-काव्य बन गया है और वर्जित दृश्यों के बन्धन भी टूट गए हैं। जो चीजें—युद्ध, यात्रा आदि—रंग-मंच पर पहले नहीं दिखाई जाती थीं, वे अब सब की सब विज्ञान की सहायता से रेडियो के द्वारा बोधगम्य हो गई हैं। रेडियो नाटकों में नाटक के सब तत्व—केवल संवाद के द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं। इसमें वातावरण का निर्माण ध्वनि द्वारा होता है। इसके 'फेड इन' (fade in) और 'फेड आउट' (fade out) दो तकनीकी शब्द हैं। दूर से 'फेड इन' में ध्वनि धीरे-धीरे स्पष्ट होती है और 'फेड आउट' में धीरे-धीरे लुप्त होती है—वक्ता बोलते-बोलते पीछे हटता जाता है। और, तो और यह मानसिक संघर्ष को भी ध्वनि द्वारा प्रगट करते हैं। दृश्य परिवर्तन के लिए इसमें संगीत का प्रयोग होता है। रेडियो रूपक को 'रेडियो फीचर' भी कहते हैं। बी० बी० सी० में तो 'रेडियो-फीचर' एक स्वतन्त्र विभाग है। द्वितीय महायुद्ध के समय फौज में प्रचार के हेतु किसी घटना को जो नाटकीय रूप दिया गया था उसका नाम ही रेडियो-फीचर' रखा गया था। इसकी परिभाषा के लिए लिखा गया है कि—'वास्तविक घटना का नाटकीय रूप है।' साथ ही न तो यह शुष्क वक्तव्य है और न शुद्ध चित्र। इसमें घटना का संघटन इस प्रकार किया जाता है कि अधिक से अधिक प्रभाव उपस्थित हो सके। ऐसे फीचर दिल्ली या लखनऊ से अक्सर प्रसारित होते हैं। 'दिल्ली की दीवाली' 'दुनिया'—इसी का नाम ध्वनि-रूपक हैं। आंगिक अभिनय और ध्वनि का सामंजस्य इसकी विशेषता है।

१. **रेडियो नाटक**—इसमें गतिशील, कौतूहल वर्धक कथानक का प्रदर्शन

होता है। यह अत्यन्त संक्षिप्त होता है। इसके लिए पहले से पूरे नाटक का ढाँचा तैयार कर लिया जाता है। पात्र कम होते हैं। शीर्षक आकर्षक होता है। यह एक प्रकार से समस्या-प्रधान नाटक है, क्योंकि अरूप का चित्रण इसमें सहज है। डाक्टर रामकुमार वर्मा, धर्मवीर भारती, अश्क, उदय शंकर भट्ट, विष्णु प्रभाकर माचवे, राजाराम शास्त्री, अनिल कुमार, सिद्धनाथ कुमार, विनोद रस्तोगी, अमृतलाल नागर ने इस प्रकार की रचनाएँ लिखी हैं।

२. **रेडियो रूपान्तर**— इसमें बड़े रंगमंचीय नाटकों और उपन्यासों का संक्षिप्त रूप प्रस्तुत किया जाता है।

३. **फेन्टेसी**— उस प्रकार का एकांकी है जिसमें लेखक की कल्पना खुलकर खेलती है और किसी परिणाम का निर्देश नहीं करती।

४. **झाँकी**— इसमें केवल एक ही दृश्य होता है। स्थान और समय का पूरा निर्वाह होता है।

कुछ एकांकीकार

(१) **डा० रामकुमार वर्मा**—इस माला के सुमेरु हैं—डा० रामकुमार वर्मा, जिन्होंने १९३० में 'बादल की मृत्यु' से इसका श्रीगणेश किया है। तब से वे बराबर अनेक रूप में एकांकी-साहित्य की वृद्धि करते चले आरहे हैं। उनके एकांकी ऐतिहासिक हैं; जैसे—शिवाजी, कौमदी महोत्सव, चारुमित्रा, औरंगजेब की आखिरी रात, तैमूर की हार। सामाजिक हैं; जैसे—उत्सर्ग, रजनी की रात। हास्य और व्यंगक हैं; जैसे—एक तोला अफीम, उत्सर्ग, छींक। दार्शनिक और समस्या-प्रधान हैं; जैसे—अन्धकार। मेरी समझ में उन्हें सभी क्षेत्रों में सफलता मिली है। कारण यह है कि 'नाटककार रामकुमार' और 'कवि रामकुमार'—दोनों एक ही व्यक्ति हैं। इनके नाटकों में चरित्र-निर्माण की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। वर्मा जी के नारी-पात्र—यौवन, प्रेम तथा संगीत की प्रतिमूर्ति हैं, फिर भी आदर्श को नहीं भूलते हैं। रामकुमार को नग्नता पसंद नहीं है। उनकी सभी रचनाएँ रागात्मक वृत्ति का स्पर्श करती हैं।

(२) **भुवनेश्वर**—'कारवाँ' एकांकी की मंजिल में एक मील का पत्थर है। इनकी रचनाओं में गन्तव्य स्थान का निर्देश है। भुवनेश्वर के संग्रह के सभी एकांकी, विषय और वस्तु तथा शैली—तीनों की दृष्टि से पश्चिम से प्रभावित हैं। यह उन्होंने स्वयं भी स्वीकार किया है। 'शा' और 'इब्सन' की आत्मा की छाया इन पर है। इनके नाटक समस्यात्मक है जिनमें तीव्र असंतोष है, अवसाद है, और लम्बे संकेत हैं। वे जीवन के यथार्थवादी आलोचक हैं। 'ऊसर' में बिना सोचे-समझे खेला गया खेल एक कुत्सित मनोवृत्ति की ओर

संकेत होता है और 'ट्यूटर' के प्रति गृहस्वामी के व्यवहार में शिक्षकों की दीन हीन दशा का चित्रण है। शेष एकांकी भी समस्या और संघर्ष-प्रधान ही हैं। इनकी भाषा बड़ी तीखी है। भुवनेश्वर ने अपने एकांकियों में कोई भूमिका नहीं दी है। 'ऊसर' के बाद उनके 'कठपुतलियाँ' 'सिकन्दर' अच्छे नाटक हैं।

(३) **सुदर्शन**—इनका 'राजपूत की हार' एक सुन्दर एकांकी है। इसमें संस्कार, कल्पना और प्रेम की चर्चा अधिक है।

(४) **उदयशंकर भट्ट**—निरन्तर प्रगतिशील कलाकार हैं। १९४० से बराबर आज तक के अनेक रूपों में लिखते चले आ रहे हैं। 'अभिनव एकांकी' के बाद 'स्त्री-हृदय' नाम का संग्रह निकला था। भाषा, शैली, टेकनीक—सभी दृष्टियों से आपके नाटक सफल हैं। पात्रों के मनोवैज्ञानिक चित्रण सबसे अधिक सफलता से भट्ट जी ने किए हैं। सामाजिक नाटकों में भट्ट जी ने झूठे दिखावे को आड़े हाथों लिया है। 'बड़े आदमी की मृत्यु' एक ऐसा ही एकांकी है। भट्ट जी के व्यंग बड़े तीखे और साथ ही शिष्ट हैं। दुखान्त एकांकी लिखने में भट्ट जी का प्रमुख स्थान है। भट्ट जी का जीवन के प्रति दृष्टिकोण भी दुखान्त है। समाज की कुरूपता और कुरुचि को उनकी लेखनी कोमल बनाकर प्रस्तुत करती है, जिसके कारण रसात्मकता का हनन नहीं होता। भट्ट जी का अवसाद कभी-कभी इतना तीव्र हो उठता है कि समस्त सुख को दबा बैठता। रामकुमार ने इन्हें अरुण परिस्थितियों का कलाकार कहा है। भट्ट जी ने एकांकी साहित्य की अनेक रूपों में सेवा की है। मानसिक संघर्ष में भी भट्ट जी ने समाज के उन प्राणियों का सफलता पूर्वक चित्रण किया है जो मनुष्य की अपेक्षा 'पशु' अधिक हैं। 'दस हजार' एकांकी में 'विशाखा राम' ने धन लोभ के सामने वात्सल्य को तुच्छ कर दिया है। यही भट्ट जी का यथार्थवाद है। भट्ट जी के एकांकी सुखान्त और दुखान्त—दोनों प्रकार के हैं। गति में विकास की अपेक्षा संघर्ष वाली टेकनीक उन्होंने अधिक अपनायी है जिसमें विचारों और घटनाओं के पर्त के पर्त ऐसे ही खुलते चले आते हैं, जैसे नाटक के पर्दे उठ रहे हों। पर अन्त अनायास होता है—यही इनकी विशेषता है। इनके एकांकियों में जिज्ञासा या उलझन उलझी ही रहती है। उनके इन संघर्ष-प्रधान एकांकियों में दो पात्र एक साथ कार्य करते हैं। इसके अतिरिक्त भट्ट जी ने अधिकतर अपने एकांकियों में एक ही विचार और एक ही पात्र को महत्व दिया है। दृश्य-विधान की दृष्टि से भट्ट जी के एकांकी दो प्रकार के हैं। एक तो वे जिनमें केवल एक दृश्य है, दूसरे वे जिनमें एक से अधिक दृश्य हैं। 'उन्नीस-सौ पैंतीस' तथा 'वर निर्वाचन' में एक ही दृश्य में सब कुछ कह दिया गया है। समस्यामूलक और संघर्ष-प्रधान एकांकियों के अतिरिक्त भट्ट जी ने अन्य कई

प्रकार के एकांकी लिखे हैं जिनमें—प्रहसन, नाट्यरूपक, ध्वनिरूपक गीतिरूपक भी हैं। इनके पाँच संग्रह देखने को मिले हैं—अभिनव एकांकी, स्त्री का हृदय, आदिम युग, समस्या का अन्त, धूमशिखा। इधर कुछ दिनों से भट्ट जी प्रेमचन्द जी की तरह यथार्थवादी होते जा रहे हैं। नित्य के जीवन की किसी घटना को लेकर वे बड़े से बड़ा प्रहार कर देते और मानव-चेतना को एक बारगी झकझोर देते हैं। यह है—उनकी 'शौक थारपी' या झकझोर कर तन्द्रा तोड़ने की क्रिया।

(५) **अश्क**—एकांकी लेखकों में 'अश्क' का अपना एक विशेष स्थान है। अश्क की कला में जो जादू है वह इतना खतरनाक नहीं है, जितना उनका जगत का कटु और मधुर अनुभव। एक या दो पात्र को सामने लाकर मध्यम वर्ग का जीता-जागता चित्र उपस्थित कर देना—अश्क के लिए बाँए हाथ का खेल है। रंगमंच का उनका अनुभव औरों से बढ़ा-चढ़ा लगता है; क्योंकि इनके नाटकों का अभिनीत प्रभाव सबसे अधिक है। अश्क ने अधिकतर एक ही पात्र, एक ही घटना या विचार, और एक ही दृश्य में सब कुछ कह दिया है। इनके एकांकियों में हमें रचना, शैली या टेकनीक की विविधता देखने को मिलती है। परिस्थिति के अनुसार पात्र, और पात्र के अनुकूल परिस्थिति का निर्माण करने में वे परम कुशल हैं। वे प्रौढ़ और यथार्थवादी कलाकार हैं। उन्होंने भी कई प्रकार की एकांकी लिखे हैं, सांकेतिक विचार-प्रधान प्रहसन, दुखांत और व्यंग उनके समस्त एकांकी जीवन की समस्याओं पर आधारित हैं। उन समस्याओं का क्षेत्र—परिवार और समाज—दोनों को अपने में सम्मिलित करके आगे बढ़ा है। 'पापी' से 'चिलमन' तक आते-आते उनकी एकांकी कला का जो विकास हुआ है, वह दोनों को एक साथ पढ़ने से प्रतीत हो जाता है। कला की दृष्टि से 'चिलमन' बहुत कुछ आगे बढ़ गया है। अश्क के एकांकियों की जान उनकी कथा नहीं, उसके पात्र हैं जो मानव के भीतर छिपी वृत्तियों के प्रतिनिधि रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। अश्क जी अपने सभी पात्रों से पूरी तरह से परिचित हैं। अश्क के संवादों में अनेक संकेत मिलते हैं। उनके संवाद में हास्य और व्यंग्य का एक संतुलित प्रयोग है। संतुलित प्रयोग का अर्थ यह है कि जहाँ समस्या को छूकर छोड़ दिया गया है, वह व्यंग्य सरस है; और जहाँ उसका उद्धारन किया गया है, वहाँ वह गम्भीर हो गया है। अश्क के रंग-संकेत सुलझे हुए और मनोरंजक हैं। वे संवादों के साथ भी हैं और अलग भी हैं। भाषा की दृष्टि से भी एक सफल कलाकार हैं। भाषा सरल भी है और साहित्य भी। इस प्रयोग में वे प्रेमचन्द के निकट हैं और भाषा के कई नमूने उनकी रचना में पात्रोचित रूप में मिलते हैं। अभिनय की दृष्टि से अश्क

के एकांकी उच्चकोटि के हैं। हिन्दी एकांकियों के प्रमुख शिल्पियों में अश्क का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाने योग्य है।

(६) **जगदीशचन्द्र माथुर**—उनके एक एकांकी 'भोर का तारा' की कुछ दिन बड़ी धूम रही। उनकी 'रीढ़ की हड्डी' नामक सामाजिक एकांकी नारी के उत्थान की एक महत्वपूर्ण कड़ी है। उसकी थीम है—'नारी अब तक अधिकारों के प्रति सजग नहीं होती तब तक उसको अत्याचार की चक्की में पिसना ही पड़ेगा।' इस एकांकी में 'उमा' नाम की कन्या या युवती ने रूढ़ियों के जर्जर बन्धनों को एक साथ तोड़ डाला है और भावी पति और उसके पिता को अच्छी फटकार लगाई है। 'भोर का तारा' में कर्त्तव्य और प्रेम में—कर्त्तव्य की वेदी पर प्रेम का बलिदान कराया गया है। यह एकांकी संवादों की दृष्टि से भी सुन्दर है।

(७) **सेठ गोविन्ददास**—सेठ गोविन्ददास ने भी पिछले २० वर्षों में अनेक एकांकी संग्रह प्रकाशित किये हैं जिनमें—सप्तरश्मि, पंचभूत, एकादशी तथा दो नाटक प्रसिद्ध हैं। सेठ जी ने या तो सामाजिक विषयों पर एकांकी लिखे हैं या राजनीतिक। समस्या की व्याख्यान और सिद्धान्त प्रतिपादन की अभिरुचि के कारण उनकी रचनाओं में कौतूहल या 'सस्पेंस' का अभाव-सा रहता है। सेठ जी अपने 'मोनोड्रामा' अथवा एक पात्री नाटकों के लिए बहुत प्रसिद्ध हो गए हैं। 'चतुष्पथ' ऐसे एक पात्री नाटकों का संग्रह है। सेठ गोविन्ददास का 'कंगाल नहीं' एक ऐतिहासिक नाटक है। इसका कथानक करुणरस पूर्ण है। मनोवैज्ञानिकता का इनके एकांकियों में अच्छा समावेश है। यह नाटक समस्या-प्रधान ही है।

(८) **विष्णु प्रभाकर**—विष्णु प्रभाकर ने बहुत से एकांकी लिखे हैं और उनके रेडियो नाटकों ने उनके लिए एक स्थान सुरक्षित कर रखा है। इनके एकांकी तीन प्रकार के हैं—सामाजिक, मनोवैज्ञानिक और प्रचारात्मक, तथा हास्य-व्यंग्यात्मक। 'हमारा स्वाधीनता संग्राम' इनका राजनैतिक एकांकी है। प्रेमचन्द को जो सहानुभूतिपूर्ण हृदयंगमता थी, वही इस कलाकार को प्राप्त है। मानवता की प्रतिष्ठा और भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता की स्थापना करना, इस कलाकार के उद्देश्य है। रूढ़ियों और प्रदर्शन के बीच छिपी हुई मानवता को प्रकाश में लाने वाले यह एक कुशल कलाकार हैं। समाज का पर्दा उठाकर उसका नग्न चित्र उपस्थित करने में भी आपको 'अश्क, की तरह कोई संकोच नहीं है। अपने 'माँ' नाम के एकांकी में लेखक ने सर्वथा मौलिक ढंग से मातृ-हृदय की झाँकी उपस्थित की है और यह दिखाया है कि प्रेम से घृणा को परास्त करना सहज है।

(९) **बिनोद रस्तोगी**—इन्होंने 'मंगल मानव और मशीन' एकांकी में आज के युग की अन्तर्राष्ट्रीय विषमताओं पर अच्छा प्रकाश डाला है। 'पुरुष का पाँव' में आदर्श की रक्षा का सुन्दर चित्र है।

(१०) **धर्मवीर भारती**—धर्मवीर भारती के एकांकी कम हैं पर उनकी अपनी एक कला है। इनके एकांकियों में समस्या तो प्रस्तुत करदी गई पर उसका हल पाठक पर ही छोड़ दिया गया है। यह एक नई शैली है। इनका 'नीली-झील' नाम का एकांकी मानव से, आत्मा नहीं, एक नई आत्मा खोजने को कहता है। आत्महीन संस्कृति एक मायाजाल है, यह भाव एक एकांकी में गहरा है। इनके एकांकी विषय की दृष्टि से भी गाम्भीर्यपूर्ण हैं, चिन्तन गम्भीर हैं और पात्र स्थूल के स्थान पर सूक्ष्म अधिक हैं। चरित्रचित्रण भावपूर्ण है। नई दृष्टि धर्मवीर को दूसरे कलाकारों की पंक्ति से अलग कर देती है।

(११) **गणेश प्रसाद द्विवेदी**—गणेश प्रसाद द्विवेदी का 'सोहाग बिन्दी' नाम का एक संग्रह प्रसिद्ध है जिसमें काम-समस्या को जो रूप दिया गया है वह भुवनेश्वर के दृष्टिकोण से भिन्न है। भुवनेश्वर के लिए यह एक सामाजिक समस्या है और द्विवेदी जी के लिए यह एक मनोवैज्ञानिक प्रश्न मात्र है। द्विवेदी जी के एकांकियों में विषय या घटना का अभाव है, पर मनोविश्लेषण और संवादों की प्रधानता है। द्विवेदी जी ने प्रेम के सूक्ष्म रूप को ही मान्यता दी है। उसे वे मन की एक शाश्वत, सूक्ष्म और प्रबल चेतना मानकर चले हैं। वे एक सहृदय कलाकार हैं।

(१२) **लक्ष्मीनारायण**—लक्ष्मीनारायण के एकांको बौद्धिक एकांकी हैं। वे आध्यात्मिकता के पक्षपाती हैं, पर वास्तविकता का तिरस्कार उनके लिए सम्भव नहीं हो सका है। समस्याओं की दृष्टि से वे एक उच्चकोटि के कलाकार हैं। 'कावेरी में कमल', 'एक दिन', 'स्वर्ग में विप्लव' उनके प्रसिद्ध एकांकी हैं।

(१३) **यशपाल**—यशपाल के 'नशे-नशे की बात', 'रूप की परख' और 'गुडबाई दर्दे दिल'—तीन एकांकी हैं। इनके एकांकियों में रूढ़िवाद का तीव्र विरोध मिलता है। परम्परा पर यह बड़ी गहरी चोट कर देते हैं। इन्होंने एकांकी को 'दृश्य कहानी' कहा है। इनका सारा ध्यान इसलिए संवाद पर ही केन्द्रित है। 'नशे-नशे की बात' में आध्यात्मिक और शारीरिक—दोनों नशों को बुरा कहा गया है। 'रूप की परख' में विवाह की प्रथा को नया रूप देकर युग-विवादी दृष्टिकोण का परिचय दिया गया है। 'गुडबाई दर्दे दिल' में यह बताया गया है कि प्रेम यदि मानवता के प्रति नहीं है तो वह यौन-आकर्षण मात्र है। रणजीत को रिक्शे वाले के प्रति सहानुभूति नहीं है तथा अपने देरे हो जाने का खेद है। शशि को जब इसका पता चलता है तो वह फिर उसके

प्रेम को अपने प्रति यौन-आकर्षण मान लेती है। पूँजीपतियों के प्रति भी इनका व्यवहार कठोर है। यह मूलतः प्रगतिवादी कलाकार हैं।

एक परिभाषा

यशपाल के एकांकी को 'दृश्य कहानी' कह देने से एक समस्या खड़ी हो गयी है कि—कहानी और एकांकी में क्या अन्तर है। चन्द्रगुप्त विद्यालंकार भी ऐसा कहते हैं। दोनों किसी प्रकार एक नहीं हैं; क्योंकि कहानी का ध्येय है—विभिन्नता का सृजन, और एकांकी का—जिज्ञासा की उत्पत्ति। कहानी में जहाँ आश्चर्य या कुतूहल होता है वहाँ एकांकी में प्रायः संवेदना। कहानी में यह भी सम्भव है कि घटना या चरित्र में से लेखक किसी को चुन ले, पर एकांकी में घटना के साथ चरित्र-चित्रण अनिवार्य है। कहानी लिखने वाले को पाठक का ध्यान रहता है, एकांकी लेखक को दर्शक का। कहानी श्रव्य-काव्य है, एकांकी श्रव्य और दृश्य—दोनों। इसी प्रकार नाटक और एकांकी में भी अन्तर है। नाटक में विविधता है, एकांकी में एकता।

निष्कर्ष

एकांकी नाटक का विकास युग-भावनाओं के अनुकूल रूप लेता जा रहा है, इसलिए आज वह एक लोक-प्रिय साहित्यिक विधा है।

२६

प्रेमचन्द : जीवन-दर्शन

●

समाज के प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का अपना एक दृष्टिकोण होता है जिससे वह अनुप्राणित होकर, अपना जीवन आदर्श बनाकर उसके मार्ग पर चलता है। किसी के जीवन का ध्येय स्वयं जीवित रहना मात्र रहता है तो किसी का ध्येय 'वसुधैव कुटुम्बकम' भावना पर आधारित रहता है, कोई जीवन को 'यावत् जीवेत् सुखं जीवेत ऋणं कृत्वा घृतं पिवत्' के सिद्धान्त को ही मानकर चलता है। किसी का जीवन परोपकार से अनुप्राणित होता है तो किसी का स्वार्थ से। कोई पुण्य से प्रेरित होता है तो कोई पाप से। जीवन के इस नियम और आदर्श को हम 'जीवन दर्शन' की संज्ञा देते हैं, जिसकी अभिव्यक्ति मनुष्य अपने नित्यप्रति के जीवन में करता है। इस जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति साहित्यकार अपने साहित्य द्वारा करता है। उपन्यास सम्राट् प्रेमचन्द इसके अपवाद नहीं थे, उनका भी अपने व्यक्तिगत जीवन के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण था जिसकी अभिव्यक्ति उन्होंने अपने उपन्यासों, कहानियों, निबन्धों, भाषणों, पत्रों एवं सम्पादकीय टिप्पणियों में की थी।

प्रेमचन्द का जीवन एक साधारण निम्न मध्यवर्गीय व्यक्ति का जीवन था। वे एक साधारण और सादे व्यक्ति थे। खादी कुर्ता, धोती और साधारण

जूता ही उनका लिबास था जिसमें उन्होंने जीवन व्यतीत किया। शरीर दुबला-पतला किन्तु मूछें स्वस्थ कीं। गालों की झुर्रियाँ उनकी मानसिक व्यथा की सूचक थीं। व्यक्तित्व आकर्षक था जो कि दूसरों को प्रभावित किये बिना न रहता था। जो भी कभी उनके अथवा उनके साहित्य के माध्यम द्वारा उनके सम्पर्क में आया, सदैव उत्साह और प्रेरणा लेकर गया। वे विनोदी प्रकृति के व्यक्ति थे, सदैव अट्टाहास और हास्य द्वारा अनुप्राणित। जीवन की कठोर से कठोर कठिनाइयों के अवसर को भी हँसी की फुलझड़ियों में परिवर्तित कर देने वाले। वे एक ऐसे मननशील जीवनवादी साहित्यकार थे जो निराशा में आशा, दुख में सुख, कुरूपता में सौन्दर्य की साँस फूँकते थे। उनका सम्पूर्ण जीवन जागरण भाव से संचालित रहा। अमृत ने ठीक ही कहा है—'क्या थी उसकी जिन्दगी—उलझे हुए धागे का एक गोला।' उनके जीवन का गोलार्द्ध ट्यूशन, मास्टरी, डिप्टी इन्स्पेक्टरी, पत्रकारिता व सम्पादकत्व में सीमित रहा। वे जीवन पर्यन्त आर्थिक दृष्टि से विपन्न रहे, यदि उचित परिस्थिति भी निकट आती तो कुछ ऐसे समाज कीटाणु मिल जाते जो दीमक की भाँति उसे चाट जाते। वे आजीवन संघर्ष करते रहे। उन्होंने लिखा है कि 'मेरा जीवन सपाट, समतल मैदान है; जिसमें गड्ढे तो कहीं-कहीं हैं; पर टीले, पर्वतों, घने जंगलों, गहरी घाटियों और खण्डहरों का स्थान नहीं है।"

प्रेमचन्द का जन्म ऐसे परिवार में हुआ था जहाँ अभाव का नाम बचत, जहाँ आवश्यकताओं की पूर्ति करना समस्याओं का समाधान उपस्थित करना था। जैसे प्रेमचन्द के सामाजिक जीवन में संघर्ष था वैसे ही पारिवारिक-जीवन में भी। उनका जीवन संघर्ष की बेड़ियों से जकड़ा हुआ एक जीवन था। सर्वप्रथम हम प्रेमचन्द जी के जीवन की उन घटनाओं पर दृष्टिपात करेंगे जिन्होंने उनकी जीवन धारा में लहर उपस्थित। की और तूफान भी। प्रेमचन्द का बचपन स्नेहहीन रहा। माँ प्रारम्भ से बीमार रहती और अन्त में प्रेमचन्द के जीवन रस को ग्रास कर सदैव के लिए प्रेमचन्द को ७ वर्ष की अवस्था में त्याग कर चली गई। माँ के देहान्त ने बालक प्रेमचन्द के हृदय पर कठोर आघात किया, जिसकी अभिव्यक्ति प्रेमचन्द सदा, यथास्थान अपने साहित्य में करते रहे; बच्चों के बचपन की उस अभिव्यक्ति को प्रेमचन्द ने 'कर्मभूमि' 'प्रेरणा' और 'घर जमाई' नामक कहानी में स्पष्ट किया। माँ की गोद के अभाव को स्मरण करते हुए 'घर जमाई' में कहा :—

"बच्चों के लिए बाप एक फालतू सी चीज है—एक विलास की वस्तु है, जैसे घोड़े के लिए चने और बाबुओं को मोहन भोग······लेकिन माँ तो बच्चों का सर्वस्व है। बालक एक मिनट के लिए भी उसका वियोग नहीं सह

सकता। पिता कोई हो, उसे परवाह नहीं। केवल उसे एक उछालने-कुदाने वाला होना चाहिए; लेकिन माता तो अपनी ही होनी चाहिए, सोलहों आने अपनी। वही रूप, वही रंग, वही प्यार, वही सब कुछ। अगर वह नहीं है तो बालक के जीवन का स्रोत सूख जाता है, फिर वह शिव का नन्दी है, जिस पर फूल या जल चढ़ाना लाजिमी नहीं, अख्तयारी है।"

प्रतीत होता है कि प्रेमचन्द के लिए मातृ-स्नेह की कितनी आवश्यकता थी जिससे प्रेमचन्द बिलकुल अछूते रहे, जिसे अपनी माँ के अतिरिक्त और कोई दे भी तो नहीं सकता था। 'कर्मभूमि' के अमरकान्त का बचपन प्रेमचन्द को बचपन है अमरकान्त के दुख को स्पष्ट करते हुए जो आत्मकथात्मक सा प्रतीत होता है। प्रेमचन्द ने कहा है—'जिन्दगी की वह उम्र, जब इन्सान को सबसे ज्यादा मुहब्बत की जरूरत होती है बचपन है। उस वक्त पौधे को तरी मिल जाय तो जिन्दगी भर के लिए उसकी जड़ें मजबूत हो जाती हैं। उस समय खुराक न पाकर उसकी जिन्दगी खुश्क हो जाती है। मेरी माता का उसी जमाने में देहान्त हुआ और तबसे मेरी रूह को खुराक नहीं मिली। वह भूख मेरी जिन्दगी है—मुझे जहाँ मुहब्बत का एक रेज़ा भी मिलेगा, मैं बे अख्तियार उसी की तरफ जाऊँगा। कुदरत का अटल कानून मुझे उस तरफ ले जाता है। इसके लिए मुझे कोई खतावार कहे, तो कहे। मैं उसे अपनी खता तसलीम नहीं करता। दुनिया से सबसे बदनसीब वह है, जिसकी माँ बचपन में मर गई हो।"

पिता का जगह-जगह तबादला होता रहता, बड़ी बहन से थोड़ा स्नेह मिला किन्तु वह भी अपने घर चली गई। माता की मृत्यु से कठोर आघात तो, था ही पिता ने दूसरा विवाह कर लिया और प्रेमचन्द के व्यक्तिगत जीवन में घोर संघर्ष और भी जोर से प्रारम्भ हो गया। वर्णन भी 'कर्मभूमि' में वैसा ही, मिलता है जैसी प्रेमचन्द की परिस्थिति थी "समरकान्त ने मित्रों के कहने-सुनने से दूसरा विवाह कर लिया था। इस सात साल के बालक ने नयी माँ का बड़े प्रेम से स्वागत किया..........।" विमाता व्यवहार का चित्रण 'कर्म-भूमि'. 'निर्मला' और 'सौतेली माँ' में देखा जा सकता है। प्रेमचन्द के जीवन की तृतीय मुख्य घटना उनका अनमेल विवाह था, जो कि १५ वर्ष की आयु में नये नाना द्वारा लगाया गया था। प्रेमचन्द की पहली पत्नी उनसे आयु में अधिक थी, जिसे देखते ही उनके खून सूख गये थे। मन और शरीर किसी भी दृष्टि से वह सुन्दर नहीं थी। अतः प्रेमचन्द को अपनी पहली पत्नी त्यागना पड़ा, तलाक देना पड़ा। प्रेमचन्द के साहित्य में ऐसे अनमेल विवाह और

तलाक समस्या के अनेक चित्र बिखरे हैं। प्रेमचन्द ने अनमेल विवाह और तलाक के कार्य-कारण सम्बन्ध को अनेकों स्थान पर व्यक्त किया है।

प्रेमचन्द ने दूसरा विवाह किया, और वह भी विधवा-विवाह, जो कि उस युग के पूरे समाज को एक ललकार थी। डेढ़ वर्ष भी न गये होंगे कि पिता ने खाट पकड़ी और ५६ वर्ष की आयु में स्वर्गवासी हो गये। पिता के मृत्यु ने उनके पारिवारिक भार को और भी बढ़ा दिया। वे संघर्ष से जूझते रहे, पीछे न हटे। धैर्य ने साथ दिया और पाँच रुपये का ट्यूशन बनारस में एक वकील के यहाँ किया। वकील साहब के अस्तबल की कच्ची कोठरी में रहते। दो रुपये में अपने रहते और तीन रुपया घर भेजते। मामू वाले प्रसंग पर नाटक लिखने के पश्चात् साहित्य रचना की ओर प्रविष्ट हो ही चले थे और १६०६ में 'सोजेवतन' प्रकाश में आया। वह युग बंग-भंग का युग था। 'सोजेवतन' का प्रकाशन भी प्रेमचन्द के जीवन की क्रान्तिकारी घटना थी। सरकार की दृष्टि में 'सोज़ेवतन' क्रान्तिकारी रचना थी अतः वह रचना जब्त कर आग को भेट कर दी गई। इस घटना ने प्रेमचन्द के जीवन में एक महान् परिवर्तन उपस्थित किया। प्रेमचन्द को इस बात का आभास मिला कि अँग्रेजी नौकरशाही के प्रति आवाज उठाने, विरोध करने और असंतोष प्रकट करने के लिए हमारे पास भी एक लौह शक्ति है, जो जनता की जागरित कर सकती है। मदान जी ने ठीक ही लिखा है—"वे प्रकाश की उस किरण के समान थे जो अंधकार को बेध देती हैं; वे उस बवंडर के समान थे जो बहुत सी चीजों को अस्त-व्यस्त कर देता है लेकिन जो सबसे अधिक हलचल मनुष्य के मस्तिष्क में पैदा कर देता है। वे लाखों भारतवासियों के बीच से ऊपर आये थे।' इस घटना ने धनपत का नाम तो बदल दिया किन्तु मन को स्थिर भी कर दिया, प्रेमचन्द के हृदय में देशभक्ति भावना का बीजारोपण हुआ। तत्पश्चात् उनके जीवन की एक और महान् घटना घटी। १६२०-२१ में जब देश में असहयोग आन्दोलन अपने पूरे जोश और जोर में था 'महात्मा जी के दर्शन का यह प्रताप था कि मुझ जैसा मरा आदमी भी चेत हो उठा। उसके दो ही चार दिन बाद मैंने अपनी २० साल की नौकरी से इस्तीफा दे दिया।"

इन सभी घटनाओं का प्रतिबिम्ब हम 'प्रेमचन्द-साहित्य' में पाते हैं। वे जीवन और जगत के अनुभवी कलाकार थे। उन्होंने जनता की साँस के साथ साँस लिया था। प्रेमचन्द-साहित्य के पात्र जनता के अपने प्रतिनिधि हैं। प्रेमचन्द हमारे समक्ष ऐसे पात्र प्रस्तुत करते हैं जो दुख को दूर करने के लिए जूझते हैं, संघर्ष करते हैं और प्रयत्न रत रहते हैं। उनके पात्र व्यक्ति के प्रतीक नहीं, वर्ग के प्रतीक हैं। प्रत्येक पात्र अपने अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है।

अब हमें यह देखना है कि उन्होंने जीवन को किस दृष्टि से देखा था परखा था, उनकी दृष्टि में जीवन क्या था और उसकी आवश्यकताएँ क्या थीं ? इसी से हम उनके जीवन-दर्शन को समझने में प्रयत्नशील हो सकेंगे। प्रेमचन्द का विचार था कि मनुष्य का जीवन जिन तन्तुओं से बना है वे अत्यन्त कोमल हैं उनकी रक्षा करना हमारा प्रथम कर्त्तव्य—"वही (जीवन) क्या पुष्प से कोमल नहीं—जो वायु से झोंके सहता है और मुरझाता नहीं ? क्या वह लताओं से कोमल नहीं, जो कठोर वृक्षों के झोंके सहती और लिपटी रहती हैं ? क्या वह पानी के बबूलों से कोमल नहीं—जो जल की तरंगों पर तैरते हैं और टूटते नहीं ? संसार में कौन-सी वस्तु इतनी कोमल, उतनी अस्थिर, इतनी सारहीन है जिसे एक व्यंग्य, एक कठोर शब्द, एक अन्योक्ति भी दारुण, असहाय, और घातक है। और इस भीत्ति पर कितने विशाल, कितने भव्य, कितने वृहदाकार भवनों का निर्माण किया जाता है।"

'रंगभूमि' के उपरोक्त अंश में इस बात की व्याख्या की गई है कि यही कोमलता दुर्बलता की जननी है और शक्ति की प्रेरक। यही कोमलता प्रेम, त्याग और बलिदान आदि सद्वृत्तियों का मूल भी है। जीवन के इस कोमल पक्ष के पल्लवित और पुष्पित होने में जीवन का विकास अर्न्तनिहित है। मनुष्य के जीवन का लक्ष्य श्रेष्ठ है—वह विद्रोह, हत्या और षड्यन्त्रों में संलग्न रहता है। मनुष्य, जीवन के मलिन पक्ष को शीघ्र ग्रहण करता है वह शोषक बनकर शोषण करता है। प्रेमचन्द जीवन का लक्ष्य बहुत उच्च मानते थे। जीवन है अतः 'जीवित रहना चाहिए', 'जीवन का क्षय नहीं होना चाहिए, उसको विकसित करना चाहिए। 'कर्मभूमि' का नायक अमरकान्त अपने पिता समरकान्त से कहता है—"आपके घर में मेरा इतना जीवन नष्ट हो गया, अब मैं उसे नष्ट नहीं करना चाहता। आदमी का जीवन केवल खाने और मर जाने के लिए नहीं होता, न धन संचय उसका उद्देश्य है। जिस दिशा में मैं हूँ, वह मेरे लिए असह्य हो गई है। मैं एक नये जीवन का सूत्रपात करने जा रहा हूँ, जहाँ मजदूरी लज्जा की वस्तु नहीं है। जहाँ स्त्री पति को नीचे की तरफ नहीं घसीटती, उसे पतन की ओर नहीं ले जाती, बल्कि उसके जीवन में आनन्द और प्रकाश का संचार करती है। मैं रूढ़ियों, मर्यादाओं का दास बनकर नहीं रहना चाहता। आपके घर में मुझे नित्य बाधाओं का सामना करना पड़ेगा और उसी संघर्ष में मेरा जीवन समाप्त हो जायेगा।"

प्रेमचन्द जीवन को स्वावलम्बन, कर्मठता, आत्मविश्वास और आत्म विकास का साधन मानते हैं। प्रेमचन्द के जीवन का दर्शन महान् था। 'रंगभूमि'

में सूरदास का गीत उनके जीवन-दर्शन को स्पष्ट करता है। जीवन का रहस्य उनके उस गीत में पाते हैं :—

भई, क्यों रन से मुँह मोड़े ?
वीरों का काम है लड़ना,
कुछ काम जगत में करना
क्यों निज मरजादा छोड़े ?
भई, क्यों रन से मुँह मोड़े ?
क्यों जीत की तुझको इच्छा
क्यों हार से तुझको चिन्ता ?
क्यों दुख से नाता जोड़े ?
भई क्यो रन से मुँह मोड़े ?
तू रंग-भूमि में आया,
दिखलाने अपनी माया
क्यों धरम नीति को तोड़े ?
भई, क्यों रन से मुहँ मोड़े ?

वे जीवन को खेल सदृश्य समझते थे। प्रत्येक व्यक्ति एक खिलाड़ी है। इस जीवन रूपी खेल में वही विजयी होता है, जो उत्साह से अपने प्रतिपक्षी का सामना करता है। प्रेमचन्द का सबसे वीर पात्र सूरदास कहता है—"सच्चे खिलाड़ी कभी रोते नहीं, बाजी पर बाजी हारते हैं, चोट पर चोट खाते हैं धक्के पर धक्के सहते हैं, पर मैदान में डटे रहते हैं—उनकी त्योरियों पर बल नहीं पड़ते। हिम्मत उनका साथ नहीं छोड़ती। दिल पर मालिन्य के छींटे नहीं आते, न किसी से जलते हैं न चिढ़ते हैं। खेल में रोना कैसा ? खेल हँसने के लिए, दिल बहलाने के लिए है, रोने के लिए नहीं।"

संघर्ष, जीवन का दूसरा नाम है अतः संघर्ष से घबराना नहीं चाहिए। जिस प्रकार असत्यता, बेइमानी और छलपूर्वक जीते खेल में आनन्द नहीं मिलता ठीक उसी प्रकार जीवन-क्षेत्र में धांधली और बेइमानी द्वारा प्राप्त विजय में आनन्द नहीं मिलता। जीवन में निम्न प्रवृत्तियों को ग्रहण नहीं करना चाहिए। प्रेमचन्द, श्रीकृष्ण के निष्काम कर्मयोग 'कर्मराये वाधिरास्ते मा फलेषु कदाचन को जीवन का आवश्यक तत्त्व समझते थे। इसके बिना व्यक्ति सामाजिक जीवन में सत्यता और ईमानदारी का पथ नहीं ग्रहण कर सकता। अनैतिक विजय से पराजय कहीं अच्छी है। सूरदास कहता है—"हमारी बड़ी भूल यह है कि खेल को खेल की तरह नहीं खेलते। खेल में धाँधली करके कोई जीत हो जाय, तो क्या हाथ आएगा ? खेलना तो इस तरह चाहिए कि निगाह तो जीत पर रहे,

पर हार से घबड़ाये नहीं, ईमान को न छोड़े। जीतकर इतना न इतराए कि अब कभी हार होगी नहीं। यह हार-जीत को जिन्दगी के साथ है।"

इन्हीं भावनाओं से मिलता एक पात्र प्रेमचन्द ने सम्पादक 'जमाना' मुंशी दयानारायण निगम को लिखा था। उन्हीं भावनाओं को अन्य शब्दों में कहा था "......खेल के मैदान में वही शख्स तारीफ का मुस्तहिक होता है, जो जीत से फूलता नहीं, और हार में रोता नहीं। जीते तब भी खेलता है और हारे तब भी खेलता है। जीत के बाद यह कोशिश होती है कि हारे नहीं, हार के बाद जीत की आरजू होती है। हम सब खिलाड़ी हैं मगर खेलना नहीं जानते।"

'कर्मभूमि' में गीता के निष्काम कर्म का सिद्धान्त हम उस समय पाते हैं, जब अमरकान्त कहता है—"जो काम अच्छी नीयत से किया जाता है वह ईश्वरार्थ होता है। नतीजा कुछ भी हो। यहाँ का अगर कुछ फल न मिले, तो भी यहाँ का पुण्य तो मिलता ही है।"

प्रेमचन्द ने सूरदास के माध्यम से जीवन के महान् गुर को व्यक्त किया है। सूरदास पक्का खिलाड़ी है, वह हार-जीत की चिन्ता नहीं करता। उसे न हारने का गम है, न जीतने का हर्ष। प्रेमचन्द इसी प्रकार का जीवन चाहते थे। सूरदास कहता है—"सच्चे खिलाड़ी कभी रोते नहीं, बाजी पर बाजी हारते हैं, चोट पर चोट खाते हैं, धक्के पर धक्के सहते हैं पर मैदान में डटे रहते हैं, उनकी त्योरियों पर बल नहीं पड़ते। हिम्मत उनका साथ नहीं छोड़ती, दिल पर मालिन्य के छीटे भी नहीं आते, न किसी से जलते हैं न चिढ़ते हैं। खेल में रोना कैसा। खेल हँसने के लिए है। दिल बहलाने के लिए है, रोने के लिए नहीं...।"

प्रेमचन्द विनोदी व्यक्ति थे। उनका कथन है—"जीवन को सुखी बनाना ही भक्ति और युक्ति है। यदि तुम हँस नहीं सकते, रो नहीं सकते तो तुम इन्सान नहीं हो।" हास्य को वे जीवन का महत्वपूर्ण अंग मानते थे। वे अपने व्यक्तिगत जीवन मे जिस प्रकार हास्यप्रिय व्यक्ति थे, वैसे ही उनके पात्र भी हास्यप्रिय है जिनके साथ पाठक हंसते हैं। प्रेमचन्द ने अपने व्यक्तिगत जीवन में कठिनाइयों और विषमताओं को हँसकर काटा था।

जिस प्रकार जगत में जीवन और मरण है, ठीक उसी प्रकार व्यक्ति के जीवन में सुख और दुःख है। हास और रुदन, सुख और दुःख—जीवन रथ के दो पहिए हैं।जीवन में दोनों ही अनिवार्य हैं, एक के बिना दूसरे का अस्तित्व नहीं। जीवन में किसी एक परिस्थिति को समझना मृगमरीचिका के पीछे दौड़ना है। प्रेमचन्द मानवतावाद के समर्थक थे, उनके प्रत्येक पात्र जीवन की अनुभूतियों से प्रेरित हैं। प्रेमचन्द मनुष्य की प्रत्येक दुर्बलताओं के प्रति सहृदय थे। उनके पात्र दुःख में निराश होकर आत्महत्या या सुख में मानवता को नहीं भूलते।

मनुष्य जीवन का लक्ष्य है—सुख प्राप्त करना, आत्म-सम्मान के साथ जीवन व्यतीत करना। इसके विभिन्न मार्ग हैं। कोई निवृत्ति मार्ग पर चलता है तो कोई प्रवृत्ति मार्ग पर। जीवन में इसकी उपलब्धि ही एकमात्र लक्ष्य है पर जिस समाज में समानता का नाम नहीं, समाज के प्रत्येक क्षेत्र में असमान वितरण तथा भेद भाव की गरिमा व्याप्त हो वह समाज नियमबद्ध कैसे हो सकता है। जिस समाज की आधार शिला धन पर निर्मित हो, वहाँ प्रत्येक स्थान पर धनाढ्यों की ही पताका फहरेगी। वही सम्पन्न कहलायेगा जिसके पास धन हो। वह धन द्वारा समाज के प्रत्येक सम्मान और ऐश्वर्य प्राप्त कर सकता है। प्रेमचन्द उसके कट्टर विरोधी थे। प्रेमचन्द धन से वशीभूत होकर कभी अपने आदर्शों से च्युत नहीं हुए। उनका व्यक्तिगत जीवन इसका पुष्ट प्रमाण है। अर्थ के लोभ में वह कभी नहीं पड़े। महाराजा अलवर के निमन्त्रण को अस्वीकार कर उन्होंने अपने जीवन का आदर्श रूप प्रस्तुत किया था। उनके आदर्श पात्रों ने भी ऐसा ही किया है। 'गोदान' की गोविन्दी अपने पति मिल मालिक खन्ना से कहती है—"सत्पुरुष धन के आगे सिर नहीं झुकाते। वह देखते हैं—तुम क्या हो, अगर तुममें सच्चाई है, न्याय है, त्याग है, पुरुषार्थ है। तो ये तुम्हारी पूजा करेंगे।" प्रेमचन्द धन को सामाजिक उन्नति का आधार नहीं मानते थे।

प्रेमचन्द समाज के प्रत्येक क्षेत्र में प्रत्येक प्राणी को समान अवसर देने के पक्षपाती थे। उन्होंने मदान जी को एक पत्र लिखा था—"हमारा उद्देश्य जनमत तैयार करना है, इसलिए मैं सामाजिक विकास में विश्वास करता हूँ। अच्छे तरीकों के असफल होने पर ही क्रान्ति पैदा होती है। मेरा आदर्श है प्रत्येक को समान अवसर प्राप्त होना। इस सोपान तक बिना विकास के कैसे पहुँचा जा सकता है, इसका निर्णय लोगों के आचरण पर निर्भर है जब तक हम व्यक्तिगत रूप से उन्नत नहीं हैं तब तक कोई भी सामाजिक व्यवस्था आगे नहीं बढ़ सकती।"

प्रेमचन्द का समस्त जीवन उच्चादर्शों से अनुप्राणित था। वे छल और और प्रपंच के विरोधी थे। छल कपट का परित्याग कर परिष्कृत जीवन व्यतीत करने के पक्ष में थे। प्रेमचन्द के विचारों का प्रतिनिधि, होरी कहता है "चारदिन की जिन्दगी में क्यों किसी से छल-कपट करूँ।" प्रेमचन्द इस बात के आद्योपान्त समर्थक रहे कि मनुष्य को स्वावलम्बी होना चाहिए तथा अपने परिश्रम पर विश्वास रखना चाहिए। दूसरों के श्रम पर जीवन यापन करना समाज को धोखा देना है, शोषण को बढ़ावा देना है। 'गोदान' के उपजीवी रायसाहब इसका समर्थन करते हैं—"मैं इसे स्वीकार करता हूँ कि किसी को दूसरों के श्रम पर मोटे होने का

अधिकार नहीं है। उपजीवी होना घोर लज्जा की बात है। कर्म करना प्राणी मात्र का धर्म है। समाज की ऐसी व्यवस्था जिसमें कुछ लोग मौज करें और अधिक लोग पिसें, कभी सुखद नहीं हो सकती। पूँजी और शिक्षा जिसे मैं पूँजी ही का एक रूप समझता हूँ, उनका किला जितनी जल्दी टूट जाय, उतना ही अच्छा है। जिन्हें पेट की रोटी मुअस्सर नहीं, उनके अफसर और नियोजक दस-दस, पाँच-पाँच हजार फटकारें यह हास्यास्पद है और लज्जास्पद भी।"

शोषण, अनाचार और अभियोग का मूल कारण—उपजीवी बनना है। दूसरे पर निर्भर होकर या दूसरे के अर्जन पर जीवन व्यतीत करना—समाज-शक्ति को क्षीण करना है। प्रत्येक प्राणी को जीवन के वर्तमान काल पर अधिक अवधान रखना चाहिए। यदि वर्तमान स्वस्थ है तो भविष्य भी उज्जवल होगा। मनुष्य को अपने भूत की चिन्ता नहीं करनी चाहिए, वर्तमान को परिष्कृत करने का प्रयत्न करना चाहिए, जिससे भविष्य आकर्षक बन सके। प्रेमचन्द ने एक स्थान पर कहा है—"मैं भूत की चिन्ता नहीं करता। मेरे लिए वर्तमान ही सब कुछ है। भविष्य की चिन्ता हमें कायर बना देती है, भूत का भार हमारी कमर तोड़ देता है। हम में जीवन की शक्ति इतनी कम है कि भूत और भविष्य में फैला देने से वह और भी क्षीण हो जाती है।"

प्रेमचन्द ने जीवन में लगन अथवा **'लाग'** को बहुत महत्वपूर्ण स्थान दिया। यह शक्ति मनुष्य को संघर्ष के लिए प्रोत्साहित करती है। इस 'लाग' को प्रेमचन्द ने कितनी महत्ता दी, वह इन वाक्यों से स्पष्ट होता है—"वही तलवार, जो केले को भी नहीं काट सकती, सान पर चढ़कर लोहे को भी काट सकती है। मानव जीवन में लाग बड़े महत्व की वस्तु है। जिसमें लाग है, वह बूढ़ा होकर भी जवान है, जिसमें लाग नहीं वह जवान होकर भी मृतक है।"

प्रेमचन्द सेवा-मार्ग के प्रेरक थे। सेवा-भाव के मार्ग में धन ही सबसे बड़ा कंटक है। प्रेमचन्द समाज-सेवा के पक्षपाती थे। 'रंगभूमि में उनका एक पात्र कहता है—"जब तक कोई सेवा-मार्ग पर चलना नहीं सीखता, जनता के दिलों पर घर नहीं कर पाता।"

प्रेमचन्द साहित्य से अनेक स्थानों पर समाज-सेवा का आदर्श रूप प्राप्त होता है। 'सेवासदन' में बिट्ठलदास और पद्मसिंह; 'प्रेमाश्रम' में प्रेमशंकर और डिप्टी ज्वालासिंह; 'कायाकल्प' में चक्रधर, यशोदानन्द, शंखधर, मनोरमा; 'रंगभूमि' में सूरदास, विनयसिंह, सोफी; 'कर्मभूमि' में अमरकान्त, डा० शान्ति-कुमार, नैना; तथा 'गोदान' में होरी और प्रो० मेहता आदि सभी सेवा आदर्श से अनुप्राणित हैं। एक स्थान पर प्रेमचन्द लिखते हैं—"अगर हमारा अन्तर प्रेम की ज्योति से प्रकाशित हो और सेवा का आदर्श हमारे सामने हो तो ऐसी

कोई कठिनाई नहीं जिस पर हम विजय प्राप्त न कर सकें।" प्रेमचन्द ने 'गोदान' में प्रो० मेहता से सेवामार्ग और कर्मयोग पर कहलाया है—"प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों के बीच जो सेवामार्ग है, चाहे उसे कर्मयोग वही, वही जीवन को सार्थक कर सकता है.........। आदमी अगर धन या नाम के पीछे पड़ा है तो समझ लो कि अभी तक वह परिष्कृत आत्मा के सम्पर्क में नहीं आया।"

प्रेमचन्द साम्प्रदायिकता, छुआ-छूत और अन्ध-विश्वास के पक्षपाती न थे, वे इसके घोर विरोधी थे। वे सबको समान अवसर देने के पक्षपाती थे अतः समान दृष्टि से देखते थे। उनकी दृष्टि में सभी समान हैं, सभी महान् हैं। 'कर्मभूमि' में प्रेमचन्द का एक पात्र कहता है—"मैं जात-पाँत नहीं मानता, माता जी! जो सच्चा है, वह चमार भी हो तो वह आदर के योग्य हैं। जो दगाबाज, झूठा, लम्पट हो—वह ब्राह्मण भी हो तो आदर के योग्य नहीं।"

प्रेमचन्द समाज की व्यक्तिगत विषमताओं के विरोधी थे। समाज के अभिशप्त होने का यही कारण है। प्रेमचन्द ने एक कुशल समाजशास्त्री की भाँति समाज का विश्लेषण किया है। कितना घोर अत्याचार है कि समाज का एक प्राणी दो टुकड़ों के लिए तरसे, भूखा रहे और उसी समाज का दूसरा प्राणी विलासितापूर्ण जीवन यापन करे। यह सामाजिक शोषण कैसा कि जिसमें पूँजीपति का पुत्र विलासपूर्ण जीवन व्यतीत करे, शिक्षा का अन्त कर डाले और निर्धन व्यक्ति का पुत्र मासिक फीस भी न दे सके। 'महाजनी सभ्यता' नामक लेख में, जिसे उन्होंने अपने देहान्त के दो मास पूर्व लिखा था, अपने विचार व्यक्त किये थे—"जहाँ धन की कमी-वेशी के आधार पर असमानता हो, वहाँ ईर्ष्या, जोर-जबरदस्ती, बेईमानी, झूठा, मिथ्या, अभियोग आरोप, वेश्यावृत्ति, व्यभिचार और सारी दुनिया की बुराइयाँ अनिवार्य रूप से मौजूद हैं। जहाँ धन का आधिक्य न हो, अधिकांश मनुष्य एक ही स्थिति में हैं, वहाँ जलन क्यों हो? झूठे मुकदमें क्यों चलें और चोरी-डाके की वारदातें क्यों हों? ये सभी बुराइयाँ दौलत की देन हैं, पैसे के पैसे हैं और जब सबके पास पैसे नहीं हैं तो प्रसाद है, महाजनी सभ्यता ने इनकी सृष्टि की है। यही इनको पालती है। वही यह भी चाहती है कि जो दलित, पीड़ित और विजित हैं वे इसे ईश्वरीय विधान समझकर अपनी स्थिति पर संतुष्ट रहें.........। पैसा अपने साथ यह सारी बुराइयाँ लाता है, जिन्होंने दुनिया को नरक बना दिया है। इस पैसे-पूजा को मिटा दीजिए—सारी बुराइयाँ अपने आप मिट जायेंगी, जड़ न खोदकर केवल फुनगी की पत्तियाँ तोड़ना बेकार है। यह नयी सभ्यता धनाढ्यता को हेय और लज्जाजनक तथा घातक विष समझती है।"

स्पष्ट है कि प्रेमचन्द समाज में धन को किस विषाक्त दृष्टि से देखते थे तथा उसे अभिशाप स्वरूप समझते थे। जैसा दीक्षित जी ने कहा है—"वे वर्गरत मानवता तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति को सामाजिक निर्माण के लिए विष समझते थे।"

प्रेमचन्द का जीवन-दर्शन इन्हीं तत्वों के ताने-बाने से बुना था, जिसने उन्हें साहित्य में ही नहीं, अपितु जनसाधारण में भी लोकमान्यता प्रदान की। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उनका व्यक्तिगत आदर्श था, जो उनके साहित्य में यत्र-तत्र प्रांप्त होता है।

वे जीवन, साहित्य और समाज के दार्शनिक थे। जीवन की अनुभूति से अनुप्राणित होकर, साहित्य के माध्यम से समाज के दर्शन की सभी रेखाएँ प्रस्तुत कीं। वे एक ऐसे समाज परिवार की व्यवस्था करना चाहते थे जिसमें सर्वत्र सत्यं, शिवं, सुन्दरम् की भावना व्याप्त हो। उनका लक्ष्य समाज के इसी क्रमिक रूप को प्रस्तुत करना था, निस्सन्देह उनको इसमें आशातीत सफलता प्राप्त हुई।

३०

हिन्दी उपन्यास : प्रगति की दो दिशाएँ

●

इतिवृत्त एवं रूप-संविधान के क्षेत्र में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का समावेश प्रेमचन्द के पश्चात् हिन्दी उपन्यास की एक प्रमुख प्रवृत्ति रहा है। विवेकपूर्ण चिन्तन को प्रश्रय देने वाली बौद्धिकता ने विश्व-साहित्य के विविध अंगों पर जो प्रभाव डाला है उससे हिन्दी साहित्य भी मुक्त नहीं रहा। गत दो दशकों में हिन्दी के काव्य, नाटक, उपन्यास और कहानी के विषय; कल्पना और चिन्तन की विस्तृति अथवा परिधि का निर्णय करने वाली एक प्रमुख शक्ति-बौद्धिक दृष्टि ही रही है। यूरोपीय उपन्यास में यह प्रवृत्ति बीसवीं शती के आरम्भ में जम चुकी थी, हिन्दी में प्रेमचन्द के पश्चात् इसका आविर्भाव हुआ।

हिन्दी उपन्यास की सामाजिक यथार्थवादी परम्परा प्रेमचन्द के बाद कुछ वर्षों तक क्षीण एवं शिथिल होती रही है। यद्यपि प्रेमचन्द के परवर्ती अनेक उपन्यासकारों ने समकालिक समस्याओं का सामाजिक परिवेश में अध्ययन किया है, तो भी उनमें अधिकांश न प्रेमचन्द के समान एक विशाल पट-भूमि को अपना सके, न जन-जीवन से अधिक मानसिक निकटता प्राप्त कर सके। कुछ लेखक व्यक्ति की मनो-भूमि में सामाजिक प्रवृत्तियों और समस्याओं को प्रक्षेपित कर उनका अध्ययन करने की ओर उन्मुख हुए, जिससे सामाजिक यथार्थवाद का पोषण नहीं हुआ।

बढ़ती हुई बौद्धिकता ने हिन्दी काव्य में एक ओर वैज्ञानिक चिन्तन की स्थापना की, और दूसरी ओर मन के अन्तर्द्वन्द्वों और उलझी हुई संवेदनाओं को भी काव्योचित परिगणित करके ग्रहण कर लिया। चिन्तन-प्रधान काव्य-धारा ने तत्कालीन समाज अथवा मानव-मात्र के जीवन की समस्याओं को अपग्र-थनार्थ उठा लिया है, तो दूसरी धारा ने व्यक्ति के अन्तर्जगत् की संकुलताओं को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। ये दोनों दृष्टिकोण हिन्दी उपन्यास को भी प्रभावित करके उसे दो पथों से परिचालित करने लगे हैं–(१) व्यक्ति-केन्द्रित, और (२) समाज-केन्द्रित।

प्रेमचन्द तथा उनके समय तक के अन्य उपन्यासकारों ने 'व्यक्ति' और 'समाज' को अलग कर नहीं देखा। अतः उनके लिए दोनों के प्रति भिन्न दृष्टि-कोण रखने की आवश्यकता भी नहीं थी। उनकी रचनाओं को न व्यक्ति-केन्द्रित कह सकते हैं, न समाज-केन्द्रित।[1] किन्तु भाव-तरलता के साथ बौद्धिक गहनता भी वर्तमान युग की माँग है। अब उपन्यासकार को सम्भवतः यह प्रतीत हो रहा है कि समाज और व्यक्ति को एक सीमा तक अलग करके ही अधिक गहरा और विशेषीकृत अध्ययन सम्भव है। यही इन भिन्न धाराओं के उद्भव का कारण ज्ञात होता है। व्यक्ति-केन्द्रित तथा समाज-केन्द्रित धाराओं की अपनी विशेषतायें हैं, अपनी-अपनी परिमितियाँ भी। पर इस समय यह कहना असंभव है कि इस विशेषीकृत दृष्टिकोण की उपलब्धियाँ क्या हैं, और सम्भावनायें क्या हो सकती हैं।

प्रेमचन्द ने जिस समन्वित दृष्टि को अपनाया था उसकी भी सम्भावनाओं के बारे कुछ नहीं कहा जा सकता है। प्रेमचन्द ने व्यक्ति और समाज—दोनों का आकलन कर उनकी अगाधता तक पहुँचने की जो पद्धति प्रस्तुत की, उसे आगे बढ़ाने का प्रयत्न परवर्तियों ने नहीं किया। यह कहना अनुचित है कि प्रेमचन्द की पद्धति की चरम उपलब्धियाँ उनके ही उपन्यासों में पूर्ण हो चुकी हैं। इस पद्धति की शक्तियों का विशेष परीक्षण अभी बाकी है। रोमें रोलाँ के 'जा क्रिस्ताफे' (Jean Christophe) और प्रूस्त के 'अतीत का पर्यवेक्षण' (A la recherche du temps perdu) जैसे सरितोपम उपन्यास (Roman Feuve), गाल्सवदी के 'फार्साइट साग' (Forsyte Saga) जैसे परिवार-वृत्तान्त, शोलोखोव के दोनों उपन्यास ('दोनों नदी धीरेब हती है', 'दोन अपने

---

१. व्यक्ति-केन्द्रित और समाज-केन्द्रित उपन्यासों को चरित्र-प्रधान और समस्या-प्रधान सामाजिक उपन्यासों से भिन्न समझना चाहिए। आगे यह स्पष्ट होगा।

घर समुद्र को बह जाती है' और 'दोन नदी-तट की नयी फसल') जैसे विस्तृत पट-भूमि के पनोरमिक उपन्यास आदि के समान जीवन ने विराट रूप को प्रदर्शित करने वाली वृहत् रचनायें हिन्दी में अभी नहीं आयी हैं।[1] जब हमारे लेखक ऐसी रचनाओं की ओर उन्मुख होंगे, तभी प्रेमचन्द-शैली की चरम शक्तियाँ प्रकट होंगी।

व्यक्तिवाद का विकास

जैनेन्द्र कुमार की 'सुनीता' ने हिन्दी उपन्यास को एक नयी दिशा की ओर प्रेरित किया। 'सुनीता' में जिस व्यक्ति-विश्लेषण की नींव डाली गयी, वह आगे चलकर उपन्यास की प्रगति को दिशा निर्दिष्ट करने वाली एक सबल शक्ति बन गया। वैसे जैनेन्द्र के व्यक्ति-विश्लेषण को पूर्णतः मनोवैज्ञानिक नहीं मान सकते। दर्शन और मनोविज्ञान का एक विचित्र सम्मिश्रण उनके प्रायः सभी उपन्यासों में मिलता है।[2] पर आगे चलकर लेखकों ने अपनी रचनाओं में व्यक्ति-विश्लेषण को एक मुख्य स्थान दिया। सीमित सामाजिक परिवेश में व्यक्ति के वैकारिक जगत के उलझे हुए भावों का उद्घाटन करने वाले उपन्यास-कारों में अज्ञेय, धर्मवीर भारती, डॉ० देवराज, इलाचन्द्र जोशी आदि के नाम लिये जा सकते हैं।

कला की दृष्टि से अनेक वैकल्पों के और वैज्ञानिक दृष्टिसे कई असूक्ष्मताओं के होने से इन लेखकों की अनेक रचनायें अप्रौढ़ हैं। फिर भी उन सब में व्यक्ति की आन्तरिक सत्ता को गहराई से समझने का जो प्रयत्न किया गया है, वह श्लाघनीय है। उपन्यास के क्षेत्र में बल पकड़ती हुई धारा के रूप में भी व्यक्ति-केन्द्रित उपन्यास-धारा का विशेष महत्व है।

मनोजगत को अथवा उसके सीमित अंशों को प्रगाढ़ रंग देकर चित्रित करना—इन उपन्यासों की विशेषता है। जब उपन्यासकार बाह्य-जगत् के विश्लेषण को भी अपेक्षित समझता है, तब भी उसका लक्ष्य—केन्द्र व्यक्ति ही

१. भगवतीचरण वर्मा का 'भूले-बिसरे चित्र' इस दिशा में एक मात्र प्रयत्न है जिसे कुछ सफल माना जा सकता है।
२. मनोविज्ञान कभी भला-बुरा, उत्कृष्ट-निकृष्ट आदि का विवेचन नहीं करता। वैज्ञानिक दृष्टि मूल्य (Values) के शब्दों में जीवन की व्याख्या नहीं करती। नैतिकता से उसका सम्बन्ध नहीं रहता। नैतिकता और मूल्य के आधार पर जीवन का विश्लेषण करना दर्शन और धर्मशास्त्र का काम है। जैनेन्द्र में यही प्रवृत्ति द्रष्टव्य है।

रहता है। व्यक्ति बाह्य-जगत् तथा उसके क्रिया-कलापों से मानसिक संघर्ष के द्वारा सम्बद्ध रहता है, अथवा बाह्य-जगत् की क्रिया-प्रक्रियाओं से प्रभावित मात्र रहता है। बाह्य-जगत् एवं व्यक्ति के इस सम्बन्ध की सीमा के आधार पर व्यक्ति-केन्द्रित उपन्यासों को दो प्रकार के मान सकते हैं—'अन्तर्मुखी' और 'बहिर्मुखी'।

१. अन्तर्मुखी व्यक्ति-केन्द्रित उपन्यास

जब मनुष्य की किसी मानसिक प्रक्रिया का विश्लेषण मात्र लेखक को अभीष्ट होता है, तब व्यक्ति को सामाजिक परिवेश से विच्छिन्न कर लेना एक तरह से वांछनीय हो जाता है। चित्र-कला में कभी कभी अनेक वस्तुओं को समाविष्ट करने वाला विस्तृत वातावरण स्वयं चित्र का विषय होकर अपना महत्व रखता है; पर सारे वातावरण का परित्याग कर सूक्ष्म रेखाओं द्वारा किसी विशिष्ट वस्तु का रूप उतारना भी दूसरी दृष्टि से श्लाघनीय रहता है। मनोभाव मात्र को व्यक्त करने के इच्छुक भाव-शिल्पी को किसी व्यक्ति के कारुण्य को दिखाने के लिए उसके सम्पूर्ण आकार की अपेक्षा नहीं रहती। वह कुछ सूक्ष्म रेखाओं द्वारा मुख-मात्र को—अथवा नयन मात्र को अंकित करके उद्दिष्ट भाव को अभिव्यक्त कर सकता है। अन्तर्मुखी व्यक्ति-केन्द्रित उपन्यास की भी दशा यही होती है। उसका मुख्य ध्येय किसी मनोभाव का छोटी या बड़ी काल-सीमा के अन्दर का विकास दिखाना होता है। इसके लिए लेखक वातावरण को न्यूनाधिक मात्रा में सीमित बना लेता है। सम्भव है ऐसी दशा में उपन्यास के पात्र समाज और सामान्य जीवन से विच्छिन्न-से लगें, और असमर्थ लेखक के हाथ में आकर अयथार्थ या अस्वाभाविक बन जावें। अन्यथा लेखक एक भाव-जगत् का सृजन कर पाता है, जिसमें प्रविष्ट होकर पाठक बाह्य वातावरण के अभाव को भुला देता है। ऐसे उपन्यासों को ही व्यक्तिवादी मान सकते हैं।

फ्रेंच भाषा में इनके अनेक उत्तम उदाहरण मिलते हैं। आन्द्रे जीद का 'तंग दरवाजों', फ्रांसो मारिया का 'जो खो गया' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। 'तंग दरवाजा' की नायिका अपने से कम उम्र के एक बालक से प्रेम करती है। शिक्षा तथा परिवेश-सिद्ध मानसिक संस्कृति उसके इस अनुचित भाव का विरोध करती हैं। निसर्ग-प्रेरित प्रेम (या वासना ?) और संचित मानसिक संस्कृति का संघर्ष उपन्यास का मुख्य विषय है। इस मानसिक संघर्ष के सामने बाह्य-जगत् का विशेष महत्व नहीं रहता। 'जो खो गया' में निरन्तर सुधरने का विचार करते हुए भी सदा नैसर्गिक प्रेरणा से उच्छृंखल जीवन बिताने वाले एक व्यक्ति के आन्तरिक संघर्ष का, और इस उच्छृंखलता के

कारण अपार मानसिक व्यथा का अनुभव करती हुई उसकी पत्नी के मनोजगत् के प्रतिकरणों का मार्मिक चित्रण मिलता है। दोनों में प्रतिपाद्य विषय सीमित हैं, और सीमा उपन्यास को अधिक प्रभविष्णु बनाने में सहायक है।

हिन्दी में व्यक्तिवाद की परम्परा 'सुनीता' से प्रारम्भ होती है। प्रेमचन्द द्वारा प्रतिष्ठित पद्धति से पृथक् होकर जैनेन्द्र ने कथानक, चरित्र-विकास और वातावरण को प्रभावित करने वाले एक व्यतिक्रम का आरम्भ किया। 'सुनीता' में वातावरण को सीमित एवं बहुत कुछ धूमिल बनाकर सुनीता और हरिप्रसन्न की मनोवृत्तियों को—विशेषकर उनके पारस्परिक मानसिक भावों को—गहरे रंगों में उतरा गया है। यद्यपि इन पात्रों का मनोवैज्ञानिक आधार अधिक दृढ़ नहीं है तो भी प्रथम व्यक्तिवादी उपन्यास के रूप में इसकी गणना अनुचित नहीं है। सुनीता और हरिप्रसन्न की मनोवृत्तियों की मनोवैज्ञानिक स्वाभाविकता-अस्वाभाविकता का परिगणन न करके—भाव-विकास, तथा उपन्यास के शिल्प पर उसके प्रभाव का परीक्षण करें तो स्पष्ट होगा कि इस उपन्यास का चरित्र-विकास और वस्तु-विन्यास पूर्ववर्ती उपन्यासों से कैसे भिन्न हैं। इसमें विषय की जो एकता और दृढ़ता प्राप्त है, वह कथा-प्रधान या चरित्र-प्रधान उपन्यास की शृंखलाब-द्धता से भिन्न है।

इसके पश्चात् अनेक लेखकों ने व्यक्तिवादी उपन्यास लिखने का प्रयत्न किया है। इनमें दो-तीन सफल हुए हैं तो अनेक विफल।

'शेखर : एक जीवनी' और 'नदी के द्वीप' व्यक्तिवादी उपन्यास की दो भिन्न विधाओं के उदाहरण हैं। शेखर' व्यक्ति केन्द्रित है और 'नदी के द्वीप' भाव-केन्द्रित। दोनों को व्यक्तिवादी कहने में आशंका नहीं होनी चाहिए। सामाजिक परिवेश में शेखर के व्यक्तित्व का विकास 'शेखर' का विषय है। सामाजिक वातावरण इस व्यक्ति के आकलन में सहायक बनकर आता है, या व्यक्तित्व के आकलन में सहायक बनकर आता है, या व्यक्तित्व के प्रकटन के माध्यम के रूप में। वह सामान्यतः व्यक्तित्व को गौण या धूमिल बनाकर स्वयं आकर्षण का केन्द्र नहीं बनता, जैसे कि इलाचन्द्र जोशी के अधिकांश उपन्यासों में। 'नदी के द्वीप' में विषय सीमित है। अज्ञेय के ही अनुसार वह 'व्यक्ति-चरित्र का उपन्यास' है।[१] अत्यन्त सीमित वातावरण में चार पात्रों के चरित्रों का आंशिक उद्घाटन इसमें हुआ है। आंशिक इसलिए कि शेखर के समान इसके पात्रों के व्यक्तित्व अपने पूर्ण रूप में व्यक्त नहीं होते। इन पात्रों के पारस्परिक सम्बन्ध को रूप देने वाली संवेदनायें ही वे असंस्कृत वस्तुएँ हैं जिनसे

---

१. **'आत्मनेपद'**—अज्ञेय १९६०, काशी, पृ० ७२।

उपन्यास का निर्माण हुआ है। इनमें भी रेखा और भुवन पर पड़ने वाले प्रकाश की तीव्रता कुछ अधिक है; गौरा और चन्द्र माधव पर का कुछ क्षीण। अन्य पात्र और वातावरण प्राय: धूमिल और अस्पष्ट ही रह गये हैं। इस तरह कुछ विशेष पात्रों की संवेदनाओं को परिवेश से पृथक् कर लेने से उपन्यास का भाव-क्षेत्र अधिक मोहक हुआ है।

इलाचन्द्र जोशी के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में 'मुक्ति पथ' को छोड़कर अन्य किसी को व्यक्तिवाद के अन्तर्गत मानना कठिन है। 'सन्यासी', निर्वासित', 'जहाज का पंछी' आदि व्यक्ति-केन्द्रित होने पर भी व्यक्तिवादी नहीं हैं। 'मुक्ति-पथ' के राजीव और नुनन्दा के व्यक्तित्व का विकास सशक्त और प्रभावान्वित है। राजीव और सुनन्दा का सम्पर्क उनकी मनोवृत्तियों को प्रभावित कर व्यक्तित्वों को रूप देता है। बाह्य वातावरण इसमें भी आकर्षण का विषय नहीं है।

'नदी के द्वीप' के बाद व्यक्तिवादी धारा में कोई उल्लेखनीय रचना नहीं निकली है। फिर भी यह नहीं माना जायेगा कि व्यक्तिवाद अपनी आयु पूर्ण करके समाप्त हो चुका है। संभवतः हमारे उपन्यासकार इस प्रश्न से आतंकित हैं, जिसका सामना 'नदी के द्वीप' के लेखक को करना पड़ा। विषय की सामान्य जीवन से असंबद्धता, और पात्रों के भावात्मक अस्तित्व के कारण 'नदी के द्वीप' में प्रकट जीवन की स्वाभाविकता पर ही सन्देह होने लगता है। जब तक पाठक उसमें निर्मित भाव-जगत् के अन्दर प्रविष्ट नहीं होता तब तक उसके लिए ये पात्र अनवगाह्य ही रह जाते हैं। समाज से पात्रों की ऐसी विच्छिन्नता के सम्बन्ध में एक प्रश्न का उत्तर देते हुए अज्ञेय कहते हैं—"जो उपन्यास-मूलतः चार-पाँच वैयक्तिक संवेदनाओं का अध्ययन है, उसके पात्र 'समाज से कटे हुए' हैं या नहीं ? यह प्रश्न मेरे लिए तो प्रासंगिक ही नहीं हुआ। एक पेड़ की शाखा-प्रशाखाओं की रचना देखने के लिए क्या यह पहले निश्चय कर लेना अनिवार्य (या आवश्यक भी) है कि वह पेड़ जंगल से कटा हुआ है या कि जगल का अंग है ? उपन्यास अनिवार्यतया पूरे समाज का चित्र हो, यह माँग बिलकुल गलत है।"[१] इस उत्तर के आलोक में उपन्यास के विषय और पात्रों को समझना अधिक सरल होगा। फिर भी 'नदी के द्वीप' की कुछ दुर्बलतायें विचारणीय हैं। निश्चित ही किसी विशेष व्यक्ति अथवा भाव को समझने के लिए सम्पूर्ण सामाजिक परिवेश का निरीक्षण आवश्यक नहीं है।

---

१. **'आत्मनेपद'**—अज्ञेय, पृ० ८६।

पर कभी-कभी सामाजिक मान्यताओं का परि-रक्षण अपरित्याज्य होता है। प्रतिपाद्य भाव या मनोवृत्ति मानव मात्र के लिए सामान्य हो, तो सामाजिक वातावरण के अभाव में भी उपन्यास संवेद्य रहता है। ऐसी दशा में पात्रों के सामाजिक व्यवहार अनपेक्षित ही नहीं होते, बल्कि वे भाव-विकास में शिथिलता भी लाते हैं। प्रतिपाद्य भाव इससे भिन्न प्रकार का हो, और पात्रों की सामाजिक प्रवृत्तियाँ भी उपन्यास के अविच्छिन्न अंग हों, तो पात्रों का परिचालन सामाजिक आचरणों के अनुकूल होने से ही वे यथार्थ भासित होंगे। 'नदी के द्वीप' में पात्र समाज से एक दम कटे हुए नहीं हैं। सीमित मात्रा में ही सही, पात्रों का समाज से सम्बन्ध है। किन्तु पात्रों के ऐसे अनेक आचरण हैं, जो तत्कालीन भारतीय समाज के सामान्य आचरणों के अनुकूल नहीं हैं। रेखा, भुवन, चन्द्र-माधव आदि का अर्द्ध-निशा के समय पार्कों में घूमते फिरना आदि—ऐसे ही प्रसंग हैं। ऐसे प्रसंगों के अभाव में ये पात्र समाज से कटे रहकर भी अधिक यथार्थ और इस कारण अधिक अनुभूति-गम्य होते।

जैसे पहले कहा गया है 'नदी के द्वीप' के बाद व्यक्तिवादी उपन्यास का कोई उल्लेखनीय उदाहरण नहीं मिलता। फिर भी व्यक्तिवाद का पूर्ण लोप नहीं हुआ है। तत्कालीन लेखकों के सामाजिक उपन्यासों में भी व्यक्तित्व के गंभीर अध्ययन का जो प्रयास मिलता है, उससे यह ज्ञात होता है कि हमारे उपन्यासकार व्यक्तिवाद के प्रतिष्ठापन के लिए उचित माध्यम या पद्धति के अन्वेषण में लगे हैं। सामान्यतः साहित्य में बौद्धिकता को जो स्थान मिल रहा है, वह इसमें सहायक भी है।

२. बहिर्मुखी व्यक्ति-केन्द्रित उपन्यास

व्यक्ति-केन्द्रित उपन्यास में जब पात्र या पात्रों की वैयक्तिकता सबल नहीं रहती, तब वह बहिर्मुखी हो जाता है। ऐसे उपन्यासों में सामाजिक प्रवृत्तियों का व्यक्ति के मन पर प्रक्षेपण किया जाता है और उसके मानसिक प्रतिकरणों का लेखा तैयार किया जाता है। जोशी जी के 'सन्यासी', निर्वासित', 'जहाज का पंछी' आदि इसके उदाहरण हैं। यद्यपि जोशी जी सामान्यतः मन के आन्तरिक स्तरों में प्रविष्ट होने का प्रयत्न करते हैं, तो भी इससे प्रायः पात्र के व्यक्तित्व का उद्घाटन नहीं होता। गहरे रंग में चित्रित विस्तृत वातावरण के कारण इन उपन्यासों में मनोवृत्तियों का क्रमिक और सुगठित विकास सम्भव नहीं हुआ है। उदाहरण के रूप में 'जहाज का पंछी' को लिया जा सकता है। एक असाधारण व्यक्ति की असाधारण मनोवृत्तियों का विकास ही सम्भवतः इसका उद्दिष्ट प्रमेय है। किन्तु इसके लिए जो वातावरण सजाया

गया है वह आवश्यकता से अधिक विस्तृत है; और उसके अनेक अंश गाढ़े रंग में चित्रित हैं। सामाजिक विकलताओं और समस्याओं की बहुलता हमें नायक के भाव-जगत् में प्रवेश करने का अवसर नहीं देती। इन समस्याओं के सम्बन्ध में नायक के लंबे-लंबे भाषण, उसकी मानसिक प्रक्रियाओं से हमें अवगत करने के बदले उन समस्याओं के प्रति ही हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। परिणाम-स्वरूप पात्रों का बहिर्मुखी रूप ही हमारे सामने आता है; और सामाजिक जीवन तथा उसकी समस्याओं का परिचय भी प्राप्त होता है।

समाज-केंद्रित उपन्यास

जब इस प्रकार हमारे उपन्यास-साहित्य में व्यक्तिवादी प्रयोग चल ही रहे हैं, सामाजिक चेतना भी पुनः मुख्यता पाने लगी है। प्रेमचन्द के बाद आठ-दस साल तक सामाजिक उपन्यास की धारा में अधिक उल्लेखनीय रचनायें नहीं आयीं। किन्तु इसके बाद यज्ञदत्त, नागार्जुन, यादवचन्द्र जैन आदि लेखकों ने इस धारा को पुष्ट करने का प्रयत्न किया है। यह कहना उचित नहीं होगा कि इन लेखकों ने सामाजिक उपन्यास के शिल्प में मौलिक सुधार करके उसे प्रेमचन्द के उपन्यासों के स्तर से ऊपर उठाया है। फिर भी हम निश्चित रूप में कह सकते हैं कि आकस्मिक घटनायें, कल्पित आदर्श, अप्रायोगिक सुधार-योजनायें आदि जो दुर्बल अंश प्रेमचन्द के उपन्यासों में मिलते हैं, उनसे ये क्रमशः मुक्त होते आ रहे हैं। उपन्यास के गढ़न को शिथिल बनाने वाले आदर्श-निरूपण और सिद्धान्त-निरूपण भी कम होते आ रहे हैं।

इस धारा के विकास में गत एक दशक में कुछ मौलिक प्रवृत्तियाँ दिखायी पड़ने लगी हैं। रेणु के 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' द्वारा प्रतिष्ठित आँचलिकता उपन्यास को यथार्थवाद के समुन्नत स्तरों पर ले जाने में सहायक हुई है। इस आँचलिकता से अनुबद्ध पनोरमिक (Panoramic) चित्रीकरण भी विशेष प्रभाव से युक्त है। सामान्यतः सामाजिक उपन्यासों में समाज के अनेक अंशों और समस्याओं को सुगठित रूप में प्रकट करने के लिए किसी व्यक्ति अथवा घटना से सम्बन्धित एक कथा माध्यम के रूप में स्वीकृत की जाती है। रेणु ने सम्बद्धता के इस माध्यम की उपेक्षा करके जीवन के अगणित आकर्षक दृश्यों को उपस्थित किया है। इनमें क्रम-बद्धता न होने पर भी, ये सब मिलकर यथार्थ जीवन के एक विस्तृत अंश को मोहक रूप में हमारे सामने रखते हैं।

ऐसे शिथिल गठन के उपन्यासों की एक बड़ी दुर्बलता इस बात में है कि वे पाठक के मन में क्रमशः विकसित होकर चरम सीमा तक पहुँचाने वाली संवेदना उत्पन्न नहीं कर सकते। उपन्यास की गठन जितनी शिथिल होती है,

प्रभाव भी उतना ही शिथिल रहता है। आरम्भ से अन्त तक व्याप्त रागात्मक इतिवृत्त के अभाव में पाठक उपन्यास के विषय तथा पात्रों से कुछ असंपृक्त ही रह जाता है।

आँचलिकता को सुरक्षित रखते हुए इस शिथिलता का निवारण संभव है। आँचलिकता के आधार-भूत वातावरण को सीमित रखकर या विस्तृत वातावरण में भी घटनाओं को एक कथा-सूत्र से सम्बद्ध करके गठन को दृढ़ बनाया जा सकता है। इन दोनों प्रकार के उदाहरणों के रूप में क्रमशः राम दुरश मिश्र के 'पानी के प्राचीर' और रांगेय राघव के 'कब तक पुकारूँ' के नाम लिये जा सकते हैं। 'पानी के प्राचीर' में कथानक के कुछ शिथिल होने पर भी सीमित वातावरण के कारण एक अन्विति आ गयी है। 'कब तक पुकारूँ' का विषय अत्यन्त विस्तृत है; किन्तु घटनायें दो कारणों से सम्बद्ध रही हैं। प्रथमतः सभी घटनायें कुछ मुख्य पात्रों से सम्बन्धित हैं; और दूसरा कारण यह है कि सभी प्रमुख पात्र एक कथा-सूत्र के द्वारा एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं।

परिवार-वृत्तान्त और सामाजिक इतिहास

समाज-केन्द्रित उपन्यास-धारा ने हाल में कुछ नये तत्वों को ग्रहण किया है। ऐतिहासिक तथा समाज-वैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर, एक विस्तृत काल-सीमा के अन्दर समाज और परिवार के विकास-क्रम का अध्ययन करने की प्रवृत्ति अभी कुछ वर्षों से शुरू हुई है। विशाल ऐतिहासिक पट-भूमि पर हमारे सामाजिक विकास और स्वतन्त्रता-आन्दोलन को चित्रित करने वाली मन्मथनाथ गुप्त की उपन्यास माला (नया सबेरा, रैन अँधेरी, रंग-मंच, अपराजित, प्रतिक्रिया), और स्वतन्त्रता-आन्दोलन की सामाजिक पृष्ठ-भूमि के आधार पर रचित भगवती चरण वर्मा का 'भूले-बिसरे चित्र' विचारणीय रचनायें हैं।

दोनों लेखकों ने अपने उपन्यासों में जिस युग का अध्ययन किया है वह राजनैतिक तथा सामाजिक दृष्टि से भारत के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा है। इस युग के सामान्य भारतीय स्त्री-पुरुषों के जीवन, तत्कालीन परिवार के रूप में क्रम से आया हुआ परिवर्तन, शिक्षा-पद्धति का मौलिक व्यतिक्रम, जीवन-मूल्य के सम्बन्ध में नयी मान्यताओं का प्रतिष्ठापन—इत्यादि के श्रमसाध्य अध्ययन से ही इस काल पर आधारित कोई सामाजिक उपन्यास सफल हो सकता है। और ऐसे अध्ययन के अभाव में उपन्यास का पराजित होना निश्चित रहता है। मन्मथनाथ गुप्त का आधार गम्भीर वैज्ञानिक अध्ययन नहीं है, देवकी नन्दन खत्री और किशोरीलाल गोस्वामी के काल से ही हिन्दी उपन्यास

के लिए परिचित कुछ सस्ते उपकरण हैं। असामान्य और आश्चर्यमय पात्रों के स्वच्छन्द विहार, सामाजिक विप्लव का वास्तविकता से विपर्यस्त एक सनसनी-दार कल्पित रूप, जासूसी उपन्यासों की सी रहस्यमय घटनायें आदि के कारण ये उपन्यास एक सामान्य रोमान्टिक उपन्यास के स्तर से ऊपर नहीं उठ पाये हैं। लेखक की योजना उत्कृष्ट है; वर्षों तक के गम्भीर अध्ययन के बाद उसे कार्यान्वित किया जाय तो तालस्ताय के 'युद्ध और शान्ति' अथवा शोलोखोव के 'दोन' उपन्यासों के समान एक प्रौढ़ उपन्यास की रचना हो सकती है।

भगवतीचरण वर्मा का अकादमी पुरस्कार प्राप्त 'भूले-बिसरे चित्र' एक गम्भीर रचना है। जिसमें लगभग सन् १८८५ से लेकर हमारी स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व तक के सामाजिक जीवन के अनेक अंगों का स्पर्श किया गया है। 'भूले-बिसरे चित्र' के विषय को दो भागों में विभक्त किया जा सकता—यद्यपि दोनों बिलकुल मिले हुए हैं। एक सामाजिक-राजनैतिक विकास-क्रम से सम्बन्धित है, और विशेष भावात्मक न होने पर भी सामाजिक इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। दूसरा पीढ़ियों से होकर विकसित होते हुए पारिवारिक जीवन का चित्र है, जो उपन्यास के वैकारिक अंश के सुरक्षितत्व का आधार है। लेखक ने इन दोनों क्षेत्रों के क्रमिक विकास का समाज-विज्ञान की दृष्टि से निरीक्षण किया है, और कलात्मक ढंग से चित्रण किया है। ऐसी रचनाओं की सफलता के लिए जो यथार्थवादी दृष्टिकोण और गहरी संवेदना अपेक्षित हैं, दोनों 'भूले-बिसरे चित्र' में विद्यमान हैं।

उपर्युक्त दोनों रचनायें समाज-केन्द्रित विशाल अध्ययन की प्रारम्भिक उपलब्धियाँ हैं; और ये व्यक्तिवाद के विरुद्ध उत्कृष्ट कृतित्व की संभावना के प्रमाण हैं। अपने-अपने ढंग की प्रारम्भिक रचनाओं के रूप में दोनों में दुर्बल-तायें हैं। पर ये भविष्य के उपन्यास-साहित्य की दिशा निर्दिष्ट करने में समर्थ होवें तो विशेष ऐतिहासिक महत्व रखेंगे।

व्यक्ति तथा समाज को केन्द्र बनाकर आगे बढ़ती हुई ये धारायें हिन्दी उपन्यास की तत्कालीन प्रगति की दो दिशाओं की ओर संकेत करती हैं। क्षेत्र तथा दृष्टिकोण में भिन्न—इन धाराओं ने उपन्यास के आकार, गठन आदि को भी प्रभावित किया है। किन्तु दोनों धारायें बौद्धिकता से प्रभावित यथार्थ-बोध पर आधारित हैं, और अन्तर्मुखी होकर जीवन का गहन विश्लेषण करने की ओर उन्मुख हैं।

३१

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबन्धों की भाषा-शैली

●

हिन्दी साहित्य के इतिहास में हजारी प्रसाद जी द्विवेदी का नाम जहाँ एक ओर अध्येता और शोध-वेत्ता के रूप में 'हिन्दी साहित्य के आदि काल' तथा 'कबीर' के साथ जुड़ा रहेगा, वहाँ दूसरी ओर उनका निबन्धकार का रूप भी चिरस्मरणीय रहेगा। किसी भी निबन्धकार के निबन्ध के माध्यम से हम उसकी मानसिक चेतना और भावात्मक अनुभूति तक पहुँच सकते हैं। द्विवेदी जी एक श्रेष्ठ निबन्धकार हैं। व्यक्तिपरक निबन्धों के क्षेत्र में उनका स्थान अद्वितीय है। वैसे तो द्विवेदी जी का व्यक्तित्व उनके सभी निबन्धों में झाँकता है—कहीं प्राचीन संस्कृति के उपासक-रूप में, कहीं भारतीय साहित्य के अध्येता रूप में, कहीं रवीन्द्र-दर्शन के व्याख्याता के रूप में, कहीं शास्त्रीय आलोचक के रूप में और कहीं जीवन में प्रेरणा फूँकने वाले आदर्श नेता के रूप में पर उनके व्यक्तित्व का वास्तविक रूप उनके व्यक्ति परक निबन्धों में पूर्णतया समाहित है। व्यक्तित्वविहीन साहित्यकार पंगु है। साहित्यकार का व्यक्तित्व ही उसके साहित्य का प्राण है। हडसन के कथन—'द ट्रू ऐसे इज़ एशेन्शियली

पर्सनल' (The true essay is essentially personal) के अनुसार तो आपके लिखे हुए आत्मपरक या व्यक्तिपरक निबन्ध सच्चे निबन्ध कहे जायेंगे।

द्विवेदी जी निबन्धकार के साथ-साथ आलोचक हैं, यही कारण है कि आपके आलोचनात्मक निबन्धों में भी गहन अध्ययन के फलस्वरूप सिद्धान्त-विवेचन का पक्ष सबल है। द्विवेदी जी ने अब तक लगभग १५० निबन्ध लिखे हैं जिनमें से अधिकांश आपके—'विचार और वितर्क', 'हमारी साहित्यिक समस्याएँ', 'अशोक के फूल', 'कल्पलता', 'मध्यवर्ती धर्म-साधना', 'विचार प्रवाह' शीर्षक निबन्ध-संग्रहों में संकलित हैं। इनमें केवल 'मध्यकालीन धर्म-साधना'[1] में ही निबन्धों का व्यस्थित संग्रह है। द्विवेदी जी के निबन्धों में प्राचीनता और नवीनता का अपूर्व सामंजस्य है। विषय-वस्तु में आप भारतीय संस्कृति और प्राचीन साहित्य की ओर उन्मुख हैं, जिनमें उनका ठोस बौद्धिक चिन्तन, शास्त्रीय विवेचन, सनातन जीवन-दर्शन सहज सरल भाषा में अभिव्यक्त हुआ है।

विषय-वैविध्य की दृष्टि से आपने 'नाखून क्यों बढ़ते हैं ?', 'एक कुत्ता और एक मैना' जैसे साधारण से साधारण विषयों से लेकर 'साहित्य में व्यक्ति और समष्टि', 'साहित्य का मर्म' आदि गंभीर एवं जटिल विषयों तक को अपनी विस्तृत ज्ञान-परिधि में—भारतीय संस्कृति, संस्कृत साहित्य, साहित्य, हिन्दी-साहित्य, समाज, धर्म, भाषा, दर्शन, ज्योतिष, जीव-पशु-पौधे विषयक समेटा है। सम्भवतः भारतीय भाषाओं में कोई ही दूसरा ऐसा निबन्धकार हो जिसके विषय-निर्वाचन में इतना वैविध्य हो। विषय की दृष्टि से उनके निबन्धों को हम इस प्रकार विभाजित कर सकते हैं :—

सांस्कृतिक—हमारी संस्कृति और साहित्य का सम्बन्ध, संस्कृतियों का संगम, हमारी राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली, भारतवर्ष को सांस्कृतिक समस्या, भारतीय संस्कृति की देन।

साहित्य—साहित्य निर्माण का लक्ष्य, साहित्य का नया रास्ता, इतिहास का सत्य, मनुष्य की सर्वोत्तम कृति—साहित्य, साहित्य का नया कदम, हमारे पुराने साहित्य के इतिहास की सामग्री, साहित्यकारों का दायित्व, मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य, भारतीय साहित्य की प्राणशक्ति, साहित्य में मौलिकता का प्रश्न, मध्यकालीन साहित्यिकों की परस्पर सापेक्षिता।

---

१. **'मध्यकालीन धर्म-साधना' यद्यपि भिन्न-भिन्न अवसर पर लिखे गए निबन्धों का संग्रह ही है, तथापि प्रयत्न किया गया है कि ये लेख परस्पर-विच्छिन्न और असम्बद्ध न रहें।'**

—'मध्यकालीन धर्म-साधना' (भूमिका)।

शास्त्रीय—काव्य-कला, कविता का भविष्य, रस क्या है ?, रस का व्यावहारिक अर्थ, मधुर रस की साधना, आलोचना का स्वतन्त्र मान ।

भाषा-सम्बन्धी—संस्कृत और हिन्दी, हिन्दी की शक्ति, हिन्दी प्रचार की समस्या, नई समस्याएँ, सहज भाषा का प्रश्न, हम क्या करें ?, हिन्दी और अन्य भाषाओं का सम्बन्ध ।

हिन्दी-साहित्य (आदिकाल)—आदिकाल के अन्तर्प्रान्तीय साहित्य का ऐतिहासिक महत्व, भक्तिकाल—वैष्णव कवियों की रूपोपासना, हिन्दी का भक्ति-साहित्य, मध्ययुग या गध्यका, धर्म-साधना का साहित्य, वेद विरोधी स्वर, धर्म और निरंजन मत, अवतारवाद, श्रीकृष्ण की प्रधानता, गोपियाँ और श्री राधा आदि, रीतिकाल—रीतकाव्य, आधुनिक-काल—प्रेमचन्द का महत्व, प्रसाद जी की कामायनी, द्विवेदी जी की देन—शैली तथा समीक्षात्मक-समीक्षकों की समीक्षा, कवि के रियायती अधिकार, दादू, समालोचक की डाक, महिलाओं की लिखी कहानियाँ, बीजक की दो व्याख्याएँ, सूफी साधना, हकायके हिन्दी आदि ।

ज्योतिष—केतु-दर्शन, ब्रह्माण्ड का विस्तार, नया वर्ष आ गया, भारतीय फलित ज्योतिष ।

धर्म-नीति—धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्, आन्तरिक शुचिता ही आवश्यक है, धर्मचक्र ।

रवीन्द्र-गांधी : सत्य का महसूल, रवीन्द्रनाथ के राष्ट्रीयगान, रवीन्द्रनाथ

विषयक—की आशाभूमि । महात्मा के महाप्रयाण के बाद, वह चला गया ।

सामान्य—शव-साधना, गतिशील चिन्तन, पण्डितों की पंचायत, भगवान् महाकाल का कुंठ नृत्य, ठाकुर जी की बटोर, समस्याओं का सबसे बड़ा हल ।

प्रकृति विषयक—आम फिर बौरा गये, शिरीष के फूल, अशोक, कुटज, बसन्त आ गया ।

द्विवेदी जी के निबन्धों में विचारात्मक[१] निबन्धों की ही प्रधानता है ।

---

१. **"शुद्ध विचारात्मक निबन्धों का चरम उत्कर्ष वहीं कहा जा सकता है जहाँ एक-एक पैराग्राफ में विचार दबाकर कसे गये हों ; और एक-एक वाक्य किसी सम्बद्ध विचार-खण्ड को लिये हों ।"**—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : **'हिन्दी साहित्य का इतिहास'** ।

गवेषणात्मक, आलोचनात्मक तथा उनके साहित्य एवं सांस्कृतिक विषयों पर भाषण इसी कोटि के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं।

विचारात्मक :

गवेषणात्मक—ऐतिहासिक-सांस्कृतिक, जैसे संस्कृतियों का संगम। सैद्धान्तिक—रस क्या है, काव्य-कला आदि।

आलोचनात्मक—साहित्यिक—हिन्दी का भक्ति-साहित्य, वैष्णव कवियों की रूपोपासना आदि। समीक्षात्मक-समीक्षकों की समीक्षा, दादू आदि।

प्रचारात्मक—साहित्य के प्रचार तथा प्रसार सम्बन्धी—नई **(भाषण के माध्यम से)** समस्याएँ, हिन्दी की शक्ति, हिन्दी प्रचार की समस्याएँ आदि।

विचारात्मक के अतिरिक्त वर्णनात्मक, विवरणात्मक तथा भावात्मक निबन्ध भी आपने लिखे हैं :—

विवरणात्मक-वर्णनात्मक—ब्रह्माण्ड का विस्तार, केतु दर्शन आदि।

भावात्मक—वह चला गया, महापुरुष के प्रयाण के बाद आदि।

व्यक्तिपरक निबन्धों में द्विवेदी जी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इस कोटि में उदाहरणार्थ—'आम फिर बौरा गये', 'नाखून क्यों बढ़ते हैं', 'अशोक के फूल', 'शिरीष के फूल', 'कुटज' आदि लिये जा सकते हैं।

निबन्धों की भाषा—'भाषा' के सम्बन्ध में यह स्वीकार किया जा सकता है कि द्विवेदी जी को तत्समता प्रिय है। पर वस्तुस्थिति यह है कि द्विवेदी जी के निबन्धों की भाषा भावानुसार चलती है। उनके निबन्धों में भाषा के चलते हुए रूप से संस्कृतनिष्ठ रूप मिलता है।

'प्रेमचन्द' पर लिखते समय उनकी सरल भाषा का नमूना द्रष्टव्य है :—"प्रेमचन्द के सम्बन्ध में जिज्ञासा का अर्थ यह है कि प्रेमचन्द ने दुनिया को क्या दिया है; और इस दान में नवीनता या ताजगी क्या है, फिर प्रेमचन्द ने संसार को किस नये दृष्टि-कोण से देखा है, और वह दृष्टि-कोण किस सत्य को अभिव्यक्त करता है—क्योंकि आज की दुनिया में जिस लेखक और वक्तव्य और दृष्टिकोण में कोई ताजगी नहीं, कोई ऐसी ताकत नहीं जो हमारे पूर्ववर्ती संस्कारों और विचारों को झकझोर डाले तो उसके औचित्य को स्वीकार ही नहीं किया जाता। वह जमाना बीत गया जब लेखक सदा सशंक रहता था कि उसके विचार को कोई······।"

साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि उनकी भाषा में संस्कृत के क्लिष्ट तथा समास-बहुल शब्द भी पर्याप्त मात्रा में है :—

उदाहरणार्थ—विद्युद्वर्तिका, तेल-किट्ट-कालुष, शीशी, वदन-चन्द्र के लोध्ररेणु, कुंजर-बिन्दु-शोण-भूर्जत्वक्, बाह्य मौविध्यों, देवदारु-द्रुम-वेदिका, निर्वात-निष्कम्प, आसिंजित नूपुर-ध्वनि, कुज्झटिकाच्छन्न, उत्थित नगण्यात्-नगण्यतर काल में, अपृथक्त्वबुद्धि, चिन्मुखीकरण, परस्परस्पर्द्धि चारुता, प्रभास्वर-तुल्यभूता आदि सामासिक पद, पांडुरित, विषायित आदि जैसे रूप, तथा 'वर्ग-चेतनाओं के परस्पर टकराने में जो एक अभूतपूर्व ज्योति-स्फुलिंग निर्गत होता है'—जैसे वाक्य उनकी भाषा में भरे पड़े हैं।

'भाषा' के सम्बन्ध में द्विवेदी जी ने अपनी निजी विचार भी कहीं-कहीं निबन्धों में व्यक्त किये है। इस संदर्भ में हमको उनके ये विचार लाभप्रद रहेंगे :—

"भाषा के मामले में भी हमें सावधानी से काम लेना है। हम भाषाओं की एक लस्टम-पस्टम रेल-पेल न खड़ी कर दें—जो भविष्य में हमारी सभी योजनाओं के लिये घातक साबित हो। भाषा भी हमारे भावी महालक्ष्य की पूर्ति का साधन है। हमें ऐसी भाषा बनानी है—जिसके द्वारा हम अधिक से अधिक व्यक्तियों को शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक क्षुधा-निवृत्ति का संदेश दे सकें।"—(नई समस्याएँ : विचार और वितर्क, पृ० १०१)

द्विवेदी जी तो सहज भाषा के समर्थकों में से हैं। इस सम्बन्ध में आपके विचार निम्नलिखित है :—

"सहज भाषा का अर्थ है, सहज ही महान् बना देने वाली भाषा। वह भाषा, जो मनुष्य को उसकी सामाजिक दुर्गति, दरिद्रता, अन्ध-संस्कार और परमुखापेक्षिता से न बचा सके, किसी काम की नहीं है, भले ही उसमें प्रयुक्त शब्द बाजार में विचरने वाले अत्यन्त निम्नस्तर के लोगों के मुख से संग्रह किये गए हों। अनायास लब्ध भाषा को मैं सहज भाषा नहीं कहता। तपस्या, त्याग और आत्म-बलिदान के द्वारा सीखी हुई भाषा सहज भाषा है। बजार की भाषा को, मोटे प्रयोजनों की भाषा को, मैं छोटी नहीं कहता परन्तु मनुष्य को उन्नत बनाने के लिये जो भाषा प्रयोग की जायगी वह उससे भिन्न होगी।…… जो लोग सहज भाषा लिखना चाहते हैं उन्हें स्वयं सहज बनना पड़ेगा। तपस्या और त्याग से मनुष्य 'सहज' होता है और उसी हालत में वह सहज भाषा का प्रयोग कर सकता है।"

उपर्युक्त ये दोनों उद्धरण केवल इसलिये दिये गये हैं कि द्विवेदी जी का भाषागत दृष्टिकोण स्पष्ट हो सके। द्विवेदी जी की भाषा को प्रायः संस्कृत तत्सम शब्दों से बोझिल माना जाता है और यह उनके ऊपर आरोप है कि उनकी भाषा क्लिष्ट है, जन-सामान्य की भाषा नहीं है। मेरी दृष्टि में तो

द्विवेदी जी की भाषा 'सहज भाषा' है। जब, जहाँ, जिस प्रकार की भाषा की उनको आवश्यकता पड़ी है वह स्वतः ही वहाँ वैसी ही बन गई है। द्विवेदी जी किसी विशेष प्रकार की भाषा के वशीभूत नहीं हैं, वरन् भाषा उनके इशारे पर अपने आप बदलती जाती है। यही कारण है कि जहाँ संस्कृतनिष्ठ भाषा के प्रति उनका रुझान है—वहाँ उनकी भाषा में अंग्रेजी के चलते ही नहीं, पारिभाषिक शब्द अनायास ही चले आते हैं और साथ ही अरबी-फारसी के शब्दों को अपनाने में भी उन्हें कोई हिचक है, और न स्थानीय शब्दों को लेने से चिढ़ है—अगर उन शब्दों से भावों की अभिव्यक्ति में सहायता मिलती है। उनका व्यक्तित्व त्याग और तपस्या से सहज बन चुका है, अतएव वे बिना किसी सोच-विचार के सहज भाषा का ही प्रयोग बड़े सहज रूप में करते चलते हैं।

किसी भी भाव को सहज रूप में व्यक्त करते समय आप यह नहीं सोचने बैठते कि अमुक शब्द लाया जाय कि नहीं। यही कारण है कि आपकी संस्कृतिनिष्ठ भाषा में भी अरबी-फारसी के अनेक शब्द मिल जाते हैं, जैसे—

> महज नकल, ताजगी, आखिर, ताक़त, मुल्क, ग़लतफ़हमी, नांक़द्रदान, लाजिमी, मजदूर, हैरत अंगेज, जबरदस्त, ऊल-जलूल, तरीके, जमाना, बाकायदा, गरज, खकरदार, कतार, साफ, हुजूर, गरीब, तकदीर, नजर, इर्दगिर्द, गैर-जवाबदेही, जिन्दगी में लज्जत, कब्र, जरूर, अखबार-नवीस, शर्मिन्दा, पुर्जे दुरुस्त, मजबूर, जिम्मेदारी, गुलामी, मसले, नस्ल, जर्रे-जर्रे, कम्बख्त, दंगा-फरोश, दकियानूसी।

महावीर प्रसाद द्विवेदी जी के व्यक्तित्व पर लिखा गया आपका यह वाक्य :—

> 'उसके पीछे एक निर्मम कठोर, उच्छ्वासहीन, ईमानदार, मैटर-आफ-फैक्ट व्यक्तित्व है।'

और प्रेमचन्द के लिए ये वाक्य—'लाखों और करोड़ों की तादाद में फैले हुए मुक्खड़ों, दाने-दाने को और चिथड़े-चिथड़े को मुहताज लोगों की वे जबान थे।······टीमटाम और भम्भड़पन का पर्दाफ़ाश करने में आनन्द पाते थे।'

इन वाक्यों में आपने 'टीमटाम', 'भम्भड़पन' जैसे लोकप्रचलित रूपों को अपनाने में हिचक नहीं की, क्योंकि इससे अभिव्यक्ति में जो जान आ गई है वह किसी दूसरे शब्द से संभव नहीं था। इससे भाषा में मिठास आती है। आपने टंटा, (टंटे), भोथी, ढूह, रेलपेल, बेतुकी, अटकलपच्चू, अधकचरा, ठूंठ, लूडूरे आदि स्थानीय शब्दों को भी अपनी भाषा में स्थान दिया है।

प्राचीन भारतीय संस्कृति और संस्कृत भाषा के उपासक होते हुए भी आप नवीनता के भी पोषक है। पुराने विचारों को नवीन रूप में प्रस्तुत करते

समय, और साथ ही आधुनिक समस्याओं पर विचार प्रकट करते समय आपकी भाषा में अँग्रेजी शब्दावली भी उपयोगितानुसार यत्र-तत्र मिलती है, जिससे कोई भी आधुनिक लेखक बच नहीं सकता। बहुप्रचलित अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग भी आगत शब्दावली के रूप में मिलता है :—

जर्नलिस्ट, आबजैक्टिवली, रिमार्क, टूरिस्ट, प्रिमिटिविज्म, सर्जरी, फ्रेम, गारण्टी, चैलेंज, इन्सटिङ्क्टिव, मिस्टिक, कल्चर, रेस, एरिस्टोक्रेसी, रेकर्ड, मूड, मशीन, टाइप, एंजिन, यूनिवर्सिटी, कालेज, टेबिलटाक, पिलेक-पैया, इन्जेक्शन, लेक्चरबाजी, प्लेटफार्मों, नोटों, सेकेण्ड हैंड ज्ञान, एटम, ओरेटर, पैंकेट अप-टु-डुट, फैशन, क्रिटिक, टिपिकल उदाहरण लिये जा सकते हैं।

पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग में आप सतर्क रहे हैं कि साथ-साथ हिन्दी अनुवाद भी दे दिया जाय, पर यह प्रयोग आवश्यकतानुसार बदलता गया है।

अ—पहले हिन्दी अनुवाद और फिर 'या' के साथ अँग्रेजी रूप—

कल्पना-प्रधान या इमेजीनेटिव स्कूल, पारिवारिक रसबोध या डोमेस्टिक सेंटीमेंट वर्ग चेतना या क्लास कान्शसनेस—आदि।

आ—पहले अंग्रेजी शब्द और ब्रैकेट में हिन्दी अनुवाद—

डिफीटेड मैन्टिलिटी (पराजित मनोभाव), पैरासाइट (परोपजीवी)।

इ—पहले हिन्दी अनुवाद और ब्रैकेट में अँग्रेजी रूप—

निर्णयात्मक समालोचना (जुडिशियल क्रिटीसिज्म), अभ्यूहमूला समालोचना (इन्डक्टिव क्रिटिसिज्म), प्रकार (काइण्ड), मात्रा (डिग्री), यथार्थता (एक्युरेसी), ग्रन्थगत (बुकिशनेस), मुद्राएँ (सील), सामान्य साधन (कामन स्टेंडर्ड), महाकर्ष (ग्रेविटेशन-पावर), मान (स्टैंडर्ड), वदतोव्याघात (सेल्फ कण्ट्रेडिक्शन) आदि।

'बाई प्राडक्ट' (by product) इन्हें बहुत प्रिय है, कई स्थलों पर इसका समुचित प्रयोग हुआ है, जैसे—"उद्देश्य आर्थिक है। गाना अपने आप उनको आराम पहुँचाने के लिए बन जाता है। वह कोलतार और साबुन की भाँति फोकट की पैदावार है—बाई प्रोडक्ट है।"

इस शैली में लिखे गये कुछ वाक्य देखिए :—

'उसी प्रकार चित्र और कला में आर्ट (कला) को 'फार्मल' होना ही पड़ता है।' तथा 'वे फार्म और टाइप को स्वीकार लेते हैं।'

एक आलोचक महोदय ने द्विवेदी जी की भाषा पर यह दोषारोपण किया है कि—"भाषा में न तो शुक्ल जी की भाषा के समान कसाव, और न जैनेन्द्र जी की शैली के समान संक्षिप्तता।"

हो सकता है कि यह भ्रान्ति उनके भाषणों से हो गई हो। कई स्थलों पर तो एक-एक वाक्य ऐसा है कि उसकी आप व्याख्या करते जाइये :—

> 'प्रेमचन्द आत्माराम थे।'
>
> 'विनय की वे साक्षात् मूर्ति थे, परन्तु यह विनय उनके आत्माभिमान का कवच था।'
>
> 'ब्रजभाषा के कृष्ण की सारी लीला भी इसी तन-मन और जीवन के ईंट-चूने-गारे से बनी है।'

मुहावरे और लोकोक्तियों का अधिक प्रयोग तो नहीं हुआ है, पर जहाँ आवश्यकता प्रतीत हुई है वे अनायास ही आ गये हैं, जैसे—

> 'चूहे के लिए पहाड़ खोदना, खूंटा गाड़ दिया, पर्वत को खोदकर चुहिया निकलना, भाड़ झोंकना, पते की बात, पेट की मार, हवा बही, पिस जाना, न उधो का लेना न माधो का देना, ऐसे दुमदार से तो लंडूरे ही भले।'—आदि।

आलोचनात्मक निबन्धों में अन्य साहित्यकारों की भाषा पर द्विवेदी जी की टिप्पणियाँ देखिए :—

> 'सुमन जी की भाषा भागती हुई और शिथिल हो गई है और गिरीश जी की जमी हुई और चुस्त।'
>
> 'ग्रन्थ भर में कहीं भी साहित्य-शोधक की बदनाम शुष्कता और 'देखो' द्वारा कंटकित पांडित्य-कण्डूपन नहीं है।'

इस प्रकार द्विवेदी जी की भाषा में शब्द-चयन उपयुक्त हुआ है जिसके फलस्वरूप भाषा सरल, सुबोध, स्वच्छ तथा सहज है। वाक्य-विधान अधिकांशतः सरल तथा स्पष्ट है, पर आवश्यकतानुसार मिश्र तथा जटिल वाक्यों का भी प्रयोग जमकर किया गया है पर कहीं भी ऐसे वाक्यों में शिथिलता नहीं आई है जिससे स्पष्टता खतरे में पड़ी हो।

शैली

वह तत्त्व जो एक व्यक्ति की रचना को दूसरे व्यक्ति की रचना से भिन्न सिद्ध करता है—'शैली' है। अँग्रेजी कवि पोप ने कहा था कि—'शैली विचारों की पोशाक है।' मनीषी कार्लाइल ने उक्त वक्तव्य को संशोधित रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा था कि—'शैली लेखक के विचारों की पोशाक नहीं, चमड़ा है।' संक्षेप में द्विवेदी जी की शैली भी अपनी विशिष्ट हैली है जो सीधी-सादी, सरल एवं सुबोध है। निबन्धों में उनकी शैली समास-प्रधान है, पर भाषणों में व्यास-प्रधान है। जो लोग द्विवेदी जी की शैली पर यह आरोप लगाते हैं कि उसमें 'वह फोर्स बहुत कम पाया जाता है जो निबन्ध का प्राण बनता है; कसाव कम,

ढीलापन अधिक, वक्रता का अभाव, सरलता का प्राधान्य।' उनसे मेरा यही निवेदन है कि वे द्विवेदी जी का हाल में प्रकाशित कादम्बिनी के प्रवेशांक से 'कुटज' शीर्षक निबन्ध पढ़ें और बताने का कष्ट करें कि उसमें कहाँ कसाव कम है, वक्रता का अभाव है। मेरी दृष्टि में यह मत आलोचकों ने उनके भाषणों को पढ़कर बनाया है जो किसी कारणवश द्विवेदी जी के निबन्ध-संग्रहों में सम्मिलित हो गये हैं। भाषण की शैली ही भिन्न होती है—द्विवेदी जी उच्च कोटि के वक्ता हैं, अतएव उनके भाषणों को भी लिखित रूप में निबन्धों के साथ निबन्ध-संग्रहों में संकलित कर लिया गया है जिसका स्पष्ट उल्लेख उन्होंने निबन्ध-संग्रहों की भूमिका[1] में किया है। इस कोटि में उनके 'संस्कृत और हिन्दी', 'हिन्दी की शक्ति', 'साहित्य-निर्माण का लक्ष्य', 'भारतीय संस्कृति की देन', 'साहित्यकारों का दायित्व', 'साहित्य का मर्म'—आदि भाषण सम्मिलित किये जा सकते हैं।

इसके अतिरिक्त शैली की विविधता भी द्विवेदी जी ने निबन्धों में दृष्टिगत होती है :—

काल्पनिक वार्त्तालाप शैली—रीतिकाव्य, इतिहास का सत्य, साहित्य का नया कदम—शीर्षक लेख।

समीक्षा शैली; कथात्मक शैली—समालोचक की डाक।

भूमिका रूप—हकायके हिन्दी।

अन्य—समीक्षकों की समीक्षा, कवि के रिआयती अधिकार, दादू, सूफी साधना।

संस्मरणात्मक शैली—सत्य का महसूल।

भाषण शैली—संस्कृत और हिन्दी, हिन्दी की शक्ति, साहित्य निर्माण का लक्ष्य, भारतीय संस्कृति की देन, साहित्य का मर्म—आदि।

यात्रा शैली—साहित्यिक संस्थाएँ क्या कर सकती हैं?

पत्र शैली—मेरी जन्मभूमि।

प्रेरणा-प्रदायक शैली—अभी थकने का समय नहीं आया, संकीर्णताओं पर हथौड़े की चोट।

यह तो सभी जानते हैं कि द्विवेदी जी 'कबीर' प्रिय हैं—फलस्वरूप जहाँ कहीं भी मस्ती, फक्कड़पन का कोई प्रसंग आता है तो झट उन्हें कबीर का स्मरण हो उठता है :—

---

१. **'विचार प्रवाह'—समय-समय पर लिखे गए मेरे लेखों और भाषणों का संग्रह है।'**—(भूमिका)

'घर-फूँक मस्ती वाला फक्कड़पन'—(निर्गुण धारा के लिए)

'सबसे बड़ा फक्कड़ (कबीर) बहुत कुछ इस शिरीष के समान ही थे, मस्त और बे परवाह पर सरस और मादक।'

आपकी शैली में प्रसाद-गुण सर्वत्र है। प्रारम्भिक निबन्ध; जैसे—'प्रसाद जी : कामायनी' परिचयात्मक शैली में है। भावात्मक निबन्धों में आवेग शैली यदि दृष्टिगत हो तो वह स्वाभाविक ही है। यत्र-तत्र आपके निबन्धों में सूक्ति-वाक्य भी बिखरे पड़े हैं जिनका पृथक् से संकलन किया जा सकता है :—

'दूसरों की आँख में खराबी सिद्ध कर देने से हमारी आँख में दृष्टि-शक्ति नहीं आ जायगी।'

'सारा संसार स्वार्थ का अखाड़ा ही तो है।'

'शंकाशील हृदयों में प्रेम की वाणी भी शंका उत्पन्न करती है।

'मनुष्य का जीवन स्लेट पर लगाया जाने वाला हिसाब नहीं है कि गलती हुई तो उसे मिटाकर फिर से ठीक-ठीक हिसाब लगा लिया जाय।'

भारतीय साहित्य और संस्कृति के साथ द्विवेदी जी को 'भाषाशास्त्र' भी प्रिय है। शब्दों की आत्मा और उनके भाग्य-निर्माण तथा परिवर्तन में द्विवेदी जी की विशेष रुचि है। आप यह मानते हैं कि—'हमारी सम्पूर्ण परम्परा ही अनायास में हमारी भाषा के द्वारा ही प्रकट होती है।' जहाँ कहीं भी अवसर मिलता है, वह शब्द-स्रोत की खोज में लग जाते हैं। 'कुटज' शीर्षक लेख में तो आपकी यह ढूंढ-बटोर व्यंग्य के पिटारे में आबद्ध कई पृष्ठों तक चलती रही है। कुछ रुचिकर व्युत्पत्तियाँ इस प्रकार हैं :—

'ख—सम भाव' अर्थात् आकाश के समान भाव। 'ख—सम' का अर्थ है—प्रभावस्वरतुल्यभूता।

'गंधर्व' और 'कन्दर्प'—वस्तुतः एक ही शब्द के भिन्न उच्चारण है।

'कान्दू' जाति है जो संस्कृत 'कान्दविक' शब्द से सम्बद्ध है।

'आम्र' शब्द 'अम्र' वा 'अम्ल' शब्द का रूपान्तर है। अम्र अर्थात् खट्टा···अमृत शब्द कुछ इसी 'तम्र' का रूपान्तर रहा होगा।

'खुदा' शब्द असल में वैदिक 'स्वधा' शब्द का भाई है।

'नमाज' भी संस्कृत 'नमस्' का सगा सम्बन्धी है।

'यातुधान' को ठीक-ठीक फारसी वेश में सजा दें तो 'जादूदाँ हो जायगा।'

यह आपकी शैली की विशेषता ही है कि नीरस से नीरस विषय आपके हाथ में आकर सरस, और छोटे से छोटा विषय गम्भीर, और जटिल से जटिल

सरल बनता जाता है। इसको लेखनी का जादू ही कहा जायेगा, जिसमें आप सहायता लेते हैं—संस्कृत साहित्य के उद्धरणों की। उद्धरण का आधिक्य तो किसी एक-दो निबन्धों में खटक सकता है। अन्यथा वे तो विचारों के प्रतिपादन में सहायक ही सिद्ध होते हैं। फिर भी न मालूम क्यों एक आलोचक ने इनको 'उपेक्षित अतिथि' की संजा प्रदान की है और उनको उद्धरणों से सजा, निबन्ध रंग-बिरंगे कपड़ों के कटपीसों से दबा फेरीवाला लगता है। पता नहीं कैसे यह विचार उन्होंने बना लिया है।

अन्त में 'महावीर प्रसाद द्विवेदी की देन : शैली' पर विचार प्रकट करते हुए जो हजारी प्रसाद जी ने 'द्विवेदी' जी के सम्बन्ध में लिखा है, उसको यहाँ उद्धृत करना चाहता हूँ, क्योंकि वे विचार स्वतः उन पर भी ढाले जा सकते हैं :—

१. उपयुक्त शब्दों का उपयुक्त व्यवहार, विचारों के अनुकूल वाक्यों के रूप ग्रहण करने की क्षमता या लचीलापन और औचित्य ज्ञान।
२. वक्तव्य-वस्तु को हृदयंगम कराने के लिए केवल ज्ञान का विस्तार-दर्शन ही नहीं, वरन् पाठक को आकृष्ट करने की अलौकिक क्षमता, और—
३. विविध शास्त्रीय वस्तुओं का उचित सामंजस्य।

इस प्रकार द्विवेदी जी (हजारी प्रसाद) के निबन्धों में उनका व्यक्तित्व स्पष्ट परिलक्षित होता है, जिसके आधार पर हम कह सकते हैं कि उनका निबन्ध-साहित्य भी उनके व्यक्तित्व के अनुसार विशाल है।

३२

आचार्य शुक्ल—एक रसज्ञ आलोचक

•

आलोचक प्रवर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी-समीक्षा के जनक हैं। समीक्षा के सैद्धान्तिक और उससे भी बढ़कर व्यावहारिक पक्ष को उनकी महत्त्वपूर्ण देन है। उनका काव्यादर्श पर्याप्त विस्तृत, संतुलित और सुलझा हुआ है। हिन्दी साहित्य-समालोचक-रूप में उनका ऐतिहासिक महत्व तो सर्वोपरि है ही, क्योंकि उन्होंने ही सर्वप्रथम आधुनिक हिन्दी आलोचना का स्वतन्त्र मार्ग निकाला; साथ ही एक रस-ग्राही समीक्षक के रूप में भी वे हिन्दी के किसी अन्य समीक्षक से कम नहीं हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से सैद्धान्तिक आलोचना के निर्माण में तो चाहे अन्य आलोचक भी शुक्ल जी की बराबरी में खड़े हों, क्योंकि नागरी प्रचारिणी सभा की पत्रिका ने भी गम्भीर गवेषणात्मक तथा समालोचना-सिद्धान्त-सम्बन्धी लेख निकाल कर इस ओर कुछ कार्य आरम्भ कर दिया था, तथा बाबू श्यामसुन्दरदास आदि कुछ विद्वान् पाश्चात्य और भारतीय आलोचना-सिद्धान्तों के अध्ययन और मनन में प्रवृत्त हो चुके थे, पर व्यावहारिक समीक्षा के निर्माण में तो शुक्लजी अद्वितीय हैं। सर्वांगीण व्यावहारिक समीक्षा का आदर्श सर्वप्रथम शुक्ल जी ने ही स्थापित किया। उन्होंने कवि की अन्तःप्रवृत्तियों में प्रवेश करके, उसकी ऐतिहासिक (देश-काल की परिस्थितियों)

पृष्ठभूमि में विचरण करके, कवि-कर्म के अन्तरंग और बहिरंग—दोनों रूपों का निष्पक्ष, सहृदयतापूर्ण गहन गंभीर विवेचनात्मक तथा विश्लेषणात्मक अध्ययन सर्वप्रथम प्रस्तुत किया। उनकी सूर, तुलसी, जायसी आदि प्राचीन कवियों पर की गई आलोचनाएँ अत्यन्त मार्मिक और उपर्युक्त सभी विशेषताओं से पूर्ण हैं। उन्होंने पाश्चात्य व्याख्यात्मक पद्धति और भारतीय निर्णयात्मक प्रणाली का सुन्दर सामंजस्य उपस्थित किया। उन्होंने सर्वांगीण साहित्यिक समीक्षा-प्रणाली का एक स्तर कायम किया, जिसका अनुकरण आज तक होता आ रहा है। अपनी सर्वांगीण व्यावहारिक व्याख्यात्मक-निर्णयात्मक आलोचना में उन्होंने ऐतिहासिक, तुलनात्मक, सैद्धान्तिक आदि प्रायः सभी समीक्षा-प्रणालियों को सम्मिलित करके उसे व्यापक और विस्तृत रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया।

तुलसी, जायसी, सूर आदि कवियों की समीक्षा में शुक्लजी ने विस्तृत और पूर्ण विवेचना का सफल प्रयास किया है। सामान्य रूप से उन्होंने कवियों के युग एवं परिस्थिति, जीवन-परिचय, परम्परा और सम्प्रदाय, मत और सिद्धान्त, काव्य-पद्धति, भाव-जगत्, भावुकता, भाषा-शैली, कवि-प्रतिभा, आदर्श और जीवनानुभूतियाँ, काव्य के अन्य गुण-दोष तथा साहित्य में कवि या काव्य का महत्व और स्थान आदि—इन सब बातों पर प्रकाश डाला है, जो उनकी समीक्षा की व्यापकता का द्योतक है। युग एवं परिस्थितियों तथा परम्परा और सम्प्रदाय का अध्ययन ऐतिहासिक समीक्षा है। कवि-परिचय के द्वारा कवि के जीवन और स्वभाव को समझने का प्रयास किया गया है। यह अध्ययन विशेष मनोवैज्ञानिक नहीं बन सका। प्रामाणिक जीवन-सामग्री के अभाव में प्राचीन कवियों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन था भी कठिन। कवि की विचारधारा, मत और सिद्धान्त, भाव-जगत्, भावुकता आदर्श और जीवन-दृष्टि आदि पहलुओं का अध्ययन करके उन्होंने 'कवि की अन्तःप्रकृति की छानबीन' और उसकी 'विशेषताओं का अन्वेषण' किया है। काव्य-पद्धति, भाषा-शैली आदि द्वारा काव्य के बाह्य-पक्ष (Form) का अध्ययन किया गया है। अन्तर-बाह्य का यह अध्ययन व्याख्यात्मक आलोचना का आदर्श प्रस्तुत करता है। काव्य के गुण-दोष का विचार तथा साहित्य में कवि के स्थान का निर्णय—निर्णयात्मक आलोचना के परिचायक हैं। बीच-बीच में कवि-कर्म के अध्ययन में शुक्लजी ने काव्य-सिद्धान्तों पर भी विचार किया है, जो शास्त्रीय समीक्षा-प्रणाली के अन्तर्गत मानना चाहिए। प्रसंगवश अन्य कवियों और रचनाओं से तुलना में तुलनात्मक समीक्षा का पुट भी पाया जाता है। इस प्रकार शुक्लजी ने ही सर्वप्रथम सर्वांगीण समीक्षा का सूत्रपात किया। विश्लेषण-संश्लेषण, व्याख्या, तुलना और निर्णय की उनमें अद्भुत शक्ति थी।

पर समीक्षा के क्षेत्र में शुक्ल जी की सफलता का सबसे बड़ा रहस्य है, उनकी रसज्ञता या रस-ग्राह्यता। उनकी समीक्षा की दो प्रमुख धुरियाँ हैं—'लोकादर्श' और 'रसास्वाद'। इनमें भी लोकादर्श की दृष्टि से चाहे शुक्ल जी कहीं-कहीं अपनी विशिष्ट जीवन-दृष्टि का जीवन की व्यापक और परिवर्तनशील शाश्वत भूमियों से सामंजस्य स्थापित न कर सके हों, पर रसास्वाद या रस-ग्रहण करने की उनमें इतनी क्षमता थी कि वह प्रत्येक कवि की सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाव-तरंगों को अनुभव कर लेते थे। वह बड़े रस-सिद्ध आलोचक थे।

कुछ विद्वान् शुक्ल जी को निर्धारित रुचि का आलोचक बताते हैं। इस सम्बन्ध में श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का कथन है कि—"एक विशिष्ट काव्य-ग्रन्थ (रामचरितमानस) को तथा उसमें निहित जीवन-दर्शन (चाहे वे कितने ही महान् हों) को काव्य-समीक्षा का आधार बना लेने पर जातीय साहित्य की गतिमान धारा और उसे परिवर्तित करने वाली अनेक-विध परिस्थितियों का बहुमुखी अध्ययन और आकलन कठिन हो जाता है।......उनकी एक ही विचार-भूमि है, एक ही जीवन-दर्शन है, और एक ही काव्यादर्श है।........जहाँ-जहाँ और जब-जब शुक्ल जी ने अपने काव्य-माप में कुछ व्यक्तिगत रुचियों को प्रवेश करने का प्रयत्न किया है—उदाहरण के लिए उन्होंने कथात्मक साहित्य या प्रबन्ध-रचना को मुक्तक की अपेक्षा उत्तम ठहराया और निर्गुण-सगुण की दार्शनिक धाराओं में सगुण-पक्ष की वकालत की—वहाँ-वहाँ उन्हें अक्सर काव्य की परख करने में कठिनाई हुई है। डी० एल० राय में रवि बाबू की अपेक्षा उच्चतर भाव-संवेदन का निरूपण करना—इसी प्रकार के पक्षपात तो नहीं, विशिष्ट व्यक्तिगत रुचि और मान्यता का परिणाम है। इसी कारण हिन्दी के आधुनिक कवियों के प्रति वे न्याय नहीं कर सके।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उनके सगुणवाद के पक्ष तथा कबीर आदि की उपेक्षा के कारण उनके साहित्य-मत पर संकीर्णता का आरोप लगाया है—"वे काव्य के क्षेत्र में अव्यक्त और अज्ञात की अनुभूति से सदा व्याकुल रहने वाले कवियों को काव्य-क्षेत्र से हटकर किसी धर्म-साधना या दर्शन के क्षेत्र में जाने की सलाह देते थे, क्योंकि उनके मत से काव्य का क्षेत्र मनुष्य या मनुष्येतर बाह्य प्रकृति के पारस्परिक सम्बन्धों का क्षेत्र है, अज्ञात और अव्यक्त रहस्यों का लोक नहीं। शुक्ल जी का यह मत उनकी व्यापक दृष्टि के अनुकूल नहीं था।"

हमारा नम्र निवेदन है कि शुक्ल जी पर व्यक्तिगत रुचि का आरोप लगाना भी व्यर्थ ही है। वास्तव में वे एक बहुत बड़े रस-ग्राही आलोचक थे। जहाँ-जहाँ, जिस-जिस काव्य में उन्हें रस-ग्रहण कराने की क्षमता कम दिखाई

दी, वहीं उन्होंने उसका विरोध किया। वे अव्यक्त के विरुद्ध थे तो इसलिए इसलिए कि अव्यक्त रहस्यमय के प्रति प्रणयानुभूति, लौकिक आधार के बिना, उन्हें रस-सिद्धान्त के विरुद्ध प्रतीत हुई। उनकी रस-दृष्टि इतनी सुलझी हुई है कि उसके आधार पर वह काव्य-कृतियों के सुन्दर-असुन्दर पक्ष का पूर्णता के साथ उद्घाटन कर सके।

शुक्ल जी ने अव्यक्त और अज्ञात के प्रति स्वाभाविक रहस्य भावना को ही मार्मिक और काव्योपयोगी स्वीकार किया। उन्होंने ऐसे रहस्यवाद को स्वीकार नहीं किया, जिसमें अव्यक्त के प्रति विरह और मिलन की ऊहात्मक अनुभूतियों का प्रकाशन होता है। शुक्लजी की इस स्थापना का प्रायः सभी वर्तमान समीक्षक विरोध करते हैं। हम भी इसमें पूर्ण सत्य नहीं मानते। पर शुक्लजी के इस निर्णय में उनकी रसज्ञता का एक अद्भुत रहस्य छिपा हुआ है। काव्यगत अनुभूति की सच्चाई को पकड़ने की उनकी शक्ति का इससे पूर्ण परिचय मिलता है। हमने इस सम्बन्ध में कई बार विचार किया है, और ईमानदारी की बात है कि आत्मा-परमात्मा के ऊहात्मक प्रणय-व्यापारों में हमारा हृदय इतना नहीं रमता, जितना परमात्मा के प्रति स्वाभाविक जिज्ञासा या प्रणय-वेदना की भावानुभूति में रमता है। यह बात कबीर के निम्न दो प्रसिद्ध पदों के उदाहरण से स्पष्ट हो जायगी। यथा—

[१]

दुलहिन गावहु मंगलाचार।
हमारे घर आये राजा राम भरतार।
तन रति करिहूँ मैं मन रति करिहूँ, पंच तत्त बराती।
रामदेव मेरे पाहुन आये, हौं जोबन मदमाती॥
सरीर-सरोवर बेदी करि हौं, ब्रह्म वेद उचारा।
रामदेव संग भाँवर लैहौं, धनि-धनि भाग हमारा॥
सुर तैतीसों कौतुक आए, मुनिवर सहस अठासी।
कह कबीर हम ब्याहि चलि हैं, पुरुष एक अविनासी॥

[२]

हौं बलियाँ कब देखौंगी तोहि।
अहनिस आतुर दरसन कारनि, ऐसी व्यापै मोहि।
सुनहु हमारी दादि गोसाईं, अब जनि करहु अधीर॥
तुम धीरज मैं आतुर स्वामी, काँचै भांडै नीर॥
बहुत दिनन के बिछुरे माधौ, मन नहिं बाँधै धीर।
देह छ्यां तुम मिलहु कृपा करि, आरतिवंत कबीर॥

ऊपर उद्धृत किये गये पहले पद में रहस्यात्मक ऊहापोह है, दूसरे में स्वाभाविक आकांक्षा और प्रेम की मर्मस्पर्शी अनुभूति है। पहले पद में कबीर की आत्मा का चाहे जितना मिलनोल्लास व्यंजित हुआ हो, पर ईमानदारी की बात है कि हमें इस रहस्यवादी पद्य में उतनी रासानुभूति नहीं होती, जितनी दूसरे पद में। इस दृष्टि से शुक्लजी की रसज्ञता और काव्यगत यथार्थ दृष्टि का लोहा मानते ही बनता है।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने शुक्लजी पर नैतिकता का आरोप भी लगाया है। पर हम समझते हैं कि काव्य के सुन्दर पक्ष की अवहेलना करके वे नैतिक मूल्यों को नहीं आंकते। उन्होंने तुलसीदास को श्रेष्ठ माना, तो इसमें आपत्ति की क्या बात है? क्या तुलसी को उन्होंने केवल अपने लोकादर्श या नैतिक दृष्टिकोण के ही कारण श्रेष्ठ माना है? क्या तुलसी का रस-संचार सूर से अधिक नहीं है? और क्या सूर के वात्सल्य और श्रृंगार की गहराई को भी उन्होंने अनुभव नहीं किया? शुक्लजी की रस-ग्राह्यता में संदेह नहीं हो सकता। आज की काव्य-दृष्टि और आलोचना को, आज की नई कविता की ऊहा को उनकी रस-दृष्टि की बड़ी आवश्यकता है। वैसे आलोचक की आलोचना में उसकी व्यक्तिगत रुचि किसी अंश तक रहती ही है, अलग की भी नहीं जा सकती। पर वह रहनी चाहिए निष्पक्ष, जैसी शुक्लजी की है। 'कविता क्या है?' नामक निबन्ध में वे काव्य में नीति-उपदेश या दर्शन की गौणता को स्वयं स्वीकार करते हुए कहते हैं—"सुन्दर और कुरूप—काव्य में बस ये ही दो पक्ष हैं। भला-बुरा, शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य, मंगल-अमंगल, उपयोगी-अनुपयोगी—ये सब शब्द काव्य-क्षेत्र के बाहर के हैं। ये नीति, धर्म, व्यवहार, अर्थशास्त्र आदि के शब्द हैं।"

जैसा कि कहा जा चुका है, शुक्ल जी की आलोचना की सबसे बड़ी शक्ति है—उनकी भावकता। उनकी उच्चकोटि की रसानुभूति और विश्लेषण-शक्ति का परिचय हमें कवियों के भाव-पक्ष के विश्लेषण में मिलता है। सूर के श्रृंगार और वात्सल्य, जायसी के नागमती-विरह-वर्णन और तुलसी के भाव-जगत् की व्यापकता के विश्लेषण में उनका भावक रूप पूर्णतया देखा जा सकता है। यहाँ एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा। सूर के वात्सल्य-वर्णन में जब नन्द मथुरा से कृष्ण के बिना लौट आते हैं और गोकुल में माता यशोदा की आशा पर पानी फेर देते हैं, उस समय के नन्द और यशोदा के वियोग-दुःख का विश्लेषण शुक्लजी ने कितनी सहृदयता के साथ किया है। वे कहते हैं—"अनेक दुःखात्मक भाव-तरंगें उनके (नन्द-यशोदा के) हृदय में उठती हैं। कभी यशोदा नन्द से खीझकर कहती हैं—

छाँडि सनेह चले मथुरा, कत दौरि न चीर गह्यौ ।
फाटि न गई वज्र की छाति, कत यह सूल सह्यौ ॥

इस पर नन्द यशोदा पर उलट पड़ते हैं—

तब तू मारिबोई करति ।
रसनि आगे कहै जो आवत, अब लै भांडे भरति ॥
रोस कै कर दाँवरी लै फिरति, घर-घर धरति ।
कठिन हिय करि तब जो बाँध्यो, अब वृथा करि मरति ॥

यह 'झुँझलाहट' वियोग-जन्य है, प्रेम-भाव के ही अन्तर्गत है और कितनी स्वाभाविक है ! सुख-शांति के भंग का कैसा यथातथ्य चित्र है ! आगे देखिए, गहरी 'उत्सुकता' और 'अधीरता' के बीच 'विरक्ति' (निर्वेद) और तिरस्कार-मिश्रित 'खिझलाहट' का यह मेल कैसा अनूठा उतरा है ! यशोदा नन्द से कहती हैं—

नन्द ! ब्रज लीजै ठोंकि बजाय !
देहु विदा मिलि जाहि मधुपुरी जहँ गोकुल के राय ॥

'ठोकि बजाय' में कितनी व्यंजना है ! 'तुम अपना ब्रज अच्छी तरह संभालो, तुम्हें इसका गहरा लोभ है; मैं तो जाती हूँ !' एक-एक वाक्य के साथ हृदय लिपटा हुआ आता दिखाई दे रहा है। एक वाक्य दो-दो, तीन-तीन भावों से लदा हुआ है। श्लेष आदि कृत्रिम विधानों से मुक्त ऐसा ही भाव-गुरुत्व हृदय को सीधे जाकर स्पर्श करता है। इसे भाव-शबलता कहें या भावपंचामृत; क्योंकि एक ही वाक्य—"नन्द ! ब्रज लीजै ठोंकि बजाय"—में कुछ निर्वेद, कुछ तिरस्कार, और कुछ अमर्ष—इन तीनों की मिश्र व्यंजना—जिसे शबलता ही कहने से संतोष नहीं होता—पाइ जाती है।"

—(भ्रमरगीत की भूमिका—पृ० २२-२३)

उपर्युक्त उद्धरण से शुक्ल जी की भावकता, उनकी रस-ग्राहिणी और विश्लेषण-शक्ति का अपूर्व परिचय मिलता है। उनकी मार्मिक शैली भी यहाँ द्रष्टव्य है। प्राचीन आचार्यों की भाव-शबलता से संतुष्ट न होना—उनकी अपूर्व रसज्ञता और स्वाधीन तथ्य-निरूपण का परिचायक है। इसी प्रकार 'तुलसी की भावुकता' का विश्लेषण करने में उन्होंने अपनी रसज्ञता का पूर्ण परिचय दिया है।

इस प्रकार रसानुभूति की सहृदयतापूर्ण बौद्धिक व्याख्या करने की शक्ति शुक्ल जी में अपूर्व थी। इसी के आधार पर उन्होंने कवियों तथा उनके काव्य के सम्बन्ध में अनेक यथार्थ निर्णय दिये हैं। सारगर्भित वाक्यों के रूप में उनके

अनेक निर्णय बहुत ही मार्मिक, यथार्थ और मननीय हैं; जैसे—"सूर वात्सल्य का कोना-कोना झाँक आए हैं।" "एक प्रबन्ध के भीतर शुद्ध भाव के स्वरूप का ऐसा उत्कर्ष जो पार्थिव प्रतिबन्धों से परे होकर आध्यात्मिक क्षेत्र में जाता दिखाई पड़े, जायसी का मुख्य लक्ष्य है" ; "तुलसी के मानस में रामचरित की जो शील-सौन्दर्यमयी स्वच्छ धारा निकली, उसने जीवन की प्रत्येक स्थिति के भीतर पहुँचकर भगवान् के स्वरूप का प्रतिबिम्ब झलका दिया", "चरम महत्व के इस भव्य मनुष्य-ग्राह्य रूप के सम्मुख भाव-विह्वल भक्त-हृदय के बीच जो-जो भाव-तरंगें उठती हैं, उन्हीं की माला 'विनयपत्रिका' है," इत्यादि अनेक उक्तियां ऐसी ही हैं।

तुलसीदास उनके आदर्श कवि रहे हैं। इसमें संदेह नहीं कि उनकी प्रवृत्ति या रुचि तुलसीदास के साथ बँध जाने के कारण, वे तुलसी की न्यूनताओं का अवलोकन नहीं कर सके। अपनी प्रकृतिवादी, व्यक्तिवादी, लोकादर्शात्मक बौद्धिक चिन्ताधारा के अनुसार ही उन्होंने 'मानस' के धार्मिक पक्ष की व्याख्या की है, जो कदाचित् तुलसी के दृष्टिकोण से कुछ दूर जा पड़ती है। फिर भी तुलसी की श्रेष्ठता प्रमाणित करने में उनकी बहुत-सी स्थापनाएँ ग्राह्य ही हैं।

वे लोकधर्म और लोकादर्शवाद के हामी थे अवश्य, पर इनकी आकांक्षा उन्होंने अपनी रसज्ञता को खोकर कहीं नहीं की। वे इस लोक में ही सौन्दर्य, शक्ति और शील की भावना के भावक रहे हैं। वे बहुत बड़े प्रकृतिप्रेमी और और प्रकृतवादी थे। प्रकृति के नाना रूप-रंगों, दृश्यों तथा मानव के स्वाभाविक शुद्ध भावों, प्रकृत व्यवहारों और सम्बन्धों तथा स्वाभाविक प्रवृत्तियों में वे बहुत रस पाते थे। लोकवाद काव्यानन्द को छोड़कर प्रायः कहीं नहीं चलता। न ही वे केवल मनोरंजन या आनन्द को काव्य में सब-कुछ मानते हैं। कविता का उद्देश्य उन्होंने मानव के रागों का परिष्कार माना है। यह रागों का परिष्कार ही प्रायः उनके लोकवाद की धुरी है वे जिस कवि में लोक की भावना या रागों के परिष्कार की भावना जितनी अधिक पाते हैं; उसे उतनी ही उच्च श्रेणी का का बताते हैं। लोक पर या रागों के परिष्कार पर सीमित दृष्टि रखने वाले संत कवि, कृष्ण-भक्त कवि, रीति-कवि और आधुनिक रहस्यवादी कवियों से तुलसी उन्हें इसीलिए अधिक प्रिय लगे कि उनके काव्य से मानव के सम्पूर्ण रागों का परिष्कार होता है। वे उदात्त भावनाओं या उदात्त रसानुभूति को ही कसौटी मानकर चले।

काव्य में चमत्कारवाद, कलावाद, कल्पनावाद, अभिव्यंजनावाद आदि के भी वे इसीलिए विरुद्ध थे, क्योंकि वे समझते थे कि ये 'वाद' भाव निरपेक्ष

हैं। वे प्रबन्ध-काव्य को भी इसीलिए श्रेष्ठ मानते थे, क्योंकि प्रबन्ध-काव्य में मुक्तक की अपेक्षा जीवन की नानारूप छवियों का चित्रण और व्यापक रागात्मक प्रसार संभव है। वे कवि में अनुभूति की तीव्रता के साथ-साथ व्यापकता का गुण भी आवश्यक मानते थे। और भाव-विस्तार के साथ भाव-तीव्रता और भाव-गांभीर्य को भी महत्त्व देते थे। यदि तुलसी में भावों की गहराई न होती, तो शायद वे उसे अपनाते ही न। भाव-गांभीर्य के कारण ही वे सूरदास को जायसी से ऊँचा—तुलसी के बाद दूसरा दर्जा देते हैं।

कुछ विद्वान् शुक्लजी में सिद्धान्त-निर्माण की क्षमता नहीं पाते। डा० नगेन्द्र उन्हें 'आऊट-ऑव-डेट' हो गए ही बताते हैं। डा० आई० ए० रिचर्डस् के साथ शुक्लजी की तुलना करते हुए उन्होंने कहा है—"रिचर्ड्स का दृष्टिकोण कहीं अधिक व्यापक है। उनका सत्य गत्यात्मक है, शुक्ल जी का स्थिर। इसलिए विषमताओं का समन्वय जिस सरलता से रिचर्ड्स कर लेते हैं, उस सरलता से शुक्लजी नहीं। इसी कारण शुक्लजी बहुत शीघ्र ही 'आउट-ऑव-डेट' हो गए—रिचर्ड्स कभी नहीं हो सकते। वे टी० एस० इलियट की कविताओं का भी आदर हृदय खोलकर करते हैं, शुक्ल जी को प्रसाद के साथ समझौता करने में भी कठिनाई पड़ी। कविता के लोकपक्ष ने उन्हें इतना पकड़ रखा था कि रस की एकांत साधना उन्हें मुश्किल से ही रस-ग्राह्य हो सकती थी, इसी कारण गीति-काव्य के प्रति शुक्ल जी का भाव कुछ कठोर ही रहा।"[1]

इस सम्बन्ध में हमारा नम्र निवेदन है कि शुक्ल जी की कठोरता 'रस की एकांत साधना' के प्रति नहीं थी, और 'रस की एकांत साधना' उन्हें रस-ग्राह्य न हो, ऐसी बात भी नहीं है; हाँ, वे साहित्य में 'केवल रस की एकांत साधना' के पक्षपाती नहीं थे। इसीलिए उन्होंने रीतिकालीन काव्य, फारसी प्रेम-काव्य, कृष्ण-काव्य आदि की एकांगिता का विरोध किया। रहस्यवाद पर विचार करते हुए उन्होंने कहा है—"अब विचारने की बात है कि किसी अगोचर और अज्ञात के प्रेम में आँसुओं की आकाश-गंगा में तैरने, हृदय की नसों का सितार बजाने, प्रियतम असीम के संग नग्न प्रणय का तांडव करने या मुँदे नयनपलकों के भीतर किसी रहस्य का सुखमय चित्र देखने को ही—'भी' तक तो कोई हर्ज न था—कविता कहना कहाँ तक ठीक है? चारों ओर से बेदखल होकर छोटे-छोटे कनकौवों पर भला कविता कब तक टिक सकती है?" 'रस की एकांत साधना' उनके भावुक हृदय में न उतरती हो, ऐसा नहीं

१. **'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल'**—सम्पादक : बाबू गुलाबराय तथा विजयेन्द्र सनातक, पृ० १३८।

माना जा सकता। वे अपने साहित्य को एक व्यापक भाव-भूमि पर ला खड़ा करना चाहते थे, इसी से उसे एकांगिता से बचाने के लिए उन्हें कठोर भी बनना पड़ा है। इससे उनकी रस-ग्राह्यता में संदेह नहीं होना चाहिए।

शुक्लजी की आलोचना में सिद्धान्त-निर्माण तथा तथ्यों को पकड़ने में अवश्य कुछ त्रुटियाँ और न्यूनताएँ पाई जाती हैं, जैसे क्रोच के अभिव्यंजनावाद को उन्होंने व्यापक दृष्टि से नहीं परखा; रहस्यवाद के सम्बन्ध में भी उनका तथ्य-निरूपण सदोष है; डंटन के व्यक्ति-वैचित्र्य को भी वे व्यर्थ खींच गए; साधारणीकरण में रस की ऊँची-नीची कोटियाँ बताना भी उन्हीं की रस-दृष्टि के विरुद्ध पड़ता है। किन्तु तो भी काव्य के अन्तः पक्ष की प्रतिष्ठा; प्रकृति-प्रयोग की व्यापक रागात्मक भावना; अलंकार, कल्पना और चमत्कार की मर्यादा बाँधना; काव्य को वादों से दूर रहने का संदेश; काव्य को जीवन के ठोस धरातल पर प्रतिष्ठित करना और उसके ब्रह्मानन्द सहोदरत्व की अलौकिकता के भ्रम का निवारण; आलम्बनत्व धर्म के साधारणीकरण की स्थापना; काव्यभाषा में अर्थ-ग्रहण की अपेक्षा बिम्बग्रहण का महत्त्व बताना; काव्य का लक्ष्य—रागों का परिष्कार मानना आदि सिद्धान्त-निर्माण के क्षेत्र में भी उनकी अनेक महत्त्वपूर्ण स्थापनाएँ हैं, जो निश्चय ही काव्य के स्थायी मूल्यांकन से सम्बन्धित हैं। माना कि उन्होंने मुख्य रूप से काव्य (कविता) पर ही विचार किया है, और साहित्य के सभी अंगों की शास्त्रीय मीमांसा नहीं की, पर साहित्य के मूल तत्त्वों और उपकरणों के निर्माण में उनकी सूक्ष्म पैंठ पर संदेह नहीं हो सकता।

डा० नगेन्द्र ने उनके एक और अभिमत की विस्तृत आलोचना की है, और यह कहा है कि शुक्ल जी का काव्य की रमणीयता वाच्यार्थ में मानना उनका 'एक हल्का-सा दिशांतर-भ्रमण' और 'उनके अपने काव्य-सिद्धान्त के ही विरुद्ध है।' "काव्य में अभिव्यंजनावाद" नामक निबंध में शुक्ल जी ने भाषा की शक्तियों पर विचार करते हुए कहा है कि काव्य की रमणीयता वाच्यार्थ में होती है, न कि लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ में। इस सम्बन्ध में हमारा नम्र निवेदन यह है कि नगेन्द्र जी ने विवेचना के प्रसंग तथा शुक्लजी की उक्ति में 'रमणीयता' के अर्थ पर ठीक ध्यान न देकर उनके द्वारा कथित 'काव्य की रमणीयता' अभिप्राय 'काव्य की आत्मा' ले लिया है। हमारा निश्चित मत है कि शुक्ल जी यहाँ अपने मूल सिद्धान्त से किंचित् भी विचलित नहीं हुए हैं। 'रमणीयता' शब्द से उनका अभिप्राय मनोरंजन या चमत्कार ही रहा है। यह बात उनके "कविता क्या है" शीर्षक निबन्ध में पण्डितराज जगन्नाथ की काव्य-

परिभाषा की आलोचना से भी स्पष्ट होती है और उपर्युक्त कथन के प्रसंग से भी। 'कविता क्या है' में उन्होंने कहा है—"कविता की इसी रमाने वाली शक्ति ('मनोरंजन द्वारा पढ़ने या सुनने वाले का चित्त रमाने' वाली) को देखकर जगन्नाथ पण्डितराज ने रमणीयता का पल्ला पकड़ा और उसे काव्य का साध्य स्थिर किया। तथा योरोपीय समीक्षकों ने 'आनन्द' को काव्य का चरम लक्ष्य ठहराया। इस प्रकार मार्ग को ही अन्तिम गन्तव्य स्थल मान लेने के कारण बड़ा गड़बड़झाला हुआ।"

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि शुक्ल जी रमणीयता का अर्थ चमत्कार या मनोरंजन अथवा काव्यत्व ही लेते हैं, भावमग्नता नहीं। वे इसे मार्ग या साधन ही समझते हैं, गन्तव्य या साधन नहीं। शुक्ल जी ने 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' के उक्त प्रसंग में काव्य-भाषा की मीमांसा की है। वे यहाँ शब्द-शक्तियों पर विचार करते हुए लक्षणा-व्यंजना की महत्ता ही बता रहे हैं। इसी निबन्ध में आगे उन्होंने स्पष्ट कहा है—"मेरा यह कथन विरोधाभास का चमत्कार दिखाने के लिए नहीं है, सोलह आने ठीक है। कोई रसात्मक या चमत्कार-विधायक उक्ति लीजिए। उस उक्ति ही में, अर्थात् उसके वाच्यार्थ ही में काव्यत्व या रमणीयता होगी, उसके लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ में नहीं। जैसे यह लक्षणायुक्त वाक्य लीजिए—'जीकर हाय! पतंग मरे क्या?'—इसमें भी यह बात है। जो कुछ वैचित्र्य है या चमत्कार है, वह इस अयोग्य और अनुपपन्न वाक्य या उसके वाच्यार्थ में ही है। इसके स्थान पर यदि इसका यह लक्ष्यार्थ कहा जाय कि—'जीकर पतंग क्यों कष्ट भोगे?' तो कोई वैचित्र्य या चमत्कार न रहेगा।" स्पष्ट है कि शुक्लजी यहाँ भाषा की रमणीय शक्ति या चमत्कार-शक्ति पर विचार कर रहे हैं। वे जिस प्रकार काव्य में अर्थ-ग्रहण की अपेक्षा बिम्ब-ग्रहण को ही काव्यत्व मानते रहे हैं, उसी प्रकार यहाँ भी अभिधा के स्थान पर लक्षणा और व्यंजना में ही चमत्कार या काव्यत्व बताते हैं। लक्ष्य-व्यंग्यार्थ के योग्य या उपपन्न अर्थ से उनका अभिप्राय बुद्धि-ग्राह्य या बौद्धिक अर्थ से है।

'काव्यत्व' से उनका तात्पर्य 'काव्योपयोगिता' से है—अर्थात् जिस प्रकार वे 'देश का धन विदेश जा रहा है'—इस उक्ति में काव्य नहीं मानते, इसके स्थान पर देश की भूखी-नंगी जनता के चित्र को प्रस्तुत करने में काव्यत्व स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार उक्ति के बौद्धिक प्रकृत लक्ष्य या व्यंग्य अर्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ में उन्होंने काव्यत्व माना है। वे अर्थग्रहण-मात्र कराना काव्य का उद्देश्य नहीं मानते, अर्थ-ग्रहण कराता है—शास्त्र या विज्ञान। अतः उर्मिला की उक्ति "आप अवधि बन सकूँ......" में व्यंग्यार्थ—"उर्मिला को

प्रिय-मिलन का अत्यन्त औत्सुक्य है"---अर्थ-मात्र ग्रहण कराता है। अतः इसमें मार्मिकता नहीं। मार्मिकता है—उर्मिला की प्रिय-मिलन की उत्सुकता की व्यंजना में। अतः व्यंजना में ही रमणीयता हुई, व्यंग्यार्थ में नहीं।

वास्तव में क्रोचे का विरोध करने वाले शुक्लजी यहाँ उसी के सिद्धान्त 'उक्ति ही काव्य है' को मानते तो तब दिखाई देते जबकि उनके "उक्ति ही में, अर्थात् उसके वाच्यार्थ ही में काव्यत्व या रमणीयता होगी"—से यह अर्थ निकलता कि वह उक्ति या वाच्यार्थ ही काव्य की आत्मा या काव्य है। अतः स्पष्ट है कि शुक्ल जी यहाँ लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ को बौद्धिक अर्थ मानकर उसमें काव्यत्व की शक्ति को अस्वीकार करते हैं। अतः शुक्लजी का यह कहना कि 'वाच्यार्थ ही काव्य होता है, व्यंग्यार्थ नहीं,' यही प्रकट करता है कि काव्यत्व वाच्यार्थ में ही होता है। निश्चय ही वे यह नहीं कहते कि वाच्यार्थ ही काव्य की आत्मा है। 'जीवन भर विरोध करते-करते अनायास ही किसी दुर्बल क्षण में शुक्लजी पर क्रोचे का जादू' नहीं चला है, जैसा कि नगेन्द्र जी समझते हैं। यह बात दूसरी है कि शुक्लजी ने क्रोचे के अभिमत को ठीक तरह नहीं समझा। वास्तव में शुक्लजी की वस्तुवादी दृष्टि यहाँ केवल भाषा या अभिव्यक्ति पक्ष पर ही विचार कर रही है, अन्तःपक्ष या आत्मा-पक्ष पर नहीं। क्रोचे का मत—'उक्ति ही काव्य है'—काव्य की आत्मिक प्रक्रिया से सम्बन्धित है। 'कविता क्या है'—निबन्ध की इन पक्तियों से हमारे कथन की और भी पुष्टि होती है—"उक्ति ही काव्य होती है, यह तो सिद्ध बात है। हमारे यहाँ भी व्यंजक वाक्य ही काव्य माना जाता है। अब प्रश्न यह है कि कैसी उक्ति, किस प्रकार की व्यंजना करने वाला वाक्य।"

इस प्रकार शुक्लजी ने काव्य की आत्मा 'रस' की रक्षा या वकालत सर्वत्र स्पष्टता के साथ की है। उदात्त रस-तत्त्व से वे हिन्दी काव्य-साहित्य को पूरित देखना चाहते थे। वे एक बहुत बड़े साहित्य-विचारक, सहृदय और रसज्ञ आलोचक थे। रसानुभूति की क्षमता उनमें अद्भुत थी। इतना होते हुए भी रसानुभूति की दृष्टि से उनकी एक दुर्बलता पर भी ध्यान जाता है। शुक्लजी जितने सफल रस-सिद्ध आलोचक थे; अर्थात् अभिव्यक्त रस की अनुभूति प्राप्त करने और उसकी व्याख्या करने में जितने वे कुशल थे, उतने काव्य में रस की हानि या रस-दोष को पकड़ने में कुशल नहीं थे। तुलसी के काव्य में तुलसीदास की अतिशय अलौकिक भावना या भक्ति-भावना के कारण जो अपार रस-दोष या रस-व्याघात पाया जाता है, उसे वे नहीं पकड़ सके। इसमें तुलसी की वैष्णव-भावना को ज्यों का त्यों आत्मसात् कर लेना भी एक कारण है। पर इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि शुक्ल जी की दृष्टि जितनी शीघ्रता के साथ रस के

सिद्ध रूप पर जाती थी, उतनी शीघ्रता से रस-दोष पर नहीं। यही कारण है कि बीभत्स आदि एक-दो रसों के सम्बन्ध में भी उन्होंने परम्परागत दृष्टिकोण को ही स्वीकार्य रखने की भूल की है, जैसे बीभत्स रस को उन्होंने भी युद्धवीर का अंग मानकर उसके उदाहरण युद्ध-भूमि में ही ढूँढ़े हैं। बीभत्स रस के मनोवैज्ञानिक स्वरूप पर उनकी दृष्टि नहीं गई।

३३

रस-सिद्धान्त का विकास

●

नाना तर्क-वितर्कों के बीच, भरत से लेकर आज तक काव्य में आत्मा का स्थान प्राप्त करने वाले रस-तत्त्व का सैद्धान्तिक विकास किस प्रकार हुआ और व्यवहार रूप से काव्य में इसके प्रयोग ने इस सिद्धान्त की पुष्टि में किस प्रकार योग दिया, इसका एक अत्यन्त संक्षिप्त और क्रमबद्ध विवेचन प्रस्तुत करना ही इस लेख का उद्देश्य है।

संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने अपने रस-विवेचन में भरत से पूर्व होने वाले नन्दिकेश्वर, द्रुहिण तथा मेधाविरुद्र आदि रसवादियों का उल्लेख किया है। स्वयं भरत ने अपने रस विवेचन में अनेक आनुवंश्य श्लोक प्रस्तुत किए हैं। इसके अतिरिक्त भरत का स्वयं का विवेचन इतना सूक्ष्म और गम्भीर है कि उसको किसी भी दशा में प्रथम प्रयास नहीं कहा जा सकता। इससे पूर्व अवश्य ही कुछ न कुछ विवेचन हुआ होगा, जिसका कोई भी विवरण या ग्रन्थ आज हमें उपलब्ध नहीं है। अतः निष्कर्षतः केवल यही कहा जा सकता है कि रस-सिद्धान्त का आरम्भ भरत से बहुत पूर्व हो चुका था और भरत का विवेचन उसी की एक लड़ी है जो अपेक्षाकृत अधिक सूक्ष्म होने से लोकप्रिय हुआ और आज तक उपलब्ध है।

भरत मूलतः एक नाट्यशास्त्री थे। अतः उनका विवेचन रंगमंच को दृष्टि में रखने के कारण पूर्णतः वस्तुवादी रहा है। वे रस को रंगमंच पर अभिनयगत विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से घटित होने वाली एक कलात्मक घटना[1] मानते हैं। उनका प्रसिद्ध सूत्र—'विभावानुभाव संचारिभाव संयोगाद्रस निष्पत्तिः'—इसी धारणा पर आधृत है। संयोग का अर्थ स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है—"कई प्रकार के व्यंजन और औषधि द्रव्यों के संयोग से रस निष्पन्न हुआ करता है उसी प्रकार नाना भावों के इकट्ठे होने पर रस निष्पन्न हो जाता है। जैसे गुड़ आदि द्रव्य व्यंजनों से छः रस बनते हैं, इसी प्रकार स्थायी भाव नाना भावों से युक्त होकर रस बनते हैं।"[२] 'निष्पत्ति' शब्द को उन्होंने अस्पष्ट ही छोड़ दिया है, जिसका परवर्ती भरत सूत्र व्याख्याताओं ने विभिन्न प्रकार से अर्थ किया।

रस के स्वरूप पर विचार करके, इसको नाटक का परमावश्यक तत्त्व मानते हुए, उन्होंने नवरसों की उत्पत्ति देवता, रंग आदि का वर्णन किया है। विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि की परिभाषा कर उनके भेदोपभेदों पर प्रकाश डाला है। उन्होंने रस को ही मूल तत्त्व मानकर अलंकार, गुण-दोष तथा वर्ण और स्वर-योजना का नाटक में विधान किया है। उनके अनुसार वीर, रौद्र तथा अद्भूत रस में लघु अक्षर एवं उपमा तथा रूपक का प्रयोग; वीभत्स में गुरु अक्षरों का प्रयोग; करुण में लघु के साथ कभी-कभी गुरु वर्ण तथा अत्तिधृति और शक्करी छन्द्रों का प्रयोग; शृंगार में उपमा और दीपक का प्रयोग; तथा वीर रस में अति जगती, जगती और संस्कृति छन्दों में संयुक्त वर्णों का प्रयोग रस-निष्पत्ति में सहायक होता है। स्पष्ट है कि इन सभी काव्याङ्गों का उपयोग ने रस के पोषण के लिए चाहते हैं।

ध्वनि पूर्ववर्ती काल (१०० A. D. से ८५० B. C.) में भरत से लेकर ध्वनिकार तक जहाँ एक ओर लोल्लट और शंकुक जैसे भरत सूत्र के व्याख्याता हुए वहाँ दूसरी ओर मामह दण्डी आदि अनेक विद्वानों ने काव्य की दृष्टि से रस पर विचार किया जो उनके अलंकारवाद से प्रभावित रहा। इनके साथ ही काव्य में चमत्कार प्रदर्शन को प्रवृत्ति के मध्य भी रस की अजस्र धारा बहाने वाले कुछ समर्थ कवि भी हुए।

---

1. An artistic dramatic situation.

२. यथा नाना व्यभुनौषधिद्रव्य संयोगोद्रसनिष्पत्तिः तथा नाना भावोपगमाद्रसनिष्पत्तिः यथा गुडादिभिर्द्रव्यै व्यञ्जनैरोषधीभिश्च षड रसा निवर्त्यन्ते, एवं नाना भावोपहिता अपि स्थायिनो भावा रसत्व मापवन्ति।
—नाट्यशास्त्र।

भरत-सूत्र के सर्वप्रथम व्याख्याता 'भट्ट लोल्लट' का कोई जीवन-परिचय और ग्रन्थ प्राप्त नहीं है; फिर भी अभिनव भारतीकार, काव्य-प्रकाशकार और गोविन्द ठक्कर द्वारा प्रस्तुत मतों से यह स्पष्ट है कि उन्होंने विभावानुभाव संचारी भाव से रस का क्रमशः उत्पादक-उत्पाद्य, गम्य-गमक तथा पोषक-पोष्य सम्बन्ध मानकर रस-निष्पत्ति की व्याख्या की—"आलम्बन उद्दीपन विभाव के कारण उत्पन्न रति आदि भाव अनुभाव कार्यों के प्रतीति योग्य होकर व्यभिचारी सहकारियों से उपचित होकर रस रूप के प्राप्त होते हैं जो मुख्यतः अनुकार्य में होता है और अनुसंधानवश नट में प्रतीयमान होता है।"[1] विभाव और रस में उत्पादक-उत्पाद्य सम्बन्ध मानने के कारण यह मत उत्पत्तिवाद तथा नट में रस का आरोप मानने के कारण यह आरोपवाद कहलाया।

उत्पादक के न रहने पर भी उत्पाद्य रहता है, परन्तु रस तो विभावादि जीवितावधि है, इस तर्क के आधार पर शंकुक ने लोल्लट के उत्पत्तिवाद को अमान्य ठहराया और पौराणिक तथा ऐतिहासिक नायक से परिचय के अभाव में आरोप की प्रक्रिया का भी विरोध किया। उपचित शब्द पर आपत्ति करते हुए उन्होंने कहा कि यदि उपचित अवस्था में रस मानें तो प्रश्न उठता है कि कहाँ तक उपचित होने पर रस कहाता है? यदि पूर्ण, तो हास्य के हसित, अवहसित आदि भेद कैसे समझाए जा सकते हैं। इसी प्रकार की आपत्तियाँ अन्य रसों के बारे में भी उठाई जा सकती हैं।

भट्टनायक ने भी लोल्लट के मत पर अनेक आक्षेप किए। उनका तर्क है कि यदि आरोप मान भी लें तो रस का ज्ञान मात्र होता है; जब कि रस ज्ञान नहीं, आस्वाद है। साथ ही आरोप द्वारा सुखात्मक रसों का तो ज्ञान हो सकने की सम्भावना है परन्तु शोकादि की नहीं। इसके अतिरिक्त पौराणिक तथा ऐतिहासिक नायक में रस मानने पर नायक के विभाव, शक्ति और क्षमता के अभाव में प्रेक्षक के नहीं हो सकते।

निस्सन्देह भट्ट लोल्लट पर किये गए उपरोक्त सभी आरोप सही हैं। परन्तु इन सभी आरोपों का विचार करते समय यह ध्यान में रखना परमावश्यक है कि उनके मस्तिष्क में रंगमंच की व्यावहारिकता थी। 'अनुसंधान' का प्रयोग उन्होंने मीमांसा-दर्शन के अनुसार 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा' के अनुकूल 'योजन' के अर्थ में हुआ है। उनकी दृष्टि नायक की भावात्मक स्थिति की रंगमंच पर उपस्थिति की ओर थी। वस्तुतः उनकी व्याख्या में आरोप का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि उन्होंने प्रेक्षक की दृष्टि से विचार ही नहीं किया है। वे भी

---

१. 'काव्य-प्रकाश'—चतुर्थ प्रकाश।

भरत की तरह रस को रंगमंच पर घटित होने वाली एक विशिष्ट स्थिति मानते हैं। रस-सिद्धान्त में उनका योग उसी विषयगत व्याख्या के कारण है। उनके मत ने स्पष्टतः नट को महत्त्व देकर भविष्य के काव्यशास्त्रियों के लिए यह प्रश्न खड़ा किया कि—नट को रस की प्राप्ति होती है या नहीं ?

भरत-सूत्र के दूसरे व्याख्याता शंकुक हुए। उनका मत है कि नट कवि विविक्षित अर्थ के गाम्भीर्य को समझ कर शिक्षा के बल पर ऐसा तल्लीन अभिनय करता है कि स्वतः को रामादि समझने लगता है और सामाजिक नट में रामादि का अनुमान कर लेता है। यह अनुमान लौकिक अनुमान से विलक्षण होता है। लौकिक अनुमान मिथ्या, सादृश्य, संशय और सम्यक् ज्ञान पर आद्धृत रहता है जबकि यह विलक्षण अनुमान चित्र-तुरंग-न्याय पर आद्धृत रहता है। इसी विलक्षण अनुमान के आधार पर वासनाओं, पूर्व जन्म के संस्कारों और रंगमंचीय सौन्दर्य के कारण प्रेक्षक रसास्वाद करता है।

जिस प्रकार लोल्लट का विरोध हुआ, उसी प्रकार शंकुक के मत पर भी आक्षेप किए गए। आरोप के स्थान पर अनुमान मान लेने पर भी भट्टनायक द्वारा लोल्लट पर किए परगतत्व और अपरगतत्व तथा साधारणीकरण की कठिनाई के आरोप ज्यों के त्यों रहे। करुण रस के आस्वाद की समस्या भी ज्यों की त्यों रही। साथ ही नट की स्थिति न स्वीकार करने से तटस्थता का प्रश्न भी उठाया गया। इनके अतिरिक्त भट्ट तौत ने भी इसका विरोध करते हुए कहा है कि—"यथार्थ अथवा मिथ्या साधन से तत्सम्बन्धी वास्तविक साध्य का अनुमान तो हो सकता है किन्तु तत्सदृश्य अन्य अवास्तविक साध्य का अनुमान नहीं हो सकता। धूम्र रूप साधन से अग्नि रूप साध्य का अनुमान हो सकता है और यदि धूम्र के स्थान पर मिथ्या साधन कुहरा हो तो हम अग्नि का अनुमान तो कर सकते हैं परन्तु तत्सदृश्य जपा कुसुमों का अनुमान नहीं कर सकते।" इसी प्रकार नट के कृत्रिम रत्यादि द्वारा लोक में वर्तमान किसी व्यक्ति की अनुमिति तो हो सकती है; किन्तु तत्सदृश्य किसी ऐतिहासिक या पौराणिक अनुकार्य की नहीं, जिसे नट या सहृदय में से किसी ने नहीं देखा है। तौत के अतिरिक्त मम्मट ने भी अनिश्चित हेत्वाभास और विरुद्ध हेत्वाभास के कारण इसको अमान्य ठहराया।

निश्चित ही शंकुक का मत रस-निष्पत्ति के प्रश्न को सुलझा न सका। जिस अनुमान के सहारे वे इस समस्या का हल देना चाहते हैं—वस्तुतः वह हृदय का व्यापार न होकर बुद्धि का व्यापार है, जब कि रस का आस्वाद अपने मूल रूप में हृदय का ही व्यापार है। भले ही अनुभव को क्षणिक मानने

निर्मित होते हुए भी आज सामान्य जनसमूह का अपना ही कृतित्व माना जाता है। इसमें किसी जाति, समाज या एक क्षेत्र में रहने वाले सामान्य लोगों की परम्पराएँ, विशेष प्रवृत्तियाँ, आचार-विचार, रीति-नीतियाँ, वाणी-विलास आदि समाहित रहते हैं। इसमें व्यापक रूप से वे अभिव्यक्तियाँ आ जाती हैं, जिनमें जन-मानस प्रतिबिम्बित रहता है। यह अत्यन्त सहज, स्वाभाविक होता है तथा मानव-हृदय की भावनाओं से सीधा सम्बन्ध रखता है। ऐसी रचनाओं में व्यक्तिनिष्ठ भावनाओं के व्यक्त होते हुए भी उनकी दृष्टि एकान्त ऊर्ध्वमुखी नहीं होती और मुख्य रूप से उनमें जनसाधारण के व्यापक जीवन-सम्बन्धी भाव चित्रित होते हैं। यही बात 'लोक-साहित्य' के विषय में भी कही जा सकती है।

दोनों की एकता का और एक आधार है। 'जन' या 'लोक' शब्द मानव-सभ्यता के विकास की एक अवस्था सूचित करते हैं। स्थूल रूप से सभ्यता के विकास की तीन अवस्थाएँ मानी जा सकती हैं—(१) अविकसित या अर्ध-विकसित समाज, जिसमें मनुष्य प्रमुखतः शिकार की अवस्था में रहा। इसे आदिम अवस्था भी कहा जा सकता है। (२) विकासोन्मुख समाज, जिसमें मनुष्य पशुपालन या कृषि करने लगा। इसे ग्रामीण अवस्था भी कह सकते हैं। (३) पूर्ण विकसित समाज, जिसमें मनुष्य यन्त्रों द्वारा उद्योगों के विकासोपरांत बड़े-बड़े नगरों में निवास करने लगा। इसमें हृदय-तत्त्व की अपेक्षा बुद्धि-तत्त्व की प्रधानता होती गई। इसे नागरिक अवस्था भी कहा जा सकता है। यह ध्यान में रखना चाहिए कि यह विकास की एक स्थूल दिशा-मात्र है, जिसके बीच में और स्थितियाँ हो सकती हैं। पूर्ण विकसित अवस्था में ऐसे भी जन-समूह हो सकते हैं जो विकास की अभी दूसरी अवस्था में हों तथा बीच की अवस्था में भी ऐसा जनसमूह हो सकता है, जो अन्य साधारण समूहों की तुलना में मानसिक रूप से अधिक विकसित हो।

'जन-साहित्य' या 'लोक-साहित्य' उक्त दोनों अवस्थाओं के बीच का साहित्य है। ऐतिहासिक विकास-क्रम को ध्यान में रखते हुए इन तीन अवस्थाओं का साहित्य क्रमशः 'आदिम साहित्य'; 'जन-साहित्य' या 'लोक-साहित्य'; और 'शिष्ट साहित्य' कहा जा सकता है, जिनके पारस्परिक सम्बन्धों में सामाजिक स्थिति के अनुसार परिवर्त्तन होते रहे हैं। 'जन-साहित्य' या 'लोक-साहित्य' की इस प्रकार एक विशेष स्थिति है। यद्यपि आदिम अभि-व्यक्तियाँ तथा विश्वास उसमें झाँकते हैं, तथापि उसका लक्ष्य न तो आदिम साहित्य का अध्ययन है, न शिष्टवर्ग द्वारा निर्मित साहित्य का अनुशीलन।

फिर भी उनमें आदान-प्रदान भी पर्याप्त होता रहा है। इस साहित्य की निचली सीमा यदि आदिम अभिव्यक्ति का स्पर्श करती है, तो ऊपरी सीमा शिष्ट साहित्य को। इसी कारण, यदि एक ओर इसमें काव्य-प्रतीकों, कथानक-रूढ़ियों, किंवदन्तियों आदि के दर्शन होते हैं, तो दूसरी ओर इसके माध्यम से यही उपादान शिष्ट साहित्य में प्रवेश कर जाते हैं, साथ ही शिष्टवर्ग की अनेक कथाएँ, उक्तियाँ आदि भी इसमें उपलब्ध होती हैं।

अतः विषयवस्तु की दृष्टि से 'लोक-साहित्य' या 'जन-साहित्य' एक ही है। इस श्रेणी के साहित्य के लिए दोनों शब्दों का प्रयोग बिना किसी सैद्धान्तिक आपत्ति के समान रूप से किया जा सकता है। प्रयोग और प्रचार की दृष्टि से यद्यपि 'लोक-साहित्य' शब्द अधिक लोकप्रिय हो गया है; फिर भी 'जन-साहित्य' शब्द का प्रयोग अधिक उपयुक्त मालूम होता है। उसका महत्त्व 'लोक-साहित्य' शब्द से कम नहीं है। 'लोक' का सामान्य अर्थ 'जनसाधारण' ही है, जिसकी अभिव्यक्ति केवल 'जन' शब्द से हो जाती है—किसी अतिरिक्त शब्द की आवश्यकता नहीं पड़ती।

इस साहित्य के संदर्भ में 'लोक' की अपेक्षा 'जन' विशेषण इसलिए उपयुक्त मालूम होता है कि 'लोक' शब्द अपने संकुचित एवं व्यापक—दोनों अर्थों में इसकी स्पष्ट व्यंजना करता हुआ प्रतीत नहीं होता। संकुचित अर्थ में 'लोक, शब्द अँग्रेजी 'फोक' का पर्यायवाची है। साधारण व्यवहार में पश्चिमीय प्रणाली की सभ्यता के लिए इसके अन्तर्गत केवल वही आते हैं, जो नागरिक संस्कृति और विधिवत् शिक्षा के प्रभाव से मुख्यतः परे हैं, जो गाँवों में रहने वाले निरक्षर या बहुत कम पढ़े-लिखे लोग हैं।[1] लूसी गार्नेट ने सन् १८७६ ई० में 'फोक' सम्बन्धी इसी तरह के विचार प्रस्तुत किये हैं कि ये लोग संस्कृति, शासक-वर्ग की विचारधारा या लिखित प्रमाण वाली जातियों से अप्रभावित रहते हैं।[2] जॉर्ज हर्जग ने 'फोक' से तात्पर्य उस समूह से बताया है, जिसमें नगर की सांस्कृतिक, आर्थिक और शिक्षामूलक विविधता कम अभिव्यक्त होती है और जहाँ जीवनगत विविधता, रीति-नीति वार्त्ता सारे समूह में समान रूप से एक जैसी प्रचलित है।[3] इस प्रकार 'फोक' संकुचित अर्थ में लिया जाता रहा, जिससे संबद्ध होने पर 'फोक लिटरेचर' शब्द का अर्थ संकुचित रहना स्वाभाविक था।

---

१. **एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका**, वा० ६, १६५३, पृ० ४४४।
२. **ग्रीक फोक पोइजी**—लूसी एम० जे० गार्नेट, पृ० १६।
३. **दि स्टैंडर्ड डिक्शनरी ऑफ फोकलोर माइथॉलॉजी एण्ड लीजेण्ड**, वा० २, १६४६, पृ० १०३३।

इसलिए 'लोक-साहित्य' के विषय में यूरोपीय विद्वानों की दृष्टि व्यापक नहीं रही। रॉबर्ट ग्रीव्ज, फ्रैंक सिज्विक, फ्रांसिस गुमेर, बिशप पर्सी, जॉन लोमैक्स, लूसी पौंड प्रभृति जिन विद्वानों ने लोक-साहित्य-सम्बन्धी विभिन्न अंगों का अध्ययन किया, उनकी यही मान्यता रही कि यह मनुष्य को आदिम अवस्था की अभिव्यक्ति है और असंस्कृत समाज का विषय है। इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप पश्चिमीय देशों में 'फोक' विशेषण लगाकर अनेक शब्द गढ़े गये, जिनका मूल सम्बन्ध पिछले भागों में रहने वाले ऐसे ग्रामीण, अशिक्षित और असंस्कृत मनुष्यों से रहा, जो नागरिक प्रभावों से बिलकुल दूर हैं।

स्पष्ट ही, भारतीय दृष्टि से 'लोक' शब्द इस संकुचित अर्थ में मान्य नहीं हो सकता था; क्योंकि यहाँ की सभ्यता का इतिहास पश्चिम के समृद्ध देशों से कुछ भिन्न है। यहाँ बड़े नगरों की तुलना में ग्रामों की प्रधानता रही और नागर जीवन; अर्थात् पौर जीवन के साथ ग्राम-जीवन; अर्थात् जनपदीय जीवन का महत्त्व बराबर बना रहा। ऋषि-मुनियों, गुरुजनों की विचारधारा का प्रभाव ग्रामीण जीवन और पौर जीवन पर बराबर पड़ता था, अतः यह धारणा बनी कि भारतीय लोक-साहित्य संस्कृति की उच्चतम भावनाओं को अपनी अपरिष्कृत भाषा में सँजोकर रखता है। "हमारा 'लोक' पाश्चात्य देशों का 'लोक' नहीं है, अपितु देश की समूची संस्कृति एवं सभ्यता ही हमारी लोक-संस्कृति एवं लोक-सभ्यता है।"[1] इसलिए यह माना गया कि भारतीय अध्ययन की दृष्टि से 'लोक' शब्द की व्यापक व्याख्या ही युक्तिसंगत है।

व्यापक शब्द लेने में 'लोक' शब्द के अंतर्गत हमारा सम्पूर्ण जीवन समा जाता है, जिसमें राष्ट्र की सभी अभिव्यक्तियाँ संचित रहती हैं तथा भूत से भविष्य तक की सभी भावनाएँ निहित होती हैं। 'लोक-साहित्य' के अंतर्गत जिस प्रकार के साहित्य का अध्ययन होता है, वस्तुतः उसका सम्यक् बोध 'लोक' शब्द के इस व्यापक अर्थ से नहीं हो पाता।

'लोक' के पर्याय से लोक-साहित्य के एकाधिक अर्थ हो सकते हैं—१. उस लोक का साहित्य, जो सभ्यताओं की सीमा से बाहर है; समाज में जिनकी गिनती नहीं, उनका साहित्य, २. जंगली जातियों का साहित्य, ३. लोक-साहित्य ग्रामीण साहित्य है, ४. लोक-साहित्य वह साहित्य है, जो लोक-मनोरंजन के लिए लिखा गया हो—उस लोक के लिए, जो विशेष पढ़ा-लिखा नहीं।[2] इस प्रकार व्यापक अर्थ ग्रहण करने में एक अस्पष्टता उत्पन्न होने लगती है।

---

१. **भोजपुरी लोकगाथा** (भूमिका)—डॉ सत्यव्रत सिन्हा, पृ० 'च'।

२. **हिन्दी-साहित्य-कोश**—सं० : डॉ० धीरेन्द्र वर्मा आदि, पृ० १५।

जिस प्रकार के साहित्य का इसमें अध्ययन करते हैं, उसके लिए वास्तव में 'लोक' शब्द व्यापक और संकुचित—दोनों अर्थों में पूर्ण नहीं मालूम होता। 'जन' शब्द अधिक स्पष्ट मालूम होता है। 'जन' अर्थात् साधारण जन, स्पष्ट ही शिक्षा-दीक्षा, रहन-सहन, मानसिक धरातल आदि में अपेक्षाकृत शिष्ट या उच्चवर्ग से पीछे होते हैं, प्राचीन परम्पराओं से अधिक प्रभावित रहते हैं, जिनका जीवन अपेक्षाकृत कम गतिशील रहता है, बुद्धि की अपेक्षा हृदय की भावनाएँ प्रधान रहती हैं, और जिनका दृष्टिकोण, कर्त्तव्य-भावना, नियम आदि कुछ विश्वासों द्वारा परिचालित होते हैं, जो वैज्ञानिक आधारों पर भले ही महत्त्वहीन सिद्ध किये जा चुके हों। एक ही समाज में विशिष्ट जनसमूह तथा सामान्य जनसमूह में पर्याप्त अन्तर उत्पन्न हो जाता है, जो सभ्यता के विकास के साथ उत्तरोत्तर बढ़ता है। 'जन' शब्द ग्राम या नगर की जनता में भौगोलिक अन्तर नहीं करता, उससे निर्दिष्ट लोग कहीं भी रह सकते हैं तथा विशिष्ट समूह से पृथक देखे जा सकते हैं। इस प्रकार 'जन-साहित्य' के अन्तर्गत दो प्रकार की रचनाएँ आती हैं—१. जनसाधारण द्वारा रचित या उनमें प्रचलित रचनाएँ, और २. जनसाधारण के लिए निर्मित रचनाएँ। ये मौखिक परंपरा द्वारा भी प्राप्त हो सकती हैं, व्यक्ति-विशेष के हाथों निर्मित भी होती हैं, साथ ही इसमें विशिष्ट वर्ग के साहित्य से पृथक् करने वाले तत्त्व भी विद्यमान रहते हैं। 'जन' शब्द में काफी सप्राणत्व है।

'जन' शब्द की प्राचीनता का ऐतिहासिक आधार है। संस्कृत एवं पालि-ग्रन्थों में इस शब्द से मानव-समाज का बोध कराया गया है। बुद्ध के उपदेश 'बहुजनहिताय', 'बहुजनसुखाय' होते थे। 'जन' शब्द की प्राचीनता आर्य जाति के इतिहास से सम्बद्ध है। प्राचीनतम ऐतिहासिक उल्लेखों के अनुसार आर्य 'जन' अथवा समुदायों या गिरोहों में संगठित थे। एक आर्य जन के सब लोग अपने को 'सजात'; अर्थात् किसी एक मूल पुरुष से उत्पन्न समझते थे। ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर 'पंचजन' शब्द का प्रयोग हुआ है।[1]

'जन' शब्द की यह ऐतिहासिक प्राचीनता एक दूसरे तथ्य का संकेत करती है कि 'जन-साहित्य' को 'जनपदीय साहित्य' अथवा 'क्षेत्रीय साहित्य' के अर्थ में प्रयुक्त किया जा सकता है। यह भी एक कारण है, जिसके आधार पर 'जन' शब्द 'लोक' की तुलना में अधिक ग्राह्य होना चाहिए। लोक-संस्कृति प्रादेशिक या क्षेत्रीय हुआ करती है। प्रदेश या क्षेत्र इकाई के रूप में संस्कृति; का उत्पादक अंग होता है, जो विशाल समाज या लोक का प्रतिनिधित्व करता

---

१. मध्यदेश—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० १५।

है, इसीलिए विद्वान् लोग खोज के समान आधार के लिए सीमित क्षेत्र आवश्यक मानते हैं।

टी० एस० इलियट ने संस्कृति के लिए तीन स्थितियों की आवश्यकता बतलाते हुए यह माना है कि उसका विश्लेषण भौगोलिक इकाई की दृष्टि से 'स्थानीय संस्कृति' के रूप में होना चाहिए, जिसके द्वारा एक प्रादेशिक या क्षेत्रीय रूप बनता है।[1] भारत जैसे विख्यात देश के लिए तो यह क्षेत्रीय विभाजन और भी आवश्यक है। इस क्षेत्र में सामान्य रूप से ग्रामों एवं नगरों के समुदाय सम्मिलित हैं। इसमें रहने वाले जन, उनकी भूमि और भौतिक जीवन तथा उनकी संस्कृति में 'जन' शब्द के सम्पूर्ण ज्ञान का अन्तर्भाव हो जाता है। 'ग्रामों' के समुदाय को ही प्राचीन परिभाषा में 'जनपद' कहा गया है। 'वह भौमिक इकाई, जिसमें बोली और जन-संस्कृति की दृष्टि से जनता में पारस्परिक साम्य अधिक है, 'जनपद' कही गई है।'[2] अतः 'जन' शब्द को सरलतापूर्वक क्षेत्रीय अर्थ में प्रयुक्त कर सकते हैं।

'जन-साहित्य' एक क्षेत्रीय विशेषता का द्योतक है—जो क्षेत्र सांस्कृतिक आधार पर प्राचीन काल से कुछ निजी विशेषताएँ रखता आया है। 'ब्रज लोक-साहित्य', 'अवधी लोक-साहित्य', 'बघेली लोक-साहित्य'—जैसे प्रयोगों में हम वस्तुतः उस क्षेत्र-विशेष में रहने वाले जनसाधारण के साहित्य का ही अध्ययन करते है। क्षेत्रीय अन्तर केवल भौगोलिक नहीं है, प्रत्युत वह एक निश्चित ऐतिहासिक और सांस्कृतिक आधार पर स्थित है।

प्रयोग की दृष्टि से हिन्दी में 'जन' और 'साहित्य' शब्दों का व्यवहार भी हुआ है। श्री कृष्णानन्द गुप्त ने सन् १९४४ ई० में 'लोकवार्त्ता' पत्रिका के प्रथम अंक में ही इनका व्यवहार किया है।[3] राहुल सांकृत्यायन ने 'लोक-साहित्य' के स्थान पर 'जन-साहित्य' शब्द प्रयुक्त किया है। गढ़वाली गद्य-पद्य के लिए 'जन-साहित्य' शब्द प्रयुक्त किया है। गढ़वाली गद्य-पद्य के लिए 'जन-साहित्य', कुमाउँनी गद्य-पद्य के लिए 'जन-साहित्य', किन्नर-गीतों के लिए 'जनगीत' तथा संगीत के लिए 'जन-संगीत' आदि प्रयोग उनकी पुस्तकों में मिलते हैं। वे 'लोक-भाषा', 'लोक-कथा' आदि शब्दों के स्थान पर' जनभाषा' तथा 'जनकथा' आदि शब्दों का व्यवहार करते हैं। गद्य-पद्य के मौखिक रूपों के साथ उन्होंने व्यक्तियों द्वारा लिखित और प्रकाशित रचनाओं को इसी 'जन-साहित्य' के अंतर्गत स्थान दिया

---

१. **नोट्स टु वर्ड्स दि डेफीनिशन ऑव कल्चर**—टी० एस० इलियट, पृ० १९।
२. **पृथ्वीपुत्र**—डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ७०-७१।
३. **'लोकवार्त्ता'** (त्रैमासिक)—वर्ष १, अंक १, पृ० २।

है। 'हिन्दी नाटक-साहित्य का उद्‌भव और विकास' पुस्तक में 'जन-नाटक' शब्द का प्रयोग डॉ० दशरथ ओझा ने किया है।[१] 'हिमालय की लोक-कथाएँ', पुस्तक में 'जन-साहित्य' शब्द का प्रयोग मिलता है।[२]

इस साहित्य के लिए लेखकों ने समय-समय पर अन्य शब्दों का भी प्रयोग किया। यूरोपीय विद्वानों द्वारा भारतीय लोक-साहित्य-सम्बन्धी कार्य आरम्भ करने पर 'फोक' शब्द का पर्याय खोजा गया। हिन्दी में पं० रामनरेश त्रिपाठी ने इस स्थान पर 'ग्राम' शब्द का प्रयोग उचित ठहराया। 'फोक-लिटरेचर' के लिए 'ग्राम-साहित्य' तथा 'फोक साँग' के लिए 'ग्रामगीत' शब्द प्रयुक्त किये। 'रूरल साँग' तथा 'फोकलोर' का अनुवाद भी उन्होंने 'ग्रामगीत' ही किया है।[३] 'ग्राम' शब्द की उपयुक्तता का उन्होंने यह आधार दिया कि 'गीत' ग्राम की सम्पत्ति हैं, शहरों में तो वे गये हैं, जन में नहीं, फिर गाँवों का यह गौरव उनसे क्यों छीना जाय, ?[४] किन्तु 'ग्राम' शब्द चला नहीं; क्योंकि स्पष्ट ही उसका अर्थ बहुत संकुचित था। वह साहित्य को ग्राम की क्षेत्रीय सीमा में बाँध देता है, जबकि गीतों आदि की रचना शहरों में भी हुआ करती है और वे शहरों की सम्पत्ति भी होते हैं।

तदुपरान्त 'लोकगीत' शब्द प्रकाश में आया। सन् १९२० ई० तक मराठी और गुजराती में 'लोकगीत' शब्द का प्रयोग होने लगा था, विशेषत: गुजराती में यह शब्द बहुत परिचित भी हो चुका था। कुछ समय तक 'ग्राम-गीत' और 'लोकगीत'—दोनों शब्द चलते रहे। सन् १९३० ई० के आसपास रणजीत राय मेहता ने 'लोक-साहित्य' पुस्तक लिखी, तो सन् १९३६ ई० तक देवेन्द सत्यार्थी 'ग्रामगीत' शब्द का ही प्रयोग करते रहे। सन् १९३८ ई० में सूर्यकरण पारीक ने राजस्थानी गीतों के संग्रह को 'राजस्थान के लोकगीत' शीर्षक से अभिहित किया, यद्यपि इसके चार वर्ष पूर्व जगदीश सिंह गहलोत द्वारा संकलित मारवाड़ी गीतों का शीर्षक 'मारवाड़ी ग्रामगीत' ही था।[५]

इस समानार्थी प्रयोग पर संभवतः सन् १९४२ ई० में सूर्यकरण पारीक ने सर्वप्रथम विचार करते हुए 'लोक' शब्द को उचित माना। उन्होंने इसका कारण बतलाया कि लोकगीतों को ग्राम की संकुचित सीमा में बाँधना उनके

---

१. **हिन्दी नाटक-साहित्य का उद्‌भव और विकास**, पृ० ३८।
२. **हिमालय की लोक-कथाएँ**—ओक्ले और गैरोला, पृ० २।
३. **कविता-कौमुदी** (पाँचवाँ भाग)— ग्रामगीत, पृ० ७६-७८।
४. **'जनपद'**—खंड १, अंक १, पृ० ११।
५. **भारतीय लोक-साहित्य**—डॉ० श्याम परमार, पृ० ६८।

व्यापकत्व को कम करना है। गीतों की रचना में ग्राम और नगर का इतना हाथ नहीं है, जितना सर्वसाधारण जनता का—लोक का।[1] बाद, 'लोक' शब्द ही अधिक प्रयुक्त होने लगा, जिसका 'ग्राम' से पार्थक्य कर लिया गया। पारीक जी ने ही 'ग्रामगीत' का अर्थ 'गाँवों के गीत' किया है। श्रीकृष्णदेव उपाध्याय ने 'फोक-साँग' को 'ग्रामगीत' माना है और 'बैलेड' को 'लोकगीत'।[2]

एक प्रकार से इस साहित्य एवं इसके विभिन्न रूपों के लिए प्रयुक्त अनेक नामों को स्थिर करने की आवश्यकता अभी बनी हुई है। पिछले ३०-४० वर्षों में विभिन्न नामों के प्रयोगात्मक इतिहास में 'लोक-साहित्य', 'लोकगीत' जैसे नाम पर्याप्त आगे बढ़ आये हैं, जिन्हें शास्त्रीय आधार देने का प्रयत्न हुआ है; किन्तु जैसा स्पष्ट किया जा चुका है, इसके लिए 'जन-साहित्य' शब्द भी कम महत्त्व नहीं रखता। कुछ दृष्टियों से इसका प्रयोग अधिक उपयुक्त मालूम होता है।

---

१. **राजस्थानी लोक गीत**—श्री सूर्यकरण पारीक, पृ० ६-१०।

२. **'जनपद'**—खंड १, अंक १, पृ० ३८।

३६

भाषा और भाषाशास्त्र

१·१० भाषा की परिभाषा एवं स्वरूप

संसार के प्रत्येक प्राणी के लिये भाषा का विशेष महत्व है। जैसे-जैसे प्राणियों का विकास हुआ, भाषा का विकास भी उसी के साथ-साथ होता गया। चाहे वह पशु-पक्षियों की भाषा हो, चाहे मानव की—सभी प्राणी भिन्न-भिन्न भाषाओं का प्रयोग करते हैं। इन भाषाओं के प्रयोग का मुख्य उद्देश्य भावों और इच्छाओं को प्रकट करना ही होता है। मनुष्य तो एक सामाजिक प्राणी है। बिना समाज के उसका रहना असम्भव है। भाषा ही वह माध्यम है जिसके द्वारा उसका समाज से सम्बन्ध स्थापित होता है। कहना न होगा कि मनुष्य अपने विचारों, भावों तथा इच्छाओं को दूसरे व्यक्तियों पर भली-भाँति केवल भाषा के माध्यम से ही प्रकट कर सकता है। वस्तुतः भाषा मानव जीवन के साथ इतनी घुल-मिल गई है कि भाषा के महत्व, उसके स्वरूप एवं परिभाषा पर हम लोगों का शीघ्र ध्याय नहीं जाता है।

साधारण बोलचाल में **'भाषा'** शब्द का अर्थ **'लिखित भाषा'** होता है। साधारणतः मनुष्य भाषा तथा **लेखनकला** को प्रायः एक ही समझ लेते हैं। किन्तु इस विषय में यह बात विचारणीय है कि क्या भाषा और लेखनकला में कोई अन्तर नहीं है, और क्या ये दोनों एक ही वस्तु के दो भिन्न नाम हैं ? यदि

इस प्रश्न पर हम वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करें तो ज्ञात होगा कि भाषा और लेखनकला दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। लेखनकला का इतिहास बहुत पुराना नहीं है। अधिक से अधिक सात हजार वर्षों का ही इसका इतिहास है। इसकी अपेक्षा भाषा का इतिहास बहुत प्राचीन है। सम्भवत: मानव के विकास में भाषा का विकास सर्वप्रथम रहा होगा—क्योंकि संसार में आज ऐसी कोई भी जाति नहीं है जिसकी कोई न कोई भाषा न हो, किन्तु ऐसी अनेक जातियाँ आज भी वर्तमान हैं जो लेखनकला से अनभिज्ञ हैं। लेखनकला तो वस्तुत: शिक्षित मनुष्यों कीं भाषा का ही प्रतिनिधित्व करती है।

भाषा तथा लेखनकला में अन्तर स्पष्ट कर लेने के पश्चात् भाषा की परिभाषा को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से समझ लेना चाहिए। यद्यपि 'भाषा' की कोई निश्चित् परिभाषा देना कठिन है, किन्तु कतिपय प्रमुख भाषाविदों की परिभाषाएँ नीचे दी जा रही हैं, जिनके आधार पर भाषा के स्वरूप के विषय में हमें यत्किंचित ज्ञान हो जायेगा।

"ध्वन्यात्मक-शब्दों द्वारा विचारों का प्रकटीकरण ही भाषा है।"—**स्वीट**

"ध्वन्यात्मक-शब्दों द्वारा हृद्गत भावों तथा विचारों का प्रकटीकरण ही भाषा है।"—**गुणे**

"मनुष्य ध्वन्यात्मक शब्दों द्वारा अपना विचार प्रकट करता है। मानव-मस्तिष्क वस्तुत: विचार प्रकट करने के लिए ऐसे शब्दों का निरन्तर उपयोग करता है। इस प्रकार के कार्य-कलाप को ही 'भाषा' की संज्ञा दी जाती है।"

—**जेस्परसन**

"भाषा एक प्रकार का चिह्न है। चिह्न से तात्पर्य उन प्रतीकों से है, जिनके द्वारा मनुष्य अपना विचार दूसरों पर प्रकट करता है। ये प्रतीक भी कई प्रकार के होते हैं। जैसे—**नेत्रग्राह्य, श्रोत्रग्राह्य एवं स्पर्शग्राह्य**। वस्तुतः भाषा की दृष्टि से श्रोत्रग्राह्य प्रतीक ही सर्वश्रेष्ठ हैं।"—**वान्द्रिए**

"जिन ध्वनि-चिन्हों द्वारा मनुष्य परस्पर विचार-विनिमय करता है, उसे भाषा कहते हैं।"—**बाबूराम सक्सेना**

"अर्थवान कण्ठोद्‌गीर्ण ध्वनि-समष्टि ही भाषा है।"—**सुकुमार सेन**

उपर्युक्त सभी उदाहरणों मे भाषा की परिभाषा देने का प्रयास किया गया है, किन्तु किसी भी परिभाषा से वस्तुत: भाषा का वास्तविक स्वरूप प्रकट नहीं हो पाता। नीचे भाषा की परिभाषा पर कई दृष्टियों से विचार किया जाता है। यथा—

भाषा—ध्वनियों का समूह है

यदि किसी शिक्षित मनुष्य से पूछा जाय तो वह भाषा की इसी रूप में परिभाषा देगा। यद्यपि इस प्रकार की परिभाषा देना ठीक है किन्तु यह परिभाषा अतिव्याप्ति दोष से युक्त है, क्योंकि मनुष्य के अतिरिक्त अन्य प्राणी भी ध्वनि के द्वारा ही अपने विचार व्यक्त करते हैं। विचारों की यह अभिव्यक्ति बहुत कुछ मनुष्य के भावों की अभिव्यक्ति के ही समान होती है। इसके अतिरिक्त ऐसे भी प्राणी हैं जो कि ध्वनियों का प्रयोग नहीं करते। उदाहरण के लिये गूँगे, बहरों की भाषा को लिया जा सकता है जो कि बिना ध्वनि-समूहों का प्रयोग किये ही अपने विचारों को प्रकट करते हैं; किन्तु इन ध्वनियों का सम्बन्ध 'भाषा' में साथ नहीं जोड़ना चाहिए। केवल मनुष्य के **ध्वनि-अवयवों** से निकली हुई ध्वनि ही भाषाशास्त्र के अन्तर्गत आती है।

वस्तुतः ध्वनि-समष्टि तथा वस्तु में कोई सम्बन्ध नहीं होता। उदाहरण-स्वरूप 'गाय' शब्द को लिया जा सकता है। 'गाय' शब्द में "ग्+आ+य्+अ" ध्वनियाँ हैं किन्तु गाय-वस्तु तथा इन ध्वनियों में कोई सम्बन्ध नहीं है। कुछ लोगों का ऐसा मत है कि एक ऐसा युग रहा होगा जब कि ध्वनियों तथा उनसे बोधित होने वाली वस्तुओं का सम्बन्ध रहा होगा; अर्थात् ध्वनियों के आधार पर ही शब्द-निर्माण होता रहा होगा। यह विचार सर्वथा सत्य तो नहीं ही कहा जा सकता किन्तु अंशतः सत्य तो है ही, क्योंकि प्रत्येक भाषा में **अनुकरण-मूलक शब्द** थोड़े-बहुत तो होते ही हैं। जैसे लकड़ी के जलने की आवाज 'चट-चट' से 'चटचटाना', बाँसों के समूह का हवा के तेज झोकों—'भर-भर' से 'भरभराना' आदि शब्द अनुकरणमूलक ही हैं। किन्तु ऐसे शब्दों की संख्या किसी भी भाषा में अल्प ही होती है।

भाषा—स्वच्छन्द पद्धति है

भाषा की स्वच्छन्दता का अर्थ केवल यही है कि भाषा अर्जित वस्तु है। अर्थात् मनुष्य अपने पूर्वजों एवं अपने समाज के द्वारा ही भाषा को सीखता है। मनुष्य जहाँ पर रहेगा उसी स्थान की भाषा को वह सीख लेगा। यदि उत्तर-प्रदेश का निवासी जाकर अमरीका में रहने लगे तो उसके बालक वहीं की भाषा को अपना लेंगे, क्योंकि बालक अपने आस-पास के समाज से ही भाषा सीखता है। यदि उसे समाज से दूर कहीं किसी एकान्त स्थान में रख दिया जाय तो वह किसी भी भाषा को सीखने में समर्थ नहीं हो सकेगा। इसीलिए भाषा को समाज-सापेक्ष्य कहते हैं; किन्तु संसार के कुछ ऐसे भी प्राणी हैं जिन्हें भाषा सीखने के लिए समाज की आवश्यकता नहीं होती। पशु-पक्षियों की भाषा

समाज-सापेक्ष्य न होकर स्वच्छन्द एवं स्वाभाविक होती है। यदि मनुष्य की भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाय तो ज्ञात होगा कि वह भी अपनी एक विशेष अवस्था में इसी प्रकार की भाषा का प्रयोग करता है। बच्चा जब पैदा होता है तो वह उस समय जो "केहें-केहें" करता है, यह भाषा स्वच्छन्द एवं स्वाभाविक ही कहलायेगी, क्योंकि इसके लिए उसे कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता किन्तु इस प्रकार की भाषा का अध्ययन भाषाशास्त्र की सीमा के परे है।

भाषा—क्रमबद्ध वस्तु है

भाषा की क्रमबद्धता की मुख्य बात यह है कि प्रत्येक भाषा के गठन का एक विशेष क्रम होता है, जिसके आधार पर अन्य विचारों को भी प्रकट किया जा सकता है। हम किसी भी भाषा के गठन के विपरीत नहीं जा सकते। हिन्दी में 'राम......खाता है'—इस रिक्त स्थान (......) पर केवल जाति-वाचक संज्ञा को ही रखा जा सकता है, अन्य प्रकार की संज्ञाओं को हम नहीं रख सकते, क्योंकि एक वचन की क्रिया के साथ दो व्यक्तिवाचक संज्ञाओं का प्रयोग हिन्दी भाषा की गठन के प्रतिकूल है।

भाषा की **क्रमबद्धता** के विषय में दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि हम उसके किसी भी वाक्य के क्रमबद्ध शब्दों को उसी प्रकार के अन्य शब्दों द्वारा **स्थानान्तरण** भी कर सकते हैं। यही स्थानान्तरण की प्रक्रिया मनुष्य को अन्य जीवित प्राणियों से पृथक् करती है। कहने का तात्पर्य यह है कि यद्यपि पशु-पक्षी भी सार्थक शब्दों का प्रयोग करते हैं किन्तु वे किसी शब्द के स्थान पर कोई दूसरा शब्द नहीं रख सकते। यह शक्ति केवल मनुष्य में ही होती है। मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जो शब्द-निर्माण कर सकता है। उदाहरण के लिए—'राम पानी पीता है'—इस वाक्य में 'पानी' शब्द के स्थान पर मनुष्य दूध, रस, सोम आदि उसी प्रकार के अनेक शब्दों का प्रयोग कर सकता है; किन्तु मानवेतर प्राणी ऐसा करने में समथ नहीं हैं।

भाषा—प्रतीकों का समूह है

भाषा प्रतीकों का समूह है। इसके सभी प्रतीक सार्थक होते हैं। भाषा के प्रतीकों तथा भावाभिव्यक्ति के अन्य प्रतीकों में अन्तर होता है। इसे एक उदा-हरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। राम और मोहन—दोनों घूमने जा रहे हैं। मार्ग में पके हुए आम को देखकर मोहन ने कहा—"भाई, भूख लगी है आम खाऊँगा।" राम ने वृक्ष से फल तोड़कर मोहन को खाने के लिये दे दिया।

यदि उपर्युक्त व्यापार का सतर्कता के साथ विश्लेषण किया जाय तो निम्नलिखित कार्य-कारण-परम्परा उपलब्ध होगी—

१. मोहन के मुख से कतिपय ध्वनि उच्चरित होने के पूर्व की घटना थी—मोहन का वृक्ष पर आम देखना तथा उसकी क्षुधा की अनुभूति।
२. इस उत्तेजना के फलस्वरूप मोहन का राम के प्रति निवेदन।
३. मोहन का निवेदन सुनकर राम के मन में भी अनुरूप उत्तेजना का संचार होना।
४. राम के मन में उस उत्तेजना की प्रतिक्रिया; अर्थात् वृक्ष से फल तोड़कर मोहन को देना।

ऊपर के उदाहरण में मोहन यदि मानवेतर प्राणी होता तो भाषा के अभाव में अपनी उत्तेजना राम पर संक्रमित न कर पाता, अपनी उत्तेजना के फलस्वरूप वह स्वयं वृक्ष पर चढ़कर फल तोड़ने का प्रयत्न करता। जर्मन वैज्ञानिक के० वी० फ्रिश ने मधुमक्खियों के सामाजिक जीवन के सम्बन्ध में अनेक अनुसंधान किये हैं। एक कागज को मधु में भिगोकर उसे मधुमक्खियों के छत्ते के पास रख दिया। कई घंटों के पश्चात् मधुमक्खियों को इसका पता लगा; किन्तु इसके पश्चात् कार्य शीघ्रता पूर्वक होने लगा। मधुमक्खियाँ इस कागज से शीघ्रता से मधु ले जाकर अपने छत्ते में जमा करने लगीं और धीरे-धीरे वे अपने साथ अन्य मक्खियाँ भी लाने लगीं। इससे यह स्पष्ट है कि पहली मक्खी ने अन्य मक्खियों को सूचना दे दी। यह सूचना उसने कैसे दी—यह विचारणीय है। पहली मक्खी ने छत्ते में मधु रखकर नाचना आरम्भ किया। इसके कारण अन्य मक्खियाँ भी उत्तेजित हुईं। वे उस मक्खी के चारों ओर एकत्र हो गईं और नाचने वाली मक्खी को अपने शुण्ड से स्पर्श करने लगीं। उसी समय उस मक्खी ने नाचना बन्द कर दिया और वह उड़ गई। उसके चारों ओर फैली हुई अन्य मक्खियाँ भी उड़ गईं और कालान्तर में वे भी मधु को ले आकर अपने छत्ते में जमा करने लगीं।

इस सम्बन्ध में इस बात को स्मरण रखना चाहिए कि एक व्यक्ति की उत्तेजना को दूसरे व्यक्ति के मन में संचारित करके प्रतिक्रिया उत्पन्न करना ही भाषा का एकमात्र लक्षण नहीं है। जिस प्रकार भाषा के माध्यम द्वारा एक व्यक्ति अपने मुखोद्गीर्ण ध्वनिप्रवाह को दूसरे व्यक्ति के कर्णकुहर में प्रविष्ट करके उत्तेजना उत्पन्न करता है, उसी प्रकार इंगित द्वारा भी पहला व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के मन में उत्तेजना उत्पन्न कर सकता है, किन्तु इंगित द्वारा भाषा

का कार्य अत्यल्प मात्रा में ही चलता है। इंगित भाषा नहीं है अपितु वह भाषा का प्रतिनिधि मात्र है।

गृहपालित पशु-पक्षी कभी-कभी पालक अथवा चालक के इशारे पर कार्य करते हैं। अनेक इतर प्राणी भी मुखोच्चरित ध्वनि की सहायता से अपनी जाति के अन्य प्राणियों में प्रतिक्रिया उत्पन्न करते हैं। किन्तु इन पशु-पक्षियों की बोली भाषा नहीं है, क्योंकि भाषा का प्रधान लक्षण 'प्रतीकद्योतकता' इसके द्वारा सम्पन्न नहीं हो पाता। इतर प्राणियों के बोलने से उनकी जाति के अन्य प्राणियों में जो प्रतिक्रिया होती है—वह यंत्रवत् तथा अज्ञान रूप में होती है, किन्तु मनुष्य के कण्ठ से निकली हुई ध्वनि वस्तुतः अज्ञान प्रतिक्रिया का परिणाम होती है। विशेष अर्थ द्योतित करने के लिए मनुष्य विशेष ध्वनि-समष्टि (शब्द) का व्यवहार करता है। भाषा की विशेष ध्वनि-समष्टि के साथ विशेष अर्थ का अटूट सम्बन्ध होता है। इतर प्राणियों की ध्वनि में इस प्रकार का सम्बन्ध नहीं होता।

भाषा—अपने में पूर्ण होती है

भाषा की पूर्णता का अर्थ यह कदापि नहीं है कि प्रत्येक भाव को व्यक्त करने के लिए इसमें भिन्न-भिन्न शब्द होते हैं, अपितु भाषा की पूर्णता का अर्थ यह है कि प्रत्येक भाषा अपने समाज के भावों को व्यक्त करने में समर्थ होती है। अनेक मिशनरियों ने अन्य जातियों तथा आदिवासियों की **भाषा का सर्वेक्षण** करके यह परिणाम निकाला है कि उनकी भाषाएँ अपूर्ण हैं। किन्तु आधुनिक **भाषाविद्** इसे अवैज्ञानिक एवं असत्य मानते हैं। सच तो यह है कि प्रत्येक भाषा की शब्दावली उस भाषा के बोलने वालों के प्राकृतिक वातावरण पर आधारित होती है। यही कारण है कि स्कीमो भाषा में संस्कृत की अपेक्षा दर्शन-शास्त्र की शब्दावली कम है, किन्तु इसके विपरीत भिन्न-भिन्न प्रकार के बर्फों के लिये उनकी भाषा में अनेक ऐसे शब्द हैं जो कि संस्कृत में उपलब्ध नहीं हैं। इससे यह भी पता लगता है कि उनके जीवन में बर्फ की अपेक्षा दर्शन का कम महत्व है।

उपर्युक्त विचारों को संक्षेप में हम निम्नलिखित रूप में कह सकते हैं, जिससे कि भाषा की परिभाषा एवं उसके स्वरूप का यत्किंचित बोध हो सकता है :—

भाषा मनुष्य के प्रतीकात्मक कार्यों का प्राथमिक एवं बहुविस्तृत रूप है। इसके प्रतीक ध्वनि-अवयवों से उत्पन्न ध्वनि अथवा ध्वनि-समूहों से बने होते हैं एवं विभिन्न वर्गों तथा आकारों में इस प्रकार सजाए हुए रहते हैं कि

उनका एक संयुक्त एवं सुडौल आकार (ढाँचा) बन जाता है। भाषा का अस्तित्व प्रतीकों में होता है। इसके सभी प्रतीक सार्थक होते हैं किन्तु इन प्रतीकों तथा इन प्रतीकों से बोधित-वस्तुओं का सम्बन्ध समाज-सापेक्ष्य एवं स्वच्छन्द होता है। ये प्रतीक एक व्यक्ति की उत्तेजना को दूसरे व्यक्ति के मन में संचारित करके प्रतिक्रिया उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं, यद्यपि इस प्रतिक्रिया को तत्काल उत्पन्न होने से रोका भी जा सकता है। भाषा का आकार (ढाँचा) इस प्रकार का होता है कि जिसके द्वारा किसी भाषा का बोलने वाला अपने भावों, इच्छाओं एवं अनुभवों को दूसरे मनुष्य पर अभिव्यक्त कर सकता है। सारांश यह है कि प्रत्येक भाषा किसी संस्कृति को अभिव्यक्त करती है तथा अपने वातावरण के अनुसार होती है।

१·११ भाषाशास्त्र का विषय

भाषाशास्त्र का विषय भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करना है। इस अध्ययन की सीमा के अन्तर्गत मानव कण्ठ से निसृत वाणी, प्राचीन तथा अर्वाचीन संस्कृत एवं असंस्कृत, विद्वान् एवं निरक्षर—सभी के भाषा के रूपों का समावेश होता है। **भाषाशास्त्री**, इसके लिये सबसे पहले भाषा की गठन की जानकारी प्राप्त करता है। मोटे तौर पर उसके अध्ययन की निम्नलिखित सीमा होती है :—

(क) वह संसार की भाषाओं की व्याख्या करता है तथा उनके उद्गम और विकास का भी अनुसंधान करता है। वह ऐतिहासिक दृष्टि से भाषा का अध्ययन करता है। इसके लिये उसे एक ही परिवार की विभिन्न भाषाओं का अध्ययन करना पड़ता है। इसके फलस्वरूप उसे ऐसी सामग्री उपलब्ध होती है जिनकी सहायता से वह किसी विशेष परिवार की मूल भाषा का **पुनः निर्माण** करता है। भारोपीय भाषा का पुनः निर्माण उसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

(ख) वह विभिन्न परिवार की भाषाओं का भी अध्ययन करता है और उसके आधार पर भाषा सम्बन्धी उन सामान्य नियमों को भी खोज निकालता है जो सार्वभौम रूप से सभी भाषाओं पर लागू होते हैं।

(ग) वह अपने अध्ययन की सीमा को भी निर्धारित करता है और उसकी रूपरेखा को भी स्पष्ट करता है।

१·१२ भाषाशास्त्र की सीमाएँ

भाषा का सामाजिक दायित्व है। भाषा मानव जीवन की प्रमुख एवं सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है। इस कारण उसका सम्बन्ध सम्पूर्ण मानवता से है। किन्तु भाषाशास्त्री जिस रूप में भाषा का विश्लेषण एवं विवेचन करता है

उसके कारण क्षेत्र बहुत कुछ सीमित एवं संकुचित हो जाता है। यह सत्य है कि काव्य-शास्त्री, दार्शनिक, धर्मशास्त्री, तथा आलोचक आदि सभी का सम्बन्ध भाषा से है किन्तु भाषा-शास्त्री का भाषा से सम्बन्ध इन समस्त शास्त्रियों से किंचित् भिन्न रूप में है। यह बात निःसंदिग्ध है कि अन्य शास्त्र वाले भाषा-शास्त्रियों के भाषा-विश्लेषण से लाभ उठा सकते हैं। भाषाशास्त्री भाषा विषयक अपने अध्ययन की सीमाओं को जिस रूप में निर्दिष्ट करता है, वे इस प्रकार हैं—

(१) सर्वप्रथम भाषाशास्त्री को इस बात में अभिरुचि नहीं होती कि किस प्रकार के विचारों का प्रेषण हो रहा है। उसके अध्ययन का मुख्य विषय विचार नहीं, अपितु वह माध्यम है जिसके द्वारा विचारों का परिवहन होता है। इसके लिये उसे अध्ययन की सीमा का निर्धारण करना पड़ता है। इसका कारण यह है कि यदि वह विचार-तत्वों के प्रति आकृष्ट हो जाए तो उसे मानव के सम्पूर्ण ज्ञान के साथ सम्बन्ध स्थापित करना पड़ेगा।

(२) भाषाशास्त्री की इस विषय में बिल्कुल रुचि नहीं होती कि कोई व्यक्ति 'क्या कह रहा है', अथवा 'क्या कहना चाहता है ?' वास्तव में उसकी रुचि का विषय यह होता है कि जो कुछ कहा जा रहा है उसका रूप क्या है ?

(३) भाषा-शास्त्री के अध्ययन की सीमाएँ उसके द्वारा स्वीकृत भाषा की परिभाषा के कारण भी संकुचित हो जाती हैं, क्योंकि पारस्परिक विचारों के आदान-प्रदान के लिए कई माध्यम अपनाये जाते हैं जिनमें—झंडी, **लिखित-प्रतीक**, एवं **मूक संकेत** उल्लेखनीय हैं। भाषाशास्त्री इन समस्त प्रकार के माध्यमों को अपने क्षेत्र के बाहर मानता है। उसका सीमा-क्षेत्र केवल मानव-वागेन्द्रियों से उद्भूत सार्थक ध्वनियों के अध्ययन तक ही है।

भाषाशास्त्री को कभी-कभी केवल लेख्य के आधार पर ही भाषा का अध्ययन करना होता है। वह दैनिक जीवन में व्यवहृत होने वाली भाषा का अध्ययन तो उसकी **ध्वन्यात्मक विशेषता** के आधार पर करता है किन्तु कभी-कभी **लेख्य** के आधार पर प्राचीन मृत भाषा का अध्ययन करना पड़ता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ऐसे अध्ययन के समय में भी वह यह जानने का प्रयत्न करता है कि वह भाषा किस रूप में बोली जाती होगी।

(४) भाषा वस्तुतः समाज-सापेक्ष्य वस्तु है, अतएव भाषाशास्त्री उसके आदर्श रूप के अनुसंधान में प्रवृत्त नहीं होता। वह इस बात की कभी भी चिन्ता नहीं करता कि कोई बात किस रूप में कही जानी चाहिए या किस **व्याकरणीय रूप** का किस प्रकार प्रयोग करना चाहिए, अथवा किसी शब्द-विशेष को किस

रूप में उच्चरित करना चाहिए ? उसकी खोज एवं अध्ययन का विषय इस बात का विश्लेषण करना होता है कि कोई वक्ता किसी भाषा को किस रूप में उच्चरित करता है अथवा किसी भाषा-समुदाय का उच्चारण किस रूप में होता है। वह मानव के **उच्चारों** के यथार्थ रूप का विवेचन करता है। भाषा किस रूप में हैं, यही उसकी सीमा है और उसे किस रूप में होना चाहिए—यह उसकी सीमा के बाहर की वस्तु है।

जब भाषाशास्त्री भाषा में किसी प्रकार के मानदण्ड (स्टैण्डर्ड) की चर्चा करता है तब उसका केवल इतना ही तात्पर्य होता है कि किसी **भाषीय-पद्धति** के अन्तर्गत विचारों के आदान-प्रदान करते समय किस प्रकार से स्थिरता तथा विशिष्टता लायी जाय।

कुछ लोग ऐसा सोच सकते हैं कि भाषाशास्त्री ऊपर के सीमा-प्रतिबन्ध को लगाकर अपने अध्ययन-क्षेत्र को बहुत संकुचित कर देता है किन्तु इस प्रकार की विचारधारा में कोई तथ्य नहीं है। सच तो यह है कि भाषाशास्त्री के लिये केवल **कथ्य-भाषा** के माध्यम के रूप में **भाषा-प्रणाली** का अध्ययन ही इतना जटिल एवं गम्भीर है कि इस प्रतिबन्ध-सीमा में भी अध्ययन की व्यापकता की असीम सम्भावनाएँ हैं।

१·१३ भाषाविज्ञान तथा भाषाशास्त्र

आधुनिक युग विशेषज्ञता का है। आज मानव-ज्ञान की प्रत्येक शाखा-प्रशाखा का सूक्ष्म एवं गहरा अध्ययन हो रहा है। मनुष्य के व्यक्तिगत दैनिक जीवन में ही नहीं अपितु सामाजिक जीवन में भी भाषा का महत्त्व स्वयंसिद्ध है। इस महत्त्व के परिणामस्वरूप ही १६वीं शताब्दी में भाषाविज्ञान अध्ययन का एक अलग विषय बन गया और यूरोप के विद्वान् इसके गम्भीर अध्ययन में प्रवृत्त हुए।

अँग्रेजी में इस विज्ञान के कई नाम—**'फिलॉलोजी'**, **'साइंस ऑव लेंग्वेज'**, **'कम्पैरेटिव फिलॉलोजी'**—प्रचलित हैं। फ्रान्स में इसे लोग **''लिंग्विस्टिक'** तथा जर्मनी में **'स्प्राख विशेन शैफ्ट'** नाम से अभिहित करते हैं।

इस देश में अँग्रेजी के प्रचार एवं प्रसार के कारण ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी अनेक विषयों का नामकरण भी अँग्रेजी के आधार पर ही हुआ है। हिन्दी में आज इस विज्ञान के लिए **'भाषाविज्ञान'**, **'भाषाशास्त्र'**, **'तुलनात्मक भाषा-विज्ञान'** तथा **'तुलनात्मक भाषाशास्त्र'** आदि अनेक नाम प्रचलित हैं। इनमें **'भाषाविज्ञान'** नाम तो स्पष्ट रूप से **'साइंस ऑव लेंग्वेज'** का अनुवाद है।

वाले न्याय दर्शन का आधार लेने के कारण रसानुभूति को क्षणिक मानने से काव्य के आकर्षण में उत्पन्न होने वाली बाधा का निराकरण तन्मयीभाव के आधार पर कर दिया जाय, अनुकर्ता की शिक्षा और कल्पना के आधार पर भट्ट नायक द्वारा उठाई गई 'तटस्थता की आपत्ति' का निराकरण कर दिया जाय, और डा० राकेश के द्वारा चित्र-तुरंग-न्याय को चारों प्रकार का अनुमान सिद्ध करने की प्रक्रिया को न स्वीकार किया जाय तो भी अनुमान को रसास्वाद का साधन नहीं माना जा सकता। परन्तु इस सबके बाद भी शंकुक के विवेचन ने इस समस्या के हल को थोड़ा आगे बढ़ाया है। उन्होंने अपेक्षाकृत एक अधिक व्यापक आधार को अपनाया है। अभिनय सौन्दर्य द्वारा प्रेक्षक के मन पर जो प्रभाव पड़ता है वह प्रत्यक्ष बोध से कहीं अधिक व्यापक है। शंकुक ने प्रथम बार उसकी ओर इङ्गित किया है। साथ ही यह सर्वप्रथम व्यक्ति है—जिसने सहृदय का प्रश्न उठाकर उसके हृदय की वासनाओं और संस्कारों को महत्त्व दिया और रस के वस्तुगत स्वरूप की विषयीगतता की ओर एक हल्का मोड़ दिया। इसी वासना को आगे चलकर भट्ट नायक ने 'चित्तवृत्ति' का नाम दिया।

भरत, लोल्लट और शंकुक आदि ने केवल नाटक के आधार पर ही रस का वर्णन किया है परन्तु इसी ध्वनि-परवर्ती काल में काव्य में अलंकार की सर्वाधिक मान्यता स्वीकार करने वाले और रस को भी अलंकार मानने वाले चमत्कारवादी भामह, दण्डी, रुद्रट, उद्भट आदि आचार्यों ने काव्य की दृष्टि से रस का विवेचन करते हुए इसको रसांगों के विचित्र वर्णन से शब्दार्थ में उत्पन्न होने वाला चमत्कार माना है। इन सभी ने इसकी सत्ता को मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है। भामह के अनुसार—"नीरस और शुष्क शास्त्रीय चर्चा भी रस-युक्तता के कारण उसी प्रकार सरल और ग्राह्य बन जाती है जिस प्रकार मधु अथवा शर्करा के आवेष्टन से कटु औषधि।" वे रस को महाकाव्य के लिए एक परमावश्यक तत्त्व मानते हैं। उद्भट भी पूर्णतया भामह के ही समर्थक हैं।

दण्डी ने वैदर्भी मार्ग के प्राण स्वरूप गुणों में से माधुर्य गुण के दोनों रूपों—वाक्यगत और वस्तुगत—को रस पर ही अवलम्बित माना है। उनके अनुसार—"माधुर्य गुण की मधु के समान रसवत्ता ही मधुपों के समान सहृदयों को प्रमत्त बना देती है।" वस्तुगत अर्थात् अग्राम्यता के दोनों उपरूपों—शब्दगत और अर्थगत—को भी पूर्णतया रस के आश्रित माना है। उनका कथन है—"जिस किसी शब्द-समूह के उच्चारण द्वारा उसमें जो समता का अनुभव होता

है वह ही अनुभव गम्य पद स्थिति अनुप्रास युक्त होकर रसोत्पत्ति करती है।"[१] महाकाव्य में वे 'रस-भाव निरन्तरम्', अर्थात् रस और भाव की लड़ी आवश्यक मानते हैं।

इन सब अलंकारवादियों में रुद्रट का एक विशिष्ट महत्त्व है। रस की ओर उनका झुकाव अन्यों की अपेक्षा अधिक रहा है। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'काव्यालंकार' में पूरे चार अध्याय रस को देते हुए उसका विशद विवेचन कर श्रृङ्गार को श्रेष्ठ माना है और इसके अन्तर्गत नायक-नायिका भेद का वर्णन किया है। इन्होंने अन्य अलंकारवादियों की भाँति रसवत् आदि अलंकारों के रूप में रस का वर्णन न करके सीधे-सीधे रस का ही वर्णन किया है। वे इसी को काव्य तथा शास्त्र की विभाजक रेखा मानते हैं। उनके अनुसार काव्य को रसवान् बनाने के लिए कवि को विशेष रूप से प्रयत्नवान् होना चाहिए। वे वैदर्भी आदि रीतियों और मधुरा-भक्तिता आदि वृत्तियों का रसानुकूल प्रयोग ही आवश्यक मानते हैं और रस के औचित्य पर पूर्ण बल देते हैं। विरसता नामक दोष का वर्णन वे इस प्रकार करते हैं—'प्रसंगानुकूल रस के स्थान पर अन्य रस का प्रयोग बिरसता नामक दोष कहाता है।'

विभिन्न रूपों में रस की महत्ता स्वीकार करने के साथ ही साथ अपने दृष्टिकोण के अनुसार इन आचार्यों ने रस तथा भावों का अलंकारों में समाहार किया। सभी ने रस-सिक्त कर देने वाले काव्य में रसवत् अलंकार माना है। दण्डी तथा उद्भट ने प्रेयस्वित् अलंकार में भावों का समाहार किया है। उद्भट ने ऊर्जस्वी अलंकार में भावाभास और रसाभास का वर्णन किया है। वे भावोदय तथा भावशान्ति का समाहार 'समाहिति' नामक अलंकार में करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन आचार्यों को भी भले ही रस का वस्तु-वादी स्वरूप अभीष्ट रहा हो, भले ही उसका समाहार अलंकारों में किया हो परन्तु वे सब इसकी महत्ता से परिचित थे और उसे स्वीकार करते थे।

परन्तु इन अलंकारवादियों में चमत्कार की भावना ही प्रमुख थी। तत्कालीन साहित्य पर इसका यह परिणाम होना स्वाभाविक ही था कि काव्य में भी चमत्कार का प्रतिपादन हो। अतः इस युग के साहित्य में हमें इसी का प्राधान्य मिलता है। परन्तु फिर भी अनेक ऐसे सामर्थ्यवान् कवि हुए जिन्होंने उच्च कोटि का रसपूर्ण काव्य लिखकर प्रकारान्तर से रस-सिद्धान्त को पुष्ट किया। इनमें करुण को ही एक मात्र रस मानकर 'उत्तर रामचरित' द्वारा

---

१. काव्यादर्श, १।५२।

सहृदयों को द्रवित कर देने वाले भवभूति और अपनी अपूर्व प्रतिभा से 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में प्रकृति को ही रुला देने वाले कालिदास अग्रगण्य हैं। 'मेघदूत' का प्रकृति-वर्णन और यक्ष की हृदय-द्रावक उक्तियाँ, 'रघुवंश' में अज और रति का विलाप तथा 'ऋतु संहार' की निराली छटा रह-रहकर रस तत्त्व की महत्ता का उद्घोष करती है। इस काल में रचित सर्व-श्रेष्ठ ग्रंथ यही माने जाते हैं। इस प्रकार भी रस की महत्ता को सिद्धि इस युग में हुई।

इसके पश्चात् ध्वनिकाल (८५०-१०५० ई०) में रस-सिद्धान्त का पोषण दो प्रकार से हुआ। एक तो वे आचार्य हुए जिन्होंने ध्वनि के माध्यम से रस की स्वीकृति कर उसे सर्व-श्रेष्ठ ध्वनि माना; जैसे—आनन्दवर्द्धन और मम्मट; अथवा ध्वनि के खण्डन में प्रवृत्त होने वाले आचार्य जिन्होंने अपने मत के अन्तर्गत रस का विवेचन किया; जैसे—कुन्तक। दूसरे वे आचार्य हैं जिन्होंने प्रत्यक्ष रूप में रस को स्वीकार कर उसकी व्याख्या की; जैसे—भट्टनायक, धनिक, धनञ्जय आदि।

आनन्दवर्द्धन ने 'ध्वनिरात्मा काव्यस्य' की स्थापना करते हुए ध्वनि के पाँच भेदों में ध्वनि को असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि माना और इसे सर्वश्रेष्ठ ध्वनि स्वीकार किया। ध्वनि के अन्य भेदों में भी रस की स्थिति दिखाकर इसकी व्यापकता का उल्लेख किया। यदि कहा जाय कि इस प्रकार उन्होंने प्रकारान्तर से रस को ही आत्मा माना है तो अधिक असंगत न होगा। रस को सर्व-श्रेष्ठ ध्वनि मानना और अन्य ध्वनियों में उसका व्याय मानना इसी ओर संकेत करता है। परन्तु जब वे ध्वनि को ही काव्य की आत्मा मानते हैं तो उनका तात्पर्य कवि-कल्पना और सहृदय-कल्पना को महत्त्व देना है।

इसके अतिरिक्त उनका रस-विवेचन इतना विशद और पुष्ट है कि ध्वनि को आत्मा मानने पर भी कोई उन पर रस-गरिमा को उचित स्थान न देने का आरोप नहीं लगा सकता। वर्ण-पदादि, वाक्य-संघटना और प्रबन्ध को रस अभिव्यंजना का हेतु बताते हुए प्रबन्धगत रसाभिव्यंजना का उन्होंने विस्तार से वर्णन किया है। रसांगों के औचित्य से सुन्दर ऐतिहासिक या काल्पनिक इतिवृत्त, रस प्रतिकूल स्थितियों का त्याग और अनुकूल नवीन कल्पनाओं का समाहम्, रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से सन्धि सन्ध्यङ्गों की रचना, अनेक रसों के साथ प्राचीन रस का अनुसन्धान व रसानुरूप अलङ्कार योजना को उन्होंने प्रबन्धगत रस का अभिव्यंजक हेतु माना है। अनेक प्रकार से रस विरोधों का वर्णन करते हुए उन्होंने उनके परिहार का उपाय भी बताया है। प्रबन्ध में अङ्गीरस की स्थिति, शृङ्गार का प्राधान्य और अलङ्कारवादियों के

विपरीत रसवदलंकार को अपराङ्ग गुणीभूत व्यंग का भेद मानना आदि; सभी से उनका रस-समर्थन व्यक्त होता है।

रस-सिद्धान्त के विकास में ध्वनिकार का एक योग यह भी रहा कि उन्होंने ध्वनि की रचना में जहाँ एक ओर कवि-कल्पना को महत्व दिया है, वहाँ दूसरी ओर वे सहृदय की कल्पना और अनुभूति को स्पष्टतः अनिवार्य समझते हैं। रस को सर्वश्रेष्ठ ध्वनि स्वीकार करना एक प्रकार से उसके आस्वाद में सहृदय की कल्पना और सहृदयता को महत्त्व देकर उसके विषयीगत स्वरूप की स्वीकृति करना ही है।

आनन्दवर्द्धन के अतिरिक्त ध्वनि के माध्यम से रस की स्वीकृति करने वाले हैं—क्षेमेन्द्र और मम्मट। क्षेमेन्द्र ने आत्मा और जीवित को भिन्न अर्थों में प्रयोग करते हुए रस को काव्य का प्राण और औचित्य को काव्य का जीवभूत माना है—'औचित्यं रससिद्धस्यस्थिरं काव्य जीवितम्।' उनकी काव्य-कल्पना स्पष्टतः रस के पोषण का आधार औचित्य को मानती है। सभी अन्य अंगों का औचित्य पूर्वक निर्वाह होने पर भी यदि वह रस रहित है तो क्षेमेन्द्र उसे काव्य नहीं मानेगा। 'काव्य में रस की सत्ता मानकर ही क्षेमेन्द्र ने रस की अपनी मौलिक कल्पना की है। रस तत्त्व को यथार्थतः समझाने के लिए ही यह नवीन उद्योग है। रस तथा अन्य वस्तुओं में औचित्य ही सबसे व्यापक सम्बन्ध है।'[१]

काव्य-प्रकाशकार श्री मम्मटाचार्य ने अपने ग्रन्थ के चतुर्थ उल्लास में ध्वनि-भेदों के अन्तर्गत अलक्ष्यक्रम व्यंग्य रसादिध्वनि का विवेचन किया है। उन्होंने रसादि में रस के साथ-साथ भाव, रसाभास, भावाभास, भावशबलता और भाव-शान्ति का भी समाहार किया है। रस-निष्पत्ति के विषय में चारों आचार्यों का उल्लेख करते हुए अभिनव गुप्त को मान्यता देते हुए रस की अलौकिकता की स्थापना की है। वे इसे न कार्य मानते हैं न ज्ञाप्य; तथा सविकल्पक और निर्विकल्पक—दोनों में से किसी प्रकार का ज्ञान न मानकर इसे उभयात्मक मानते हैं। उन्होंने रसों की संख्या आठ गिनाई है और शृङ्गार को सर्वश्रेष्ठ माना है तथा सभी रसों के उदाहरण उपस्थित किए हैं। निस्सन्देह मौलिक उद्भावनाओं की दृष्टि से उनका विवेचन उतना महत्वपूर्ण नहीं है, जितना कुशल सम्पादन की दृष्टि। अतः रस की मान्यता और उसके विवेचन का महत्व मम्मट को दिया जा सकता है।

---

१. **साहित्य-शास्त्र**—बलदेव उपाध्याय।

जिस प्रकार ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वनि के भेद के रूप में रस को स्वीकार किया है उसी प्रकार कुन्तक ने भी रस को वक्रोक्ति के भेदों के माध्यम से स्वीकार किया है। काव्य और इतिहास के बीच रस को ही विभाजक रेखा मानकर काव्य में रस के स्थान का प्रतिपादन किया है—

निरन्तर रसोद्गारगर्भ सन्दर्भ निर्भराः
गिरः कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिताः।

काव्य-लक्षण में उनके द्वारा प्रतिपादित 'तद्विदाह्लादकारिणी'[1] और काव्य-प्रयोजन में 'काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते'—कथन भी रस-गरिमा की स्वीकृति करते हैं। वे चेतन वस्तुओं के स्वभाव वर्णन में रस जन्य चमत्कृति के उपासक हैं। वस्तु-वक्रता के एक भेद पर प्रकाश डालते हुए वे कहते हैं—"वस्तु-वक्रता का एक मुख्य भेद उस समय प्रकाशित होता है जब चेतना तथा जड़ पदार्थों का रूप रस को उद्दीपन करने की योग्यता से सज्जित दिखलाया जाय।" इसके अतिरिक्त प्रबन्ध-वक्रता के एक भेद—मूल रस में परिवर्तन की व्याख्या वे इस प्रकार करते हैं—"जहाँ आधार भूत ऐतिहासिक कथा-वस्तु में अन्यथा निरूपित रस सम्पदा की उपेक्षा करते हुए किसी अन्य हृदयाह्लादकारी रस में निर्वहण करने के उद्देश्य से कथा-मूर्ति में आमूल परिवर्तन कर दिया जाय वहाँ प्रबन्ध-वक्रता का उपर्युक्त भेद मिलता है।"[1] स्पष्ट है कि वे कथानक में परिवर्तन का आधार रस-पोषण ही मानते हैं। कवि के दो मौलिक अधिकार—अविद्यमान की कल्पना और विद्यमान का संशोधन—में भी उन्होंने इसी बात को दुहराया है।

प्रकारान्तर से रस की स्वीकृति के साथ-साथ कुछ ऐसी भी धारायें उनकी हैं जो एक दम सीधे-सीधे रस के स्वरूप पर प्रकाश डालती हैं। रसवत् अलंकार्य को अमान्य करके रस की अलंकार्यता का विवेचन करना—रस को काव्य का मूल मानना ही है। रस की स्वशब्दवाच्यता का विरोध कर वे उसे व्यंग्य मानते हैं; अर्थात् व्यंजना वृत्ति स्वीकार करते हैं। व्यंजना वृत्ति की स्वीकृति रस के निकट ही है।

वस्तुतः पूर्णतया वस्तुवादी दृष्टि और ध्वनि के खण्डन की प्रवृत्ति के कारण भले ही उन्होंने रस को भी कवि-कौशल या वक्रोक्ति का एक प्रकार मान लिया हो, परन्तु वे सर्वत्र ही उसकी गरिमा और व्यापकता का अनुभव करते रहे हैं। रसवत् अलंकार की व्याख्या में उन्होंने स्पष्ट कहा है—'रस तत्त्व के विधान से यह अलंकार समस्त अलंकारों का प्राण और काव्य का अद्वितीय

---

१. **हिन्दी वक्रोक्ति जीवितम्**—आचार्य विशेश्वर, ४।१६-१७।

सार सर्वस्व हो जाता है।' 'इससे अधिक रस का स्तवन और क्या हो सकता है।'[1]

मत-विशेष के अन्तर्गत रस को मान्यता देने वाले उपर्युक्त इन आचार्यों के अतिरिक्त प्रत्यक्षतः रस की स्थापना करने वाले अनेक आचार्य हमें ध्वनि-काल में मिलते हैं। इनमें भरत-सूत्र के तृतीय व्याख्याता भट्टनायक का नाम आता है। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, इन्होंने शंकुक और लोल्लट के मतों पर आत्मगतत्व और परगतत्व तथा साधारणीकरण के अभाव के आरोप किए। रस-निष्पत्ति पर स्वतः व्याख्या करते हुए इन्होंने मुक्तिवाद की स्थापना की। शब्द के तीन व्यापार—अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व—मानते हुए उन्होंने अभिधा व्यापार को रसास्वाद के लिए अनिवार्य तो कहा, परन्तु उसे केवल शब्द-बोध तक ही सीमित माना। रस के आस्वाद के लिए शेष दो शक्तियों की उन्होंने मौलिक कल्पना की। उनके अनुसार 'काव्य' और 'वार्ता' में अन्तर यह है कि वार्ता में व्यक्ति की बात रहती है, काव्य में वही समष्टिगत रूप धारण करके प्रत्येक के आनन्द का कारण बन जाती है। इस व्यापार को 'साधारणीकरणात्मक भावकत्व व्यापार' कहते हैं। इस व्यापार में राम सीतादि के स्थायी राम सीतादि के नहीं रह जाते। वे न किसी एक के कहे जा सकते हैं और न सहृदय मात्र के। विभाव आदि भी आश्रय और आलम्बन के न रहकर सार्वकालिक और सार्वदेशिक हो जाते हैं। हम अपने व्यक्तिगत संस्कारों को छोड़कर एक सर्वसान्य मानव भूमि पर आ जाते हैं। इसी अवस्था को हम साधारणीकरण की अवस्था कहते हैं। रसास्वाद के पूर्व हम ज्यों ही इस अवस्था को पहुँचते हैं, आत्मा के 'रज' और 'तम' गुण दब जाते हैं और 'सत्व' का उद्रेक होने लग जाता है। साथ ही हमारी आत्मा में एक भोग संचरित होने लग जाता है जिसे 'रस' कहते हैं। यह भोग तीसरी शब्द-शक्ति 'भोजकत्व' द्वारा प्राप्त होता है। इस रस की स्थिति सहृदय में ही होती है।[2] इस प्रकार उन्होंने विभावादि तथा रस में भोजक-भोज्य सम्बन्ध माना।

भट्ट नायक का यह दर्शन स्पष्टतः सांख्य दर्शन से प्रभावित है। सांख्य के अनुसार यह प्रकृति त्रिगुणात्मिका है और स्वतन्त्र पुरुष भी बुद्धि के फेर में पड़कर इस त्रिगुण से प्रभावित होकर नाना रूपों में व्यक्त होता है। इन तीन गुणों में कभी कोई प्रधान रहता है और कभी कोई, किन्तु इनका स्वभाव अलग-

---

१. भारतीय काव्यशास्त्र (भाग २—भूमिका)—डा० नगेन्द्र, पृ० ३८८।

२. निविड़ निज मोह सकटता निवारण कारिणा विभावादि साधारणीकरणात्मना अभिधातो द्वितीयेनांशेव भावकत्व व्यापारेण भाव्य मानो रसः।

अलग और निश्चित है। सत्त्व में प्रीति, रज में अप्रीति तथा तम में विषादात्मकता रहती है। सत्त्व लघु होने के कारण उच्चता की ओर जाता है। अन्य दो के दब जाने पर इसका प्राधान्य हो जाता है और जिस प्रकार योगी ब्रह्मास्वाद को प्राप्त होता है, उसी प्रकार सहृदय भी ब्रह्मास्वाद सहोदर रसास्वाद को प्राप्त होता है।

यद्यपि आगे चलकर भट्ट नायक के मत का भी तीव्र विरोध हुआ। उनके द्वारा कल्पित शब्द के भावकत्व और भोजकत्व व्यापार स्वीकार न किए जा सके। साथ ही भोग की प्रतीति के विरोध का भी विरोध हुआ। परन्तु फिर भी रस-सिद्धान्त के विकास में उनका योग और महत्व अपूर्व है। साधारणीकरण द्वारा उन्होंने काव्य को सार्वकालिक और सार्वदेशिक रूप दे दिया। अपनी व्याख्या द्वारा उन्होंने केवल दृश्य का ही नहीं, श्रव्यकाव्य का भी विचार किया। साधारणीकरण की मनोवैज्ञानिक व्याख्या द्वारा रस का नितान्त विषयीगत रूप प्रस्तुत कर सर्वप्रथम उसे ब्रह्मास्वाद सहोदर कहा। उनके बाद से ही रस को 'ब्रह्मास्वाद सहोदर' कहने की परिपाटी प्रारम्भ हुई। इस रस को ब्रह्मास्वाद सहोदर कहते हुए भी उन्होंने इसको भोग कहा है। "किन्तु सांख्य में जिस भोग को कैवल्य का विरोध का विरोधी बताया गया है उसका प्रतिपादन करते हुए भी भट्ट नायक ने 'परम ब्रह्मास्वाद सहोदर' की बात कहकर एक विचित्रता उत्पन्न की है। भट्ट नायक ने दोनों को स्वीकार करके यह प्रदर्शन करना चाहा हैं कि एक ओर तो यह स्थिति वास्तविक संसार की सुख-दुःखादि सापेक्ष्य स्थिति से भिन्न है, और दूसरी ओर वह साक्षात् ब्रह्मास्वाद न होकर उसके सदृश्य मात्र है।"[1] भट्ट नायक की यह व्याख्या पूर्ववर्ती आचार्यों से कहीं अधिक गम्भीर और तात्त्विक रही।

रस की प्रत्यक्षतः स्वीकृति करने वाले ध्वनिकालीन आचार्यों में अभिनव गुप्त का नाम सबसे महत्वपूर्ण है। उन्होंने भट्ट नायक द्वारा कल्पित भावकत्व तथा भोजकत्व व्यापारों को अस्वीकृत कर दिया। व्यंजना-शक्ति को मान्यता देकर भोग का तिरस्कार किया। सत, रज और तम के सानुपातिक मिश्रण से उत्पन्न होने वाले भोग को सापेक्ष्य स्थिति कहकर उसे द्वैत युक्त बताया, जब कि रस एक गुणातीत निरपेक्ष स्थिति है। वे इसे व्यावहारिक भोग न कहकर परम भोग कहते हैं। उनके अनुसार रस के परिपोष के लिए सामाजिक में अनादि वासना की आवश्यकता है, और यही वासनाएँ रसास्वाद का हेतु हैं। इसके आस्वाद के लिए काव्यानुशीलनाभ्यास, लौकिक अनुभव,

---

१. 'रस-सिद्धान्त : स्वरूप और विश्लेषण'—आनन्द प्रकाश दीक्षित।

विमल प्रतिभावान शील हृदय तथा वीतविघ्नता की आवश्यकता रहा करती है। इन गुणों से युक्त पाठक या दर्शक काव्यानुशीलन करते हुए चार स्थितियों में होकर निकलता है। प्रथमावस्था में उसे विषय बोध रहता है, द्वितीयावस्था में धीरे-धीरे कल्पना का उदय होने लगता है, पर उसे अपने अस्तित्व का ध्यान रहता है। परन्तु तीसरी अवस्था में वह आत्म-विस्मृति की दशा में पहुँच कर निर्विशेष रह जाता है। यही अवस्था साधारणीकरण की है। चतुर्थावस्था में उसे रसानन्द की प्राप्ति होती है।

अभिनव गुप्त द्वारा रस की यह व्याख्या शैव-दर्शन पर आधारित है। शैव-दर्शन के अनुसार असीम परम शिव स्वयं की इच्छा से ससीम होकर जगत-रूप में अपना विस्तार कर लेता है। उसका यह अस्तित्व 'आभास' कहाता है। 'जिस प्रकार मयूर के अंगों का वैचित्र्य प्रगट रूप में दिखाई पड़ता है परन्तु वे रंग मयूराण्ड में अव्यक्त रूप से जर्दी मात्र में रहते हैं, उसी प्रकार परम शिव में यह जगत अव्यक्त रूप से रहता है।' ब्रह्म और जगत की इसी कल्पना पर अभिनवगुप्त की यह व्याख्या आद्धृत है। सहृदय-हृदय में वासना रूप से स्थित स्थायी भाव निर्विघ्नावस्था में उसी प्रकार रस रूप में अभिव्यक्त होते हैं जिस प्रकार परम शिव अपनी निर्विघ्न वासना द्वारा जगत रूप में व्यक्त होता है। अभिनव गुप्त ने रस के सम्बन्ध में विचार करते हुए जिस वासना का उल्लेख किया है उसके वर्णन द्वारा सम्भवतः वे यह लक्षित करना चाहते हैं कि—"रस यदि ब्रह्मानन्द या उसका सहोदर है तो ब्रह्म तो घट-घट व्यापी है। उसे अपने में ही खोजने से उसका लाभ ही नहीं होता वरन् उसका आनन्द भी हमें व्याप्त कर लेता है। उसी प्रकार उसका सहोदर भी हृदय में वासित है। ब्रह्मानन्द के समान उसके खोजी को भी तदासक्त होकर अपने में खोज करनी चाहिए। जब उसकी आसक्ति उत्कृष्ट दशा में पहुँच जाती है, तभी रस अभिव्यक्त हो उठता है।"[1]

यद्यपि अभिनव गुप्त के मत का भी विरोध हुआ, परन्तु वह विरोध-मात्र ही रहा। रस-निष्पत्ति की यही व्याख्या बाद में सर्वमान्य हुई क्योंकि इसी व्याख्या में भरत-सूत्र का भाव पूर्णतया खिल सका।[2] कहना न होगा कि रस के स्वरूप को पूर्णतः विषयीगत स्वीकार करने वाली उनकी यह व्याख्या आधुनिक मनोविश्लेषकों द्वारा भी स्वीकृति हुई।

---

१. **'रस सिद्धान्त : स्वरूप और विश्लेषण'**—आनन्द प्रकाश दीक्षित, पृ० ९३।

२. **वही**

रस-निष्पत्ति की व्याख्या करने के साथ ही साथ अभिनव गुप्त का महत्व रस का सविस्तार वर्णन करने करने के कारण भी है। इसके अतिरिक्त उन्होंने शान्त-रस को ही एक मूल रस मानकर 'अभिनव भारती' में इसका १०० पृष्ठों में व्याख्यान किया है।

इस युग के प्रत्यक्ष रसवादियों में 'दश-रूपक' कार धनञ्जय और राजशेखर के नाम भी महत्त्वपूर्ण हैं। धनञ्जय ने अपने ग्रन्थ के चतुर्थ अध्याय में रस की विस्तृत व्याख्या की और इसके विषयीगत रूप को स्वीकार किया—"काव्य भी अनुकार्यपरक नहीं, रसिकपरक है—क्योंकि रस ही वर्तमान है। रस की प्रतीति लौकिक दर्शक को ही हो सकती है जो स्वरमती संयुक्त है। जो प्रसंगगत क्रीड़ा आदि का दर्शन करता है अतः रस दर्शकवर्ती है, अनुकार्यवर्ती नहीं।"[3] उन्होंने नाटक में शान्त-रस का खण्डन किया। राजशेखर ने 'काव्य-पुरुष रूपक' में रस को आत्मा का स्थान दिया है। रुद्र भट्ट ने 'शृङ्गार तिलक' के प्रथम अध्याय में नवरसों और नायक-नायिका भेद का वर्णन किया है। दूसरे अध्याय में विशेषतः विप्रलम्भ का वर्णन है तथा तृतीय में इतर रसों का।

इसी युग में हमें एक ऐसे काव्यशास्त्री भी मिलते हैं, जिन्होंने काव्य के सभी अंगों—ध्वनि, वक्रोक्ति और का समन्वयात्क रूप से प्रतिपादन किया, और वे हैं 'भोज'। यद्यपि उन्होंने 'सरस्वती कण्ठाभरण' के पंचम परिच्छेद में तथा 'शृङ्गार-प्रकाश' के अन्तिम २४ प्रकाशों में रस का विस्तार से वर्णन किया है तथा शृङ्गार को ही एकमेव रस माना है। वे अहंकार, अभिमान, शृङ्गार और रस को पर्याय मानते हैं। उनका अर्थ है कि शृङ्गारादि रस के भेद न होकर शृङ्गार के ही भेद हैं। रस का आधार अहंकार है। आत्म-रति से ही शृङ्गार या किसी रस की सिद्धि होती है। इसी कारण वे रस ९ नहीं, ४९ मानते हैं क्योंकि भावभासादि भी अहंकार से ही उत्पन्न होते हैं। परन्तु रस पर इतना बल देते हुए भी उनका दृष्टिकोण समन्वयवादी रहा है। स्पष्टतः उनका शृंगार चारों पुरुषार्थों को देने वाला है। अतः यह तो कहा जा सकता है कि उन्होंने रस को स्पष्टतः महत्व देकर उसके स्वरूप की एक मनोवैज्ञानिक व्याख्या की, किन्तु विशुद्ध रसवादी नहीं कहा जा सकता।

ध्वनि-परवर्ती काल (१०५०—१९००) में रस का विकास कई धाराओं द्वारा हुआ। एक ओर तो संस्कृत के ध्वनिवादी, रसवादी, अलंकार-प्रेमी आचार्यों और नाट्यशास्त्रियों ने रस का विवेचन किया, और दूसरी ओर संस्कृत से प्रेरणा प्राप्त कर हिन्दी के कवियों ने भी रस पर बहुत कुछ लिखा।

---

१. 'दश-रूपक'—४।३९।

परन्तु इस सम्बन्ध में क्रान्तिकारी योग रहा—भक्ति-साहित्य का। विभिन्न भक्ति-धाराओं ने अपनी-अपनी दार्शनिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से रस की कल्पना को प्रस्तुत किया और काव्य में उसकी अवतारणा की। हिन्दी, मराठी और बंगला में ही इस प्रकार का विवेचन मुख्य रूप से हुआ। उधर सिद्ध और नाथ-साहित्य की गुह्य साधनाओं ने एक अलग ही रसशास्त्र की रचना कर डाली। व्यवहार रूप से पुष्ट करने में वीरगाथा-साहित्य का भी अपूर्व योग रहा।

संस्कृताचार्यों में आचार्य विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ 'साहित्य-दर्पण' में पूर्ववर्ती सभी अचार्यों के मतों का खण्डन करते हुए 'वाक्यं रसात्मकम् काव्यम्' का उद्घोष किया तथा रस को ही काव्य की आत्मा मानकर उसका विशद रूप से आख्यान किया। रस-स्वरूप के सम्बन्ध में उनकी यह कारिका अत्यन्त लोकप्रिय हुई—

सत्त्वोद्रेकादखण्ड स्वप्रकाशानन्द चिन्मयः
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वाद सहोदरः
लोकोत्तर चमत्कार प्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः।[1]

रस का स्वरूप, निष्पत्ति काव्य में स्थान के अतिरिक्त सभी रसों के लक्षण उदाहरण, शृंगार के भेदोपभेद तथा नायिका-भेद—सभी का विस्तार से वर्णन किया है। विश्वनाथ के अतिरिक्त शारदा तनय के 'भाव-प्रकाशन' के प्रथम पाँच अधिकारों में, शिङ्ग भूपाल ने 'रसार्णव सुधारक' के 'रज्जकोल्लास' तथा 'रसिकोल्लास' में; तथा भानुदत्त ने 'रस-तरंगिणी' और 'रस-मंजरी' में; श्री रूप गोस्वामी ने 'उज्ज्वल नील मणि' और 'भक्ति-रसामृत-सिन्धु' में; रामचन्द्र गुणचन्द्र ने 'नाट्य दर्पण' में; तथा अनेक नाट्यशास्त्रियों ने प्रत्यक्षतः रसवाद को स्वीकार करते हुए उसका विशद विवेचन किया है। नायक-नायिका ग्रन्थों की रचना भी प्रत्यक्षतः रसवाद का विस्तार ही है।

यद्यपि इस युग में हमें रसवादियों का स्पष्ट प्रसार दिखाई पड़ता है, फिर भी पण्डितराज जगन्नाथ जैसे लोग भी इस युग में हुए। उन्होंने मम्मटादि की भाँति ही ध्वनि के अन्तर्गत रस को स्वीकार किया। 'रस-गंगाधर' ध्वनि की स्थापना करके ही रस का गुणानुवाद करता है। पूर्ववर्ती आचार्यों की भाँति इन्होंने भी रस-निष्पति के विषय में अपना मत दिया। उनके अनुसार—जिस प्रकार बोरे से ढका हुआ दीपक बोरा हटा देने पर स्वतः

---

१. **'साहित्य दर्पण'**—तृतीय अध्याय।

भी प्रकाशित होता है और दूसरों को भी प्रकाशित करता है ; उसी प्रकार चित्तवृत्तियाँ अज्ञानान्धकार के हटने पर जब आत्मानन्द से प्रकाशित होती हैं तो रस कहाती हैं । इस प्रकार वे 'भग्नावरण चिद्विशिष्ट' स्थायी भावों को ही 'रस' मानते हैं । उनका आधार वेदान्त दर्शन है । वेदान्त में अज्ञान के अन्धकार के नष्ट होने पर ही परम आत्मानन्द की प्राप्ति होती है । रस-चर्वणा को इसी आधार पर समझाते हुए वे कहते हैं कि—योग में यह आवरण अधिक देर तक भग्न रह सकता है, परन्तु काव्यानन्द में यह क्षण-क्षण पर मग्न होता रहता है । इस प्रकार सहृदय रस की चर्वणा करता रहता है । रस-निष्पत्ति पर मत देने के अतिरिक्त उन्होंने सभी रसों के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। साथ ही उसका काव्य लक्षण—'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' भी रस की मान्यता के बहुत निकट है ।

यद्यपि ध्वनि, वक्रोक्ति और रस के बीच से काव्य आगे बढ़ता रहा, परन्तु फिर भी अलंकारवादी आचार्य भामह और दण्डी की परम्परा भी इस युग में अपना प्रभाव दिखाती रही और इस युग में अनेक अलंकार-ग्रन्थ लिखे गए । इन सभी में अलंकारों के प्रति प्रेम दिखाई पड़ता है । परन्तु यह सभी अलंकारवादी आचार्य नहीं हैं । इनमें से अनेक आचार्य ऐसे भी हुए जो सिद्धान्त रूप से रस को ही काव्य की आत्मा मानते हैं परन्तु अलंकार के प्रति प्रेम होने के कारण ही उन्होंने अलंकारों का वर्णन किया है । स्वयं अलंकारवादी आचार्यों ने भी रस का वर्णन अनेक स्थलों पर किया है । जयदेव ने 'चन्द्रालोक' के छठे अध्याय में रस, भाव और रीति का निरूपण किया है । रुय्यक ने तो 'अलंकार सर्वस्व' में सर्वप्रथम विभिन्न सम्प्रदायों को स्पष्टतः बोधित कर रस-सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक भट्ट नायक को माना है ।

यों तो संस्कृत साहित्य की सभी धाराओं और अंगों का प्रभाव भारत की प्रान्तीय भाषाओं पर पड़ा है; परन्तु जहाँ तक काव्यशास्त्र का प्रश्न है, हिन्दी के अतिरिक्त किसी अन्य भाषा में हमें अपना काव्यशास्त्र नहीं मिलता, और इसी कारण रस-सिद्धान्त के विकास में शुद्ध काव्यशास्त्रीय योग किसी भी भाषा द्वारा न मिल सका । आज हमे केवल हिन्दी, बंगला और मराठी में ही अपना काव्यशास्त्र मिलता है परन्तु मध्य-युग में हिन्दी को छोड़कर किसी के पास काव्यशास्त्र की निजी कोई सामग्री न थी । परन्तु भक्ति-साहित्य ने व्यवहार रूप से रसवाद का परिपोषण अवश्य किया । हिन्दी में इस काल के अन्त में—जिसे हिन्दी साहित्य का रीतिकाल कहते हैं—रस को सिद्धान्त रूप में मान्यता देकर उसका विवेचन अवश्य हुआ । परन्तु यह सभी ग्रन्थ या तो

अनुवाद हैं अथवा रूपान्तर। इनमें शृंगार के रस-राजत्व और नायक-नायिका भेद के अतिरिक्त अन्य कोई गम्भीर विवेचन प्राप्त नहीं होता। केशव का 'कविप्रिया'; देव का 'भवानी-विलास', 'भाव विलास' और 'रसविलास'—इसी प्रकार के ग्रन्थ हैं। मतिराम और सोमनाथ ने भी इसी प्रकार के ग्रन्थ लिखे। तोषे, करन, सुखदेव मिश्र, रसलीन आदि कुछ केवल मात्र रस पर ही लेखनी चलाने वाले कवि भी हुए। परन्तु इन सभी आचार्यों ने रस की व्याख्या, उसके स्वरूप, निष्पत्ति और काव्य में स्थान पर कोई मौलिक विवेचन नहीं किया। केवल मात्र वर्गीकरण में ही कहीं-कहीं छुट-पुट नूतन उद्भावनाएँ दिखाई पड़ती हैं।

इस मध्य युग में रस-सिद्धान्त की पुष्टि का मुख्य कारण भक्ति-आन्दोलन रहा। नाथ, सिद्ध, वैष्णव तथा अन्य मतों का उद्देश्य साधना और भक्ति द्वारा ब्रह्मानन्द की प्राप्ति रहा। इस आनन्द की विभिन्न दार्शनिक व्याख्याओं ने रस को धर्म-साधनाओं की पृष्ठभूमि में अनेक स्वरूपों में प्रतिष्ठित किया और व्यावहारिक रूप से भी रससिक्त-काव्य की सृष्टि की। जब किसी विशिष्ट युग में किसी विशिष्ट प्रकार के साहित्य की रचना प्रभूत मात्रा में होती है तो आगमन विधि से वह प्रकार काव्य में अपने स्वरूप की महत्ता स्थापित करता है। अतः मध्य-युग में अस्पष्ट काव्य-सिद्धान्तों से अयुक्त भक्ति-साहित्य द्वारा रस-सिद्धान्त का पोषण इसी पृष्ठभूमि में देखना चाहिए।

नाथ और सिद्ध-साहित्य के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि—"उनके यहाँ महायान के विकास के साथ-साथ न केवल कविता वरन् कला के समस्त रूप—चित्र, स्थापत्य, संगीत, नृत्य आदि को धार्मिक साधना-पद्धति के अनिवार्य अङ्ग के रूप में स्वीकार किया गया है। सद्धर्म पुण्डरीक के उपाय कौशल से सभी कलाओं का बोधि लाभ होता है।"[१] इस लाभ का साधन विशुद्धाख्य चक्र का चिन्तन है। दूसरी ओर सम्पूर्ण सहज साधनाएँ मानव को उस सहज रस या महारस की प्राप्ति के लिए प्रेरित करती हैं जो साधक को मुद्रा में लीन होने पर मिलता है। अतः सहज साधना की सभी सिद्धियाँ उसी रस की साधक हैं और कविता भी इसी प्रकार की एक सिद्धि है। अतः निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उसकी सरसता अनिवार्य रूप से स्वीकृत है। यद्यपि नाथ, सिद्ध-साहित्य का पर्याप्त अंश सूक्ति मात्र के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है, तथापि उसे काव्य न कहकर गद्य के अभाव में मत-प्रचार का साधन मात्र पद्य समझना

---

१. **'सिद्ध-साहित्य'**—डा० धर्मवीर भारती, पृ० २४०।

चाहिए। परन्तु इस साहित्य का काव्य वस्तुतः ही रस सक्ति है। गृह्य साधनाओं के लिए किए जाने वाले प्रयोगों की शृंगारात्मक प्रस्तुति ने न केवल रस-सिक्त काव्य ही दिया वरन् एक अलग ही नायिका-भेद और काव्यशास्त्र उपस्थित कर दिया। इसका वर्णन श्री धर्मवीर भारती ने अपने ग्रन्थ 'सिद्ध साहित्य' में किया है। सभी सहजिया सम्प्रदायों की यह मान्यता है कि मनुष्य समस्त जीवन-पर्यन्त कष्ट झेलकर भी काम को सर्वथा उच्छिन्न या निर्मूल नहीं कर सकता। अतः इसका उन्नयन कर इसे ही दिव्य प्रेम और दिव्य आनन्द; अर्थात् महा सुख और महानुभव का निर्मल और अमोघ साधन बनाया जा सकता है। इस उन्नयनित काम और महारस को ही इन कवियों ने काव्य में वर्णित कर रस-सिद्धान्त को पुष्ट किया है।

इसी उन्नयनित काम का एक आध्यात्मिक रूप हमें वैष्णवों की मधुरा-भक्ति में मिलता है जहाँ भक्ति-रस की स्थापना कर उसके—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर—पाँच भेद कर माधुर्य रस को सर्वश्रेष्ठ माना है। काव्य और भक्ति में उसी की महत्ता का प्रतिपादन किया है। 'भक्तिरसामृतसिन्धु' के लेखक रूप गोस्वामी ने जड़-जगत को चिज्जगत का प्रतिफलन मानकर विपर्यस्त के सिद्धान्त से इस मधुर रस की सर्वोत्कृष्टता स्वीकार की है। पर-कीया भाव को प्रधानता देकर कृष्ण को ही मधुर रस का आलम्बन तथा विषय स्वीकार किया है तथा काव्य में भक्ति-रस को ही उत्कृष्टतम माना है। रूप के भाव को जीतकर स्वरूप में लय करने के लिए प्रयत्नशील पुरुष अपने कृष्णत्व द्वारा और स्त्री अपने राधात्व द्वारा सहज साधना में प्रवेश पाकर आनन्द को प्राप्त होते हैं। उसी की अभिव्यक्ति और प्रयत्न राम और कृष्ण की मधुरा-भक्ति सम्प्रदाय के काव्य का विषय है।

वैष्णव भक्ति में अन्य सम्प्रदाय के काव्य में भी थोड़े अन्तर द्वारा रस के इसी उन्नयनित रूप का समर्थन हुआ है। चैतन्य ने निजेन्द्रिय प्रीति को इच्छा और कृष्णेन्द्रिय प्रीति को काम मानकर रस को अपेक्षाकृत अधिक आध्यात्मिक उन्नयन की ओर अग्रसर किया है। इन सम्प्रदायों में भक्ति के शेष चार रूपों की स्वीकृति ही दिखाई पड़ती है। सूरदास ने यदि वात्सल्य और सख्य को अपने काव्य का आधार बनाया तो तुलसी के काव्य ने दास्य को। इनके अतिरिक्त वैष्णव कवियों में भी यही मान्यताएँ प्रकारान्तर से स्पष्ट हुईं।

यद्यपि सभी वैष्णव कवियों में से एक-दो को छोड़कर अन्य किसी ने भी काव्य तथा रस की दृष्टि से विचार नहीं किया है; परन्तु उनके काव्य का आधार अध्यात्मकपरक रस ही रहा है। अतः जहाँ अभिनव गुप्त और भट्ट-

नायक की कल्पना के आधार सांख्य और शैव निर्गुण दर्शन रहे हैं वहाँ इन्होंने सगुण भक्ति के आधार पर रस की व्याख्या की है। पूर्ववर्ती यदि काव्यशास्त्री पहिले थे तो यह भक्त पहले और काव्य-शास्त्री बाद में हैं। इन कवियों की तुलना यदि वर्तमान प्रगतिवादियों से की जाय तो कहा जा सकता है कि प्रगतिवादी कवि काव्य के प्रति जिस उपयोगितावादी दृष्टि को ध्यान में रखकर काव्य की व्याख्या करता है, उसके लिए वस्तुतः वही प्रधान है—भले ही फिर काव्य का कैसा भी पोस्ट मार्टम करना पड़ जाय। इसी प्रकार इन कवियों के लिए अपना भक्तिवादी दृष्टिकोण ही प्रधान था और काव्यशास्त्री दृष्टिकोण गौण। यह अलग बात है कि भक्ति-तत्त्व उपयोगितावाद की अपेक्षा काव्य के मूल तत्त्व के अधिक निकट होने के कारण इनका रस-विवेचन काव्य में रसवाद के अधिक निकट है।

मध्ययुगीन वीरगाथा साहित्य में रस के सम्बन्ध में किसी प्रकार का विवेचन नहीं मिलता परन्तु वह स्वयं रस-प्रधान काव्य है और प्रकारान्तर से रसवाद की पुष्टि करता है।

मध्ययुग के पश्चात् जब हम आधुनिक काल में प्रवेश करते हैं तो रस-विवेचन के सम्बन्ध में हमें स्पष्टतः दो प्रकार की परम्पराएँ दिखाई पड़ती हैं। एक परम्परा तो उन विचारकों की है जो हिन्दी में ही रस-परम्परा का रूपान्तर प्रस्तुत करते हुए यत्र-तत्र कुछ नूतन उद्भावनाएँ करते दिखाई पड़ते हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी, श्याम सुन्दर दास, केशव प्रसाद मिश्र, कन्हैया लाल पोद्दार, चन्द्रवली पाण्डेय, हरिऔध, कृष्ण विहारी मिश्र और विशिश्वर आदि आते हैं। दूसरी परम्परा उन कवियों और आलोचकों की है, जिन्होंने आधुनिक मनोविज्ञान और समाजशास्त्र के सन्दर्भ में रस की व्याख्या की है। छायावादी, प्रगतिवादी, प्रयोगवादी तथा कुछ अन्य फुटकल विचारकों को इस परम्परा में रखा जा सकता है। परन्तु मुख्यतः इसमें वे ही आलोचक आते हैं—विभिन्न आधुनिक दृष्टियों से विचार करते हुए पुनराख्यान किया है।

रीतिकालीन परम्परा का नवीन आख्यान करने वाले विचारकों में सर्वप्रथम भारतेन्दु श्री हरिश्चन्द्र ही आते हैं। व एक स्वतन्त्र प्रकृति के जीव थे। यद्यपि उन्होंने असन्दिग्ध रूप से रस को काव्य की आत्मा कहा परन्तु रूढ़ि का विरोध करते हुए रस-संख्या के विषय में उन्होंने अपना स्वतन्त्र मत रखा। उनका कथन है कि—"वाह! वाह! रसों को मानना भी कोई वेदों के धर्म को मानना है कि जो लिखा है वही माना जाय और जो इसके अतिरिक्त करे सो

पतित होय। रस ऐसी वस्तु है जो अनुभव सिद्ध है। इसके मानने में प्राचीनों की कोई आवश्यकता नहीं, यदि अनुभव में आवे तो मानिए न आवे तो न मानिए।"[1] उन्होंने भक्ति और वात्सल्य को रस माना है और सख्य को नहीं। प्रमोद का अन्तर्भाव शृंगार या हास्य में किया है और मधुर को भक्ति के अन्तर्गत माना है।

श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी रस को कविता का प्राण मानते हैं—"रस ही कविता का प्राण है और जो यथार्थ कवि हैं उनकी कविता में रस अवश्य होता है। नीरस कविता—कविता ही नहीं।"[2] श्री हरिऔध ने न केवल रस का समर्थन ही किया वरन् 'रस कलश' की भूमिका में उसका गम्भीर विवेचन कर व्यवहार रूप में उदाहरण प्रस्तुत किए। कविकर्म की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है—"अनुभव करने में कवि-हृदय जितना किसी रस से अभिभूत होता है उतना ही वह दूसरे के हृदय को रस से प्लावित करता है। यही कवि-कर्म है।"[3] स्पष्टतः वह रस को काव्य की आत्मा मानते हैं। रीतिकालीन परम्परा का निर्वाह करने में भी वे पीछे नहीं रहे हैं और शृंगार के रसराजत्व की स्थापना की है। श्री मैथिलीशरण गुप्त जी ने करुण रस पर जोर देते हुए उसकी प्रमुखता स्वीकार की है। श्री रत्नाकर जी रमणीय वाक्य को काव्य मानते हुए रस की महत्ता तो स्वीकार करते हैं, परन्तु उसकी अनिवार्यता नहीं—"काव्य-अह्लादोत्पादकता के कारणों में सबसे उत्तम तथा प्रधान कारण रस है, पर तो भी काव्य के हेतु काव्य का रसात्मक होना आवश्यक नहीं माना जा सकता।"[4]

'द्विवेदी युगीन रस-विवेचन भारतेन्दु युग के सिद्धान्त प्रतिपादन की अपेक्षा अधिक व्यापक और स्पष्ट रहा। इस दिशा में कविवर हरिऔध का चिन्तन रीतियुग से रसवादी आचार्यों की कोटि में रखा जा सकता है। अन्य सिद्धान्तकारों में मैथिली शरण गुप्त जी की शृंगार और करुण रस-सम्बन्धी धारणाएँ अपनी स्पष्टता के कारण अनुपेक्षणीय हैं। इस युग में जहाँ हरिऔध और रत्नाकर ने भारतेन्दु युग की रस-सम्बन्धी मान्यताओं को यथावत् ग्रहण किया वहाँ हरिऔध ने 'रसकलश' में रस के स्वरूप का विशद विवेचन कर आधुनिक कवियों को रस-समीक्षा के प्रति जागरूक रहने का अभिनन्दनीय

---

१. **कविवचन सुधा**—५ जुलाई १८७२, पृ० १७८-१७९।
२. **'प्राचीन पण्डित और कवि'**—पृ० ३५।
३. **'बोलचाल'**—पृ० ३५।
४. **'साहित्य सुधानिधि'**—जून १८९४; पृ० १७।

सन्देश दिया।''[1] व्यवहार रूप में इस युग में हमें यद्यपि इतिवृत्तात्मकता का ही प्राधान्य मिलता है परन्तु फिर भी रससिक्त काव्य का अभाव न रहा।

इसके पश्चात् आने वाले सभी छायावादी आलोचकों ने न केवल रसवाद का विवेचन और समर्थन ही किया, वरन् स्वयं उत्कृष्ट कोटि का रस सिक्त काव्य भी लिखा। प्रसाद जी ने नाटकों और काव्य में रस की अनिवार्यता बताते हुए अभिनव द्वारा की गई रस-निष्पत्ति की व्याख्या को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है—"रसवाद में वासनात्मकतया स्थित मनोवृत्तियाँ जिनके द्वारा चरित्र की सृष्टि होती है, साधारणीकरण द्वारा आनन्दमय बना दी जाती हैं। इसलिए वह वासना का संशोधन कर उसका साधारणीकरण करता है।"[2] उनकी स्वत: की सभी रचनाएँ—नाटक और काव्य—पूर्णतया रसपूर्ण हैं। स्व० श्री निराला का कथन है—"नवरसों को समझने और उनको यथार्थ रूप में दर्शाने की शक्ति जिसमें जितनी अधिक है, वह उतना ही सफल कवि है।" पन्त जी की कविता को ध्यान में रखकर भी यही निष्कर्ष निकलता है कि कविता का प्राण सौन्दर्य ही है, शिवत्व उतना नहीं। क्योंकि पन्त जी की वे रचनाएँ जिनमें सौन्दर्य का स्वच्छन्द वर्णन है अधिक कवित्वपूर्ण हैं और जिनमें शिवत्व का वर्णन है, वे उतनी कवित्वपूर्ण नहीं हैं।[3] महादेवी भी यद्यपि कल्पना को महत्व देती हैं परन्तु यदि अनुभूति और कल्पना को सापेक्ष्य दृष्टि से देखा जाय तो निश्चित ही वे अनुभूति को काव्य का प्राण मानती हैं। गीतिकाव्य की रचना करना भी इसी बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

उपर्युक्त सभी कवियों ने अपने मत काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों की स्थापना करते हुए न कर विभिन्न प्रसंगों में व्यक्त किए हैं। यहाँ उनको प्रस्तुत करने का तात्पर्य उस शृङ्खला को स्पष्ट करना है जिसका सहारा लेकर रसवाद आज की स्थिति को प्राप्त हुआ है।

छायावादी युग के साथ प्रगतिवाद का युग आता है। सभी क्षेत्रों में प्राचीनता और रूढ़ियों के विरोध की लहर और क्रान्ति का आह्वान सुनाई पड़ता है। रस के क्षेत्र में भी ऐसा ही हुआ। काव्य के प्रति उपयोगितावादी और सामाजिक दृष्टिकोण प्रधान होने के कारण उसमें रस की स्थिति गौण

१. 'आधुनिक कवियों के काव्य-सिद्धान्त'— सुरेशचन्द्र गुप्त, पृ० २५२-२५३।
२. 'नाटकों में रस का प्रयोग' (निबन्ध) : 'काव्य-कला और अन्य निबन्ध' —संकलन से।
३. 'हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास'—भागीरथ मिश्र।

रह गई । श्री रामविलास शर्मा ने लिखा है—"साहित्यकार सामाजिक उत्तरदायित्व को भूलकर अगर आत्मा की अखण्डता, रस के स्वयं प्रकाश अलौकिक, ब्रह्मानन्द सहोदर होने की बात करता रहेगा तो समाज के विकास में सहायक न होगा ।"[१] उसी लेख में वे व्यक्त करते हैं कि यदि "साहित्य के प्राचीन मानदण्डों के आधार पर ही आज के साहित्य को नापा गया तो या तो पैमाना ही टूट जायगा या अपने हाथ-पैर तराशने होंगे ।"[२] इस प्रकार प्रगतिशीलता और सामाजिकता की झोंक में रस की महत्ता कुछ कम हो गई । परन्तु इन प्रगतिवादियों ने रस का नितान्त बहिष्कार नहीं किया, वरन् उसमें अपने सिद्धान्तों के अनुकूल कुछ परिवर्तन कर उसे स्वीकार किया ।

उन्होंने जिस संशोधित रूप में इस सिद्धान्त को प्रस्तुत किया है उसके अनुसार साधारणीकरण की आधारशिला एक लोक-सामान्य भावभूमि है अवश्य परन्तु वह परिवर्तनशील है । वे जगत की सापेक्ष्य स्थिरता में विश्वास करने के कारण किसी एक स्थिर भावभूमि को मानने के लिए तैयार नहीं । अपने समाजवादी दृष्टिकोण के कारण रसवाद के द्वारा मान्य लोक-पक्ष तथा वैयक्तिक पक्ष का अविरोध तो मानते हैं परन्तु लोकरंजन का आधार वे वर्ग-संघर्ष को मानते हैं । उसके अनुसार यही समाज की वैज्ञानिक व्याख्या है । प्रगतिवाद रसवादी आनन्द को अपनी प्रक्रिया में ठीक मानता है परन्तु उसके अनुसार आनन्द संवेदना की अनुभूति है । उसके अनुसार संवेदना अपने आप में समाप्त नहीं हो जाती—वह एक सामाजिक क्रिया-प्रक्रिया है, अतः व्यक्ति का आनन्द और समाज का आनन्द एक ही है । वह रसवादी आनन्द को पूर्ण मानते हुए भी उसे सापेक्ष्य मानता है, शून्य न मानकर भौतिक आनन्दों से प्राप्त मानता है, सब युगों में एक न मानकर युगानुसार बदलने वाला मानता है । निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि प्रगतिवाद रस का महत्व मानते हुए भी—"मेरा विश्वास है कि ऊँची से ऊँची सामयिकता, सामाजिकता और प्रगतिशीलता—आदर्शों की बड़ी से बड़ी स्वप्न-योजना रस के माध्यम से ही साकार और सप्राण होती है ।"[३] वह सामाजिकता का कठोर बन्धन लगाकर—"उस वैयक्तिक अनुभूति का क्या महत्व है जो व्यक्तित्व को सर्वप्रधान बनाकर समाज के लिए अप्रधान रह जाती है"[४]—रसवाद के मूल व्यक्तिवाद पर ही आघात करता है ।

---

१. **'प्रगति और परम्परा' के 'रस-सिद्धान्त और आधुनिक साहित्य'**—लेख से ।
२. **वही** ।
३. **माखनलाल जी का प्रगतिशील दृष्टिकोण**—अंचल ।
४. **काव्य-संग्रह (भाग—२)**—अंचल ।

प्रगतिवाद के ठीक विपरीत व्यक्तिवाद को आधार बनाकर प्रयोगवाद काव्य-क्षेत्र में अवतरित हुआ। नए प्रयोगों की धुन में साहित्य की नई समस्याएँ और नई मान्यताएँ लेकर आया। यह धारा काव्य में भावना की अपेक्षा बुद्धि-चमत्कार को अधिक महत्व देती है, कल्पना को अधिक महत्व देती है। इसके अनुसार—"काव्य-रस किसी कवि या कवि के जीवन या वर्ण्य या अनुभूति अथवा शब्द-विशेष में नहीं है। वह काव्य-रचना की चमत्कारिक तीव्रता में है।"[1] इस प्रकार वे बौद्धिक चमत्कार के रूप में ही काव्य को मानते हैं और शैली को ही अत्यधिक महत्व देते हैं। गिरजाकुमार माथुर के अनुसार काव्य की आत्मा स्वर-ध्वनि ही है। भावनाओं को उद्‌बुद्ध करने वाले रस का प्रयोगवादी विरोध नहीं करते परन्तु प्रयोगों के प्रति अत्यन्त आग्रह होने के कारण उसको सीमाओं में ही आबद्ध छोड़ देते हैं। साधारणीकरण के तत्त्व को वे स्वीकार करते हैं और काव्य में निर्व्यक्तीकरण को ही उसकी सफलता को कुञ्जी मानते हैं—"काव्य-रचना मूलत: अपने को अपनी अनुभूति से अलग करने का प्रयास है—अपने ही भावों के निर्व्यक्तीकरण की चेष्टा है। बिना इसके काव्य निरा-आत्म-निवेदन है और सच होकर भी इतना व्यक्तिगत है कि काव्य की आभिधा के योग्य नहीं है। सार्वजनीनता की कसौटी पर खरा नहीं उतरता।"[2] परन्तु फिर भी नए प्रयोग, नए अलंकार और नए अनुभूतिगत मानदण्डों पर प्रयोग करने के कारण यह वाद साधारणीकरण की नई समस्याएँ लेकर आया है। बौद्धिकता की गहरी छाया ने रस को आक्रान्त कर रखा है।

वाद-विशेष के आधार को लेकर आलोचना करने वाले उपरोक्त लेखकों और कवियों के अतिरिक्त इस युग में कुछ ऐसे आलोचक और कवि भी हुए, जिन्होंने व्यक्तिगत चिन्तन के आधार पर काव्य-स्वरूप की प्रतिष्ठा की। कवियों में विचारक कवि 'दिनकर' तथा आलोचकों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और नन्द दुलारे वाजपेयी तथा डा० नगेन्द्र हैं। कवि 'दिनकर' यद्यपि रस के प्रति जागरूक हैं, उस पर आदर की दृष्टि रखते हैं तथापि श्रेष्ठ काव्य की कसौटी—ध्वन्यात्मकता तथा चित्रमयता का गुण मानते हुए शैली का महत्व स्थापित करते हैं।[3] वे शैली को ही काव्य का प्राण मानते हैं।

श्री रामचन्द्र शुक्ल रसवादी आचार्य थे। परन्तु उनका रस-विवेचन लोक-कल्याण-भावना तथा वस्तुवादी दृष्टिकोण से प्रभावित है। रस-दशा की परिभाषा करते हुए उन्होंने लिखा है—"जब तक कोई अपनी सत्ता की भावना

१. 'त्रिशंकु'—अज्ञेय, पृ० ५१।
२. 'चिन्ता' की भूमिका—अज्ञेय, पृ० ६।
३. 'काव्य की भूमिका'—'रीतिकाल का नया मूल्याङ्कन' लेख में।

को ऊपर किए हुए, इस क्षेत्र में नाना रूपों और व्यापारों को अपने योग-क्षेम, हानि-लाभ, सुख-दुख आदि से सम्बद्ध करके देखता रहता है तब तक उसका हृदय एक प्रकार से आबद्ध रहता है। इन रूपों और व्यापारों के सामने जब कभी वह अपनी समयक् सत्ता की धारणा से छूटकर—अपने आप को बिलकुल भूलकर—विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है तब वह मुक्त हृदय हो जाता है। जिस प्रकार आत्मा को मुक्तावस्था ज्ञान दशा कहाती है उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस-दशा कहाती है।"[1] एक अन्य स्थान पर उन्होंने लिखा है—"हृदय के लीन होने की दशा का नाम ही रस-दशा है।" यद्यपि इस मुक्तावस्था अथवा लोक-हृदय में लीन होने की स्थिति को भट्ट नायक की सत्त्वोद्रेक स्थिति कहा जा सकता है तो भी दोनों के दृष्टिकोणों में अन्तर है। लोक-हृदय में लीन होने की बात रस-दशा के सामाजिक पक्ष का निरूपण है। व्यक्तिगतता से ऊपर उठकर मुक्त होने का अर्थ भी चित्रवृत्तियों का विकास ही है। जहाँ भी—जिस स्थिति में भी व्यक्ति स्वतः को भूलकर कहीं तन्मय होगा वहीं रस-दशा की प्राप्ति होगी। अतः वे केवल काव्य में ही रस-दशा न मानकर प्रत्यक्ष रूप-विधान और स्मृत रूप-विधान में भी रस की स्थिति स्वीकार करते हैं।

शुक्ल जी ने काव्यगत अनुभूति के दो प्रकार माने हैं—एक तो वह कि जिस भाव की व्यंजना करनी हो उसी के रूप में लीन हो जाय; और दूसरी वह जिसमें जिस भाव की व्यंजना हो—उसमें लीन न होकर उसकी व्यंजना का, स्वाभाविकता और उत्कृष्टता का हृदय से अनुमोदन करना। इसी आधार पर वे साधारणीकरण की दो स्थितियाँ मानते हैं—एक स्थिति में वे आश्रय के साथ पूर्ण तादात्म्य मानते हैं, और दूसरी स्थिति में सहृदय केवल शील-द्रष्टा रहता है। दूसरी दशा को वे मध्यम कोटि की रस-दशा मानते हैं। बाद में उनके इस दृष्टिकोण का विरोध हुआ।

वे रस के स्वरूप को अलौकिक अनिर्वचनीय अथवा ब्रह्मानन्द की कोटि का न मानकर लोकिक कोटि का ही मानते हैं। इसीलिए उसे मनोमय कोश से आगे नहीं बढ़ने देते। इसीलिए लोक में लीन होने की दशा को वे रस-दशा कहते हैं। उनकी दृष्टि में संसार की अनुभूतियाँ ही उदात्त रूप में रस-रूप बन जाती हैं। वास्तव में रसानुभूति जीवन के भीतर की ही अनुभूति है; आसमान से उतरी हुई कोई वस्तु नहीं। रस को मानने के कारण ही शुक्ल जी प्रत्यक्ष रूप-

---

१. **'चिन्तामणि'** (भाग—१), पृ० १४१।

विधान तथा स्मृत रूप-विधान जन्य अनुभूतियों को रस तुल्य मानते हैं।[1] उनके अनुसार तन्मयीभाव ही रस है।

उन्होंने काव्य के सभी उपादानों—बुद्धि, कल्पना तथा तथ्य आदि सभी का मूल केन्द्र 'रस' माना है। रसानुभूति में कल्पना और अनुभूति का युग-पद व्यवहार होता है। सम्पूर्ण विभावन व्यापार कल्पना के आधार पर ही खड़ा होता है। अतः रस और कल्पना का निकटतम सम्बन्ध है। प्रत्येक किसी न किसी तथ्य का मार्मिक प्रत्यक्षीकरण ही होता है, और तथ्य में बोधिवृत्ति अनिवार्यतः रहती है। अतः रस में बुद्धि-तत्व भी समाविष्ट है। साथ ही क्योंकि प्रत्येक रस द्वारा जीवन या जगत के किसी न किसी तथ्य की व्यंजना रहती है अतः उसका प्राण-तत्त्व तथ्य होता है। अतः रस दार्शनिक दृष्टि से तथ्य से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित रहता है। स्पष्ट है कि यहाँ शुक्लजी का वस्तुवादी दृष्टिकोण काम कर रहा है।

शुक्ल जी के लोक-कल्याणवादी दृष्टिकोण ने रस के विवेचन को प्रभावित किया है। वे रस के प्रति उपयोगितावादी दृष्टि रखते हैं। उनके अनुसार काव्यगत रस का आस्वादन मनुष्य की प्रवृत्तियों और निवृत्तियों को जगाए रहता है। इससे उसकी सजीवता तथा मनुष्यता नष्ट नहीं होती। रस हमारी भावनाओं को जगाकर लोक-मंगल की सिद्धि और शील-निर्माण में सहायक सिद्ध होता है। उसकी सिद्धि मनुष्य मात्र के एकात्म्य का अनुभव कराने में सहायक होती है, और हमें अद्वैत की भूमिका पर पहुँचाती है। इस प्रकार रस के प्रति उपयोगितावादी दृष्टिकोण दिखाकर उन्होंने काव्य के प्रति भी इस दृष्टि को स्वीकार किया है। परन्तु उनका उपयोगितावाद प्रगतिवादियों की भाँति काव्य के मूल—वैयक्तिकता पर आघात नहीं करता वरन् उसकी विषयीगतता को सामाजिक परिवेश में देखना चाहता है। भारतीय सिद्धान्त के अनुसार वे एक स्थिर सामान्य भावभूवि में विश्वास करते हैं जब कि प्रगतिवाद उसको गतिशील मानता है। वे व्यक्ति-वासनाओं को संस्कारित रूप में काव्य में अवतरित करने के समर्थक हैं—परन्तु काव्य को उपदेशात्मकता से बचाना चाहते हैं। अनुभूति को ही काव्य का प्राण मानते हैं। परन्तु दूसरी ओर डा० नगेन्द्र व गुलाबराय की भाँति उनको काव्य का नितान्त विषयीगत स्वरूप भी स्वीकृत नहीं है।

सिद्धान्त रूप में रस का समर्थन करने के साथ ही व्यवहार रूप में अपनी आलोचनाओं द्वारा भी उन्होंने इसकी पुष्टि की। तुलसी; जायसी और

---

१. 'आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धान्त'—रामलाल सिंह, पृ० २०७।

सूर की आलोचनाएँ प्रमाण रूप में प्रस्तुत की जा सकती हैं। काव्य के चमत्कारवाद के प्रति वितृष्णा, 'कला' शब्द से उसे दूर रखने का प्रयास—सभी रसवाद की पुष्टि करते हैं। लोक-कल्याण की भावना के कारण भले ही रीतिकालीन सरस काव्य उनकी सहानुभूति प्राप्त न कर सका हो परन्तु जहाँ भी उन्हें उसका पोषण मिला है, उन्होंने उसकी प्रशंसा की है। साधारणीकरण के अभाव और अतिशय कल्पना का सहारा लेने की छायावादी प्रवृत्ति उसका विरोध करने के लिए बाध्य कर दिया। रहस्यवाद की भी वे प्रशंसा न कर सके, क्योंकि वे तो शुद्ध रससिक्त काव्य के हामी थे।

रस-सिद्धान्त को स्पष्ट और निर्भीक रूप में मान्यता देने वालों में शुक्लजी के पश्चात् डा० नगेन्द्र का स्थान आता है। वे एक आत्मवादी दार्शनिक हैं और काव्य तथा रस का आधार—व्यक्ति की वासनाओं को ही मानते हैं। प्रगतिवादियों को उत्तर देते हुए उन्होंने स्पष्टतः लिखा है—"साहित्य अपने मूल रूप में सामाजिक और सामूहिक चेतना नहीं है, वह तो वैयक्तिक चेतना ही हो सकती है। मनुष्य पहिले व्यक्ति है और बाद में समाज की इकाई। उसका पहिला रूप ही मौलिक है।"[1] वे काव्य को आत्माभिव्यक्ति ही मानते हैं। और उसके द्वारा प्राप्त होने वाले आनन्द को काव्य का लक्ष्य।

साधारणीकरण तथा रस की दो कोटियों के सम्बन्ध में रामचन्द्र शुक्ल का विरोध करते हुए उन्होंने रस को अखण्ड और पूर्ण (absolute) माना है जिसकी कोटियाँ नहीं हो सकतीं। उन्होंने साधारणीकरण का आधार मानव सुलभ सहानुभूति और भाषा का भावमय प्रयोग मानते हुए यह मौलिक स्थापना की है कि—"साधारणीकरण कवि की अनुभूति का होता है; अर्थात् जब कभी कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति की इस प्रकार अभिव्यक्ति करता है कि वह सभी के हृदय में समान अनुभूति जगा सके तो पारिभाषिक शब्दावली में हम कहते हैं कि उसमें साधारणीकरण की शक्ति विद्यमान है।"[2] यह उसी कवि के लिए सम्भव है जिसे लोक-हृदय की पहचान हो।

रस के स्वरूप के बारे में उनका मत है कि वह अलौकिक न होकर लौकिक ही है और उसमें बौद्धिक तथा ऐन्द्रिय अनुभूतियों के तत्वों का 'लवण-नीर' संयोग है। यह एक असाधारण भवित अनुभूति है। यह एक पुनः सर्जनात्मक आनन्द है। यह अनुभूति अनिवार्यतः आनन्दमूलक होती है क्योंकि 'अनुभूति में पृथक् संवेदन नहीं होता, संवेदन का एक विधान होता है। जब संवेदनों में सामञ्जस्य और अन्विति स्थापित हो जाती है तो हमारी अनुभूति

---

१. **रीतिकाल की भूमिका**—डा० नगेन्द्र।
२. **'साधारणीकरण' (लेख)—'विचार और विवेचन', पृ० ३३।**

मधुर होती है। और जब वे विशृंखल हो जाती हैं तो हमारी अनुभूति कटु होती है। काव्य से प्राप्त संवेदन प्रत्यक्ष न होकर बिम्ब रूप होते हैं, इसलिए अनिवार्यतः उनमें सामंजस्य हो जाता है। इस प्रकार जीवन के कटु अनुभव अपने तत्त्व रूप संवेदनों के समन्वित हो जाने पर आनन्दप्रद बन जाते हैं।[1]'

वात्सल्य रस के सम्बन्ध में उनका मत है कि—"वात्सल्य को रस-परिणति के विरुद्ध मानना बहुत ज्यादती होगी, क्योंकि वात्सल्य की जागृति एक सर्वप्रधान ऐंषणा—पुत्रैषणा से है।"

इस प्रकार सिद्धान्त रूप से तो उन्होंने रस की अनिवार्यता की घोषणा की ही है और प्राचीन आचार्यों के विवेचन में जहाँ भी इस मत की पुष्टि के लिए अवकाश होता है उसे प्रस्तुत करते ही हैं। 'विचार और विवेचन' में उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि—"आशा है इनके द्वारा मेरा रसवादी दृष्टिकोण और अधिक स्पष्ट हो।" परन्तु साथ ही व्यवहार रूप में अपनी आलोचनाओं द्वारा भी वे इसकी पुष्टि करते हैं। एक काव्यशास्त्री के नाते यों तो उनका मौलिक चिन्तन सर्वविदित ही है परन्तु उनकी प्रतिभा का वास्तविक रूप वहीं दृष्टिगत होता है—जब उनका आलोचक व्यक्तित्व अपने पाठकों को किसी रस-सिक्त काव्य का आस्वाद कराता है। 'पन्त' और 'साकेत' की आलोचनाएँ प्रमाण रूप में प्रस्तुत की जा सकती हैं।

स्पष्ट ही वे प्रगतिवादी आलोचकों के विरुद्ध खड़े हैं और काव्य में व्यक्ति की सत्ता का समर्थन करते हैं। किन्तु शुक्लजी की रस-दृष्टि से उनकी रस-दृष्टि कुछ भिन्नता रखती है। शुक्ल जी हर स्थान पर लोक-मंगल को ही प्रधानता देते हैं, जब कि नगेन्द्र जी उसकी महत्ता मानते हुए भी उसे काव्य-क्षेत्र के बाहर की वस्तु मानते हैं। इसी कारण रीतिकाल जहाँ शुक्ल जी की प्रशंसा का अधिकारी न बन सका—वहाँ नगेन्द्र जी ने उसके बारे में स्पष्टतः लिखा है कि—"मधुर छन्दों ने पराभव मूढ़ समाज की कोमल प्रवृत्तियों को सरस रखते हुए उसकी जड़ता को दूर करने में महत्वपूर्ण योग दिया था, इसका कौन समाजशास्त्री निषेध कर सकता है।"[2] छायावादी काव्य रसपूर्ण होते हुए भी शुक्ल जी की सहानुभूति न ले सका। परन्तु नगेन्द्र जी उसके प्रबल समर्थकों में से हैं।

आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी डा० नगेन्द्र की भाँति ही रस को काव्य की

---

१. **'रस का स्वरूप'** (लेख)—**'विचार और विवेचन'**, पृ० २९।

२. **'साहित्य में आत्माभिव्यक्ति'** (लेख)—**'विचार और विवेचन'**, पृ० ५७।

आत्मा मानते हैं। उसकी परिभाषा करते हुए उन्होंने लिखा है कि—"काव्य तो प्रकृत मानव अनुभूतियों का, नैसर्गिक कल्पना के सहारे, ऐसा सौन्दर्यमय चित्रण है जो मनुष्य मात्र में स्वभावतः भावोच्छ्वास और सौन्दर्य संवेदन उत्पन्न करता है। इसी सौन्दर्य संवेदन को भारतीय शब्दावली में रस कहते हैं।[1] इसी बात को एक अन्य स्थान पर वे दूसरे शब्दों में कहते हैं—"सम्पूर्ण काव्य किसी रस को अभिव्यक्त करता है, वह रस किसी स्थायी भाव के आश्रित होता है। वह स्थायीभाव रचयिता की अनुभूति से उद्गम प्राप्त करता है।"

वे रस को अखण्ड मानते हैं। उसकी इस अखण्डता का कारण अनुभूति है। अनुभूति की एकात्मता के कारण ही साधारणीकरण सम्भव होता है। वे एक चिरन्तन सौन्दर्य में विश्वास करते हैं और उसी की अनुभूति को रस कहते हैं। वे कवि-कार्य को प्रगतिशील मानते हैं परन्तु प्रगतिवादियों की प्रगति शीलता में विश्वास नहीं करते—"किन्तु कवि का काम प्रगतिशील होना ही नहीं है; प्रगतिशील सामाजिक प्रेरणाओं, स्वरूपों और प्रवृत्तियों को शाश्वत सौन्दर्य को स्वरूप देना ही उसका कार्य है। आज का प्रगतिशील व्यक्ति कल पिछड़ सकता है। किन्तु सौन्दर्य तारों को स्पर्श करने वाला कवि कभी नहीं पिछड़ सकता।"[2]

इन आचर्यों के अतिरिक्त डा० आन्द प्रकाश दीक्षित का 'रस सिद्धान्त—स्वरूप और विश्लेषण'; डा० राघवन का 'Number of Rasas', डा० के० सी० पाण्डेय का 'Comparative Asthatiscs'; डा० व्रजवासी दास श्रीवास्तव का 'मध्यकालीन साहित्य में करुण रस'; बरसाने लाल चतुर्वेदी का 'हिन्दी काव्य में हास्य रस'; रामदहिन मिश्र का 'काव्य-दर्पण'; भागीरथ मिश्र का 'हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास' आदि ग्रन्थ भी रस के स्वरूप और सिद्धान्त पर प्रकाश डालते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रस-सिद्धान्त को भरत ने जिस रूप में रखा—उसकी अनेक व्याख्याएँ हुईं। भरत से लेकर भट्ट नायक तक रसवादी परम्परा अलंकारवादी चमत्कार के सामने रुद्ध हो गई। आगे चलकर ध्वनि-वादियों के हाथ उसका उद्धार हुआ। वक्रोक्तिकार ने भी उसकी महत्ता का बखान किया। सभी नाट्यशास्त्रियों ने इसको काव्य का आवश्यक अंग मान कर इसका विवेचन किया। मध्य युग में इसकी व्याख्या का आधार विभिन्न मतों की दार्शनिक धाराएँ बनीं। परन्तु इसी युग में 'वाक्यं रसात्मकम्' की

---

१. **'कविता का स्वरूप' (लेख)—आधुनिक साहित्य'** पृ० ४०७।

२. **वही**; पृ० ४०९।

भी घोषणा हुई। आधुनिक काल में पुनराख्यानों के साथ नवीन मनोवैज्ञानिक आधार पर उसकी व्याख्या हुई। इस काल में प्रगतिवाद और प्रयोगवाद द्वारा रस की प्रभुसत्ता पर आक्षेप भी किए गए।

इस प्रकार नाना स्थितियों में होकर गुजरने के बाद भी यह सिद्धान्त आज भी अपनी महत्ता बनाए हुए है। परन्तु काव्य के स्वरूप और मानदण्डों के सम्बन्ध में उत्पन्न मतभेदों ने अनेक गम्भीर प्रश्न उपस्थित कर दिए हैं। आज के इस बौद्धिक युग में जब हृदय की अपेक्षा बुद्धि ही अधिक दौड़ती है, क्या काव्य को चिन्तन और तत्त्व से बचाकर रखा जा सकता है? जिस काव्य पर बौद्धिकता का आवरण जितना गहरा होता है वह उतना ही रस की दृष्टि से हीन होता है। यदि काव्य-रस भी बौद्धिक रस हो गया तो क्या काव्य का अस्तित्व रह जायगा? दूसरे रसवाद मूलतः व्यक्तिवादी दर्शन का ही प्रतिफलन है; परन्तु आज की समाजवादी विचारधारा के प्रभाव से उसके स्वरूप बदलने का प्रयास हुआ है। काव्य को समाज के परिवेश में देखने और समाजवाद की कसौटी पर कसने की पद्धति ने रस के मूल पर ही आघात किया है। परन्तु इन समस्याओं का सामना करके भी, बौद्धिकता, समाजवाद और विज्ञान के प्रभाव के बीच भी कविता जीवित रहेगी और इन सभी को आत्मा रूप—रस की अखण्डता के सहारे आत्मसात् कर लेगी।

३४

अलंकार और अलंकार्य के सम्प्रदाय

●

भारतीय साहित्यशास्त्र में छह सम्प्रदाय प्रसिद्ध हैं : (१) अलंकार सम्प्रदाय (२) रीति सम्प्रदाय, (३) वक्रोक्ति सम्प्रदाय, (४) रस सम्प्रदाय, (५) ध्वनि सम्प्रदाय, और (६) औचित्य सम्प्रदाय। इन सभी को समष्टि रूप में अलंकार-शास्त्र कहने की परम्परा है। यों तो इन सम्प्रदायों में प्रत्येक की अपनी-अपनी विशेषता है जिसके कारण ये सभी एक-दूसरे से भिन्न हैं, परन्तु सामान्यतः इनके दो वर्ग माने जा सकते हैं : (१) अलंकार के सम्प्रदाय, और (२) अलंकार्य के सम्प्रदाय। ध्वनिकार ने 'अलंकार्य' शब्द का प्रयोग साहित्य के आत्मस्थानीय तत्त्व के लिये किया है, और आत्मस्थानीय तत्त्व के रूप में व्यंग्यत्रयी (रस-भावादि एवं व्यंजित वस्तु और अलंकार) को स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त काव्य के अन्य विवेच्य अंग अलंकार सिद्ध होते हैं। व्यंग्यत्रयी अलंकार, और तदतिरिक्त सभी कुछ अलंकार। फलतः उपर्युक्त छह सम्प्रदायों में से पहले तीन तो अलंकार के सम्प्रदाय हैं और पिछले तीन अलंकार्य के।

हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों की बात तो छोड़ ही देनी चाहिए; आजकल भी हम लोग इन सम्प्रदायों की जो व्याख्या और मीमांसा करते हैं,

उसमें मौलिक भ्रान्तियाँ और अस्पष्टतायें चली ही जाती हैं। उदाहरणार्थ—यदि हम अलंकार सम्प्रदाय का विवेचन करते हैं तो भरत मुनि से उठाकर जयदेव पर ला पटकते हैं। आखिर ३८ अलंकारों की स्थापना करने वाला भामह तो अलंकारवादी है, पर ७० अलंकारों की स्थापना करने वाला मम्मट अलंकारवादी न होकर अलंकार्यवादी है। ऐसा क्यों? फिर एक ही उत्कृष्ट पद्य को सभी सम्प्रदायों में समान रूप से उत्कृष्ट क्यों समझा जाता है जब कि उनकी मान्यताओं में परस्पर 'छत्तीस' का रिश्ता है। इस प्रकार और भी अनेक प्रश्न हैं जिनका व्यवस्था-प्राप्त विवेचन नहीं किया जाता। सबसे अधिक खटकटने वाली बात यह है कि हम लोग जब काव्यशास्त्रीय विचार करते हैं तो अलंकार की निहित स्थितियों का इस प्रकार खण्डन कर जाते हैं। जैसे तो अलंकार की मान्यता काव्य का एकांगी किंवा अतिवादी विचार हो। इसका ध्यान ही किसी को नहीं रहता कि काव्यशास्त्र के छहों सम्प्रदायों में से प्रत्येक अपने को काव्यशास्त्र कहने का दावा करता है, और यह कि प्रत्येक सम्प्रदाय काव्य की सम्पूर्ण प्रक्रिया पर विचार करता है, इसलिये उसका यह दावा सच्चा है। वस्तुतः अपने यहाँ इन सम्प्रदायों की मौलिक मान्यतायें और तत्फलस्वरूप उनके कार्यों की बुनियादी व्याख्यायें होनी शेष हैं। इस छोटे से निबन्ध में इस कार्य की दिशा मात्र ही प्रकट हो सकती है।

जीवन का आग्रह कभी अन्तर्मुखी होता है, कभी बहिर्मुखी। व्यष्टि-जीवन का भी यह सत्य है और समष्टि जीवन का भी। क्योंकि साहित्य व्यष्टि और स्थूल-सूक्ष्म जीवन की एक पूर्ण प्रतिनिधि इकाई है, इसलिये साहित्य की मूल चेतना भी अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी आग्रहों में बदलती रहती है। साहित्य में ही नहीं, साहित्य की आलोचना में भी यह चक्र-नेमिक्रम चलता रहता है—साहित्य में साहित्यकारों के कारण और साहित्य की आलोचना में साहित्याचार्यों के कारण। विवेचना-सूत्र यह है कि जिस प्रकार हिन्दी का भक्तिकालीन साहित्य तत्कालीन साहित्यकारों की अन्तर्मुखी चेतना का परिणाम है और रीतिकालीन साहित्य उनकी बहिर्मुखी चेतना का, ठीक उसी प्रकार अलंकार्य के सम्प्रदाय साहित्यशास्त्रियों की अन्तर्मुखी चेतना के परिणाम हैं, और अलंकार के सम्प्रदाय उनकी बहिर्मुखी चेतना के।

अलंकार्य के सम्प्रदाय, साहित्य के शब्दार्थ शरीर और समस्त उपकरणों की अलंकार रूप से विवेचना करते हुए आत्मस्थानीय व्यंग्य की ओर चले जाते हैं। यह अन्तर्मुखी विवेचना है। इस प्रकार इनके यहाँ अलंकार्य की स्थिति प्रधान नहीं, बल्कि अलंकार्य की मान्यता जिस रूप में है, वह प्रधान है; और

अलंकार की स्थिति अप्रधान नहीं, बल्कि अलंकार की मान्यता जिस रूप में है, वह अप्रधान है । उसी प्रकार अलंकार के सम्प्रदाय आत्मस्थानीय व्यंग्य को किसी न किसी रूप से अलंकारों में ही समेट कर साहित्य के व्यक्त पिण्ड—शब्दार्थ की ओर लौट आते हैं । यह बहिर्मुखी विवेचना है । इस प्रकार इनके यहाँ अलंकार की स्थिति प्रधान नहीं, बल्कि अलंकार की मान्यता जिस रूप में है, वह प्रधान है; और अलंकार्य की स्थिति अप्रधान नहीं, बल्कि अलंकार्य की मान्यता जिस रूप में है, वह अप्रधान है । यही कारण है कि अलंकारों का आविष्कर्ता भरत मुनि अलंकारवादी नहीं हो सकता; वह अलंकार्य (रस) वादी है । उसी प्रकार ७० अलंकारों की स्थापना करके भी मम्मट अलंकारवादी नहीं बन सका; जब कि केवल ३८ अलंकारों की स्थापना करके ही भामह अलंकार-सम्प्रदाय का आद्याचार्य समझा जाता है । दूसरी ओर इसी मान्यता के वैलक्षण्य से एक उत्कृष्ट पद्य सभी सम्प्रदायों में उत्कृष्ट और एक अपकृष्ट पद्य सभी सम्प्रदायों में अपकृष्ट समझा जाता है । महाकवि कालिदास अलंकारवादियों की दृष्टि से भी कविकुल गुरु हैं और अलंकार्यवादियों की दृष्टि से भी । दूसरे शब्दों में कह लीजिये कि चाहे अलंकार्य की मान्यता को प्रधानता दी जाय अथवा अलंकार की मान्यता को, साहित्य की समष्टिगत रूपात्मक प्रतीति में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं पड़ता । फिर भी मजेदार मामला यह है कि इन दोनों प्रकार के सम्प्रदायों की व्याप्तियों में स्थिति-गत रूप-परिवर्तन और स्वरूप-भेद उपस्थित होते हैं । नहीं तो इनका वर्गीकरण किस आधार पर किया जायेगा, यह विचारने की बात है ।

उपर्युक्त दो विरोधी बातों की संगति के लिये अलंकार्य और अलंकार के सम्प्रदायों की कारण-व्याख्या और कार्य-व्याख्या करनी होगी । कारण-व्याख्या का मतलब है—उन कारणों की व्याख्या जिनके आधार पर ये दोनों प्रकार के सम्प्रदाय परस्पर भिन्न हैं, और कार्य-व्याख्या का मतलब है—उन कार्यों की व्याख्या जो उक्त सम्प्रदायों की मान्यता के परिणाम हैं । यही प्रकारान्तर से काव्य-प्रक्रिया का विचार है ।

अनुभूति और अभिव्यक्ति के बीच साहित्याचार्यों ने चाहे जितना अन्तर क्यों न माना हो, पर काव्यनिष्पत्ति में ये दोनों युगपद एकहेतु हैं, अलग-अलग दो नहीं । न तो अकेली अनुभूति ही काव्य-निर्माण में हेतु है, और न केवल अभिव्यक्ति ही । कवि की अनुभूति उस समय तक काव्य-संज्ञा नहीं पा सकती जब तक वह अभिव्यक्त न हो जाय (शब्दार्थ के रूप में) । और बिना अनुभूति के अभिव्यक्त ही क्या होगा, इसलिये केवल अभिव्यक्ति के काव्य नामधारी होने

का प्रश्न ही नहीं उठता। और क्योंकि कवि की दृष्टि से जो अनुभूति और अभिव्यक्ति है, वही आलोचक की दृष्टि से अलंकार्य और अलंकार है, इसलिये अनुभूति और अभिव्यक्ति के रूप में अलंकार्य और अलंकार—दोनों ही काव्य-प्रक्रिया के युगपद एकहेतु हैं, अलग-अलग दो नहीं। न तो केवल अलंकार्य की स्थिति से काव्य-प्रक्रिया पूरी हो सकती है और न केवल अलंकार की स्थिति से ही। फलतः यह समझ बैठना भूल है कि अलंकार्यवादी केवल अलंकार्य के रूप में ही काव्य-प्रक्रिया का विचार पूरा कर लेते हैं; और अलंकारवादी केवल अलंकार के रूप में ही। न तो अलंकार्यवादियों का काम बिना अलंकार के चल सकता है; और न अलंकारवादियों का काम बिना अलंकार्य के। यह दूसरी बात है कि अलंकार्यवादी अलंकार को अप्रधान या गौण रूप से स्वीकार करें और अलंकारवादी अलंकार्य को उसी प्रकार अप्रधान या गौण कहते फिरें। इस प्रकार अलंकार्य और अलंकार की प्रत्येकशः स्थिति और मान्यता चाहे जिस रूप में क्यों न हो, पर दोनों के रहने पर ही काव्य-प्रक्रिया पूर्ण होती है।

इस काव्य-प्रक्रिया के भीतर कुछ अन्य बातें आनुषंगिक रूप में प्रकट हो जाती हैं। स्पष्ट हो चुका है कि आलोचक की दृष्टि से जो अलंकार्य और अलंकार है, कवि की दृष्टि से वही अनुभूति और अभिव्यक्ति है। अनुभूति का विचार हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि यह हमारा वह अन्तःसंस्कार है जो सुख-दुःख की संवेदना का अप्रत्यक्ष रूप है। यहीं संवेदना और अनुभूति का अन्तर भी प्रकट हो जाता है। संवेदना के रूप का विचार करते समय न तो उसके कारण का ज्ञान अपेक्षित है और न उसके प्रयोजन का। अजान शिशु भूख लगने पर रोता है और पेट भर जाने पर हँसने लगता है—यानी उसे दुःख और सुख की संवेदना है। पर यह दुःख और सुख उसे क्यों होता है, इसका ज्ञान उसे नहीं है। दूसरी तरफ इस संवेदना का क्या उद्देश्य है, इसका पता भी उसे नहीं है।

छोटे बच्चे की बात छोड़िए, बड़े मनुष्य की संवेदना का स्वरूप भी यही होगा। जब कभी हमारे काम में कोई दूरवर्ती सुन्दर स्वर-लहरी आ पड़ती है तो क्षण भर के लिये हमारी रमण-वृत्ति का उदय हो जाता है। कौन गा रहा है और क्या गा रहा है, इत्यादि बातों की जानकारी होने से पहले; बल्कि जिज्ञासा से भी पहले जो गुदगुदी या रमणवृत्ति हमारे हृदय में उदित होती है वही संवेदना का प्रारम्भिक रूप है। परन्तु जब हमें इस संवेदना के परिवेश का भी ज्ञान हो जाता है—यानी कौन गा रहा है, कहाँ गा रहा है, क्यों गा रहा है और क्या गा रहा है, इत्यादि बातों का पता लग जाता है तब यह संवेदना ही अनुभूति में परिणत होने लगती है। काव्य में रमणीयता का प्रारम्भ इसी संवेदना से

होकर अनुभूति की तरफ बढ़ता है। यही कारण है कि अर्थ-बोध से पहले ही या अन्त तक अर्थ-ज्ञान न होने पर भी कविता की कोई उत्कृष्ट पंक्ति हमारे हृदय में आनन्द की लहर उठाती ही रह सकती है। काव्य की प्रेषणीयता (कम्यूनिकेबिलिटी) इसी को कहते हैं जो काव्य के अर्थ-बोध से पहले ही अपना काम प्रारम्भ कर देती है।

कहना यह था कि अनुभूति अपने मूल रूप में संवेदना तक फैली हुई है। दूसरी बात यह है कि संवेदना के लिये किसी प्रयोजन को ढूँढ़ना भी अनपेक्षित है। मानव-मन पर जीवन-जगत् की प्रतिक्रिया सुख या दुःख की संवेदना के रूप में स्वभावतः होती है, सोद्देश्य नहीं। सुख की संवेदना के लिये यह मान भी लिया जाय कि प्राणी उसे आनन्द के लिये स्वयं करता है, पर दुःख किसे अभीष्ट है—जिसकी संवेदना कोई करने चलेगा? इसका तात्पर्य यह है कि संवेदना अनिवार्यतः लादी जाती है, उसे न चाहने का कोई अर्थ नहीं। यह बात अलग है कि मनुष्यों के मन की विभिन्न संकल्प-शक्तियों के अनुरोध से उसकी उच्चावच कोटियाँ हों। इस प्रकार संवेदना, अन्तःसंस्कार में बदलती हुई अनुभूति का रूप ग्रहण करती है। यह प्रकारान्तर से वही बात है जिसे पीछे कहा जा चुका है कि परिवेश का ज्ञान होने पर संवेदना ही अनुभूति में परिणत हो जाती है; अर्थात् अनुभूति सज्ञान संवेदना का ही पर्याय है। इस प्रकार ज्ञान की सत्ता से असम्पृक्त भाव की सत्ता नहीं हो सकती।

अनुभूति में ज्ञान और भाव की सत्ता का यह सम्मिश्रण एक-दूसरे का का पूरक और प्रेरक है। ज्ञान के पीछे भाव की प्रेरणा रहती है, और भाव के पीछे। ज्ञान की जिसे वस्तु-व्यंग्य और अलंकार-व्यंग्य कहते हैं। वह भाव-प्रेरित होने के कारण ही उत्तम काव्य की कोटि में पहुँचता है। उसी प्रकार रस-भावादि की व्यंजना में तभी काव्यत्व की प्रतिष्ठा है—जब उचित सन्तुलन के रूप में वहाँ ज्ञान का संश्लेष है, अन्यथा वह विक्षिप्त प्रलाप बन जाय। कहना न होगा कि अनुभूति के रूप में यह व्यंग्यत्रयी का विचार है जो आलोचक की दृष्टि से काव्य का अलंकार्य पक्ष है। यह दूसरी बात है कि रस-सम्प्रदाय ने भावस्थिति को प्रधान माना है, ध्वनि-सम्प्रदाय ने तीनों (रसभावादि, वस्तु-व्यंग्य, अलंकार-व्यंग्य) की व्यंजना निर्विशेष रूप से स्वीकार की है और औचित्य सम्प्रदाय ने इनके उचित सन्तुलन पर जोर दिया है। इस प्रकार अलंकार्य के तीनों सम्प्रदायों की कारण-भूमि स्पष्ट हो जाती है।

अलंकार के तीनों सम्प्रदायों की कारण-भूमि अनुभूति की अभिव्यक्ति के साथ निकलती है। संवेदना, अन्तःसंस्कार या अनुभूति को पीछे निष्प्रयोजन कहा गया है। पर ध्यान रखने की बात यह है कि वह निष्प्रयोजन होते हुए

भी निष्फल कभी नहीं होती। किसी-न-किसी रूप में सहज अभिव्यक्ति होना ही उसका फल है। साहित्य के क्षेत्र में यही सहज अभिव्यक्ति शब्दार्थमयी होती है और बिना प्रयोजन के कभी नहीं ठहरती। उसके फल का विचार बाद में आता है—यानी फल की बात प्रयोजन की सफलता और निष्फलता के सन्दर्भ में पीछे से उठती है। यद्यपि यह कहना होगा कि इस कोटि तक पहुँच-कर प्रयोजन और फल को अलग-अलग कर पाना दुष्कर है और अनावश्यक भी। भारत के साहित्याचार्यों ने काव्य के छह प्रयोजनों (काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये, सद्यः परिनिर्वृत्तये कान्ता संमितनयोपदेशयुजे) के साथ इसीलिये चतुर्वर्ग-फलप्राप्ति (चतुर्वर्ग-फलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि) का निबन्ध न कर दिया है।

जो हो; अभिव्यक्ति के साथ प्रयोजन का प्रश्न इसीलिये तूल पकड़ जाता है कि वह सदैव सप्रयोजन होती है। और कुछ नहीं तो स्वयं अभिव्यक्ति को ही अधिकतम शक्तिशाली बनाना कवि की उत्कट प्रेषणीयता के प्रयोजन को सिद्ध करता है। यहीं पर अनुभूति का सहज अभिव्यक्ति के साथ कवि की कलात्मक साधना आ मिलती है, जो एक सीमा तक अपेक्षित है। अभिव्यक्ति की असाधारणता में प्रकट होने वाली यह कलात्मक साधना उसी मात्रा में अपेक्षित है जिस मात्रा में अनुभूति की तीव्रता। परन्तु जिस प्रकार अनुभूति की तीव्रता के आग्रह में अलंकार्य के सम्प्रदायों की मान्यतायें जड़ पकड़ती हैं, उसी प्रकार अभिव्यक्ति के कलात्मक अनुरोध से अलंकार सम्प्रदाय अस्तित्व में आते हैं। अलंकार तो 'शब्द' और 'अर्थ' के कटे-छँटे रूप ही हैं, रीति भी अपनी आत्मा का निर्माण शब्दार्थ-गत दस-गुणों (श्लेषः प्रसादः समता समाधि-र्माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्, अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च शब्दार्थगुणा दर्शते) के रूप में करती है। उसी प्रकार कुन्तक की वक्रोक्ति भी शब्द और अर्थ की अलंकृति (तयोः पुनरलंकृतिः वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगीभणितिरिष्यते) ही है। चाहे अलंकार हो या रीति अथवा वक्रक्ति, तीनों ही शब्दार्थमयी अभिव्यक्ति के कलात्मक पक्ष पर विशेष बल देते हैं। यही अलंकार के तीनों सम्प्रदायों की कारण-भूमि है।

इस प्रकार अनुभूति, अभिव्यक्ति और प्रयोजन—ये तीन ठेके काव्य-प्रक्रिया के भीतर हैं। समाज या समीक्षक के सामने काव्य एक शब्दार्थमयी अभिव्यक्ति के रूप में ही आता है, इसलिये उसकी समीक्षा का प्रस्थान-बिन्दु वही (शब्दार्थमयी अभिव्यक्ति) है। शब्दार्थमयी अभिव्यक्ति के भीतर से ही वह अभिव्यक्त सत्य को, जो कवि की अनुभूति के रूप में वहाँ मौजूद है, पकड़

कर कवि तक यात्रा करता है, और इस प्रकार काव्य के मूल हेतु की खोज करता है। दूसरी ओर कवि के अनुभूत सत्य की अभिव्यक्ति की अपने ऊपर होने वाली प्रतिक्रियाओं की छानबीन करता हुआ काव्य के प्रयोजन से (रसादि से) परिचित होता है। इन दोनों स्थितियों में आलोचक काव्य के शब्दार्थमय कलेवर से उतर कर अन्तर्मुखी चेतना को प्रश्रय देता है—यही अलंकार्य के सम्प्रदायों की बुनियाद है। तीसरी स्थिति वह है। जब समीक्षक अभिव्यक्त सत्य की अपेक्षा अभिव्यक्ति-पद्धति पर अधिक मोहित होता है, और अपने ऊपर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन वह अभिव्यक्ति के प्रकारों के चमत्कारों में करने लगता है। यही अलंकार के सम्प्रदायों की जन्मभूमि है।

अलंकार्य के सम्प्रदायों में पहला नम्बर रस-सम्प्रदाय का है। यहाँ रस ही परम उपास्य और प्रधान है। उसी के लिये विभादि की योजना पात्रों के माध्यम से, और पात्रों की योजना शब्दार्थ के माध्यम से कवि करता है; अर्थात् रस साध्य है, तदतिरिक्त सभी कुछ साधन। रस—अलंकार्य है, बाकी सभी कुछ अलंकार।

ध्वनि-सम्प्रदाय, रस-सम्प्रदाय का ही उपबृंहित रूप है। यह दृष्टि ऐतिहासिक है। रस सम्प्रदाय ने व्यंग्य के क्षेत्र में केवल रस को ही लिया था, पर ध्वनिसम्प्रदाय ने वस्तु और अलंकार की व्यंग्यता भी स्वीकार की। रस तो सदा व्यंग्य ही रहता है, पर वस्तु-अलंकार भी विकल्प से व्यंग्य होते हैं—यह ध्वनि-सम्प्रदाय की मुख्य स्थापना है। रस तो उस भाव का परिणाम है जो सुख-दुःख का संस्कारावस्थित रूप है। सुख-दुःख कभी वाच्य नहीं हो सकते। यदि कोई व्यक्ति रोता हुआ अपना दुःख प्रकट करता है तो वह दुःख का कारण ही बतलाता है, दुःख का स्वरूप नहीं। मन की अनुकूल-वेदनीयता और प्रतिकूल—वेदनीयता के रूप में जो न्यायशास्त्र क्रमशः सुख और दुःख की परिभाषा देता है—वह व्यक्तिगत है या दूसरे शब्दों में अनैकान्तिक है। मन की सत्ता व्यक्तिशः अलग-अलग है। फलतः यह आवश्यक नहीं कि जो चीज एक व्यक्ति के मन के अनुकूल है वह दूसरे व्यक्ति के मन के भी अनुकूल ही हो; बल्कि प्रतिकूल हो सकती है। इस प्रकार सुख-दुःख की किंरूपता अवाच्य ही है। और जब सुख-दुःख ही वाच्य नहीं हैं तो सुख-दुःख के संस्कारावस्थित रूप-भाव और उनके परिणामी रूप-रसों की वाच्यता का प्रश्न ही नहीं उठता। मनोविज्ञान भी इसकी पुष्टि करता है। वह मन की ज्ञानात्मक प्रक्रिया के भीतर किसी वस्तु का साक्षात्कार तो कर सकता है; पर भाव का साक्षात्कार करने के लिये वह ज्योंही विश्लेषण-पद्धति स्वीकार करता है, भाव छू-मन्तर हो जाता है। रस

की अवाच्यता का यह रहस्य है जिसका विचार हमारे प्राचीन काव्यशास्त्र में न जाने क्यों छूट गया।

वस्तु और अलंकार 'वाच्य' भी होते हैं और 'व्यंग्य' भी। वस्तु अपने रूप और प्रकारों में अगणित या अनन्त है। जिसे अलंकार कहते हैं वह वस्तु का ही एक कटा-छँटा रूप है। वस्तु को ही जब किसी निश्चित रूप-रेखा में प्रसिद्धि मिल जाती है तो वह अलंकार कहलाता है। इसलिये जितने अलंकार आज नाम-प्राप्त हैं उनके अतिरिक्त न जाने कितने अलंकार भविष्य की निश्चित-अनिश्चित व्याहृतियों में छिपे पड़े हैं—यानी अलंकारों की भी इयत्ता नहीं है। कहना है यह कि ध्वनि-सम्प्रदाय ने वस्तु-अलंकार को वाच्य के साथ-साथ जो व्यंग्य भी मान लिया, इससे उस व्यंजना की सीमाओं का विकास ही हुआ जिसे रस-सम्प्रदाय ने केवल रस के क्षेत्र में ही स्वीकार किया था।

इस ऐतिहासिक दृष्टि के विरुद्ध एक सैद्धान्तिक दृष्टि भी है जो प्रत्युत ध्वनिसम्प्रादाय को ही रस-सम्प्रदाय की उपयोगिता में स्वीकार करती है। यह सिद्धान्त साहित्य-दर्पणकार कविराज विश्वनाथ का है। उसने रस की 'रस्यते-इति' व्युत्पत्ति करते हुए रसनीयता धर्म का सम्बन्ध वस्तु-अलंकार की व्यंजना में ही स्वीकार नहीं किया बल्कि सामान्य वाच्य के भीतर भी रस की प्रच्छन्न-तम हल्की अनुभूति मानकर काव्य की सीमाओं को उचित व्यापकता प्रदान की। खैर, मतलब इतनी बात से है कि रस को काव्य की आत्मा (वाक्यं रसात्मक काव्यम्) कहने वाले विश्वनाथ ने, वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि में भी प्रधानतः रसनीयता धर्म का सम्बन्ध मानकर, व्यंग्यत्रयी की पर्यायवृत्ति से काव्य का आत्मस्थानीय सिद्ध कर दिया। उसके द्वारा रस-भावादि, वस्तु और अलंकार—इन तीनों की व्यंजना में निर्विशेष रूप से उत्तम काव्य माना जाना इसी बात की सूचना है। इस प्रकार ध्वनि-सम्प्रदाय में जो अलंकार्य थे, वे रस-सम्प्रदाय में भी मान लिये गए।

औचित्य-सम्प्रदाय यद्यपि औचित्य पर बल देता है और उसी को काव्य का जीवित भी मानता है, पर ध्यान रखने की बात यह है कि वह उसे (औचित्य को) काव्य रससिद्ध का ही जीवित मानता है (औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्) है। यहाँ दो बातों का विचार मुख्य रूप से आता है। पहली बात यह है कि रस को मूल रूप में स्वीकार करने के कारण क्षेमेन्द्र ने उसे अलंकार्य की कोटि में ही स्वीकार किया है। दूसरी बात यह है कि 'औचित्य-विचार-चर्चा' में जो औचित्य का स्वरूप दिया गया है—वह भाववाचक है, सम्बन्धवाचक नहीं (भले ही वह सम्बन्धों के भी भाव का वाचक है)।

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत् ।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते ॥

वस्तुएँ परस्पर अनुरूप योजना या सम्बन्ध के कारण उचित होती हैं, निरपेक्ष रूप में उनके उचित होने का प्रश्न ही नहीं उठता है । औचित्य की यह सापेक्ष सत्ता यह सिद्ध करती है कि काव्य के अनेक अंगों के रहते हुए भी औचित्य सर्वव्यापी और एक है (काव्यस्यांगेषु च प्राहुरौचित्यं व्यापि जीवितम्) । और क्योंकि औचित्य-सम्प्रदाय में रस को काव्य का सिद्ध पक्ष कहा गया है इसलिये सर्वाङ्गव्यापी औचित्य का भाव, रस की स्थिति में केन्द्रीभूत है । यह इसलिये कहा जा रहा है कि 'औचित्य विचार-चर्चा' के भीतर 'अलंकारौचित्य' जैसे प्रकारों को देखकर कोई औचित्य सम्प्रदाय को भ्रान्ति से अलंकार के सम्प्रदायों में न गिन बैठे या 'रसौचित्य' और 'अलंकारौचित्य' जैसे प्रकारों के आधार पर उसे (औचित्य सम्प्रदाय को) अलंकार-अलंकार्य का एक अलग से मिश्रित सम्प्रदाय न समझ ले । औचित्य, गुण, अलंकार आदि काव्यंग्यों में नहीं होता अपितु इनकी उस संतुलित स्थिति में होता है जो काव्य की भावात्मक सत्ता है और जो कि अपने परिणामी रूप में रसात्मक आह्लाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । इस प्रकार औचित्य सम्प्रदाय, अलंकार्य सम्प्रदाय है, अलंकार का सम्प्रदाय नहीं ।

अलङ्कार के भी तीन सम्प्रदाय हैं : (१) अलंकारसम्प्रदाय, (२) रीति-सम्प्रदाय (गुणसम्प्रदाय), और (३) वक्रोक्तिसम्प्रदाय । अनुप्रास, उपमा आदि अलंकारों को सर्वाधिक मान्यता देने वाला सम्प्रदाय, अलंकार सम्प्रदाय है । यह काव्य की सत्ता ही बिना अलंकार के नहीं मानता—

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती,
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनन्नं कृती ।—(जयदेव)

भामह रस-सम्प्रदाय के आदि आचार्य हैं । इन्होंने वचनभंगिमा को शब्दार्थ की अलंकृति कहा है (वक्राभिधेय शब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः) । इसका अर्थ है कि शब्दार्थ अलंकार्य है और अनुप्रास उपमा आदि, अलंकार । रस-भावादि की सत्ता या तो यह सम्प्रदाय मानता ही नहीं है और यदि मानता है तो अलंकारों से पृथक् नहीं मानता अथवा रसवदादि अलंकारों में अध्यासित मानता है । इसका तात्पर्य यही निकला कि किसी रसपूर्ण कविता को अलंकार्य-सम्प्रदाय-वादी जितना महत्त्व अलंकार्य की दृष्टि से देगा, लगभग उतना ही महत्त्व अलंकार-सम्प्रदायवादी रसवदादि अलंकार की दृष्टि से देगा; क्योंकि दोनों के 'अलंकार्य' और 'अलंकार' शब्द से अभिप्रेत वस्तु बहुत-कुछ पास-पास ही पड़ती हैं ।

रीति-सम्प्रदाय अथवा गुण; सम्प्रदाय भी शब्दार्थ को तो काव्य शरीर मानता है, पर गुणविशिष्टपद-रचना को रीति और रीति को कव्य की आत्मा मानता है।

'रीतिरात्मा काव्यस्य'
'विशिष्टा पद-रचना रीतिः'
'विशेषो गुणात्मा'

अर्थात् रीति-काव्य की आत्मा है। रीति क्या है ? विशिष्ट पद-रचना। पद-रचना की विशिष्टता क्या है ? गुणात्मकता।[1] यहाँ भी शब्दार्थ ही प्रकारान्तर से अलंकार्य ठहरता है, क्योंकि जिस पद-रचना को ये लोग रीति नाम देकर काव्य की आत्मा बताते हैं वह शब्दार्थ के ढाँचे से अतिरिक्त और क्या है ? इनके श्लेषादि सब गुण शब्द और अर्थ—दोनों में माने जाते हैं और रस की जाति को इन्हीं के स्वरूप में स्वीकार कर लिया जाता है। कान्ति नामक गुण के लक्षण में सीधे ही रस का अभिधान है (दीप्तरसत्त्व कान्तिः)। यहाँ भी वही बात रही कि अलंकार्य सम्प्रदाय अलंकार्य की दृष्टि से जिस रसपूर्ण पद्य को उत्कृष्ट कहेगा, रीति-सम्प्रदाय भी उसी पद्य को कान्ति नामक जैसे गुणों की दृष्टि से उत्कृष्ट मानेगा। क्योंकि दोनों के यहाँ रस और गुण से अभिप्रेत वस्तु बहुत कुछ परस्पर संक्रान्त हैं।

वक्रोक्ति सम्प्रदाय में भी काव्य का शरीर—शब्दार्थ हैं और वे ही अलंकार्य भी हैं। अलंकार है—स्वंय वक्रोक्ति (तपोः पुनरलंकृतिः, वक्रोक्ति-रेव······)। कुन्तक ने अपने 'वक्रोक्तिजीवितम्' में वह वक्रता मुख्यतया छह प्रकार की मानी है—वर्णविन्यास वक्रता, पदपूर्वार्ध वक्रता, पद-परार्ध वक्रता, वाक्यवक्रता, प्रकरणवक्रता और प्रबन्धवक्रता। इन वक्रताओं के भीतर समस्त रस-परिवार, ध्वनिचक्र, गुणसंस्थान और अलंकार समूह समेट लिया गया है। फलतः यहाँ भी रस-भावादि अलंकारात्मक रूप में ही स्वीकृत हैं; क्योंकि जिस वक्रोक्ति के भीतर कुन्तक ने व्यंग्यत्रयी को भी खींच लिया है, उसे पहले ही वह शब्दार्थ की अलंकृति कह चुका है। इसलिये यहाँ भी जिस व्यंग्यपूर्ण पद्य को अलंकार्य सम्प्रदाय वाला व्यंग्य की दृष्टि से श्रेष्ठ समझेगा, उसी को वक्रोक्ति सम्प्रदाय वाला वक्रता की दृष्टि से श्रेष्ठ समझेगा; क्योंकि दोनों के यहाँ व्यंग्य और वक्रता से अभिहित वस्तु लगभग-लगभग एक ही पड़ती है।

---

१. **गुण इनके यहाँ अलंकार-विशेष ही हैं—(काव्यशोभाकरन् धर्मानलंकारान् प्रचक्षेत)।**

इस प्रकार स्पष्ट है कि उपर्युक्त छहों सम्प्रदायों में उपादान-उपकरण प्राय: एक ही हैं, पर इनकी मान्यताओं में भेद है। कौन तत्त्व किस सम्प्रदाय में उपादान है और कौन उपकरण, पहला भेद इसी बात का है। उपादान काव्य के स्वरूपाधायक तत्त्व होते हैं और उपकरण उसके शोभाधायक। उपादान को प्रधान और उपकरण को गौण तत्त्व भी कह सकते हैं। रस-सम्प्रदाय में रस प्रधान, यानी काव्य की आत्मा है और अलंकार गौण होता है। उसी प्रकार अलंकार-सम्प्रदाय में अलंकार प्रधान है और रस गौण है। दूसरा भेद काव्य-तत्त्वों के क्रम-विधान का हो जायेगा। इसे काव्य-प्रक्रिया का भेद भी कहा जा सकता है जो काव्य की स्वरूप-सम्प्राप्तियों में समझना होगा। इसी को हमने पीछे कार्य-व्याख्या कहा है जो विभिन्न सम्प्रदायों की कारण-व्याख्या के बाद अब प्रस्तुत है।

साहित्य के छहों सम्प्रदाय काव्य का शरीर 'शब्दार्थ' को ही मानते हैं, इसलिये सभी का प्रस्थान-बिन्दु एक है; अर्थात् सभी शब्दार्थ से यात्रा प्रारम्भ करते हैं। पर विश्रान्ति-बिन्दु सबका एक नहीं है। अलंकार के तीनों सम्प्रदाय शब्दार्थ से चलते हैं और रसभावादि से परिचय करके फिर शब्दार्थ की ओर ही लौट आते हैं। अत: इन्हें प्रस्थित-प्रतिनिवृत्त कहना चाहिए, अर्थात् जहाँ से ये चलते हैं फिर वहीं लौट आते हैं। किन्तु अलंकार्य के तीनों सम्प्रदाय चलते तो शब्दार्थ से ही हैं, पर पुन: शब्दार्थ की ओर नहीं लौटते; वे आगे रसभावादि में विश्रान्त हो जाते हैं। इसलिये इन्हें प्रस्थित-पर्यवसित कहना चाहिए; अर्थात् जहाँ से ये चलते हैं फिर वहाँ न लौटकर दूसरी जगह पर्यवसान पाते हैं।

इस बात को उदाहरण में देखने के लिये भामह और मम्मट—इन दो आचार्यों को लिया जा सकता है, जिनमें पहला अलंकारवादी है और दूसरा अलंकार्यवादी। उधर भामह ने कहा—'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' और इधर मम्मट ने कहा—'तत् (काव्यम्) अदोषौ शब्दार्थौ।' इस प्रकार दोनों की यात्रा शब्दार्थ से ही प्रारम्भ हुई। पर आगे दोनों के प्राप्तव्य स्थान बदल गए। उधर भामह रसभावादि से परिचय करके भी उन्हें रसवदादि अलंकार के रूप में पकड़ लाये और उनसे शब्दार्थ को अलंकार्य बनाकर बैठ गए—यानी शब्दार्थ से चले और फिर शब्दार्थ की ओर ही लौट आये। इधर मम्मट उपमादि अलंकारों को शब्दार्थ के शोभाधायक धर्म कहते हुए दोनों की योजना रस-भावादि की अपेक्षा से ही मानकर रस तक पहुँच गए; अर्थात् शब्दार्थ और शब्दार्थालंकारों को व्यंग्यत्रयी के पैरों में डालकर उसी को (व्यंग्यत्रयी को) चरम अलंकार्य मानकर रम गए; वे फिर शब्दार्थ की ओर नहीं लौटे। भामह

शब्दार्थ के सिंहद्वार पर खड़े हैं और वहीं से अपनी दृष्टि रसभावादि के अन्तः प्रकोष्ठों की रमणीयता का घूम-घूम कर परिचय पा रहे हैं, और शब्दार्थ के प्रति बड़े अहसानमन्द हैं, जिसके माध्यम से वे भीतर पहुँच सके।

रीतिसम्प्रदाय और वक्रोक्तिसम्प्रदाय को अलंकार-सम्प्रदायवादी भामह के, और अलंकार्य के सम्प्रदायों को मम्मट के आदर्श पर देखा जा सकता है। रस-सम्प्रदाय और ध्वनि-सम्प्रदाय के तो मम्मट समन्वयी प्रतिनिधि हैं ही, औचित्य-सम्प्रदाय भी उनसे बाहर नहीं है। क्योंकि क्षेमेन्द्र ने औचित्य को जिस काव्य का सर्वांगव्यापी जीवित तत्त्व कहा है, उसे पहले ही उसने 'रससिद्ध' के रूप में प्रतिष्ठित कर रखा है; अर्थात् औचित्य का भाव काव्य के शब्दार्थ—शरीर और उसके बाह्य अंगों में पूरता हुआ रस-स्थिति तक पहुँचता है। इस प्रकार अलंकार्य के सम्प्रदायों का प्रस्थान-बिन्दु और विश्रान्ति-बिन्दु एक नहीं है। प्रस्थान-बिन्दु शब्दार्थ है और विश्रान्ति-बिन्दु व्यंग्यत्रयी। उधर अलंकार के तीनों सम्प्रदाय लगभग भामह के आदर्श पर चलते हैं। शुद्धालंकार सम्प्रदाय के तो भामह प्रतिनिधि आचार्य ही हैं। रीति-सम्प्रदाय और वक्रोक्ति-सम्प्रदाय भी उनके सजातीय हैं। रीति-सम्प्रदाय के आचार्यों ने रसादि को काव्य के शरीरभूत शब्दार्थ के गुणों में ही किसी-न-किसी प्रकार अध्यासित कर लिया है। कान्ति नामक गुण के भीतर वे स्पष्टतः रस की सत्ता मानते हैं (दीप्तरसत्वं कान्तिः)। और फिर ऐसे गुणों से वे उस रीति को विशेषित करते हैं जो 'पदरचना' के रूप में शब्दार्थ की ही एक संघटना मात्र है। (विशेषो गुणात्मा······विशिष्टा पद-रचना रीतिः)। फलतः वे शब्दार्थ से चले और फिर शब्दार्थ की ओर ही लौट आये।

वक्रोक्ति-सम्प्रदाय का भी यही हाल है। वह भी शब्दार्थ को काव्य का शरीर मानकर चला है और वक्रोक्ति के भीतर यावन्मात्र व्यंग्यचक्र को लपेट उसे (वक्रोक्ति को) शब्दार्थ के ही पैरों में ला पटकता है; अर्थात् शब्दार्थ का ही अलंकार बना देता है (तयोः पुनरलंकृतिः, वक्रोक्तिः)। इस प्रकार अलंकार के तीनों सम्प्रदायओं का प्रस्थान-बिन्दु तो एक है ही, विश्रान्ति-बिन्दु भी एक ही है। प्रस्थान-बिन्दु शब्दार्थ है और विश्रान्ति-बिन्दु भी शब्दार्थ है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि यह प्रस्थान-बिन्दु की एकता और विश्रान्ति-बिन्दु की भिन्नता—दोनों प्रकार के सम्प्रदायों में अलंकार्य और अलंकार को लेकर भी है। अलंकार के सम्प्रदायों ने आरम्भ से लेकर अन्त तक शब्दार्थ को ही किसी-न-किसी रूप में अलंकार्य माना और समस्त शोभाधायक धर्मों को, जिन्हें रसभावादि से किसी-न-किसी प्रकार अन्तर्व्याप्त कर लिया, अलंकार ही सिद्ध किया। पर अलंकार्य के सम्प्रदायों ने प्रारम्भ से तो शब्दार्थ को अलंकार्य

और उसके अस्थिर धर्म—उपमादि अलंकारों को (शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः) अलंकार के रूप में पहचाना, किन्तु पीछे से शब्दार्थ और उसके अलंकारों की योजना रसापेक्षिणी (रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकाराः) सिद्ध करते हुए दोनों को अलंकार की कोटि में, और रसभावादि को अलंकार्य की कोटि में घोषित किया। यही दोनों प्रकार के सम्प्रदायों की दृष्टि से अलंकार और अलंकार्य की व्याप्तियों में रूप-परिवर्तन और स्वरूप-भेद है। शब्दार्थ का एक के यहाँ अलंकार होना और दूसरे के यहाँ अलंकार्य होना, एवं रस-भावादि का एक के यहाँ अलंकार्य होना और दूसरे के यहाँ अलंकार होना—रूप-परिवर्तन है। अलंकार के सम्प्रदायों में दस गुणों के लक्षण, शब्दार्थ के धर्म माने जाने के कारण (श्लेषः प्रसादः समता समाधिर्माधुर्यमोजः पद सौकुमार्यम्, अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च शब्दार्थगुणा दशैते) शब्दार्थ रूप हैं, एवं अलंकार्य के सम्प्रदायों में कुल जमा में तीन गुणों (माधुर्यौजः प्रसादाख्याः) के लक्षण, रस के धर्म माने जाने के कारण (ये रसस्यांगिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः) रस-रूप हैं। यह स्वरूप-भेद ठहरा। अलंकार सम्प्रदायवादी गुणों की स्थिति शब्दार्थ में मानते हैं और अलंकार्य सम्प्रदायवादी उनकी प्रधान स्थिति रस-गत सिद्धि करते हैं। यह स्थिति-भेद भी हो ही गया।

३५

हिन्दी-उर्दू के छन्दःशास्त्र की तुलना

●

छन्द[1] वास्तव में भाषा की अभिव्यक्ति में एक नाप-विशेष रखने वाला रागतत्त्व है। छन्दों की उत्पत्ति कब हुई होगी ? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि भाषा की उत्पत्ति के साथ ही साथ 'छन्द' का भी जन्म हुआ होगा।

विद्वानों का यह भी कहना है कि संसार में आये हुए आदि मानव की अपनी भाषा में स्वर की सरसता, लय की समता और नाद की मधुरता प्रचुर मात्रा में रही होगी। यह भी सम्भव है मानव ने इस धरित्री पर पग धरते ही गद्य से पहले पद्यमयी भाषा ही सीखी हो। क्योंकि आदि मानव ने भाषा का पहले-पहल प्रयोग केवल मानस के अति उद्दीप्त तथा उत्कट मनोवेगों के प्रदर्शन के लिये ही किया होगा। गम्भीर विचार एवं तत्त्वचिंतन आदि तो बहुत पीछे की अवस्थाएँ हैं। तीव्र भावावेश की स्थिति में मानसोद्भूत भाषा अवश्यमेव छन्दोमयी रही होगी या उसमें कम से कम बल, मात्रा, लय आदि के साम्य की प्रचुरता अवश्य ही अधिक रही होगी। आज भी तीव्र एवं उत्कट भावोद्रेक

---

१. छन्दस्=छद्√+अस्=जो ढँकता है अथवा जो अपनी इच्छा से चलता है।

की अवस्था में हमारी भाषा स्वतः ही लयात्मक प्रवाह में फूट पड़ती है। प्रेम, करुणा, भय, क्रोध आदि के अतिरेक के क्षणों में हम एक प्रकार से उन्माद की-सी अवस्था में पहुँच जाते हैं और हमारी अभिव्यक्ति स्वतः ही छन्दोमयी हो जाती है। श्री घाटे महोदय ने 'वैदिक मीटर' में लिखा है कि गम्भीर एवं सबल उत्तेजनाएँ छन्दों में अभिव्यक्त हुआ करती हैं—

"Deep strong passions express themselves in metre."

ऐतिहासिक दृष्टि से भी छन्दोमयी वाणी गद्य से अधिक प्राचीन है। मानव साहित्य की प्राचीनतम रचना 'ऋग्वेद' है। वह हमें छन्दोबद्ध ही मिलती है। बहुत सम्भव है कि उस समय साधारण व्यवहार में गद्य का प्रयोग भी होता हो, परन्तु इससे इतना तो स्पष्ट है कि कला की अभिव्यक्ति के लिये उस समय छन्दों का ही प्रयोग किया जाता था। ऋग्वेद के अध्ययन से पता लगता है कि छान्दस रचना-कला उस समय पर्याप्त विकसितावस्था प्राप्त कर चुकी थी। अतः ऐसा अनुमान सत्य-सा ही प्रतीत होता है कि छन्दों की प्रयोगावस्था का प्रारम्भिक काल सम्भवतः ऋग्वद से भी पुराना है।

अपने मूल में छन्द वस्तुतः किन्हीं छोटी-बड़ी ध्वनियों के व्यवस्थित सामंजस्य का ही शास्त्रीय नाम है। मानव जीवन की प्राकृतावस्था में यह सामंजस्य अवश्य ही स्वंय जात अथवा स्वतः प्रसूत रहा होगा।। इस स्वतः प्रसूति का संकेत हमें ब्राह्मण ग्रन्थों की एक निरुक्ति से भी मिल जाता है। उसमें 'गायत्री' छन्द की निरुक्ति इस प्रकार की गयी है—"गायतो मुखादुदपतत्" अर्थात् गाते हुए आदि मानव अर्थात् ब्रह्मा के मुख से जो अपने आप निकल पड़ी, वह 'गायत्री' कहलाई।

प्रारम्भ में ध्वनि-सन्तुलन का नियम बहुत मोटे ढंग से पालन किया जाता था। ऋग्वेद में छन्दों का नियम अक्षरात्मक है। वहाँ ह्रस्व-दीर्घ का भेद नहीं; ध्वनि-संतुलन का आधार केवल अक्षर-संख्या है। यह स्थूल नियम भी कहीं-कहीं पूरा नहीं बैठता। प्रसिद्ध गायत्री मंत्र के प्रथम पाद—तत्सवितुर् वरेण्यम्—में आठ के स्थान पर केवल सात ही अक्षर[1] हैं।

जैसे—"तत्/स/वि/तुर्/व/रेण्/यम्।"

संस्कृत में अधिकांश में गणात्मक वर्णिक छन्द पाये जाते हैं। साथ ही साथ संस्कृत के साहित्य में छन्दों के अन्तर्गत तुकान्तता नहीं मिलती। इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, शिखरिणी, मन्दाक्रान्ता, वंशस्थ, द्रुतविलम्बित, भुजंग प्रयात आदि वर्णिक वृत्त तुकान्तता से रहित होते हैं। इसी कारण पंडित अयोध्यासिंह जी

---

१. यह 'अक्षर' शब्द यहाँ अँग० 'सिलेबिल' का पर्याय है।

उपाध्याय 'हरिऔध' ने अपनी कृति 'प्रियप्रवास' में संस्कृत छन्दों को अपनाते हुए अतुकान्त छन्दों की ही रचना की थी। अपभ्रंश की परम्परा से प्राप्त तुकान्ततामयी शैली हिन्दी ने बहुत पहले से अपना ली थी। 'प्रियप्रवास' की अतुकान्त काव्य-रचना प्रारम्भ में बहुत से लोगों को अजब और बेढंगी-सी लगी थी। मात्रिक छन्दों की तुकान्ततामयी शैली के लिये हिन्दी अपनी पूर्वजा अपभ्रंश की ऋणी है।

मिलाइये—"मइँ जाणिअँ मिअलोयणी,
णिसिअरु कोइ हरेइ।
जाव ण णावतडि सामलो,
धाराहरु बरिसेइ ॥"—(अपभ्रंश)

× × ×

"मैं जान्यौं मृगलोचनिहिं,
निसिचर कोइ हरेइ।
जौलौं न नव तड़ि श्यामल,
धराधर बरसेइ ॥"—(ब्रजभाषा)

× × ×

"जावण आप जीणज्जइ,
ताव ण सिस्स करेइ।
अंधाँ अंध कढ़ाव तिम,
वेण्ण वि कूब पँड़ेइ ॥"—(अपभ्रंश)

× × ×

"जाका गुरु भी अंधला, चेला खरा निरन्ध।
अंधे अंधा ठेलिया, दोऊ कूप पड़ंत ॥"
—(कबीर की भाषा)

हिन्दी में खड़ीबोली का प्रथम महाकाव्य 'प्रियप्रवास' माना जाता है। जिस प्रकार उसमें अतुकान्त छन्दों की रचना मिलती है, ठीक उसी प्रकार उर्दू की कविता भी तुकान्तता से रहित है। मिलाइए निम्नांकित द्रुतविलम्बित छंद में—

"दिवस का अवसान समीप था,
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु शिखा पर थी अब राजती;
कमलिनी कुलबल्लभ की प्रभा।"—हरिऔध

"ये इश्क नहीं आसाँ,
इतना ही समझ लीजे ।
एक[1] आग का[2] दरिया है,
और डूब के जाना है ।"—जिगर

उर्दू में कुछ कविताएँ ऐसी भी पायी जाती हैं जो तुकान्तता के नियम के साथ रदीफ़ और क़ाफ़िया मिलाती हुई चलती हैं । निम्नांकित कविताएँ तुकान्तता के अच्छे उदाहरण हैं—

"उल्टी हो गयीं सब तदबीरें,
कुछ न दवा ने काम किया ।
देखा, इस बीमारिये-दिल ने,
आखिर काम तमाम किया ।"—मीर

"पहले से अगर जानते अंजामे-मुहब्बत ।
लेते न कभी भूल के हम नामे-मुहब्बत ।।"
—जौक

"अनोखी वज़ा है, सारे जमाने से निराले हैं ।
ये आशिक कौनसी बस्ती के या रब रहने वाले हैं ।"
—इकबाल

हिन्दी-कविता की नाप जहाँ मात्रा, वर्ण-क्रम आदि से की जाती है वहाँ उर्दू-कविता की नाप तीन अक्षरों के आधार पर होती है—फे, एन, लाम । इन्हें हम गणों का बीज रूप कह सकते हैं । छन्द:शास्त्र को उर्दू में 'इल्मे-अरूज़' कहते हैं ।

'छन्द:शास्त्र' अर्थात् 'इल्मे-अरूज़' का प्रमुख सम्बन्ध नज़म अर्थात् पद्य से है । उर्दू काव्य में जितने प्रकार की नज़में मिलती हैं, उन्हें हम मोटे तौर पर दस भागों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) ग़ज़ल; (२) क़सीदा, (३) मसनवी, (४) मुसम्मत, (५) क़ता, (६) रूबाई, (७) तरकीबबन्द, (८) तरजीअबन्द, (९) मस्तज़ाद, (१०) फर्द ।

उर्दू-कविता में 'ग़ज़ल' सर्वप्रिय रही है । उर्दू-कविता का विषयगत वर्गीकरण किया जाए तो ग़ज़ल की बहुलता इसकी सर्वप्रियता को सिद्ध करने

१. ए=ह्रस्व ए ।

२. का=क; आ=ह्रस्व अ ।

में पहला प्रमाण ठहरेगी। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि ग़ज़ल के अतिरिक्त पद्य के दूसरे रूप उर्दू की कविता में नहीं पाये जाते।

'ग़ज़ल' का साधारण अर्थ है—माशूका (प्रिया) से बात करना। प्रो० रघुपति सहाय 'फिराक़' ने अपनी पुस्तक 'रँगारंग' के परिचय में 'ग़ज़ल' शब्द का एक भावपूर्ण विचित्र अर्थ लिखा है। वे लिखते हैं—

"इसका (ग़जल का) असली अर्थ बहुत भावपूर्ण है। जब कोई शिकारी जंगल में कुत्तों के साथ हिरन का पीछा करता है और हिरन भागते-भागते किसी ऐसी झाड़ी में फँस जाता है जहाँ से वह निकल नहीं सकता, उस समय उसके कंठ से एक दर्दभरी आवाज़ निकलती है; इसी करुण स्वर को 'ग़ज़ल' कहते हैं। इसीलिये विवशता का दिव्यतम रूप में प्रकट होना, स्वर का करुणा-तम हो जाना, यही ग़ज़ल का आदर्श है।"[1]

'ग़ज़ल' का प्रमुख रस शृङ्गार माना जा सकता है। अर्थ की दृष्टि से ग़ज़ल का प्रत्येक 'शेर' पृथक्-पृथक् होता है। हिन्दी काव्यशास्त्र के दृष्टिकोण से 'ग़ज़ल' मुक्तक काव्य की श्रेणी में आएगी। लेकिन 'क़सीदा' प्रबन्ध-काव्य के अन्तर्गत माना जायगा। 'मसनवी' को भी हमें प्रबन्ध-काव्य के अन्तर्गत ही मानना पड़ेगा। जायसी ने 'पद्मावत' में बहुत कुछ मनसवी शैली अपनायी है।

'ग़ज़ल' में शेरों की संख्या कम से कम ५ और अधिक से अधिक १६ होती है। कुछ कवियों ने १६ से अधिक शेरें भी ग़ज़ल में लिखी हैं। पहले ग़ज़लों का विषय प्रायः आशिकाना तथा रिन्दाना होता था, किन्तु आज-कल के उर्दू कवि हर तरह के विषय ग़ज़लों में अभिव्यक्त किया करते हैं। यहाँ तक कि प्रकृति तथा जीवन सम्बन्धी कविताएँ, देश-प्रेम तथा राजनीति सम्बन्धी कविताएँ, और हास्य रस की कविताएँ भी लोग ग़ज़ल के माध्यम से व्यक्त किया करते हैं। ग़ज़लों के संग्रह को 'दीवान' और सब प्रकार के पद्य-संग्रह को 'बयाज़' कहते हैं।

उर्दू काव्य का एक रूप 'क़सीदा' भी है, जो वज़न और क़ाफिये में ग़ज़ल की भाँति ही होता है। परन्तु इसका प्रमुख विषय किसी की प्रशंसा अथवा निन्दा है। 'तारीफ बहार' अथवा 'शिकायते रोज़गार' भी क़सीदे के विषय हो सकते हैं। क़सीदे में शेरों की संख्या कम से कम १५ अवश्य होनी चाहिए। अधिक के लिये कोई संख्या निश्चित नहीं है।

---

१ 'रँगारंग'—प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १६६० ई०, पृ० ५।

क़सीदों की रचना करते समय कुछ उर्दू कवि पहले विषय की भूमिका बाँधते हैं। फिर मूल विषय का वर्णन करते हैं। जिस कसीदे का प्रारम्भ भूमिका (तमहीद) से होता है, उसे 'तमहीदियाँ कसीदा' कहते हैं। जिस कसीदे का प्रारम्भ प्रशंसा के मूल विषय को लेकर ही हो जाता है, वह 'खताबिया-कसीदा' कहाता है। तमहीदिया कसीदे को पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) मतला, (२) तमदीह, (३) गरेज़, (४) अस्ल मतलब, (५) खा़त्मा। उर्दू-कविता के क्षेत्र में सौदा ज़ौक कसीदागोई के बादशाह समझे जाते हैं।

'मनसवी' शब्द का कोशगत सामान्य वाच्यार्थ 'दो-दो' है। उर्दू के काव्यशास्त्र में 'मनसवी' उन शेरों को कहते हैं, जिनमें दो-दो मिसरे हों और प्रत्येक शेर अपने दोनों मिसरों में विभिन्न काफिये न रखती हो। इसमें शेरों की संख्या निश्चित नहीं है। इसका विषय प्रबन्धात्मकता लिये हुए होता है। प्रत्येक विषय 'मनसवी' में वर्णित हो सकता है। उदाहरण इस प्रकार है—

"वो शहंशाह जंगल वो नूरे कमर।
वो बुर्राक-सा हर तरफ दश्तो दर॥

वो उजला-सा मैदाँ चमकती-सी रेत।
उगा नूर से चाँद-तारों खेत।

दरख्तों के पत्ते चमकते हुए।
खसो खार सारे झमकते हुए।"

उर्दू-कविता का चतुर्थ रूप 'मुसम्मत' कहाता है। व्याकरण की दृष्टि से यह कर्ममूलक संज्ञा है। इसका सामान्य अर्थ—'मोती जमा करना' अथवा 'मोती पिरोना' है। इस रचना में 'बन्द' होते हैं। इसमें प्रत्येक बन्द का क़ाफिया भिन्न होता है। बन्द के मिसरों की संख्या के दृष्टिकोण से 'मुसम्मत' के आठ भेद हैं—(१) मुसल्लस—इसके प्रत्येक बन्द में तीन-तीन मिसरे होते हैं। (२) मुरब्बा—इसके प्रत्येक बन्द में चार-चार मिसरे होते हैं। (३) मुखम्मस—इसके प्रत्येक बन्द में पाँच-पाँच मिसरे होते हैं। हर बन्द का केवल पाँचवाँ मिसरा हमकाफिया होता है। (४) मुसद्दस—इसके प्रत्येक बन्द में छह-छह मिसरे होते हैं। इसी प्रकार सात मिसरों का मुसब्बा, आठ मिसरों का मुसम्मन, नौ मिसरों का मुतस्सा और दस मिसरों का मअश्शर कहाता है।

उर्दू-कविता का पंचम रूप 'कता' है। इसका वाच्यार्थ 'टुकड़ा' या 'खण्ड' है। उर्दू काव्यशास्त्र में 'कता' उस कविता को कहते हैं जिसमें एक शेर के अर्थ का सम्बन्ध दूसरी शेर से अवश्य हो और सब शेरों के अन्तिम मिसरे

हमकाफिया हों। इसका विषय 'मनसवी' की भाँति क्रमशः तथा शृङ्खलाबद्ध होता है। शेरों की संख्या कम से कम दो होनी चाहिए। मुहम्मद मुस्तफा खां 'मद्दाह' ने उर्दू-हिन्दी शब्द-कोश में 'कता' की परिभाषा इन शब्दों में लिखी है—

"क़तुअः उर्दू अथवा फार्सी नज़्म की एक किस्म है जिसमें ग़ज़ल की तरह क़ाफ़िये की पाबन्दी होती है और जिसमें कोई एक बात कही जाती है।"

उदाहरण—"जिसको खुदा से शर्म है
वो है बुज़ुर्गों दी।
दुनिया की जिसको शर्म है
वो मर्दे शरीफ है।
जिसको किस की शर्म नहीं
उसको क्या कहूँ?
फ़ितरत में वो ज़लील है
दिल का कसीफ है।।"

उर्दू-नज़्म की छटी किस्म रूबाई है। हिन्दी-कवि भी रूबाई लिखने लगे हैं जिन्हें 'चतुष्पदी' संज्ञा प्रदान की गई है। रूबाई को 'दुबैती या 'तराना' भी कहते हैं। इसमें चार मिसरे होते हैं, इसीलिये हिन्दी में यह 'चतुष्पदी' कहाती है। इसका प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ चरण (मिसरा) हमकाफिया होता है। तीसरा मिसरा चाहे हमकाफिया (समतुकान्त) हो अथवा न हो। वास्तव में चतुर्थ चरण रूबाई का प्राण होता है। हिन्दी छन्दःशास्त्र के आधार पर हम रूबाई का लक्षण इस प्रकार लिख सकते हैं—

"इसके प्रत्येक चरण में तगण, यगण, सगण और मगण, होता है। पहले, दूसरे और चौथे चरण के अन्त में सानुप्रासिकता होती है।"

उदाहरण निम्नांकित है—

"गुलशन में सबा को जुस्तजू तेरी है।
बुलबुल की जुबां पै गुफ्तगू तेरी है।।
हर रंग में जल्वा है तेरी कुदरत का।
जिस फूल को सूँघता हूँ बू तेरी है।।"

उर्दू-नज़्म का एक भेद तरकीबबन्द भी है। इसमें ग़ज़ल की शैली में मतले सहित कुछ शेरें लिखते हैं। फिर एक मतला दूसरे क़ाफिये में लिखते हैं। दूसरे बन्द में दूसरी ग़ज़ल दूसरे क़ाफिये में लिखते हैं। किन्तु प्रथम बन्द के

वज़न पर ही मिसरे लिखे जाते हैं। जब प्रत्येक बन्द की बैत अर्थात् गिरह भिन्न होती है तो उसे तकरीबबन्द कहते हैं, और यदि एक ही होती है तो उसे तरजीअबन्द कहते हैं।

'मुस्तज़ाद' उर्दू-नज़्म का नवाँ भेद है। इसमें रूबाई या ग़ज़ल के मिसरे के साथ एक-एक मिसरा मिला रहता है। उदाहरण—

"मैं हूँ आशिक मुझे ग़म खाने से इनकार नहीं
कि है गम मेरी गिज़ा।
तू है माशूक तुझे गम से सरोकार नहीं,
खाये गम तेरी बला।
दिलो दीं तेरे हवाले किये करते ही तलब,
और जो कुछ कहा सब।
फिर जो बेज़ार है तो मुझसे बला इसका सबब,
मेरी तकसीर है क्या?"

'फर्द' उर्दू-नज़्म का दसवाँ भेद है। अकेले शेर को 'फर्द' कहते हैं। जो शेर वजन और काफिये के दृष्टिकोण से अकेला कहा गया हो, वह 'फर्द' कहाता है। किसी-किसी काव्यशास्त्री का मत है कि गज़ल या क़सीदा का एक शेर 'फर्द' कहाता है। 'मसनवी' के एक शेर को 'फर्द' न कहकर 'बैत' कहते हैं।

छन्द की नाप की इकाई जिस प्रकार हिन्दी में 'गण' कहाती है, उसी प्रकार वे निर्दिष्ट शब्द जिनसे शेर का वजन किया जाता है, उर्दू-छन्दःशास्त्र में 'रुकन' कहलाते हैं। हिन्दी में गणों की संख्या ८ है। उर्दू में भी रुकनों की संख्या ८ ही है। यथा—

गण का नाम		गुरु—लघु का क्रम
१. यगण	(यमाता)	। ऽ ऽ = लघु, गुरु, गुरु
२. मगण	(मातारा)	ऽ ऽ ऽ = गुरु, गुरु, गुरु
३. तगण	(ताराज)	ऽ ऽ । = गुरु, गुरु, लघु
४. रगण	(राजभा)	ऽ । ऽ = गुरु, लघु, गुरु
५. जगण	(जभान)	। ऽ । = लघु, गुरु, लघु
६. भगण	(भानस)	ऽ । । = गुरु, लघु, लघु
७. नगण	(नसल)	। । । = लघु, लघु, लघु
८. सगण	(सलगा)	। । ऽ = लघु, लघु, गुरु

उर्दू-छन्दःशास्त्र में दो रुकन तो पंच मात्रिक हैं, और शेष छह सप्त-मात्रिक हैं।

पंच मात्रिक रुकनों के नाम—

			। ऽ ऽ १/ २/ २ =५
(१)	फ़ऊलुन्	=	फ़/ ऊ/ लुन्
			ऽ । ऽ २ /१ / २ =५
(२)	फ़ाइलुन्	=	फ़ा/ इ/ लुन्

सप्त मात्रिक रुकनों के नाम—

			। ऽ ऽ ऽ १/२ /२/ २ =७
(१)	मफ़ाईलन्	=	म/फ़ा/ ई/लन्
			। । ऽ ऽ । १/१/२/ २/१ =७
(२)	मफ़ऊलात	=	म/फ़/ऊ/ला/ त
			ऽ । ऽ ऽ २ /१/ २/२ =७
(३)	फ़ाइलातन्	=	फ़ा/इ/ला/तन्
			ऽ । ऽ ऽ २/१/ २/२ =७
(४)	मुस्तफ़ालन्	=	मुस्/त/फ़ा/लन्
			ऽ ऽ । ऽ २ /२ /१/२ =७
(५)	मत्फ़ाइलन्	=	मत्/फ़ा/इ/लन्
			। ऽ ऽ ऽ १/ २/ २/२ =७
(६)	मफ़ाइल्तन्	=	म/फ़ा/इल्/तन्

रुकनों की आवृत्तियों से जो खास वजन पैदा होता है, उसे 'बहर' कहते हैं। चार बार 'मफ़ाईलन्' कहने से 'बहर हज़ज' पैदा हो जाती है। मफ़ाईलन् (। ऽ ऽ ऽ) में क्रमशः लघु, गुरु, गुरु, गुरु होते हैं। इस प्रकार कुल सात ही मात्राएँ हुई और चार अक्षर (syllable) हुए।

प्रारम्भ में खलील इब्न अहमद बसरी ने १५ बहरों का आविष्कार किया था। फिर चार और आविष्कृत हुईं। इस प्रकार उर्दू में कुल १९ बहरें प्रचलित हैं, जिनमें १२ मिश्र (मुरक्कब) और ७ साधारण (मुफरिदा) हैं। जब एक रुकन की ही कई आवृत्तियाँ हों तो उसे 'मुफरिद बहर' कहते हैं। विभिन्न रुकनों की आवृत्तियों की बहर को 'मुरक्कब (मिश्र) 'बहर' कहते हैं।

साधारण बहरें	रुकन-क्रम	आवृत्ति
१. हज़ज	मफ़ाईलन्	४ बार
२. रजज	मुस्तफ़ालन्	४ ,,
३. रमल	फ़ाइलातन्	४ ,,
४. कामिल	मत्फ़ाइलन्	४ ,,
५. वाफ़र	मफ़ाइलतन्	४ ,,
३. मतकारब	फ़ऊलन्	४ ,,
७. मतेदारक	फ़ाइलुन्	४ ,,

मिश्र बहरें	रुकन-क्रम	आवृत्ति
१. मन्सरह	मुस्तफ़ालन्, मफ़ऊलात	२ बार
२. मक़तज़ब	मफ़ऊलात, मुस्तफ़ालन्	२ ,,
३. मज़ारा	मफ़ाइलन्, फ़ाईलातन्	२ ,,
४. मजतम	मुस्तफ़ालन्, फ़ाइलातन्	२ ,,
५. तवील	फ़ऊलन मफ़ाईलन	२ ,,
६. महीद	फ़ाइलातन्, फ़ाइलन्	२ ,,
७. बसीत	मुस्तफ़ालन्, फ़ाइलुन्	२ ,,
८. सरीअ	मुस्तफ़ालन्, मफ़ऊलात्, मुस्तफ़ालन् ।	
९. ख़फ़ीफ़	फ़ाइलातन्, मुस्तफ़ालन्, फ़ाइलातन् ।	
१०. जदीद	फ़ाइलातन्, फ़ाइलातन्, मुस्तफ़ालन् ।	
११. करीब	मफ़ाईलन्, मफ़ाईलन्, फ़ाइलातन् ।	
१२. मुशाकिल	फ़ाइलातन्, मफ़ाईलन्, मफ़ाईलन ।	

यदि पठन-शैली में विश्राम तथा लय का थोड़ा-सा परिवर्तन कर दिया जाए तो उर्दू के बहुत से छन्द हिन्दी के छन्दों का स्थान ग्रहण कर सकते हैं।

उर्दू के बहुत से छन्दों को हम हिन्दी के छन्दों के आसनों पर सुगमता से बिठा सकते हैं।

हिन्दी में प्राय: तीन प्रकार के छन्द पाये जाते हैं—(१) मात्रिक छन्द, (२) वर्णिक छन्द, (३) उभय छन्द। जिन छन्दों में मात्रा और वर्ण—दोनों के दृष्टिकोण से नियमबद्धता चलती है, उन्हें 'उभय छन्द' कहते हैं। निम्नांकित छन्द को हम 'उभय छन्द' कह सकते हैं; क्योंकि इसके प्रत्येक चरण में २८ मात्रा अथवा २० अक्षर हैं—

२ ३ ६ ५ ३ ७ २
"कवि काल कालानल कृपाकर केतु करुणाकन्द है।
२ २ २ ३ ३ २ २ ३३ ३
सुख-धाम सत्य सुपर्व सच्छिव सर्व प्रिय स्वच्छन्द है॥
भगवान भावुक भक्तवत्सल भू विभू भुवनेश है।
करतार तारक है तू ही यह वेद का उपदेश है॥"

वर्णित छन्दों में केवल वर्णों की गणना रहती है। सवइया, भुजंगप्रयात आदि छन्दों में वर्णों के अन्तर्गत गणों का क्रम भी रहता हैं। जैसे मत्तगयंद सवइया के प्रत्येक चरण में सात भगण और दो गुरु होते हैं—

SII—SII—SII—SII—SII—SII—SII—SS
"ला लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर कौ तजिडारौं।"
—(मत्तगयंद सवइया छन्द)

वंशस्थ आदि संस्कृत के छन्द हैं और वर्णिक हैं क्योंकि इनमें वर्णों की गणना तथा क्रम प्रधान है। वंशस्थ के प्रत्येक चरण में १२ वर्ण (अक्षर) होते हैं किन्तु ये १२ वर्ण क्रमशः जगण, तगण, जगण, और रगण में विभक्त रहते हैं। महात्मा तुलसीदास ने 'रामचरित मानस' अयोध्याकाण्ड के आरम्भ में भगवान् राम की धीरता तथा गम्भीरता का वर्णन वंशस्थ वृत्त में ही किया है—

ISI—SSI—ISI—SIS
"प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्,
तथा न मम्लो वनवास-दुःखतः।
मुखाम्बुज-श्री रघुनन्दनस्य मे,
सदास्तु सा मंजुलमंगल प्रदा॥"
—(वंशस्थ छन्द)

श्री हरिऔध जी ने 'प्रियप्रवास' में वसन्त-वर्णन वंशस्थ वृत्त में ही किया है—

ISI—SSI—ISI—SIS
"निसर्ग ने सौरभ ने पराग ने,
प्रदान की थी अति कान्त भाव से।
वसुन्धरा को पिक को मिलिन्द को,
मनोज्ञता मादकता मदान्धता।"
—(वंशस्थ छन्द)

हिन्दी के शृंगार, सखी आदि छन्द मात्रिक हैं क्योंकि इनके चरणों में मात्राओं की संख्या का एक निश्चित क्रम रहता है। सखी छन्द को कुछ लोग 'आँसू छन्द' भी कहने लगे हैं क्योंकि 'प्रसाद' जी ने अपने 'आँसू' नामक काव्य में सखी छन्द का ही प्रयोग किया है। इस छन्द के प्रत्येक चरण में १४ मात्राएँ होती हैं। चरणान्त में मगण अथवा यगण रहे तो अच्छा।

उदाहरण—

५ ३ ४ २
"उछ्वास और आंसू में,
५ ३ ४ २
विश्राम थका सोता है।"

—(सखी छन्द)

शृंगार छन्द के प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ होती हैं और चरणान्त में गुरु लघु रहते हैं। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि केवल मात्राओं की संख्या से छन्द का निश्चय नहीं किया जा सकता। समान मात्राएँ होने पर भी छन्द पृथक्-पृथक् हो सकते हैं। १६ मात्राएँ तो चौपाई, पद्धरि और अरिल्ल नाम के छन्दों में भी होती हैं। प्रत्येक छन्द की अपनी एक गति होती है। उसकी यति के अपने नियम होते हैं तथा चरणान्त में कुछ विशेषता रहती है। इन कारणों से ही छन्द बदल जाया करते हैं। हिन्दी के हरिगीतिका और सार छन्दों में मात्रा तो २८-२८ ही होती हैं किन्तु हरिगीतिका के चरणान्त में लघु-गुरु रहते हैं और सार के चरणान्त में गुरु गुरु रहते हैं। दोनों छन्दों की चालें भी भिन्न हैं।

हिन्दी की प्रसिद्ध कवयित्री शुभ श्री महादेवी वर्मा ने एक स्थल पर जीवन की व्याख्या 'शृंगार' छन्द में की है—

५ ६ २ ३
"विकसते मुरझाने को फूल;
३ ४ ४ २ ३
उदय होता छिपने को चन्द।
३ ४ २ ४ ३
शून्य होने को भरते मेघ;
३ ४ ४ २ ३
दीप जलता होने को मन्द॥"

—(शृंगार छन्द)

हिन्दी की कविता में दो से अधिक वर्णों की तुकान्तता अच्छी मानी जाती है। चार से अधिक वर्णों की तुकान्तता तो सर्वोत्तम मानी गई है। निम्नांकित छन्द में तुकान्तता चार से अधिक वर्णों में है—

"मुझ को अवलम्ब तुम्हारा सदा,
निज वीणा लिये झनकारती आओ।
शुचि स्वर्ण-से सुन्दर वर्ण अलंकृत,
छन्द के बन्द में ढारती आओ॥
उर में वर भावना की लहरी,
तुम भारती अम्ब ! उभारती आओ॥
तुलसी-रतनावली की कवितावली।
आज समोद सँवारती आओ॥"

उर्दू-कविता के चरणान्त में जो काफिया और रदीफ का नियम है वह वास्तव में अच्छी तुकान्तता का नियम ही पालन करता है।

'रदीफ' शब्द का कोशगत वाच्यार्थ है—'घोड़े पर सवार के पीछे बैठना।' वास्तव में शेर के अन्दर 'रदीफ' काफिये के पीछे ही आती है। 'काफिया' यदि घुड़सवार है तो 'रफीद' उसके पीछे बैठने वाला व्यक्ति है। माना कि एक शेर का चरण इस प्रकार है—

"दो हिरन जख्मी किये सइयाद ने इक 'तीर से'।"

उक्त पंक्ति में 'तीर' की अंतिम 'ईर' काफिया है और 'से' रदीफ है। इस प्रकार 'ईर से' की अन्त्यानुप्रासिकता हिन्दी में भी अच्छी तुकान्तता मानी जाएगी।

उर्दू-कविता की एक बहर का नाम है—मुतदारक मस्मन मक़तूअ जिसके वज़न इस प्रकार हैं :—

उदाहरण—

फैलुन् फैलुन् फैलुन् फैलुन्।
४ ४ ४ ४
"हरदम करता हूँ मैं जारी।
देखी बस बस तेरी यारी॥"

यदि विचार करके देखा जाए तो उक्त दोनों चरण हिन्दी के चौपाई छन्द में आनन्द से गाये जा सकते हैं। इसके प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ होती हैं। चरणान्त में जगण (। ऽ ।) अथवा तगण (ऽ ऽ ।) का निषेध है—

ऽ ऽ
"हरदम करता हूँ मैं जारी।

ऽ ऽ
देखी बस बस तेरी यारी।"—(उर्दू छन्द)

× × ×

"भुवन चारि दस भूधर भारी।
सुकृत मेघ बरषहिं सुखकारी॥"

—(तुलसी : हिन्दी छन्द)

दोनों की तुलना से स्पष्ट हो रहा है कि उपर्युक्त उर्दू-छन्द वास्तव में हिन्दी का चौपाई छन्द ही है।

फअलात, फाइलातन्, फअलात फाइलातन् के आधार पर बनी हुई निम्नांकित 'बहर' को हम हिन्दी के 'दिगपाल छन्द' में सुगमता से समाविष्ट कर सकते हैं। दिगपाल छन्द के प्रत्येक चरण में २४ मात्राएँ होती हैं। १२-१२ पर यति होती है। उदाहरण—

"मैं ढूँढता तुझे था, जब कुंज और वन में।
तू खोजता मुझे था, तब दीन के वतन में॥
तू आह बन किसी की, मुझको पुकारता था।
मैं था तुझे बुलाता, संगीत के भजन में॥

—(हिन्दी छन्द)

इसी छन्द को लय में निम्नांकित बहर रमल मुरब्बा मस्कूल को पढ़िए—

"वु गरीब खेतवाले, वु उमीदवार दहकाँ।[1]
कि खड़ी है जिनकी खेती, कहीं खेत कट रहा है।"—(उर्दू-छन्द)

निम्नांकित बहर को उर्दू-काव्यशास्त्र में रजज-मुरब्बा मसालिम बताया गया है। लेकिन यह हिन्दी का मधुमालती छन्द ही है जिसके प्रत्येक चरण में १४ मात्राएँ होती हैं। अन्त में रगण (ऽ। ऽ) होना चाहिए—

"इस इश्क ने रुसवा किया।
मैं क्या बताऊँ क्या किया,
बस इस दिले नाशाद ने।
और आस्माँ पैदा किया।।"

—(उर्दू-छन्द), बहर रजज मुरब्बा मसालिम

---

१. ईरान में 'गाँव के मुखिया' को 'देहकान' कहते हैं। यहाँ ग्रामीण जन के लिए 'दहकाँ' शब्द का प्रयोग है।

मिलाइए—

"जग में बड़ा तहि मानिये ।
शुभ गुण उसी के बखानिये ।।
पर पीर जो हर लेत हैं ।
अवसर पड़े कछु देत हैं ।।"

—(मधुमालती : हिन्दी-छन्द)

मैंने उर्दू में निम्नांकित बहरें पढ़ीं और विचार करने लगा कि ये हिन्दी के किस छन्द के चौखटे में ठीक तरह से समा सकती हैं—

"सारे जहाँ से अच्छा, हिन्दोस्ताँ हमारा ।
हम बुलबुले हैं इसकी, ये गुलिस्ताँ हमारा ।।"

× × ×

"दिल का पता न पाया, जुल्फों को खोल देखा ।
गेसू को ढूँढ मारा, तुर्रा टटोल देखा ।"

× × ×

"आता है याद मुझको, गुजरा हुआ जमाना ।
वो झाड़ियाँ चमन की, वो मेरा आशियाना ।।"

× × ×

"क्या क्या मची हैं यारो, बरसात की बहारें ।"

× × ×

"पीछे कदम जरा भी, हक से न डालते हैं ।"

उपर्युक्त बहरों की मात्राओं की गणना करने पर और चाल को पहचानने पर विदित हुआ कि उपर्युक्त पाँचों उदाहरण 'दिगपाल छन्द' के ही हैं जिसके प्रत्येक चरण में २४ मात्राएँ होती हैं और १२-१२ पर यति होती है । लक्षणमूलक उदाहरण इस प्रकार है—

"सविता विराज दोई, दिगपाल छन्द सोई ।"

उर्दू के काव्यशास्त्रियों ने जिस बहर को हजज मसमन अखरब बताया है, वह वास्तव में दिगपाल छन्द ही है—

"फिर मौज हवा पेचाँ, ऐ 'मीर' नजर आई ।
शायद कि बहार आई, जंजीर नजर आई ।"

× × ×

"सविता[२] विराज दोई,[३] दिगपाल छन्द सोई ।"

---

१. सविता=सूर्य । सूर्य बारह हैं, अतः 'सविता' का यहाँ अर्थ है 'बारह' मात्राएँ ।

२. दोई=दो । दो सविता; अर्थात् २४ मात्राएँ ।

उर्दू में 'रमल मुरब्बा मकसूर महजूफ' नाम की बहर का उदाहरण इस प्रकार है—

"बोसए रुख दो हमें ।
दिल हम अपना दें तुम्हें ।।"

उपर्युक्त शेर के चरणों की नाप करने पर विदित होता है कि इसके द्वितीय चरण में १३ मात्राएँ हैं। वस्तुतः यह उल्लाला छन्द है जिसमें लघु, गुरु के नियम से रहित १३ मात्राएँ ही होती हैं। उल्लाला का उदाहरण—

'उल्लाला तेरह कला ।
नियम न गुरु लघु प्रति भला ।।"

हिन्दी में एक 'लावनी' नाम का मात्रिक छन्द ३० मात्राओं का होता है। राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त ने 'पंचवटी' नामक खण्डकाव्य में इसी लावनी छन्द का प्रयोग किया है। यदि इस लावनी के चरणान्त में मगण (ऽ ऽ ऽ) का निर्वाह हो जाता है, तो इसे ही फिर 'ताटंक' नाम से पुकारने लगते हैं। लावनी का उदाहरण—

"चारु चन्द्र की चंचल किरण खेल रही हैं जल-थल में ।
स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई है अवनि और अम्बर तल में ।"

—मै० श० गुप्त

कविवर मीर तकी 'मीर' की निम्नांकित शेर वास्तव में लावनी छन्द का ही उदाहरण है—

"उलटी हो गईं सब तदबीरें कुछ न दवा ने काम किया ।
देखा, इस बीमारिए दिल ने आखिर काम तमाम किया ।।"

—'मीर'

उर्दू भाषा के इल्मे अरूज में जिसे 'हजज मसमन सालिम' नाम दिया है, वह वास्तव में हिन्दी का मात्रिक छन्द 'विधाता' है, जिसमें २८ मात्राओं के चरण होते हैं।

विधाता छन्द के प्रत्येक चरण में १४, १४ पर यति होती है। महाकवि शंकर ने विधाता छन्द का प्रयोग किया है—

"जतीले जाति के सारे, प्रबन्धों को टटोलेंगे ।
जनों को सत्य सत्ता की, तुला से ठीक तोलेंगे ।।"
बनेंगे न्याय के नेगी, खलों की पोल खोलेंगे ।
करेंगे प्रेम की पूजा, रसीले बोल बोलेंगे ।।"

—(विधाता छन्द)

मिलाइए—

"कभी देता नहीं मैं भूल, कर भी दर्स आजादी ।
मेरे लैक्चर हैं नमरूदी, मेरे खुतबे हैं साद्दादी ।।"

—(हजज मसमन सालिम)

उक्त शेर में 'मेरे' को 'मेरे' पढ़ा जाएगा । किसी शब्द के उच्चारण में जब दीर्घ स्वर को ह्रस्व करके अथवा ह्रस्व को दीर्घ करके पढ़ा जाता है, तब उसे 'जिहाफ' कहते हैं । 'मेरे' के उच्चारण को यहाँ 'जिहाफ' कहा जाएगा । 'में' का 'ए' यहाँ ह्रस्व है ।

उर्दू में एक बहर ३२ मात्राओं की है, जिसे 'मतदारक मसमन मकतूअ अलमजाअफ' कहते हैं । इसका प्रयोग पं० राधेश्याम कथावाचक (बरेली निवासी) ने अपनी 'रामायण' में किया है ।

मिलाइए—

"टुक हिर्सोहवा को छोड़ मियाँ
मत देस-विदेश फिरे मारा ।
कज्जाक अजल का लूटे है
दिन रात बजाकर नक्कारा ।।"

—(उर्दू की बहर)

"भाई दो लड़के राम लखन
इस दंडक वन में आये हैं ।
और संग में इक सीता नामी
सुकुमारी नारी लाये हैं ।"

—(राधेश्याम कृत रामायण)

इसे थोड़े से परिवर्तन के साथ 'दण्डकला' छन्द के साथ रखा जा सकता है जो ३२ मात्राओं का ही छन्द है । दण्डकला छन्द का उदाहरण—

"शिव विष्णु ईश बहु रूप तु ही,
नभ तारा चन्द्र दिवाकर है ।।"

हिन्दी की कविता में २६ मात्राओं वाले छन्दों में 'गीतिका' छन्द बहुत प्रसिद्ध है। इस छन्द के प्रत्येक चरण में २६ मात्राएँ होती हैं और चरणान्त में लघु, गुरु (। ऽ) होते हैं।[1] प्रायः १४ और १२ मात्राओं पर यति होती है । निम्नांकित शेर वास्तव में 'गीतिका' छन्द का ही उदाहरण है—

---

१. **"वेद मंत्रों को विवेकी, प्रेम से पढ़ने लगे ।"**—(महाकवि शंकर)
"रतन रवि-कल धारिके लघु-दीर्घ रचिए गीतिका" ।

"जो कहोगे तुम कहेंगे हम भी हाँ यूँ ही सही।
आपकी गर यूँ खुशी है, मेहरबाँ यूँ ही सही।"—'जौक'

हिन्दी के तांटक छन्द में चरणान्त में मगण (ऽ ऽ ऽ) तथा १६, १४ पर यति के साथ प्रत्येक चरण में ३० मात्राएँ होती हैं। जैसे—

"देव ! तुम्हारे कई उपासक, कई ढंग से आते हैं।
सेवा में बहु मूल्य भेंट वे कई रंग की लाते हैं॥
धूमधाम से साजबाज से, वे मन्दिर में आते हैं।
मुक्तामणि बहुमूल्य वस्तुएँ, लाकर तुम्हें चढ़ाते हैं।"

उपर्युक्त मात्रिक छन्द 'तांटक' की लय और गति को स्वर में भरते हुए निम्नांकित शेर को भी पढ़िये तो स्पष्ट हो जाएगा कि 'मीर' की पंक्तियाँ 'तांटक छन्द' में ही लिखी गई हैं—

"दूर बहुत भागो हो हमसे, सीख तरीक गिजालों का।
वहशत करना शेवा है क्या, अच्छी आँखों वालों का॥"—'मीर'

महापौराणिक जाति के मात्रिक छन्दों में १९ मात्राओं के छन्द हैं। उनमें से हिन्दी-कवियों ने 'सुमेरु' और 'ग्रन्थि' नाम के छन्दों का अधिक प्रयोग किया है। 'सुमेरु' छन्द के प्रत्येक चरण में १९ मात्राएँ तो होती ही हैं किन्तु चरणान्त में यगण (। ऽ ऽ) भी होता है। इस छन्द में यदि १२,७ अथवा १०, ९ की यति का निर्वाह हो सके तो अच्छा। सुमेरु छन्द का उदाहरण—

"तुम्हें कर जोर के बिनती सुनाऊँ।
तुम्हें तज पास काके और जाऊँ॥
निहारौ जू निहारौ जू निहारौ।
बिहारी जू भरोसौ है तुम्हारौ॥"
—बिहारीलाल ब्रह्मभट्ट

कविवर 'जिगर' की निम्नांकित पक्तियाँ भी 'सुमेरु छन्द' में ही लिखी हुई हैं—

"कली कोई जहाँ पर, खिल रही है।
वहीं एक फूल भी मुरझा रहा है॥"—'जिगर'

जब १९ मात्राओं के नियम के साथ चरणान्त में लघु, गुरु पड़ें तो वह छन्द 'ग्रन्थि' कहता है। श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने ग्रन्थि-छन्द में कविताएँ लिखी हैं—

"आजकल के छोकरे सुनते नहीं।
हम बहुत कुछ कह चुके अब क्या कहें?

मानते ही वे नहीं मेरी कही ।
कब तलक हम मारते माथा रहें ॥"—'हरिऔध'

कविवर जलील की निम्नांकित पंक्तियों की गति को नापने पर यह सिद्ध हो जाता है कि यह ग्रन्थि छन्द का ही उदाहरण है—

"बात साकी की न टाली जायगी ।
करके तौबा तोड़ डाली जायगी ॥"—'जलील'

१८ मात्राओं वाले पौराणिक जाति के छन्दों में 'शक्ति' नाम का छन्द बहुत प्रसिद्ध है । इसके प्रत्येक चरण में १८ मात्राएँ होती हैं; लेकिन चरणान्त में सगण (।।ऽ), रगण (ऽ।ऽ) अथवा नगण (।।।) आना चाहिए । महाकवि 'दाग' की निम्नांकित शेर के प्रत्येक मिसरे के अन्त में रगण है और कुल १८ मात्राएँ हैं । अतः 'शक्ति' छन्द है । कविवर बिहारी लाल ब्रह्मभट्ट के शक्ति छन्द से महाकवि 'दाग' की पंक्तियों का मिलान कीजिये—

"पढ़ो भाई[1] विद्या भला कर्म है ।
करो देश-सेवा यही धर्म है ॥
अगर काम ऐसा न कुछ भी किया ।
वृथा जन्म दुनियाँ में तुमने लिया ॥"—ब्रह्मभट्ट

"समझता हूँ सब कुछ मगर दोस्तो ।
ये दिल है जिधर आ गया आ गया ॥"—'दाग'

छन्दःशास्त्र में प्रस्तार के द्वारा अक्षर-संख्या, अक्षरभेद-संख्या और स्थिति-क्रम-संख्याओं के आधार पर अपेक्षित जाति के छन्दों के संपूर्ण और संभाव्य रूपों अथवा समाहारों का ज्ञान हो जाता है । प्रस्तार की विधियाँ दो ही हैं—(१) वर्णिक प्रस्तार की विधि, (२) मात्रिक प्रस्तार की विधि । हमने इस लेख में कुछ ही छन्दों को दृष्टि-पथ में रखकर तुलना प्रस्तुत की है । यदि प्रस्तार की विधियाँ पूर्ण रूपेण अपनायी जाएँ तो विश्वास है कि और भी बहुत से हिन्दी-उर्दू छन्दों में समानता मिलेगी ।

---

१. वर्ण के नीचे लगा हुआ ‿ ऐसा चिन्ह ह्रस्व स्वर का द्योतक है । यहाँ 'भाई' को 'भाइ' पढ़ा जाएगा ।

३९

तुलसी के काव्य-सिद्धान्त

●

'एक महाकवि अनिवार्यतः एक महान् दार्शनिक होता है'—पाश्चात्य आचार्य कवि कालरिज की यह उक्ति हिन्दी के महाकवि गोस्वामी तुलसीदास पर अक्षरशः चरितार्थ होती है। इस लेख में हम गोस्वामी जी के सम्पूर्ण विचार तत्त्व पर विचार न कर, उसके केवल एक अङ्ग; अर्थात् उनकी काव्य सिद्धान्त विषयक धाराओं का विवेचन ही प्रस्तुत करेंगे।

महाकवि तुलसीदास ने 'मानस' के बालकाण्ड में—

'कबित बिबेक एक नहिं मोरे।
सत्य कहहुँ लिखि कागद कोरे॥'

इन पंक्तियों द्वारा काव्य-सिद्धान्तों से अपनी पूर्ण अनभिज्ञता की घोषणा की है। वस्तुतः यह उक्ति महाकवि की मनोवृत्ति की परिचायक है, जो यूनान के प्रख्यात दार्शनिक अरस्तू ने अपने किसी प्रशंसक को इस प्रश्न के उत्तर में कही थी कि—'आप क्या जानते हैं।' इस पर अरस्तू ने कहा था कि—'मैं इतना जानता हूँ कि मैं कुछ नहीं जानता।' इस प्रकार की उक्तियाँ वस्तुतः विद्या ददाति विनम्र्य' के कथन को ही पुष्ट करती हैं तथा विश्व के महान् कवियों एवं

दार्शनिकों की दिव्य प्रतिभा की द्योतक हैं--क्योंकि वे ज्ञान-विज्ञान की अथाह अतलता से अवगत होते हैं। अमर वैज्ञानिक 'न्यूटन' भी कहा करते थे कि—'वे एक शिशु हैं, जो ज्ञानोदधि के तट पर कंकर एकत्रित करते रहे, वे उसके समीप नहीं पहुँच पाए और उसकी थाह कभी नहीं पा सके।'

इस प्रकार इस प्रसंग में उद्धृत गोस्वामी जी की उक्ति विपरीत लक्षरा द्वारा उनके काव्य-विषयक सद्विवेक का ही सूचक है। तुलसी के दिव्य व्यक्तित्व एवं सजीव कवित्व की दृष्टि से उनका यह स्वकथन महाकवि के सम्बन्ध में भी पूर्णतः सत्य है—

"बरषहिं जलद भूमि नियराये।
यथा नवहिं बुध विद्या पाये॥"

और अन्तःसाक्ष्य के विवेचन से ही इस तथ्य की प्रामाणिकता में किंचित् भी संदेह नहीं रह जाता।

कवि का व्यक्तित्व उसके कवित्व का सूक्ष्म प्रतिरूप होता है। अतः उसकी मान्यताओं का अन्वेषण भी कवि के काव्य में करना ही अधिक प्रामाणिक होगा। अन्तःसाक्ष्य की दृष्टि से इस प्रसंग में गोस्वामी तुलसीदास का गौरव-ग्रन्थ 'मानस' सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी है।

विवेचन की सुविधा की दृष्टि से महाकवि तुलसी के काव्य-सिद्धान्तों को निम्न शीर्षकों में विभक्त किया जा सकता है—

१. काव्य-सृष्टि की प्रतिक्रिया।
२. काव्य के स्वरूपाधायक तथा शोभाधायक तत्त्व।
३. काव्य के वर्ण्य विषय।
४. काव्य के तत्त्व।
५. काव्य की प्रेषणीयता तथा काव्याधिकारी।

इस विवेचन से पूर्व एक तथ्य को स्पष्ट कर देना हम आवश्यक समझते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि गोस्वामी तुलसीदास पर पाश्चात्य विचारकों का लेशमात्र भी प्रभाव नहीं है। किन्तु साथ ही यह भी निर्विवाद है कि मानव-मन एक है और यही कारण है; कि परस्पर सम्पर्क तथा सम्बन्ध न रहने पर पर भी कभी-कभी दो भिन्न देशीय एवं भिन्न कालिक मनीषियों के विचारों और भावों में अद्भुत एवं आश्चर्यजनक साम्य के दर्शन हो जाते हैं।

इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुए ही प्रस्तुत लेख में भारतीय आचार्यों की काव्य-सम्बन्धी मान्यताओं के साथ-साथ पाश्चात्य आचार्यों की तत्सम्बन्धी धारणाओं के सन्दर्भ में भी तुलसीदास को निरखने-परखने का प्रयत्न किया गया है।

काव्य-सृष्टि की प्रक्रिया

प्रक्रिया में तीन प्रधान पक्ष रहते हैं—काव्य-हेतु, काव्य-लक्षण, तथा काव्य-प्रयोजन। अतः महाकवि की तत्सम्बन्धी धारणा के प्रतिपादन के लिए उनके काव्य-हेतु, काव्य-लक्षण तथा काव्य-प्रयोजन सम्बन्धी विचारों का विवेचन वांछनीय है।

काव्य-सृष्टि के लिए प्रथम अनिवार्य तत्त्व काव्य-हेतु है। काव्य-हेतु के सम्बन्ध में भारतीय तथा पाश्चात्य आचार्यों ने अपनी-अपनी दृष्टि से विचार किया है। भारतीय आचार्यों में रुद्रट, दण्डी, वामन, कुन्तक तथा मम्मट आदि आचार्यों के नाम उल्लेखनीय हैं। और आचार्य मम्मट द्वारा प्रतिपादित 'साहित्य-दर्पण' की निम्न पंक्तियाँ काव्य-हेतु सम्बन्धी संस्कृत आचार्यों की मान्यता का प्रतिनिधित्व करती हैं—

'शक्तिर्निपुणता लोक काव्य शास्त्राधवक्षेरणात्।
काव्य च शिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तु दुदभवे।।'

इस प्रकार संस्कृत आचार्यों के अनुसार शक्ति, निपुणता तथा अभ्यास काव्य का हेतु हैं। आचार्य मम्मट ने तीनों को अखण्ड रूप से काव्य-हेतु कहा है :—'पृथक्-पृथक् हेतुर्नतु हेतवः।' आचार्य भामह से जगन्नाथ तक समस्त आचार्यों ने प्रतिभा को काव्य का अनिवार्य एवं सर्वोत्कृष्ट हेतु माना है। आचार्य दण्डी तथा मंगल इस प्रतिनिधि मान्यता का अपवाद हैं। यह प्रतिभा अथवा शक्ति सहज होती है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र की यह प्रसिद्ध उक्ति भी इस तथ्य की सूचक है—'Poets are born not made' अर्थात् कवि जन्म-जात होते हैं, उनका निर्माण नहीं किया जा सकता। किन्तु आचार्य जगन्नाथ के मतानुसार शिक्षा द्वारा इसका अर्जन भी सम्भव है।

काव्य-हेतु के सम्बन्ध में गोस्वामी तुलसीदास की निम्न पंक्तियाँ विचारणीय हैं :—

'संभु प्रसाद सुमति हिय हुलसी।
रामचरित मानस कबि तुलसी।।'

इस अर्द्धाली में तीन पद—'सुमति', 'संभु प्रसाद' तथा 'हुलसी' विचारणीय हैं।

'सुमति' से गोस्वामी का तात्पर्य शक्ति अथवा प्रतिभा से है। आचार्य भट्ट तौत ने भी 'नवनवोन्मेषशालिनी 'प्रज्ञा' को ही 'प्रतिभा' की संज्ञा दी है। इस प्रकार गोस्वामी जी के 'सुमति' शब्द को प्रज्ञा अथवा प्रतिभा का पर्याय मानना समीचीन ही है।

'सुमति हिय' पद से यह ध्वनित होता है कि यह सुमति जन्म-जात होती है और हृदय में अवस्थित यह सुमति संभु प्रसाद से फूलती-फलती है अथवा प्रौढ़ता को प्राप्त होती है। 'हुलसी' शब्द प्रतिभा की प्रौढ़ता का बोधक है। इस प्रौढ़ता के लिए इस जन्म में वांछित संस्कारों की उपलब्धि गोस्वामी जी शिव कृपा का फल समझते हैं।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि गोस्वामी तुलसीदास 'प्रतिभा' को काव्य का अनिवार्य मूलतत्त्व स्वीकार करते हैं। आचार्य मम्मट की भी यही मान्यता है—

'शक्ति कवित्व बीज रूपा संस्कार विशेषः।'

यह प्रतिभा जन्मजात होती है और इस जन्म के संस्कार-विशेष के परिणामस्वरूप प्रौढ़ता को प्राप्त होती है। भट्ट तौत तथा आचार्य कुन्तक ने भी यह स्वीकार किया है।

इस प्रकार प्रतिभा सम्बन्धी गोस्वामी जी की धारणा भारतीय प्रतिनिधि मत के समक्ष ही है।

इस प्रसंग में गोस्वामी जी का एक दूसरा स्थल भी उल्लेखनीय है :—

'हृदय सिन्धु मति सीप समाना,
स्वाति सारद कहहिं सुजाना।
जे बरषहिं बर बारि बिचारन,
होंहि कवित्त मुक्तामणि चारन॥'

इस उदाहरण के 'मति, सारदा, वर-विचारन तथा युक्ति' पद विचारणीय हैं।

'मति' पद प्रतिभा का सूचक है। किन्तु हृदय-सागर में सहज ही विद्यमान मति रूपी यह सीप व्यर्थ है, यदि इसका सम्पर्क सरस्वति रूपी स्वाति से न हो; अर्थात् निपुणता के अभाव में प्रतिभा का समुचित उपयोग सम्भव नहीं है। सद्‌विचारों की वर्षा सत्काव्य के चारुत्व की विधायक है। और इन चारन कवित्त मुक्तामणियों को तरशाने तथा बेधने की युक्तियाँ अभ्यास पर निर्भर करती हैं।

इस प्रकार चारन काव्य अथवा सत्साहित्य की सृष्टि के लिए गोस्वामी जी—शक्ति, निपुणता तथा अभ्यास—तीनों को अनिवार्य मानते हैं। और इन तीनों के संयोग से निष्पन्न काव्य ही सहृदयों का कंठहार हो सकता है।

मोती के जन्म के लिए सीप तथा स्वाति का सम्पर्क अनिवार्य है किन्तु इस प्रक्रिया में सीप अनिवार्यतः मूलाधार है और सापेक्ष महत्व की दृष्टि से स्वाति से किञ्चित अधिक महत्व रखती है। गोस्वामी जी की भी यह स्पष्ट

मान्यता है कि सरस्वति भक्ति के वश में है। वह साध्य है। साधना द्वारा उसे प्राप्त किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में महाकवि की निम्न पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं :—

'भगति हेतु बिधि भवन बिहाई।
सुमिरत सारद आवति धाई ॥

इस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास प्रतिभा को काव्य का अनिवार्य तथा मूल तत्त्व मानते हैं। निपुणता तथा अभ्यास महत्व की दृष्टि से गौण हैं।

इस विवेचन के आधार पर यह निस्संकोच रूप से कहा जा सकता है कि काव्य-हेतु सम्बन्धी गोस्वामी जी की मान्यता प्रतिनिधि संस्कृत आचार्यों की इस मान्यता के सर्वथा अनुरूप ही है कि—'प्रतिभा काव्य का अनिवार्य और निपुणता तथा अभ्यास आवश्यक काव्य हेतु हैं।

काव्य हेतु के सम्बन्ध में पाश्चात्य आचार्यों की तीन कोटियाँ हैं :—

१—अरस्तू, होरेस, हीगेल, तथा क्रोचे आदि विचारक प्रथम कोटि में आते हैं। इन विचारकों ने इस समस्या पर काव्यशास्त्रीय दृष्टि से ही विचार किया है।

२—दूसरी श्रेणी में फ्रायड, ऑडलर तथा युग आदि मनोवैज्ञानिक आते हैं, जिन्होंने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से काव्य हेतु पर विचार किया है।

३—तृतीय कोटि उन दार्शनिकों की है, जिन्होंने इस समस्या पर दार्शनिक दृष्टि से विचार किया है।

यह एक विलक्षणता ही है कि इन तीनों प्रकार की विचारधाराओं की प्रतिनिधि मान्यताओं से मिलते-जुलते संकेत तुलसी-काव्य में भी दृष्टिगत होते हैं।

काव्याचार्य होरेस तथा तुलसी—दोनों ने ही शक्ति, निपुणता तथा अभ्यास को काव्य का हेतु माना है।

आडलर आदि मनोवैज्ञानिकों ने अमुक्त काम, प्रभुत्व कामना, अभावपूर्ति तथा अभिव्यक्ति को काव्य का हेतु कहा है।

गोस्वामी जी के काव्य में भी काव्य-सृष्टि के इन हेतुओं का आभास मिल जाता है। कतिपय उदाहरण प्रस्तुत करना आवश्यक है—

'जे कवित्त नहिं बुद्ध आदरहिं।
ते स्रम वादि बाल कवहिं करहिं ॥'

तथा—

'सब जानत प्रभु प्रभुता सोई।
तदपि कहें बिनु रहा न कोई ॥'

इन दो स्थलों में कवि ने क्रमशः प्रभुत्व कामना तथा अभिव्यक्ति का प्रतिपादन किया है। अमुक्त काम तथा अभाव पूर्ति भी तुलसी के राममय काव्य की एक मूल प्रेरणा रही है, इससे भी इनकार नहीं किया जा सकता। भले ही गोस्वामी जी ने इस काव्य हेतु का पृथक् रूप से सम्भवतः निरूपण न किया हो, किन्तु उनकी ये पंक्तियाँ उनकी हृदयगत इस मान्यता की द्योतक कही जा सकती हैं—

'कामिहि नारि पिआरि जिमि'
लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर,
प्रिय लागहु मोहि राम ॥'

प्लेटो आदि दार्शनिकों के समान गोस्वामी जी ने काव्यहेतु के प्रसंग में 'संभु प्रसाद' तथा 'स्वाति सारद' आदि पदों द्वारा दैवी प्रेरणा का उल्लेख भी किया है।

इस प्रकार काव्य-हेतु सम्बन्धी गोस्वामी जी की मान्यताएँ भारतीय प्रतिनिधि मत के अनुरूप ही हैं। और साथ ही पुरातन तथा नूतन पाश्चात्य धारणाओं से अद्भुत साम्य के संकेत भी उपलब्ध हो जाते हैं। यह साम्य तुलसी काव्य की शाश्वत एवं सार्वभौम जीवन-शक्ति का प्रमाण है।

काव्य-लक्षण

काव्य-लक्षण के सम्बन्ध में गोस्वामी तुलसीदास की निम्न पंक्तियाँ विचारणीय हैं :—

'वर्णानामर्थ संघानां रसानां छन्दसामपि।
मङ्गलानां च कर्तारौ बन्दे वाणी विनायकौ ॥'

इन पंक्तियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि गोस्वामी जी छन्दोबद्ध तथा रसमय शब्दार्थ को ही कविता मानते हैं।

'छन्दोबद्ध रसमय शब्दार्थ ही काव्य है'—यह परिभाषा आचार्य विश्वनाथ की 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' तथा आचार्य जगन्नाथ की परिभाषा 'रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्दः काव्यम्' के लगभग समान ही है। इस प्रकार काव्य-लक्षण सम्बन्धी गोस्वामी जी की धारणा प्रतिनिधि भारतीय मत से भिन्न नहीं है। पद्य के प्राचीन लक्षणों की दृष्टि से छन्द की अनिवार्यता समीचीन ही है। भले ही आज मुक्त छन्द के आलोक में यह धारणा अधिक संगत प्रतीत न हो।

आचार्य राजशेखर ने काव्य को पंचम विधा कहा है और अन्य विधाओं से इसे इस आधार पर पृथक् कहा है कि इसमें शब्द तथा अर्थ—दोनों का महत्व होता है। भारतीय काव्यशास्त्र में इस सम्बन्ध में दो परम्पराएँ रही हैं। प्रथम परम्परा आचार्य भामह, रुद्रट, कुन्तक, मम्मट तथा विश्वनाथ की है, जो शब्दार्थ—दोनों को काव्य मानते हैं। किन्तु आचार्य दण्डी एवं जगन्नाथ के अनुसार काव्य में शब्द तथा अर्थ—दोनों की सत्ता पृथक्-पृथक् है। अतः दोनों को काव्य नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार शब्द तथा अर्थ—दोनों को काव्य मानने से दो काव्य हो जाएँगे। इसलिए शब्द ही काव्य है।

आचार्य कुन्तक ने इन तर्कों का उत्तर देते हुए लिखा है कि—तिल में तेल के समान काव्य में शब्दार्थ—दोनों की स्थिति हैं। लोक व्यवहार में भले ही अर्थ के अनुकूल शब्द का प्रयोग न हो, पर काव्य में यह अनिवार्य है।

आचार्य जगन्नाथ के पक्ष में इन युक्तियों का समाधान इस प्रकार किया जा सकता है कि 'शब्द' काव्य का शरीर है और 'अर्थ' आन्तरिक तत्त्व है। दोनों को एक स्तर पर रखना न्याय संगत नहीं है। और आचार्य जगन्नाथ के काव्य-लक्षण के अनुसार यह शब्द अर्थ रहित नहीं है, क्योंकि रमणीयार्थ इसका अनिवार्य विशेषण है।

इस प्रकार काव्य में शब्द तथा अर्थ की पृथक्-पृथक् भी और अभिन्न भी। गोस्वामी तुलसीदास ने निम्न पंक्तियों में इस तथ्य का प्रतिपादन कर अपने विमल काव्य-विवेक का परिचय दिया —

'गिरा अरथ जल बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।
बन्दऊँ सीता राम पद, जिन्हैं परम प्रिय खिन्न ॥'

जिस प्रकार सुषमामयी सीता आजीवन राम के प्रति अनुकूल रहीं और दोनों के संयोग में ही जीवन-चित्र की सम्पूर्णता हो उसी प्रकार अर्थानुकूल रमणीय शब्द में ही काव्य की पूर्णता है।

तुलसी की काव्य-लक्षण सम्बन्धी मान्यता पाश्चात्य विचारक 'एडगर एलिन पो' के भी समान है। 'पो' का काव्य-लक्षण' "Poetry is the expression of beauty"—पाश्चात्य काव्यशास्त्र का प्रतिनिधि मत है।

तुलसी के रमणीय अर्थ तथा रमणीय शब्द क्रमशः सौन्दर्य (beauty) तथा अभिव्यक्ति (expression) के पर्याय माने जा सकते हैं।

काव्य-प्रयोजन

काव्य-प्रयोजन के सम्बन्ध में मानस के निम्न दो दृष्टान्त उल्लेखनीय हैं :—

(क) 'कीरति भनिति भूति भलि सोई ।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई ॥'

(ख) 'स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा ।'

प्रथम उदाहरण में गोस्वामी जी ने काव्य का प्रयोजन लोकहित माना है। और दूसरे उदाहरण में महाकवि काव्यानन्द का प्रबल पोषक है।

इनमें से किसी एक उदाहरण के आधार पर गोस्वामी जी की काव्य-प्रयोजन सम्बन्धी मान्यता का निर्णय नहीं किया जा सकता। वस्तुतः इन दोनों स्थलों पर गोस्वामी जी ने जो विचार व्यक्त किया है उस पर सम्पूर्ण रूप से विचार करने पर यह स्पष्ट है कि गोस्वामी जी काव्य का प्रयोजन लोक-मंगल भी मानते हैं और आनन्द भी। अब विचारणीय प्रश्न यह है कि कवि ने दोनों में से किसको प्राथमिकता दी है ? इस सम्बन्ध निम्न युक्तियाँ ध्यातव्य हैं :—

१. 'स्वान्तः सुखाय' पंक्ति मंगलाचरण की है।
२. यह पंक्ति लिखते समय कवि प्रत्यक्षतः काव्य-प्रयोजन का उल्लेख करना चाहता था।
३. यह पंक्ति 'कीरति भनिति' के समान वर्णन प्रसंग में आया हुआ कथन नहीं है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि स्वतन्त्र रूप से मंगलाचरण में निरूपित 'स्वान्तः सुखाय' पंक्ति ही कवि की काव्य-प्रयोजन सम्बन्धी धारणा की प्रत्यक्ष द्योतक है और इस आधार पर कहा जा सकता है कि गोस्वामी जी आनन्द को ही काव्य का परम प्रयोजन मानते हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि तुलसी लोकमंगल को काव्य के लिए आवश्यक तत्त्व नहीं समझते। यह एक सर्व विदित तथ्य है कि तुलसी की सम्पूर्ण काव्य-साधना, लोक-मंगल की उपासना है, और इसकी पुष्टि में अनेक स्थल उद्धृत किए जा सकते हैं। और यह भी विचारणीय है कि 'स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा' पंक्ति में कवि ने 'रघुनाथ गाथा' पदों द्वारा लोक-मंगल के अपने मन्तव्य को भी ध्वनित कर दिया है। कवि के ही शब्दों में रघुनाथ की गाथा का लोक-मंगलवादी प्रयोजन स्वयं सिद्ध है :—

"मंगल करनि कलिमल हरनि तुलसी कथा रघुनाथ की।"

इस प्रकार यह निस्संकोच रूप से कहा जा सकता है कि गोस्वामी तुलसीदास की दृष्टि में वही सत्काव्य है, जिसका प्रयोजन लोक-मंगल सापेक्ष आनन्द हो।

महाकवि की मान्यता भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र के प्रतिनिधि मत से सर्वथा साम्य रखती है। भारतीय काव्यशास्त्र में आचार्य मम्मट का मत संस्कृत आचार्यों की मान्यता का प्रतिनिधित्व करता है, जो इस प्रकार है :—

'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परिनिवृत्तये कान्तासम्मितयोपदेश युजे ।।'

इन पंक्तियों में आचार्य ने यश, अर्थ, व्यवहार ज्ञान, आनन्द, लोकहित तथा कान्ता-सम्मत उपदेश को काव्य का प्रयोजन माना है। व्यवहार ज्ञान, लोकहित तथा उपदेश का प्रधान अधिकारी सहृदय है। कवि का प्रमुख प्रयोजन यश और और अर्थ होता है। आनन्द का सम्बन्ध कवि तथा सहृदय-दोनों से रहता है। कवि तथा सहृदय के सम्बन्ध में गोस्वामी जी ने स्पष्टतः उल्लेख किया है कि :—

'भाग छोट अभिलाषु बड़, करउँ एक विस्वास।
पैहहिं सुख सुनि सुजन सब, खल करहहिं उपहास ।।'

तथा— **"साधु समाज भनिति सनमानू"**

इन पंक्तियों को पढ़ते ही अँग्रेजी महाकवि 'पोप' की निम्न उक्ति सहसा स्मरण हो आती है—

"Fame is the last infirmity of noble minds." अर्थात् 'यशोकामना महापुरुषों की अन्तिम दुर्बलता होती है।' इसे वस्तुतः दुर्बलता की अपेक्षा जीवन-शक्ति की संज्ञा देना अधिक संगत होगा।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में काव्य-प्रयोजन सम्बन्धी मान्यताओं को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है।

प्रथम कोटि में शिलर, शेली, स्विनवर्न, वाल्टरपेटर तथा ब्रैडले आदि विचारक आते हैं, जो 'कला कला के लिए' सिद्धान्त के प्रवर्त्तक तथा पोषक हैं।

दूसरी श्रेणी में प्लेटो, रस्किन, एवं टालस्टाय आदि विद्वान् आते हैं, जिनके अनुसार कला का परम प्रयोजन 'लोक-मंगल' है।

तीसरी कोटि के आचार्य अरस्तू, ड्राईडेन, विक्टर कजन, मेथ्यू अर्नल्ड तथा आई० ए० रिचर्ड्स आदि हैं जो आनन्द तथा 'लोक-मंगल'—दोनों को काव्य के लिए अनिवार्य समझते हैं। ये आचार्य समन्वयवादी हैं।

प्रथम कोटि के आचार्य आनन्दवादी अथवा स्वच्छन्दवादी हैं। दूसरी श्रेणी उपयोगितावादी अथवा आभिजात्यवादी विद्वानों की है।

गोस्वामी तुलसीदास की मान्यता अन्तिम कोटि के समन्वयवादी

आचार्यों से साम्य रखती है। इस प्रकार काव्य-प्रयोजन की दृष्टि से भी तुलसी की धारणा संस्कृत तथा पाश्चात्य आचार्यों के प्रतिनिधि मत के अनुरूप ही है।

काव्य के स्वरूपाधायक तथा शोभाधायक तत्त्व

गोस्वामी तुलसीदास संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रचलित तथा प्रख्यात काव्य सम्प्रदायों के स्वरूप तथा महत्व से भली-भाँति परिचित थे। गोस्वामी-तुलसीदास ने रस को काव्य की आत्मा माना है। इस प्रकार वे रसवादियों की परम्परा में आते हैं। महाकवि द्वारा विविध स्थलों पर ऐसे पद प्रयुक्त हुए हैं, जो इस कथन की पुष्टि करते हैं। कतिपय उदाहरण प्रस्तुत करना असंगत न होगा—

'निज कवित्त केहि लाग न नीका।
अरस होउ अथवा फीका॥'

तथा—

'कवित रसिक न राम पद नेहू।
तिह कहँ सुखद दास रस एहू॥'

रस को काव्य का प्राणतत्त्व मानते हुए भी महाकवि ने अन्य काव्य सम्प्रदायों के प्रति यथोचित सम्मान प्रदर्शित किया है। और वे काव्य के सद्-विवेक के लिए सब के ज्ञान तथा उचित प्रयोग के पक्षपाती थे। इस दृष्टि से महाकवि की निम्न पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं।

'आखर अरथ अलंकृत नाना।
छन्द प्रबन्ध अनेक विधाना॥
भाव भेद रसभेद अपारा।
कवित दोष गुन विविध प्रकारा॥
कवित विवेक एक नहिं मोरे।
सत्य कहेउँ लिखि कागद कोरे॥

गोस्वामी तुलसीदास ने काव्य-सृष्टि के लिए चार तत्त्व अनिवार्य माने हैं। ये चार तत्त्व पाश्चात्य काव्याचार्यों द्वारा प्रतिपादित काव्य तत्त्वों (राग, बुद्धि, कल्पना, शैली) से साम्य रखते हैं। इस सम्बन्ध में महाकवि की निम्न पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं :—

हृदय सिन्धु—(राग तत्त्व)
मति (बुद्धि तत्त्व) **सीप समाना।**
स्वाति सारद कहहिं सुजाना,
जे बरषहिं बरवारि विचारन (कल्पना)

होहिं कवित मुक्ता-मणि चारु ।
युक्ति वेधि पुनि पोहिअहिं (शैली तत्त्व)
राम चरित बर ताग ।
पहिरहिं सज्जन विमल उर सोभा अति अनुराग ॥

काव्य का वर्ण्य विषय

गोस्वामी जी के मतानुसार काव्य का प्रतिपाद्य उत्तम होना चाहिए । यह प्रतिपाद्य—बहुजन हिताय एवं स्वान्तःसुखाय हो । सामान्य कोटि के अथवा अति साधारण विषयों पर काव्यसृष्टि दैवी प्रतिभा का दुरुपयोग है । इस सम्बन्ध में महाकवि की स्पष्ट मान्यता है कि—

'कीन्हे प्राकृत जन गुन जाना ।
सिर धुनि गिरा लगत पछिताना ॥

अतः काव्य के लिए यह अनिवार्य है कि उसमें किसी निर्मल तथा दिव्य चरित्र का निरूपण किया जाये जो सहृदय जनों और विद्वानों के आदर का पात्र बनने योग्य हो । गोस्वामी जी इस सम्बन्ध में लिखते हैं कि---

'सरल कवित कीरति विमल, सोई आदरहिं सुजान ।
सहज बयर बिसराई रिपु, जो सुनि करहिं बखान ॥'

इसी कारण गोस्वामी जी ने नाना पुराण निगमागम के सार रूप गुणों की साकार प्रतिमा मर्यादा पुरुषोत्तम रूप का गुणगान किया । और वे ऐसे दिव्य चरित्र से रहित साधारण विषयों पर निर्मित काव्य को एक कौड़ी का भी नहीं समझते—

'भनिति विचित्र सुकवि कृत जोई ।
राम-नाम बिनु सोह न सोई ॥'

और महाकवि का यह विश्वास है कि राम सरीखे निर्मल चरित्रों का निरूपण ही दैवी प्रतिमा के सदुपयोग का एक मात्र उपाय है—

'रामचरित सर बिनु अन्हवाएँ, सो स्रम जाइ न कोटि उपाएँ ।
कवि कोविद अस हृदय विचारी, गावहिं हरिजस कलिमलहारी ।।'

काव्य की प्रेषणीयता तथा काव्य का अधिकारी

अनुभूति और अभिव्यक्ति का सुसामंजस्य ही सत्साहित्य का कसौटी है । कवि के प्रतिपाद्य की प्रेषणीयता के अभाव में काव्य अनर्गल एवं विक्षिप्त का प्रलाप मात्र ही माना जाएगा ।

सहृदय जन ही काव्य के पठन-पाठन के अधिकारी होते हैं, जिनकी संख्या संसार में अधिक नहीं है । महाकवि ने निम्न स्थलों पर अपनी इन्हीं मान्यताओं को वाणी दी है :—

'मनि मानिक मुकुता छवि जैसी।
अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी॥
नृप किरीट तरुनी तनु पाई।
लहहिं सकल सोभा अधिकाई॥
तैसेहिं सुकवि कबित बुध कहहिं।
उपजहिं अनत अनत छवि लहहीं॥'

तथा—

'पहिरहिं सज्जन विमल उर शोभा अति अनुराग।'

गोस्वामी जी के शब्दों में ऐसे सहृदय सज्जन संसार में सीमित संख्य में ही सुलभ हैं—

'सज्जन सकृत सिंधु सम कोई।
देखि पूर विधु बाढ़इ जोई॥'

इस विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जहाँ एक ओर गोस्वामी तुलसीदास जी परम्परागत भारतीय प्रतिनिधि काव्यादर्शों के पोषक रहे हैं, साथ ही पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सन्दर्भ में इनकी मान्यताओं का अभिजात्यवादी तथा स्वच्छन्दतावादी काव्य सिद्धान्त की परम्पराओं विलक्षण साम्य के दर्शन भी होते हैं। काव्य का यह विशद सद्विवेक महाकवि के व्यक्तित्व तथा कवित्व के शाश्वत महत्व का बोधक है। और इस काव्य-विवेक की दृष्टि से राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की इन पंक्तियों की प्रामाणिकता में संदेह होने लगता है—

'राम तुम्हारा चरित्र स्वयं ही काव्य है।
कोई कवि बन जाए सहज संभाव्य है॥'

और इनके स्थान पर गोस्वामी जी के सम्बन्ध में तो 'हरिऔधजी' की निम्न मान्यता ही अक्षरशः सत्य प्रतीत होती है—

'कविता करके तुलसी न लसैं।
कविता ही लसी पा तुलसी की कला॥'

३७

तुलनात्मक अध्ययन की समस्याएँ

•

एकता में अनेकता और अनेकता में एकता का अनुभव करने की मानव की प्रवृत्ति अति प्राचीन है। जीवन की व्यापक सत्ता, अण्ड में ब्रह्माण्ड का अस्तित्व, ज्ञान की अखण्डता, इस विराट विश्व में व्याप्त एक तत्त्व का भास; इन सब पर मानव की आत्मा आकृष्ट होती रही। वही जल है, कभी भाप बना तो कभी बरफ। वही अनन्त तत्त्व है—जो इस सृष्टि के अनेक रूपों में वितरित है। "कस्मै देवाय हविषा विधेम" का प्रश्न उठाने वाली बुद्धि ने देवों की अनेकता में एक आत्मतत्त्व की प्रतिष्ठा करके ही अपनी जिज्ञासा का समाधान किया। अनेकता में एकता ढूँढने की यह प्रवृत्ति भारतीय मन की सहजात प्रवृत्ति है, ऐसा कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है।

विशेष भौगोलिक परिस्थितियों[1] में पला मानसिक संस्कार हमारे

---

1. The geographical contiguity, the uniform physical features, the beauties of nature, the high mountains, as well as the vast seashores, the plains and plateaus though provided different emotional back-grounds of different people living nearby, the builders of culture studied these emotionl backgrounds, made perfect planning for their use, dressed them well, pressed them into service through literature.—Sri Moturi Satynarayana: *'The South India Contribution to Indian Culture'.*

लौकिक आचार को युगों से प्रभावित करता आ रहा है। ज्ञान और अनुभूति के क्षेत्र की सर्वमान्य मान्यताएँ हमें एक समान उत्तराधिकार में मिली हैं, इस सत्य के प्रमाण हमें अपने सभी प्रदेशों के साहित्य, कला, धर्म, नीति, दर्शन, आदि में प्राप्त हो सकते हैं। क्योंकि वे **एक तत्त्व की अनेक टीकाओं के समान** हैं। उनमें जो बाह्य भिन्नता मिलती है वह तत्त्वगत न होकर शैलीगत ही है। राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण जी के शब्दों में कहना चाहें तो 'भाव वही (एक ही) है भाषाओं की पोशाक पहने।' विभिन्न भाषाओं के साहित्य—"एक अखण्ड और विराट सत्य पर विभिन्न दिशाओं से फेंके गए प्रकाश की किरणें हैं।"—(श्रीमती महादेवी वर्मा)। साहित्य जीवन का एकांगी चित्र कदापि प्रस्तुत नहीं करता। उसमें हमें जीवन का समग्र रूप परिलक्षित होता है। अतः समैक्यता भाव का अधिक सामंजस्यपूर्ण उदाहरण उपस्थित करने में साहित्य ही समर्थ है। यदि हिमालय से कन्याकुमारी तक 'भारतीयता' नाम से पहचानी जाने वाली समानता है तो भारतीय भाषाओं के साहित्यों में उस समानता या एकता की प्राण-प्रतिष्ठा है।

किन्तु यदि यह समझा जाए कि यह सांस्कृतिक तारतम्य अनायास घटित है, तो वह भ्रान्त धारणा होगी। 'प्रकृति और जीवन से प्राप्त उदात्त भावना और तत्त्ववाद को हमारे साहित्यकार, कलाकार, साधक, चिन्तक आदि देश के एक छोर से दूसरे छोर तक उसी प्रकार फैलाते रहे हैं जैसे पवन की लहरें धूप-धूम को मन्दिर के अँधेरे कोने से ऊँचे कलश तक पहुँचा आती हैं। यह उन्हीं नदी-पर्वत और रेगिस्तान को बाधा न मानने वाले साधकों के अथक प्रयास का परिणाम है कि अनेक राजनैतिक परिवर्तनों और आक्रमणों की आँधियों के समक्ष भी भारत का सांस्कृतिक जीवन खण्ड-खण्ड होकर बिखरने नहीं पाया।'

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देश में समैक्यता की भावना जागृत हुई थी। किन्तु इधर कुछ समय से यह अनुभव किया जा रहा है कि राजनैतिक दल-बन्दियों के कारण देश की समैक्यता पर कुठाराघात होगा। सन्देह, अविश्वास और भ्रान्त धारणाओं के कारण हम स्वयं अपने पैरों पर कुल्हाड़ी चलाने पर तुले हुए हैं। आज हमें फिर ऐसे विचारकों तथा साहित्यकारों की नितान्त आवश्यकता है जो जीवन में सामंजस्य को उत्पन्न कर, हृदय को हृदय के निकट ला सकें। इस महान् अनुष्ठान के लिए साहित्यिक क्षेत्र में 'आदान-प्रदान' एवं 'तुलनात्मक अध्ययन' की विशेष महत्ता है। आदान-प्रदान द्वारा भारतीय मन की एकता एवं अखण्डता का प्रमाण उपस्थित किया जा सकता है।

साहित्य एवं भाषा के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा, भारतीय के मानसिक विकास का क्रमबद्ध इतिहास प्रस्तुत कर, चिन्तन की एकरूपता का निर्देश किया जा सकता है। इस दृष्टिकोण से, आज की परिस्थितियों में भारत की विभिन्न भाषाओं के मध्य आदान-प्रदान की प्रवृत्ति एवं साहित्य या साहित्यिक प्रवृत्तियों के तुलनात्मक अध्ययन की अनिवार्य आवश्यकता है। राष्ट्रीय समैक्यता की दिशा में प्रयत्नशील विद्वानों का यह कर्त्तव्य है कि वे साहित्यिक आदान-प्रदान तथा तुलनात्मक अध्ययन को प्रोत्साहित करें। भाषा के संकुचित घेरे से 'भारतीयता' को मुक्त रखने का प्रयास करें, तो एक प्रदेश का जीवन दूसरे के लिए अपरिचित न रहे, प्रत्युत अपना-सा लगे। भाषा-भेद से जनित अनेक समस्याओं को हल करने का यह सुन्दर उपाय है।

भारतीय संस्कृति अपने विभिन्न रूपों में-विभिन्न प्रादेशिक विलक्षणताओं के लिए—विभिन्न माध्यमों द्वारा अभिव्यक्त हुई है और होती रहेगी। प्रादेशिक भाषाओं के साहित्यों के तुलनात्मक अध्ययन से एवं पारस्परिक आदान-प्रदान से, भाषा-भेद की ओट में निहित एक तत्त्व—भारतीयता—निखर उठेगा तथा इस पंचरंगी चोली के निर्माण में लगे 'ताना-बाना' का विश्लेषण हो सकेगा। यह निश्चित हो सकेगा कि विभिन्न भारतीय भाषाओं के मनीषियों के—पामर जन के भी चिन्तन की धारा में एक समानता रही है और है। बाह्य प्रभावों से होने पर भारतीय मन एक ही समान प्रतिक्रिया में रत होता है, चाहे वह आक्रान्त कश्मीर स्थित हो कन्याकुमारी में। हिन्दी प्रदेश के कबीर, आन्ध्र प्रान्त के वेमना, कन्नड़ प्रदेश के सर्वज्ञ आदि की रचनाओं के अध्ययन से ऐसा लगता है कि मानो भिन्न-भिन्न भाषाओं में एक ही आत्मा बोल रही हो।

कुछ विद्वान् अनुवाद के कार्य को महत्वपूर्ण नहीं मानते। किन्तु रचना-क्षेत्र में, साहित्यिक विकसनशीलता में, अनुवाद के कार्य की महत्ता को कोई इनकार नहीं कर सकता। साहित्य में अनुवाद का अपना विशिष्ट स्थान है। वह अन्यान्य भाषाओं में प्रचलित नवीन शैलियों का परिचय कराता है और तद्द्वारा साहित्य के भण्डार को समृद्ध बनाता है। भारतीय भाषाओं में पारस्परिक अनुवाद से यह सिद्ध होगा कि विभिन्न भारतीय भाषाभाषियों के चिन्तन की परम्परा एक-सी है।

अनुवाद का कार्य जितना सरल व सुगम माना जाता है, वास्तव में वह उतना ही दुष्कर है। यदि अनुवादक महाशय मूल रचना के साथ न्याय करना चाहता हो, एवं मूल लेखक की आत्मा का सच्चा रूप अन्य भाषा के पाठक के सामने रखना चाहता हो, तो उसे अत्यधिक सतर्कता एवं जागरूकता से काम करना पड़ता है। इस कार्य की सफलता के लिए केवल भाषा परिचय ही

पर्याप्त नहीं है, उक्त दोनों भाषाओं की प्रकृति की अभिज्ञता एवं साहित्यिक पृष्ठ-भूमि का परिज्ञान अनिवार्य है, वरन् अर्थ के अनर्थ होने का भय लगा रहेगा।

अनुवाद के कार्य में सुष्ठु अनुवाद करने से ही अनुवादक का कार्य सम्पूर्ण माना जाएगा किन्तु तुलनात्मक अध्ययन में, दोनों भाषाओं के अन्तर्लीन समानताओं एवं विषमताओं का विश्लेषण कर, कुछ सर्वमान्य सिद्धान्तों को प्रस्तुत करना अभीष्ट होता है। साहित्यिक कृतित्व या साहित्यिक आन्दोलनों का, प्रान्तीय पृष्ठभूमि (Local Background) को ध्यान में रखते हुए, ऐसा अध्ययन हो जिससे कतिपय विश्वजनीन तत्व उभर आएँ, संकुचित परिधियों से मानव-मन को मुक्त होने का मार्ग-संकेत मिले। इस कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए अध्येता को दोनों भाषाओं एवं उनकी साहित्यिक गतिविधियों का पर्याप्त ज्ञान होना चाहिए। भाषाओं की प्रकृति (मुहावरे, कहावतें, पद-प्रयोग, वाक्य-रचना की विलक्षणताएँ आदि) तथा प्रादेशिक वातावरण का सुष्ठु परिचय अत्यन्त आवश्यक है। वैसे अनुसन्धान के कार्य में ही अनुसन्धित्सु की ईमानदारी (sincerety) अनिवार्य तत्त्व है। निर्णयों पर पहुँचने से पहले विस्तृत और गम्भीर अध्ययन कर लेना चाहिए। ऐसा न हो कि सिद्धान्त बना चुकने के बाद उनकी पुष्टि-मात्र का प्रयत्न होने पाए।

तुलना में समानताओं के साथ विषमताओं का भी अध्ययन होना चाहिए। विभिन्नताओं के वैयक्तिक तथा प्रान्तगत मूल कारणों का अध्ययन करना चाहिए। जिन साहित्यिकों की या साहित्यिक विचार-धाराओं की तुलना कर रहे हों, हो सकता है (होता ही है) दोनों हू-ब-हू एक समान न हों। सर्व-शक्तिमान परमेश्वर की सृष्टि में ही कोई भी दो वस्तुएँ एक समान नहीं होतीं। देखा गया है कि प्रायः जुड़वे भी एक-से नहीं होते। अतः अनुसन्धित्सु को समताओं तथा विषमताओं का अध्ययन करते हुए यह प्रमाणित करने का प्रयत्न करना चाहिए कि प्रादेशिक साहित्यों में परिलक्षित होने वाली विचार-धारा की एकरूपता, अखंड भारतीयता का सबल प्रमाण प्रस्तुत करने वाली है। एक साहित्यिक को दूसरे से छोटा या बड़ा अथवा एक से दूसरे को प्रभावित सिद्ध करने की अपेक्षा अनुसन्धित्सु को यह प्रयास करना चाहिए कि ये सब उसी अखंड भारतीयता के विभिन्न रूप मात्र हैं, भिन्न-भिन्न mouth pieces हैं।

तुलनात्मक अध्ययन के लिए लोक-साहित्य उपादेय सामग्री प्रस्तुत करता है। परिष्कृत साहित्य की अपेक्षा लोक-साहित्य ही जनता की विचार-धारा का सच्चा प्रतिबिम्ब माना जा सकता है। अकृत्रिम और सहज प्रवाह-युक्त लोकगीतों में ही किसी जाति या समाज की संस्कृति-सभ्यता, आचार-विचार, मानसिक प्रवृत्तियाँ, अनुभव-अभिरुचियाँ आदि का जीता-जागता चित्र

मिलेगा। अत: भारतीय भाषाओं के लोक-साहित्य के अध्ययन से— इन धूलि-धूसरित मणियों के विश्लेषण से यह तथ्य निखर उठेगा कि—"समस्त भारत एक है, भारतीय लोकगीत अपनी अनेक शैलियों सहित इस तथ्य का समर्थन करते हैं।'—(श्री देवेन्द्र सत्यार्थी)

आन्ध्र के जन-मानस ने 'प्रणय के पावन प्रसाद' से वंचित ऊर्मिला की व्यथाभरी कथा को उपेक्षित न रहने दिया, प्रत्युत् उसे अमर बना दिया।[1] 'ऊर्मिला देवि निद्रा' नामक लोकगीत में उस विरहिणी की दुःखभरी गाथा बड़े ही हृदय-ग्राही ढङ्ग से वर्णित है। मेरा विश्वास है कि भारत की अन्य प्रादेशिक भाषाओं के लोक-गीतो में भी, काव्य की उपेक्षिता नारियों को लेकर इस प्रकार की रचनाएँ अवश्य हुई होंगी।

तेलुगु भाषा के लोकगीतों की—पौराणिक, ऐतिहासिक, अद्भुत एवं करुण रस-प्रधान आदि—हिन्दी के लोकगीतों के साथ तुलना होनी चाहिए।[2]

दक्षिण भारत में उद्भूत होकर भक्ति-आन्दोलन के प्रबल प्रवाह ने हिन्दी साहित्य को किस प्रकार प्रभावित किया, यह किसी से छिपा नहीं है। किन्तु इस भक्तिधारा के विकास में, दोनों क्षेत्रों में एक विशेष अन्तर परिलक्षित होता है जिस पर अभी तक विद्वानों की दृष्टि नहीं गई है। जहाँ हिन्दी साहित्य में निर्गुणधारा के पश्चात् सगुणधारा का अस्तित्व है, वहाँ तेलुगु साहित्य में सगुणधारा के बाद निर्गुणधारा का अस्तित्व है। पोतन्ना, त्यागराजु आदि सगुणोपासक भक्त कवियों के बाद, वेमना जैसे निर्गुणवादी सन्त कवियों का समय आता है। ऐसा क्यों? इस विषय पर गम्भीर अध्ययन हो सकता है, जिससे भक्ति-आन्दोलन की सामाजिक पृष्ठभूमि पर प्रकाश पड़ सकता है।

रचना-शैली, स्वान्तःसुखाय वाली विचार-धारा, समन्वयवाद आदि दृष्टियों से महाभक्त पोतन्ना और तुलसी का, विषय (महाभागवत का अनुवाद) की दृष्टि से पोतन्ना और सूर का, गेयात्मकता और भक्ति के रस पारवश्य के दृष्टिकोण से सूर और त्यागराजु की रचनाओं पर, सुन्दर ढङ्ग से तुलनात्मक अध्ययन हो सकता है।

तेलुगु-साहित्य में त्यागराजु ऐसे प्रतिभा-सम्पन्न महाकवि थे, जिनकी रचनाओं में भाव और सुर की गंगा-जमनी के दर्शन होते हैं। उनकी रचनाओं

---

१. 'निखरे हीरे' (तेलुगु लोकगीतों का गद्य-पद्य अनुवाद)—एम० शेषाचलम एण्ड कं० मछलीपट्टम् द्वारा प्रकाशित।

२. 'तेलुगु का लोकगीत साहित्य—शीर्षक लेख, देखिए 'भारतीय साहित्य' (आगरा) अक्तूबर १९५६।

में संगीत और साहित्य की लहरें होड़ लगाकर प्रवाहित होती रहती हैं। उपास्य के प्रति अनन्य श्रद्धा और विश्वास को लेकर सूर और त्यागय्या ने श्रीकृष्ण और श्रीराम के समक्ष अपने हृदय को खोलकर रख दिया है।

जिस प्रकार सूर की सुन्दर कल्पना एवं विप्रलंभ शृङ्गार का अन्यतम चित्र भ्रमरगीत में मिलता है, उसी प्रकार 'नौका चरित' नामक यक्षगान (दृश्यकाव्य) त्यागराजु की कल्पना-शक्ति, उक्ति-वैचित्र्य और भावप्रवणता का उत्कृष्ट नमूना है। गोपियों की मधुर-भावना को लेकर इस खण्डकाव्य की रचना हुई है।[1] संगीत की साधना को मुक्ति का साधन, परमार्थ का सोपान बनाने वाले त्यागय्या एवं सूरदास भारतीय साहित्य के अमूल्य रत्न हैं।

कबीर और वेमना भारतीय साहित्य के असामान्य एवं अप्रतिम प्रतिभा-शाली व्यक्ति हैं—जिनमें एकसमान फक्कड़पन है, एकसमान अक्कड़पन है। आकृत्रिम भाव और भाषा को लिए दोनों ने समाज की कुरीतियों की पोल खोलकर रख दी है।[2] श्री वारणासि राममूर्ति 'रेणु' एम० ए० ने 'आन्ध्र के कबीर—वेमना' (साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित) शीर्षक पुस्तक में वेमना के चुने हुए पद्यों का सुन्दर हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया है।

कई हजार पदों के कर्त्ता क्षेत्रय्या की तुलना मीराबाई से की जा सकती है।

हिन्दी और तेलुगु क्षेत्रों के भक्ति-आन्दोलन के विकास पर तुलनात्मक ढङ्ग पर सुन्दर अधिनिबन्ध प्रस्तुत किया जा सकता है।

१७ वीं शती से १६ वीं शती तक देशभर में समान परिस्थितियाँ थीं। नैतिक मूल्यों से पतित, केवल कामुक क्रीड़ाओं के वर्णनों से भरपूर काव्यों की रचना के कारण, तेलुगु साहित्य के इतिहास में इस युग को 'ह्रास-युग' कहते हैं। जीवन के प्रति दृष्टिकोण, काव्य-रचना शैली आदि सामान्य प्रवृत्तियों को लेकर, हिन्दी के रीतिकाल तथा तेलुगु ह्रासकाल (दक्षिण आन्ध्रयुग) की तुलना हो सकती है।

आधुनिक काल का प्रारम्भ प्रायः सभी भारतीय भाषाओं में लगभग १८५० के पश्चात् ही प्रारम्भ होता है। इस युग में गद्य का प्रभाव, अनेकानेक गद्य-रचना विधाओं का प्रादुर्भाव हुआ है। भारतेन्दु के समान तेलुगु के आधुनिक

---

१. **'महागायक त्यागराजु'**—साहित्य सन्देश (आगरा), अक्तूबर १६५७।
२. **'तेलुगु के कबीर—वेमन्ना'**—निर्मला (मद्रास), मार्च १६५६।

युग के प्रवर्त्तक श्री कन्दुकूरि वीरेशलिंगम पन्तुलु है।[1] हिन्दी की छायावादी कविता के समान, तेलुगु क्षेत्र में 'भाव कविता' का खूब प्रचार रहा। सन् १९३५ के बाद प्रगतिवादी कविताओं का जोर रहा। आज प्रयोगवाद कविताओं की रचना का प्रचलन है।[2]

द्राविड़ भाषा परिवार से सम्बद्ध होने पर भी, तेलुगु के व्याकरण-ग्रन्थ, सस्कृत के व्याकरण ग्रन्थों के अनुरूप, सूत्र-पद्धति में रचे गए हैं। अतः संस्कृत व्याकरण के आधार पर दोनों भाषाओं के व्याकरणों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा सकता है।

यहाँ बहुत संक्षेप में हिन्दी-तेलुगु साहित्यों के तुलनात्मक अध्ययन की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है। इसी प्रकार अन्य भाषाओं में भी तुलनात्मक अध्यनन प्रस्तुत-किया जा सकता है। चूँकि हिन्दी सारे देश की राष्ट्रभाषा तथा राजभाषा मानी गई है, प्रथमतः प्रत्येक प्रादेशिक भाषा-साहित्य का हिन्दी से तुलना होनी चाहिए, तदनन्तर इन सबके आधार पर 'भारतीय साहित्य के इतिहास' की रचना की नींव डाली जा सकती है। जब शाखाओं का पारस्परिक विश्लेषण होगा तभी वृक्ष का समग्र रूप प्रस्तुत अथवा समग्र अध्ययन प्रस्तुत किया जा सकेगा।

सम्प्रति आज की परिस्थितियों को देखते हुए भारतीय भाषाओं में आदान-प्रदान एवं तुलनात्मक अध्ययन की अत्यन्त आवश्यकता का अनुभव किया जा रहा है। भारत के सांस्कृतिक इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इस महादेश के विभिन्न प्रान्त – आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक तथा साहित्यिक क्षेत्रों में बड़े मनोयोग से परस्पर सहायता करते चले आ रहे हैं, एक-दूसरे की अपूर्णताओं की पूर्ति करते हुए। जीवन के सभी क्षेत्रों में भारत की समग्रता एवं श्रेष्ठता को बनाए रखने का यही एकमात्र उपाय है।

---

१. 'वीरेशलिंगम पन्तुलु'—'युगप्रभात' (केरल)—१६ मार्च १९५९।

२. 'तेलुगु का आधुनिक काव्य-साहित्य'–'आजकल' (दिल्ली), जनवरी ५८।

३८

लोक-साहित्य अथवा जन-साहित्य

●

'लोक-साहित्य' शब्द का प्रयोग अब हिन्दी में स्थिर-सा हो चला है। 'लोक' शब्द अँग्ररेजी 'फोक' के स्थान पर और 'साहित्य' शब्द 'लिटरेचर' के स्थान पर प्रयुक्त होते हैं। साहित्य के साथ यह नवीन विशेषण मुख्यतः यूरोपीय साहित्य के अध्ययन के फलस्वरूप प्राप्त हुआ है। किन्तु जिस श्रेणी के साहित्य का अध्ययन 'लोक-साहित्य' के अन्तर्गत किया जाता है, उसके अर्थ में 'जन-साहित्य' शब्द का प्रयोग अधिक स्वाभाविक तथा सुविधाजनक प्रतीत होता है। अँग्रेजी शब्द 'लिटरेचर' के लिए 'साहित्य' शब्द का प्रयोग करने में कोई सैद्धान्तिक या व्यावहारिक आपत्ति नहीं, किन्तु 'फोक' के लिए 'लोक' शब्द के संकुचित एवं व्यापक—दोनों अर्थों पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है।

कुछ विद्वानों ने 'लोक-साहित्य' और 'जन-साहित्य' में पर्याप्त अन्तर स्थापित करने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार—"जन-साहित्य औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न समाज-व्यवस्था की भूमिका में प्रवेश करने वाले सामान्य जन का साहित्य है। लोक-साहित्य जहाँ जनता के लिए—जनता ही द्वारा रचित साहित्य है, वहाँ जन-साहित्य जनता के लिए—व्यक्ति द्वारा रचित साहित्य है।

लोक-साहित्य में रचयिता व्यक्ति जनसमूह का माध्यम-मात्र है, जबकि जन-साहित्य में रचयिता व्यक्ति का अपना वैशिष्ट्य है·······जन-साहित्य का ढाँचा भी लोक-साहित्य से भिन्न होता है, यह लोक-साहित्य की तरह मौखिक नहीं होता, बल्कि प्रेस द्वारा मुद्रित और प्रकाशित होता है। 'जन-साहित्य' शिष्ट व्यक्ति द्वारा रचा हुआ वह साहित्य है, जो सह-संवेदना के फलस्वरूप सामान्य जन के लिए अभिव्यक्त होता है।"[1]

एक अन्तर और माना गया है—"जन लोक की अपेक्षा अधिक सुगठित और निजी सत्ता के प्रति चैतन्य-समूह है और बहुधा राजनीतिक पृष्ठभूमि के साथ होता है, जन-साहित्य जन-कल्याण के भाव से भी प्रस्तुत किया जाता है, जन को किसी प्रकार की शिक्षा देने वाला भी हो सकता है, जन के अधिकारों और कर्त्तव्यों को भी अभिव्यक्त कर सकता है। यह लोक-साहित्य की भाँति सहज-स्वाभाविक और कर्त्तव्य-भाव से रहित नहीं हो सकता।"[2]

ये विभाजन-रेखाएँ स्पष्ट मालूम नहीं होतीं। औद्योगिक क्रान्ति मानव-सभ्यता के इतिहास में बहुत बाद का विकास है। इसके पूर्व शिकारी, पशु-पालन, कृषि की अवस्थाओं में मनुष्य की रचनाएँ—जनसामान्य की ही रचनाएँ थीं और हैं। उन अवस्थाओं में आदिम जातियों के साथ अपेक्षाकृत विकसित अवस्था के लोग भी सम्मिलित हो सकते हैं, जिनकी परम्पराएँ आज शिष्टवर्ग के साहित्य में भी विद्यमान हैं। उन लोगों में तब इतना पार्थक्य नहीं रहा होगा, जितना औद्योगिक क्रान्ति के उपरान्त 'ग्राम' एवं 'नगर' का अन्तर बढ़ जाने पर हुआ। इसके पूर्व तो एक प्रकार से सभी रचनाओं को जनसामान्य की रचनाएँ कहा जा सकता है। राजनीतिक संगठन के उपरान्त 'ग्राम'-'नगर' का अन्तर बढ़ता गया, साथ ही 'सामान्य' और 'शिष्ट' वर्गों के बीच भी उसी के अनुसार पार्थक्य होता गया, जो मशीन-युग में उभर आया। फलतः जनसामान्य का साहित्य शिष्टवर्ग के साहित्य से अपने मूल रूप में पृथक् होता गया। भारत में ऋग्वेद में अनेक ऋचाएँ जन-सामान्य के भावों को व्यक्त करती थीं, उनके भाव अपनी व्यापकता के कारण कालान्तर में शिष्ट साहित्य में भी मान्य हुए। यही परम्परा संस्कृत, पालि, अपभ्रंश आदि साहित्यों में क्रमशः परिलक्षित होती है। तत्कालीन परिस्थितियों में ऋचाएँ ही थीं। अतः जन-साहित्य को औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न सामाजिक व्यवस्था का परिणाम मानना उचित नहीं।

---

१. **'जनपद'**—खण्ड १, अंक २, पृ० ६३-६४।

२. **'हिन्दी-साहित्य-कोश'**—सं० : डा० धीरेन्द्र वर्मा आदि, पृ० ६९२।

लोक-साहित्य को जनता द्वारा जनता के लिए रचित कहना इस सिद्धान्त पर आधृत है कि समुदाय या जाति उसकी रचना करती है। जैकब ग्रिम की यह मान्यता थी कि लोक-काव्य का निर्माण अपने-आप होता है।[1] स्टेंथल के मतानुसार किसी जाति के समस्त व्यक्ति मिलकर उसकी रचना करते हैं।[2] किन्तु ग्रिम और स्टेंथल के मतों का खण्डन किया जा चुका है। श्लेगल का कहना है कि किसी कविता या गीत का रचयिता कोई-न-कोई अवश्य रहा होगा। जिस प्रकार विशाल भवनों के निर्माण में अनेक व्यक्तियों का सहयोग रहते हुए भी उसमें विशिष्ट कलाकार की उपेक्षा नहीं की जा सकती, उसी प्रकार लोक-रचनाओं में भी अनेक लोक-कवियों का हाथ रहता है। अत्यन्त प्राचीन कविता का भी एक उद्देश्य होता है, अतः उसका सम्बन्ध किसी विशिष्ट कलाकार से होता है।[3]

जनता या व्यक्ति द्वारा रचित होने का प्रश्न उठाना वस्तुतः युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता; क्योंकि इन रचनाओं के मूल में दोनों तत्त्व न्यूनाधिक रूप से विद्यमान रहते हैं। कुछ रचनाओं में यदि मूल रचयिता के व्यक्तित्व की छाप नहीं मिलती, तो कुछ अन्य रचनाओं में उसकी अपनी विशिष्टता बनी भी रहती है। जनता द्वारा निर्माण का तात्पर्य यह नहीं कि सब बैठकर एक साथ रचना करते हैं। व्यक्ति की प्रधानता रहते हुए भी मौखिक परम्परा के कारण उस रचना में अनेक परिवर्तन-परिवर्द्धन होते रहते हैं। लोक-मानस के साथ अभूत-पूर्व ढंग से घुलमिल जाने के कारण अनेक व्यक्ति उसकी वृद्धि में सहयोग देते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि मूल व्यक्ति या उन अन्य व्यक्तियों की निजी विशेषताएँ नहीं रह पातीं और कालान्तर में उस विकास-प्रक्रिया के आधार पर वह रचना जनसामान्य की सम्पत्ति बन जाती है। ये जनसाधारण की रचनाएँ ही हैं, जो 'जन-साहित्य' के अन्तर्गत आती हैं।

विशेष व्यक्तियों द्वारा रचित सामग्री भी इसके अन्तर्गत अवश्य होगी, जो परिस्थितियों के अनुसार मौखिक रूप में परंपरित भी रह सकती है और मुद्रित होकर प्रकाशित भी हो सकती है। ये रचनाएँ उतनी ही लोक-रचनाएँ हैं, जितनी जन-रचनाएँ। घाघ, भड्डरी आदि द्वारा रचित लोकोक्तियाँ, या व्रजमण्डल में 'मदारी' के नाम से प्रचलित ढोला, सनेहीराम के भजन, घासीराम,

---

१. **दास वॉक विस्ते।**

२. **'ओल्ड इंगलिश बैलेड्स'** (भूमिका)—एफ्० बी० गुमेर, पृ० ३६।

३. **वही** (भूमिका), पृ० ५४।

मोहरसिंह आदि द्वारा निर्मित रचनाएँ 'लोक-साहित्य' से किसी प्रकार पृथक् नहीं की जा सकतीं। इनमें सामान्य जन के लिए उपयोगिता है, सह-संवेदना है—इसी आधार पर 'जन-साहित्य' की कोटि में इन्हें नहीं माना जा सकता। 'कबीर' नाम की छाप लगे हुए अनेक दोहे तथा पद लोक-रचनाएँ ही हैं, यद्यपि उनकी गणना अभिजात और परिष्कृत साहित्य में होने लगी है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "सच पूछा जाय, तो कुछ थोड़े-से अपवादों को छोड़कर मध्ययुग के संपूर्ण देशी भाषा के साहित्य को लोक-साहित्य के अन्तर्गत घसीट कर लाया जा सकता है।"[१] स्पष्ट है कि व्यक्ति द्वारा रचित साहित्य भी लोक-साहित्य हो सकता है। लोक-साहित्य या जन-साहित्य तो साहित्य का ऐसा रूप है, जिनमें परंपरित या मौखिक, लिखित या व्यक्ति-विशेष द्वारा निर्मित—दोनों प्रकार की रचनाएँ आ सकती हैं। प्रकाशित होना या अप्रकाशित रहना बाह्य कारणों पर निर्भर करता है, जो इन रचनाओं की विषयवस्तु में अन्तर नहीं उत्पन्न करता।

जन-कल्याण की भावना, शिक्षा देने की प्रवृत्ति-संबंधी भावनाएँ केवल 'जन-साहित्य' में ही नहीं, प्रत्युत तथाकथित 'लोक-साहित्य' में भी होती हैं। शायद ही किसी प्रदेश का लोक-साहित्य ऐसा हो, जिसमें समाज-कल्याण की भावना न हो। उसकी अभिव्यक्ति या कर्त्तव्य-भावना अप्रत्यक्ष रहती है। कोई भी श्रेष्ठ काव्य प्रत्यक्ष नीतिकथन-मात्र नहीं होता। यदि सामाजिक हित और कल्याण की भावना को ही 'जन-साहित्य' की कसौटी माना जाय, तो संभवतः कोई भी रचना लोक-साहित्य के अन्तर्गत नहीं आ सकेगी। जनसाधारण की अभिव्यक्ति सदा स्वाभाविक एवं सरल ही रहती है, उसमें कलात्मकता जितनी अधिक सोद्देश्य आती जायगी, वह जन-साहित्य या लोक-साहित्य के क्षेत्र से उतनी ही बाहर होती जायगी। इस आधार पर भी दोनों को अलग मानना ठीक नहीं।

यह अवश्य है कि 'जन' शब्द राजनीतिक पृष्ठभूमि के साथ सम्बद्ध किये जाने पर एक विशेष अर्थ देने लगा है, जिसमें वर्गचेतना की भावना प्रमुख है। बात यह है कि वर्त्तमान समय में राजनीतिक दलों ने इस शब्द का एक प्रकार से दुरुपयोग किया है, जिसमें प्रगतिशील साहित्य को ही कुछ लोग 'जन-साहित्य' समझने लगे हैं, किन्तु यह एक भूल है। साहित्य जिस प्रकार का भी हो, उसकी रूपरेखा भावों द्वारा निश्चित होती है। वर्ग-चेतना या जातीय

---

१. 'जनपद'—खण्ड १, अंक १, पृ० ७१।

संगठन की भावना इसलिए संभवतः आई कि कुछ देशों में इस साहित्य के सामाजिक, ऐतिहासिक या राजनीतिक रूप से अध्ययन करने पर अधिक महत्त्व दिया गया तथा अनेक क्रान्तिकारी कवियों ने इसके द्वारा प्रेरणा ग्रहण की। रूस के प्रसिद्ध लोकविद् वाई० एम्० सोकोलव ने लोकवार्त्ता के सैद्धान्तिक पक्ष का विवेचन करते हुए उसे अतीत की प्रतिध्वनि मानने के साथ-साथ वर्त्तमान का शक्तिशाली स्वर माना है। लोकवार्त्ता उनकी दृष्टि से वर्ग-संघर्ष का अस्त्र रही है और आज भी है। गोर्की ने सन् १९३४ ई० में सोवियत लेखकों की अखिल देशीय सभा में विशिष रूप से कहा था कि मानव-समाज के श्रम-सम्बन्धी कार्यों से मौखिक काव्य का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है तथा लोकवार्त्ता इसी सम्बन्ध के कारण साधारणीकरण की शक्ति का गहरा और स्पष्ट चित्र खींचने में सफल रही है। इसी प्रकार लेनिन की धारणा थी कि इन गीतों में जनसाधारण की आशा-आकांक्षा की झाँकी लक्षित हो सकती है; किन्तु यह तभी सम्भव है, जब इनका अध्ययन सामाजिक-राजनीतिक दृष्टिकोण से किया जाय।[1]

वस्तुतः यही दृष्टिकोण था, जिसके आधार पर 'जन' शब्द को एक विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त किया जाने लगा। रूस और चीन की पत्रिकाओं में जनसाधारण के लिए 'पीपुल्स' शब्द का ही मुख्यतः प्रयोग किया जाता है, जो उनके समाज में सामंती एवं पूँजीवादी-वर्ग से एक पृथक् वर्ग का सूचक है। इस वर्ग में कृषक, मजदूर तथा अन्य श्रमिक आते हैं।

प्रत्येक प्रकार का साहित्य 'जन-साहित्य' नहीं हो सकता। 'जन-साहित्य' बनने के लिए समाज की आत्मा से तादात्म्य स्थापित करना पड़ता है। यही स्थिति 'लोक-साहित्य' के साथ है। दोनों के मूल्यांकन का आधार एक ही है। तथ्य यह है कि अँग्रेजी 'फोक' शब्द के साथ संबद्ध किये जाने पर 'लोक' शब्द की जो स्थिति हुई, वास्तव में वही एक विशिष्ट अर्थ के कारण यूरोपीय 'पीपुल्स' शब्द के साथ जोड़ने पर 'जन' शब्द की भी हुई, जबकि 'लोक' और 'जन' शब्दों में ऐसा कोई अन्तर नहीं प्रतीत होता।

'जन' शब्द का सामान्य अर्थ ग्रहण करना ही उपयुक्त है, जो विशिष्ट वर्ग से फिर भी पार्थक्य रखता है। 'साहित्य' के साथ यह विशेषता लगाने पर 'जन-साहित्य' उन समस्त परम्परित, मौखिक तथा लिखित रचनाओं की समष्टि कहा जा सकता है, जो किसी एक व्यक्ति या अनेक व्यक्तियों द्वारा

---

१. **'लोकगीतों की सामाजिक व्याख्या'**—श्रीकृष्णदास, पृ० २०९-२१६।

यहाँ यह बात स्पष्टतया समझ लेनी चाहिए कि जहाँ तक इस विज्ञान से सम्बन्ध है, हिन्दी में **'विज्ञान'** एवं **'शास्त्र'**—दोनों शब्द पर्याय रूप में ही प्रयुक्त हुए हैं। इस प्रकार 'भाषाविज्ञान' तथा 'भाषाशास्त्र' एवं 'तुलनात्मक भाषा-विज्ञान' और 'तुलनात्मक भाषाशास्त्र' में कोई अन्तर नहीं है। ठीक इसी पर्याय रूप में, किसी समय में, यूरोप में 'फिलॉलोजी' तथा 'लिंग्विस्टिक' शब्द भी लिए गये थे। इनमें 'फिलॉलोजी' का व्यवहार विशेष रूप से इंगलैंड के भाषाविद् करते थे।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् अमरीका के अनेक भाषाशास्त्रियों—**बो-आज, सापियर**, तथा **ब्लूमफील्ड** आदि—ने भाषा के अध्ययन-मार्ग में नवीन मोड़ दी। इन प्रसिद्ध भाषाशास्त्रियों ने जीवित भाषा या बोली के अध्ययन पर अधिक बल दिया। इसी कारण से यहाँ 'भाषाविज्ञान' (Philology) तथा 'भाषाशास्त्र' (Linguistics) दो पृथक विषय बन गये। आज तो ये दोनों शब्द भिन्न रूप एवं अर्थ में प्रयुक्त किए जाने लगे हैं। अमरीका में 'फिलॉलोजी' (भाषाविज्ञान) शब्द का व्यवहार प्राचीन भाषा तथा साहित्य एवं शिलालेखों की भाषा के अध्ययन के सन्दर्भ में किया जाता है। दूसरे शब्दों में भाषाविज्ञान के अन्तर्गत प्राचीन भाषा-सामग्री का विश्लेषण किया जाता है, और लिंग्युस्टिक्स (भाषाशास्त्र) के अन्तर्गत आधुनिक जीवित भाषाओं एवं बोलियों का अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है। इसके अन्तर्गत केवल कथ्य भाषा की ही व्याख्या की जाती है। साहित्य की लिखित भाषा-सामग्री की व्याख्या प्रस्तुत करना इस विषय की सीमा के बाहर है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि लिंग्युस्टिक्स भाषा का यथातथ्य रूप अध्ययन करता है, आदर्श रूप नहीं।

आज हिन्दी में भी 'फिलॉलोजी' तथा 'लिंग्युस्टिक्स' के लिए पृथक्-पृथक् शब्दों की आवश्यकता है। उपर्युक्त अमरीकी भाषाशास्त्रियों के दृष्टिकोण के आधार पर ही हिन्दी में भी क्रमशः 'भाषाविज्ञान' तथा 'भाषाशास्त्र' शब्द व्यवहृत किये जाने लगे हैं। इस प्रकार आज हिन्दी में भी ये दोनों पर्याय रूप में व्यवहृत न होकर भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त किये जाने लगे हैं।

१.१४—भाषाशास्त्र के विभिन्न रूप

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं—भाषाशास्त्र के अन्तर्गत भाषा का सामान्य अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है। भाषा का भी वैज्ञानिक विश्लेषण कई रूपों में किया जा सकता है। आधुनिकतम भाषाशास्त्र के अन्तर्गत किसी भाषा का वैज्ञानिक विश्लेषण निम्नलिखित रूपों में किया जाता है—(१) **वर्णनात्मक,**

(२) **समकालिक**, (३) **ऐतिहासिक**, (४) **तुलनात्मक** तथा (५) **गठनात्मक**।

इन उपर्युक्त विश्लेषण-पद्धतियों को मोटे-तौर पर हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) समकालिक, और (२) ऐतिहासिक।

इन दोनों के भेद-प्रभेदों को समझ लेना बहुत आवश्यक है, क्योंकि इनको भली-भाँति समझे बिना अनेक अशुद्धियों की सम्भावनाएँ हैं।

समकालिक (Synchronic) इस शब्द का प्रयोग अन्य सामाजिक शास्त्रों के सन्दर्भ में भी होता है। **नृ-विज्ञान** के सन्दर्भ में तो इसका तात्पर्य किसी विशेष समय के कार्यों अथवा समस्याओं से होता है। दूसरे शब्दों में इतिहास से इसका कोई सम्पर्क एवं सम्बन्ध नहीं होता है।

ऐतिहासिक (Diachronic) शब्द भी समकालिक की ही भाँति अन्य शास्त्रों के सन्दर्भ में प्रयुक्त किया जाता है। वहाँ इसका अर्थ 'समय द्वारा उद्‌भूत परिवर्तन की समस्याओं का अध्ययन करना' होता है।

भाषाशास्त्र के सन्दर्भ में भाषा का अध्ययन करते समय उसके समकालिक स्वरूप को **'वर्णनात्मक भाषाशास्त्र या व्याख्यात्मक भाषाशास्त्र'** नाम से अभिहित किया जाता है तथा उसके ऐतिहासिक सन्दर्भ के अध्ययन को ऐतिहासिक भाषाशास्त्र के नाम से अभिहित करते हैं। 'ऐतिहासिक भाषा-शास्त्र'—नामकरण सर्वथा शुद्ध एवं मान्य है क्योंकि कोई भी इतिहास समय से सम्बन्धित परिवर्तनों का वर्णन करता है। किन्तु 'वर्णनात्मक भाषाशास्त्र' नामकरण अपेक्षाकृत कम मान्य है, क्योंकि परिभाषत: भाषाशास्त्र के समस्त स्वरूप एवं विश्लेषण मूलतः वर्णनामक होते हैं। इसीलिए 'वर्णनात्मक' नाम-करण से भ्रम की अनेक सम्भावनाएँ हैं। इसके लिए 'समकालिक भाषाशास्त्र' नामकरण अधिक उपयुक्त है। इसके सम्बन्ध में आगे विचार किया जायगा।

१.१५—समकालिक

भाषाशास्त्र के इस स्वरूप के अन्तर्गत जीवित बोलियों का अध्ययन किया जाता है। इसकी अध्ययन पद्धति पूर्णतया विवरणात्मक (व्याख्यात्मक) होती है, इसीलिये अनेक भाषाशास्त्री वर्णनात्मक को समकालिक के पर्याय के रूप में ग्रहण करने के पक्ष में हैं। भाषाशास्त्र के इस स्वरूप का अध्ययन अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसी के आधार पर भाषा का ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक अध्ययन सम्भव है। वस्तुस्थिति यह है कि जब तक हम किसी भाषा-विशेष की विभिन्न अवस्थाओं से परिचित न हों जायँ तब तक उसका ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक अध्ययन किया ही नहीं जा सकता।

समकालिक भाषाशास्त्र के अध्ययन का उद्भव ग्रीस, रोम एवं भारत में हुआ था। यहाँ पर भाषा के अध्ययन में ऐतिहासिक पक्ष पर बल न देकर उसके विवरणात्मक अथवा समकालिक पक्ष पर ही ध्यान केन्द्रित करके भाषाओं का अध्ययन किया गया था। **थ्रैक्स**, **डिस्कोलस** एवं **हरोडियन** आदि ग्रीक वैयाकरणों ने ग्रीक भाषा का विवरणात्मक व्याकरण प्रस्तुत किया था।

भाषा के अध्ययन क्षेत्र में भारत ने ईसा की पाँचवीं शताब्दि पूर्व में एक अद्भुत एवं चिरस्मरणीय दिशा की ओर मोड़ दिया। यह अध्ययन ग्रीक भाषाशास्त्रियों में सर्वथा भिन्न एवं मौलिक था। महर्षि **पाणिनि** ने भाषा का अध्ययन पूर्णतया वर्णनात्मक रूप में प्रस्तुत करके, विश्व के भाषा-अध्ययन में अपना नाम अमर कर दिया। आधुनिक युग में आज भी **पाणिनि** के समकक्ष का कोई भी विवरणात्मक भाषा-अध्ययन नहीं रखा जा सकता। उन्हीं की पद्धति का अनुसरण आज अमरीका के भाषाशास्त्री कर रहे हैं। महर्षि पाणिनि के अतिरिक्त भाषा के अध्ययन-मार्ग को प्रशस्त करने वालों में **कात्यायन** तथा **पतंजलि** का नाम चिरस्मरणीय रहेगा।

आधुनिक युग में वर्णनात्मक भाषाशास्त्र का अध्ययन वस्तुतः १९वीं शताब्दि से प्रारम्भ होता है। २०वीं शताब्दि के प्रथम चरण में 'भाषा' की आधारभूत एवं महत्वपूर्ण इकाई **'ध्वनिग्राम'** को मान्यता मिली। अमरीका के प्रसिद्ध भाषाशास्त्री **ब्लूमफील्ड** की पुस्तक **'लैंग्वेज'** (१९३२) के प्रकाशन से वर्णनात्मक भाषाशास्त्र अपनी यथार्थ विकास की दिशा की ओर उन्मुख हुआ जिसकी परिणति **'हैरिस'** के महान ग्रन्थ **'मेथड्स इन स्ट्रक्चरल लिंग्युस्टिक्स'** में वर्णित भाषा-पद्धति में हुई।

१.१६—ऐतिहासिक भाषाशास्त्र

किसी भाषा की विभिन्न अवस्थाओं का जब हम काल-क्रमानुसार अध्ययन करते हैं तो अध्ययन का यह स्वरूप ऐतिहासिक भाषाशास्त्र के अन्तर्गत आता है। संसार में एकमात्र सत्य, परिवर्तन है। कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो कि सर्वदा एक रूपमय रहे। भाषा के विषय में भी यह कहा जा सकता है। काल-क्रमानुसार एक स्थान की भाषा भी परिवर्तित होती रहती है। यह परिवर्तन भाषा में निरन्तर होता रहता है, भले ही उसको जानना कठिन हो। एक अवधि के पश्चात् यही अन्तर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। भाषा के इस परिवर्तन को 'भाषा-विकास' के नाम से अभिहित किया जाता है। इस विकास-अवस्था का वर्णन प्रस्तुत करना ऐतिहासिक भाषाशास्त्र के अन्तर्गत आता है।

ऐतिहासिक भाषाशास्त्र का प्रारम्भ उस समय हुआ था जबकि योरोप वालों को संस्कृत का ज्ञान हुआ। उन्होंने देखा कि ग्रीक, लैटिन आदि का संस्कृत से घनिष्ठ सम्बन्ध है। आज तक इस क्षेत्र में बहुत अधिक कार्य हुआ है। इस विषय को आगे 'भाषा-विकास की अवस्थाएँ' नामक प्रकरण में विस्तार से प्रस्तुत किया जायगा।

१.१७—तुलनात्मक भाषाशास्त्र

इस भाषाशास्त्र के अन्तर्गत दो या दो से अधिक भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है। इसी आधार पर भाषा अध्ययन के इस शास्त्र को 'तुलनात्मक भाषाशास्त्र' के नाम से अभिहित किया जाता है। यह अध्ययन समकालिक एवं ऐतिहासिक भाषा-सामग्री के आधार पर प्रस्तुत किया जा सकता है। कहने का तत्पर्य यह कि इस शास्त्र के अन्तर्गत एक ही समय की कम से कम दो भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन अथवा एक ही भाषा के विभिन्न कालों की सामग्री का अध्ययन प्रस्तुत किया जा सकता है। इस अध्ययन के आधार पर ही भाषाओं के बीच वंशानुगत अथवा पारिवारिक सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। ऐतिहासिक भाषाशास्त्र के लिए यह आवश्यक सा है। इसी की सहायता से ही ऐतिहासिक विकास की अनेक धूमिल एवं अस्पष्ट कड़ियों को स्पष्ट किया जा सकता है। बिना इसकी सहायता से ऐतिहासिक अध्ययन का प्रस्तुत करना सम्भव ही नहीं है। इसीलिए बहुत दिनों तक भाषाविज्ञान के लिए 'तुलनात्मक भाषाविज्ञान' का नाम पर्याय रूप में प्रचलित रहा है। किन्तु आजकल इसको पृथक् शास्त्र ही माना जाता है, क्योंकि इस शास्त्र की अपनी विशेष **'टेकनीक'** है।

१.१८—गठनात्मक भाषाशास्त्र

इधर जब से **'जैलिग हैरिस'** की पुस्तक **'मैथेड्स इन स्ट्रक्चरल लिंग्वुस्टिक्स'** प्रकाश में आयी है, एक अन्य भाषाशास्त्र का नाम लिया जाने लगा है। इसे आधुनिक भाषाशास्त्री 'गठनात्मक-भाषाशास्त्र' के नाम से पुकारते हैं। वस्तुतः इसको भाषा के अध्ययन का 'गणित' कहा जा सकता है। इसे विवरणात्मक भाषाशास्त्र के अन्तर्गत ही लिया जा सकता है किन्तु इसकी कुछ नवीन 'टेकनीक' के कारण इसे भी एक शास्त्र के नाम से अभिहित करने लगे हैं। इसके नियम गणित के समान ही सार्वभौम हों—इसके लिए आज भी अमरीका के भाषाशास्त्री लगे हुए हैं। उनका स्वप्न उस समय साकार हो उठेगा जबकि एक यन्त्र के द्वारा संसार की किसी भी भाषा को विश्व की अन्य किसी भाषा में अनूदित किया जा सकेगा तथा यन्त्र के द्वारा ही भाषाओं का

व्याकरण भी लिखा जाने लगेगा। वह समय वस्तुतः भाषा के अध्ययन के चरम उत्कर्ष का होगा।

१·१९—भाषाशास्त्र की शाखाएँ

वस्तुतः भाषाविद् का कार्य संसार की भाषाओं एवं बोलियों का अध्ययन प्रस्तुत करना है। भाषा का अध्ययन चाहे वह वर्णनात्मक, ऐतिहासिक अथवा तुलनात्मक हो, उसे विश्लेषणात्मक रूप में ही प्रस्तुत करना पड़ता है। यदि हम भाषा का अध्ययन करना चाहें तो ज्ञात होगा कि वह वाक्यों का समूह है। वाक्यों का अध्ययन करें तो ज्ञात होगा कि वह कुछ सार्थक शब्दों का समूह है। इन सार्थक शब्दों का विश्लेषण करें तो **'ध्वनिग्राम'** की प्राप्ति होती है जिनका अन्तिम विश्लेषण 'ध्वनि' रूप में किया जा सकता है। भाषा एक मिश्रित प्रणाली है। भाषा रूपी मकान का ढाँचा कई पृथक् किन्तु फिर भी एक वस्तु रूप से निर्मित होता है। किसी भी भाषा का अध्ययन सुगमता के लिए इन्हीं चार वस्तुओं—ध्वनि, ध्वनिग्राम, पद, वाक्य—के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। इसीलिए इसको भाषाशास्त्री, **ध्वनिशास्त्र ध्वनिग्रामशास्त्र, पदरचनाशास्त्र** तथा **वाक्यरचनाशास्त्र** कहते हैं। इन चारों से भाषा का कार्य अर्थ-उद्बोधन होता है। अतः उसको **अर्थउद्बोधनशास्त्र** के नाम से अभिहित किया जाता है। ये समस्त शाखाएँ एक दूसरे से पृथक् किन्तु फिर भी सम्बन्धित होती हैं। यहाँ पर संक्षेप में प्रत्येक शाखा का अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।

१·२०—ध्वनिशास्त्र

इस शाखा के अन्तर्गत **वाग्ध्वनियों** का अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है। भाषा के निर्माण में **ध्वनि** को आधारभूत सामग्री कहा जा सकता है। इसीलिए इस शाखा को बहुत अधिक महत्व दिया जाता है। जितना विस्तृत, विशद् एवं वैज्ञानिक अध्ययन इस शाखा का किया जा रहा है उतना किसी अन्य शाखा का नहीं। इसकी अनेक शाखाएँ हैं जिनमें **'ध्वनि लहरी-शाखा'** का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

सामान्यतः इस शाखा के अन्तर्गत किसी भाषा की ध्वनियों का अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है। ध्वनियों को दो वर्गों में—**स्वर एवं व्यंजन-रूप—में** अध्ययन करने के अतिरिक्त इस शाखा के अन्तर्गत ध्वनियों के अन्य गुणों—**बलाघात, सुर, लहर, मात्रा**—का भी विवेचन किया जाता है।

१.२१—ध्वनिग्रामशास्त्र

यह भाषाशास्त्र की वह शाखा है जिसके अन्तर्गत किसी भी भाषा के सार्थक तत्वों—ध्वनिग्रामों—का अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है। वस्तुतः किसी भाषा की **न्यूनतम सार्थ इकाई** ध्वनि न होकर ध्वनिग्राम ही होते हैं जिनको **ध्वन्यात्मक समानता तथा परिपूरक वितरण** के आधार पर छाँटा जाता है।

इस शाखा के अन्तर्गत ध्वनिग्रामों के क्रम तथा उनके वितरण आदि अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है। इस शाखा का पृथक् अस्तित्व बीसवीं शताब्दि से ही माना जाने लगा है। इसके पूर्व ध्वनिविज्ञान के अन्तर्गत ही इसका भी अध्ययन प्रस्तुत किया जाता था।

१.२२—पद-रचनाशास्त्र

यह भाषाशास्त्र की वह शाखा है जिसके अन्तर्गत **पदग्रामों** को छाँटने की विधि, उनका शब्दों में क्रम, गठन एवं विभिन्न व्याकरणीय रूपों में परिवर्तित रूप का अध्ययन किया जाता है।

१.२३—वाक्य-रचनाशास्त्र

इस शाखा के अन्तर्गत शब्दों का वाक्यों में प्रयोग एवं उनके द्वारा विभिन्न प्रकार के निर्मित रूपों (वाक्यों) का अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है।

पद-रचना एवं वाक्य-रचनाशास्त्र का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है क्योंकि किसी भाषा के गठन सम्बन्धी रूप-वाक्यरचना पद्धति पर निर्भर करते हैं। इसी लिए पद-रचना एवं वाक्य-रचना—इन दोनों का अध्ययन साथ-साथ किया जाता है। कभी-कभी इनका अध्ययन एक ही शाखा के अन्तर्गत प्रस्तुत किया जाता है। संसार की ऐसी अनेक भाषाएँ हैं जिनका कि अध्ययन करते समय उसमें **पदरचना-पद्धति** तथा **वाक्यरचना-पद्धति** के मध्य किसी विभाजक रेखा को खींचना कठिन हो जाता है।

इस शाखा का अध्ययन स्वतंत्र रूप से अभी अधिक नहीं हो पाया है। हिन्दी क्षेत्र में तो इसका अध्ययन अभी अछूता सा है।

१.२४—अर्थउद्‌बोधनशास्त्र (Semantics)

इस शाखा के अन्तर्गत 'वाक्य' द्वारा उद्‌बोधित अर्थ का अध्ययन होता है। वस्तुतः उपर्युक्त रूपों—**ध्वनि, ध्वनिग्राम, पदग्राम, वाक्य**—का महत्व उसी समय होता है जबकि उनसे एक अर्थ प्रकट हो। अतः इस अर्थ का अध्ययन करना आवश्यक है। भाषाशास्त्र की जिस शाखा में 'अर्थ' पर विचार किया जाता है उसे 'अर्थउद्‌बोधनशास्त्र' कहते हैं।

किसी भी शब्द या वाक्य का सर्वदा एक ही अर्थ नहीं रहता। समय के साथ-साथ अर्थ में भी परिवर्तन होता रहता है, इसीलिए आधुनिक भाषाशास्त्री इस शाखा को विशेष महत्व नहीं देते।

इन शाखाओं के अतिरिक्त भाषाशास्त्र की कुछ अन्य गौण शाखाएँ भी मानी जाती हैं जिनमें—**सन्धि-विचारशास्त्र** तथा **कोश-रचनाशास्त्र** मुख्य हैं। कुछ लोग **व्युत्पत्तिशास्त्र** को भी एक स्वतंत्र शाखा मानते हैं।

१.२५—सन्धि-विचारशास्त्र

कभी-कभी दो पदों के सन्निकर्ष में आने पर उनके **ध्वनिग्रामीय** आकारों में परिवर्तन हो जाता है। इस प्रकार के ध्वनिग्रामीय परिवर्तित रूपों का अध्ययन प्रस्तुत करने वाली शाखा 'सन्धिविचारशास्त्र' कहलाती है। वस्तुतः इस शाखा का अध्ययन पहले **'रूपरचनाशास्त्र'** के अन्तर्गत ही किया जाता था, किन्त आधुनिक भाषाशास्त्री सर्वथा पृथक् रूप में इसका अध्ययन प्रस्तुत करने लगे हैं; अतः इसे पृथक् शाखा का नाम ही दे दिया गया है।

१.२६—कोश-रचनाशास्त्र

इस शाखा के अन्तर्गत भाषा-पद्धति के समस्त **अर्थवान् तत्वों को वर्णों** के अनुसार सूचीबद्ध किया जाता है। इस शाखा के अन्तर्गत आजकल परम्परागत कोशों की तरह केवल शब्दों की ही नहीं, पदग्रामों को भी सूचीबद्ध किया जाता है।

इसके अन्तर्गत किसी भाषा के बलाघात एवं सुर-लहर के ढाँचे का भी अध्ययन करना चाहिए—चाहे वह अर्थतत्व के साथ हो अथवा उसके प्रतिबन्धित अर्थ रहित।

इस शाखा को एक प्रकार से **अर्थविज्ञान** के अन्तर्गत रखा जा सकता है, यद्यपि इसकी अपनी 'टेकनीक' है।

४०

ध्वनि-ग्राम-शास्त्र तथा पद-ग्राम-शास्त्र

●

१. ध्वनि-ग्राम-शास्त्र

ध्वनि-ग्राम-शास्त्र के अन्तर्गत हम किसी विशिष्ट भाषा की महत्त्वपूर्ण, सार्थक अथवा व्यवच्छेदक वाग्ध्वनियों का वर्णन करते हैं। ध्वनिशास्त्र तथा ध्वनिग्राम-शास्त्र में अन्तर है। ध्वनिशास्त्र में मानव की वागेन्द्रिय द्वारा उत्पादित हो सकने वाले समस्त स्वरों अथवा ध्वनियों का अध्ययन किया जाता है। ध्वनिशास्त्री किसी विशिष्ट भाषा की नहीं, अपितु भाषा मात्र की ध्वनियों का अध्ययन करता है। ध्वनिग्रामशास्त्री के अध्ययन का क्षेत्र किसी विशिष्ट भाषा की केवल अर्थभेदक शक्ति रखने वाली ध्वनियों तक सीमित होता है। दूसरे शब्दों में ध्वनिग्रामशास्त्री परिपूरक वितरण अथवा मुक्त वितरण में आयी हुई ध्वनियों को ध्वनिग्राम-रूप में गठित करता है और इन ध्वनिग्रामों का अध्ययन करता है। ये ध्वनिग्राम एक-दूसरे से व्यतिरेकी वितरण में होते हैं, इसी कारण परस्पर अर्थभेदक होते हैं।

२. स्वन-वाग्ध्वनि एवं ध्वनिग्राम

मानव वागेन्द्रियों द्वारा स्वेच्छापूर्वक उत्पादित "कुछ निश्चित श्रौत प्रभावों से युक्त ध्वनियाँ ही **वाग्ध्वनियाँ** हैं।"

भाषाशास्त्र का यह सिद्धान्त है कि कोई भी वक्ता किसी भी ध्वनि को प्रत्येक दूसरी बार यत्किंचित् भिन्न रूप में उच्चरित करता है। वाग्ध्वनि का प्रत्येक उच्चार एक **स्वन** है। वस्तुतः एक ध्वनि का जितने वक्ता जितनी बार उच्चार करेंगे, वे उच्चार उतनी ही बार भिन्न-भिन्न स्वन होंगे। इस प्रकार प्रत्येक वक्ता असंख्य एवं अपरिमित स्वनों का उच्चारण करता है। वागेन्द्रिय द्वारा उत्पादित साम्य एवं वैषम्य तथा वातावरण के श्रौत प्रभावों के आधार पर ध्वनिशास्त्री अपरिमित स्वनों को परिमित समूहों में वर्गीकृत करता है जिसका प्रत्येक सदस्य उस भाषा की एक **ध्वनि** होती है। किसी भाषा के अन्तर्गत प्रत्येक ध्वनि व्यतिरेकी नहीं होती। ध्वनियों के वितरण के आधार पर ध्वनिग्रामों का निर्धारण होता है। "**ध्वनिग्राम** ध्वनियों का समूह है। समूह के सदस्य **सहस्वन** कहलाते हैं।" एक ध्वनिग्राम के जितने सदस्य होते हैं वे एक-दूसरे से परिपूरक वितरण या मुक्त वितरण में वितरित होते हैं। कुछ भाषाशास्त्री यह भी मानते हैं कि इनमें ध्वन्यात्मक समानता का कोई गुण भी होना चाहिए। इस प्रकार ध्वनिग्राम ध्वन्यात्मक दृष्टि से समान ऐसी ध्वनियों का समूह है जिनका वितरण परिपूरक अथवा मुक्त रूप में होता है।

ध्वनिग्राम का भाषा के उच्चरित रूप से सम्बन्ध है; लिखित रूप से नहीं। वह ध्वनिग्राम किसी विशिष्ट भाषा अथवा बोली की ध्वनिग्रामिक प्रणाली का ही अङ्ग होता है। दो भिन्न भाषाओं के ध्वनिग्राम भिन्न होते हैं। यद्यपि ध्वनिग्राम का अपना कोई अर्थ नहीं होता है, तथापि ये अर्थभेदक क्षमता रखते हैं।

३. वितरण : परिपूरक, मुक्त एवं व्यतिरेकी

वितरण से तात्पर्य कुछ भाषीय रूपों—स्वन, ध्वनिग्राम, पद, पदग्राम आदि—के घटित होने के स्थानों से है; अर्थात् जिस परिवेश की जिस स्थिति में कोई भाषीय रूप घटित होता है, वही उस भाषीय रूप की वितरण-अवस्था का द्योतक है।

जब भिन्न ध्वनियाँ सदैव भिन्न ध्वन्यात्मक परिवेश में ही घटित होती हैं तो उनके वितरण को **परिपूरक वितरण** कहते हैं; अर्थात् **वितरण परिपूरक** से तात्पर्य ऐसे वितरण से है जिसमें जहाँ एक ध्वनि वितरित होती है, वहाँ दूसरी ध्वनि कभी वितरित नहीं होती।

जब दो ध्वनियाँ बिलकुल समान परिवेश में घटित होती हैं और उनके घटने से ही उच्चार भिन्न हो जाते हैं, तब ऐसी ध्वनियों के वितरण को **व्यतिरेकी वितरण** के नाम से अभिहित करते हैं। समान परिवेश में घटित होकर व्यतिरेक करने वाली ध्वनियाँ सदैव भिन्न ध्वनिग्राम की सदस्य होती हैं।

कभी कभी कोई उच्चार जब दो बार उच्चरित किया जाता है तो उसमें एक या अधिक ध्वनियाँ भिन्न हो जाती हैं, किन्तु उच्चार का अर्थ समान ही रहता है; अर्थात् समान परिवेश में दो भिन्न ध्वनियों के घटित होते हुए भी उनके अर्थ में अन्तर नहीं पड़ता है। उन ध्वनियों के इस प्रकार के स्थिति-वितरण को **मुक्त वितरण** कहते हैं। अर्थात् मुक्त वितरण से तात्पर्य दो ध्वनियों के समान ध्वनिग्रामिक परिवेश में ऐसे रूप में घटित होने से है, जिससे अर्थ में कोई अन्तर न पड़ने पाये।

४. पदग्रामशास्त्र

पदग्रामशास्त्र भाषाशास्त्र का वह अङ्ग है जो हमें किसी उच्चार को सार्थक इकाइयों में विभाजित करने के नियम बताता है।

प्रत्येक भाषा का एक सामाजिक दायित्व होता है—वक्ता से श्रोता तक किसी विचार या मनोभाव को प्रेषित कराना। विचार अथवा भाव के प्रेषण के लिए वाक्य अथवा उच्चार होते हैं। ये उच्चार उस भाषा की कुछ विशिष्ट ध्वनियों के क्रम से (जिन्हें ध्वनिग्राम अथवा उसके सदस्यों के नाम से पुकारा जा सकता है) निर्मित होते हैं। ये ध्वनिग्राम एक विशिष्ट क्रम से संयोजित होने पर एक विशिष्ट अर्थ का ही उद्घाटन करते हैं, किन्तु इन ध्वनिग्रामों का अपना कोई अर्थ नहीं होता। ये अर्थभेदक होते हुए भी स्वयं अर्थशून्य होते हैं किन्तु इन्हीं के विशेष क्रमों से निर्मित होने वाले पद, पदग्राम, शब्द, वाक्य तथा उच्चार भाषा के अर्थवान् तत्त्व होते हैं और भाषा की 'अर्थ' अथवा 'वैयाकरणिक प्रणाली' से सम्बन्ध रखते हैं।

किसी भी भाषा की गठन-प्रणाली का अध्ययन करने के लिए हम वाक्य को शब्द, पद एवं ध्वनियों में विभाजित करते हैं। किसी भी भाषा का इन्हीं इकाई-रूपों में अध्ययन सम्भव है। भाषा की अर्थहीन इकाई 'ध्वनि' तथा अर्थ-युक्त इकाई 'पद' है। जिस प्रकार ध्वन्यात्मक समानता रखने वाली तथा परिपूरक वितरण अथवा मुक्त वितरण में आने वाली ध्वनियों को एक ध्वनि-ग्राम में आबद्ध किया जाता है, उसी प्रकार एक-दूसरे को स्थानापन्न कर सकने वाले; अर्थात् अर्थगत समान परिपूरक वितरण या मुक्त वितरण में आने वाले पदों को एक पदग्राम में आबद्ध किया जाता है। इस प्रकार पदग्रामशास्त्र उच्चारों के अल्पतम सार्थक इकाइयों में विश्लेषण एवं उन सार्थक इकाइयों के वर्गीकरण की कला है।

५. पद एवं पदग्राम

ध्वनिग्रामों के न्यूनतम अर्थ-सहित आवर्तन को 'पद' कहते हैं; अर्थात्

पद भाषीय उच्चारों के ऐसे अंश हैं जिनमें समान ध्वनिग्रामों का समान क्रम तथा समान न्यूनतम अर्थ होता है।

जो पद परिपूरक अथवा मुक्त वितरण में वितरित होते हैं, एक पदग्राम का निर्माण करते हैं; अर्थात्—पदग्राम ऐसे पदों का समूह है जो या तो एक-दूसरे को स्थानापन्न करते हैं या परिपूरक वितरण में वितरित होते हैं। पदग्राम के प्रत्येक सदस्य को 'सहपदग्राम' कहते हैं।

६. पद तथा शब्द में अन्तर

किसी भाषा की अर्थ-प्रणाली अथवा वैयाकरणिक प्रणाली का अध्ययन करते समय सर्वप्रथम उस भाषा के उच्चारों को पदों में विभाजित किया जाता है। शब्द भी भाषा का एक अर्थवान् तत्त्व ही है, किन्तु वह पद से सर्वथा भिन्न इकाई है। वैसे कभी-कभी पद और शब्द अभिन्न भी हो जाते हैं। यहाँ स्मरणीय यह है कि संस्कृत-व्याकरणों में प्रयुक्त 'पद' एवं आधुनिक भाषाशास्त्रीय 'मार्फ' के पर्याय 'पद' में भी अन्तर है। संस्कृत-व्याकरणों के अनुसार जब शब्द को वाक्य में प्रयुक्त होने की क्षमता प्रदान करदी जाती है तब वह 'पद' कहलाता है; अर्थात् विभक्ति-सहित शब्द 'पद' है। किन्तु संस्कृत के इस पद-स्वरूप को अधुनातम भाषाशास्त्र में 'विभक्तिमय' (Inflexion) के नाम से अभिहित करते हैं।

वस्तुतः भाषाशास्त्रीय दृष्टिकोण से 'शब्द' किसी भी ऐसे भाषीय रूप के लिए प्रयुक्त हो सकता है जो वितरण तथा अर्थ में अपने आप में स्वतन्त्र हो किन्तु 'पद' किसी भाषा के न्यूनतम अर्थवान् तत्त्व होते हैं। एक शब्द में एक या एक से अधिक पद भी हो सकते हैं, किन्तु कोई पद किसी भी दशा में एक शब्द से बड़ा नहीं हो सकता, क्योंकि वह न्यूनतम अर्थवान् तत्त्व होता है।

७. पदग्रामिक विश्लेषण

पदग्रामिक विश्लेषण प्रत्येक उच्चार में प्राप्त पदग्रामों को विभाजित करने की विधि है। अतः पदग्रामिक विश्लेषण की प्रक्रिया द्वारा किसी उच्चार के अर्थवान् तत्त्वों का अध्ययन सम्भव है। किसी भी उच्चार का पदग्रामिक विश्लेषण करते समय दो प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठते हैं। एक तो यह कि प्राप्त उच्चार के खण्डों का अन्य उच्चारों में लगभग समान अर्थ में प्रयोग होता है अथवा नहीं? और दूसरा यह कि खण्डित रूप अन्य अर्थवान् रूपों में विभाजित किया जा सकता है अथवा नहीं?

जहाँ तक पहले प्रश्न का सम्बन्ध है, यदि उच्चार के खण्डों का अन्य उच्चारों में लगभग उसी समान अर्थ में प्रयोग नहीं होता तो ऐसी अवस्था में

पदग्रामिक विश्लेषण करना भी असम्भव है। इसका कारण यह है कि ऐसी अवस्था में हम उस उच्चार को किसी भी रीति से विभाजित कर सकते हैं। सम्यक् रूप से पदग्रामिक विश्लेषण के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि उसके कुछ खण्ड अन्य उच्चारों में लगभग समान अर्थ में प्रयुक्त हों। जहाँ तक दूसरे प्रश्न का सम्बन्ध है, अर्थवान् तत्त्वों में तभी विभाजित किया जा सकता हैं, जब कि वह एक पद से अधिक बड़ा हो।

८. पदग्रामिक वर्ग-बन्धन

यह सत्य है कि परिपूरक वितरण अथवा मुक्त वितरण में आये हुए पदों को एक पदग्राम में वर्गबद्ध करने के सम्बन्ध में निम्नलिखित सिद्धान्त स्मरणीय हैं :—

(क) यदि समान ध्वनिग्राम-क्रम वाले पदों का अर्थ समान है, तो वे समस्त पद एक ही पदग्राम के अन्तर्गत अन्तर्भुक्त किये जाएँगे।

(ख) यदि भिन्न ध्वनिग्राम-क्रम वाले पदों का अर्थ भिन्न है, तो ऐसे पद सदैव भिन्न पदग्रामों के सदस्य के रूप में वर्णित होंगे।

(ग) यदि दो पदों में समान ध्वनिग्रामों का समान क्रम पाया जाता है; किन्तु अर्थगत भिन्नता पायी जाती है तो ऐसी दशा में निम्न विकल्प हो सकते हैं :—

(अ) यदि अर्थगत विभिन्नता पदग्रामिक वितरण के अनुरूप हो तो वे दो या दो से अधिक पद एक ही पदग्राम में वर्गबद्ध किये जाएँगे तथा उस पदग्राम के सहपदग्रामों के रूप में वितरित होंगे। उदाहरणार्थ संस्कृत ।कर। पद को लिया जा सकता है जिसका अर्थ सूर्य के सन्दर्भ में 'किरण', मानव शरीर के सन्दर्भ में 'हाथ' तथा हाथी के सन्दर्भ में 'सूँड़' होता है। इस प्रकार ।क् अ र् अ। ध्वनिग्रामों के समान क्रम से निर्मित ।कर। उच्चारण के पृथक् अर्थों वाले तीन पद हैं, तथापि यह अर्थगत विभिन्नता सन्दर्भगत आधार पर वितरित है। अतः तीनों भिन्नार्थक पद एक ही पदग्राम-रूप में वर्गबद्ध किये जायेंगे तथा एक पदग्राम के तीन सहपदग्राम होंगे।

(आ) यदि अर्थगत विभिन्नता वाले समान ध्वनिग्रामों के समान क्रम से निर्मित पदों का वितरण विशेष अर्थवान् इकाइयों के रूप में है तो वे भिन्न पदग्रामों के साथ वर्गबद्ध किये जाएँगे। यथा :—

हिन्दी : ।काम्।=काम
।काम्।=कार्य
।कनक्।=स्वर्ण
।कनक्।=धतूरा

(इ) यदि भिन्न ध्वनिग्रामों से निर्मित पदों में कुछ अर्थगत समानता पायी जाती है तो ऐसी दशा में निम्न विकल्प सम्भव हैं :—

(i) उन पदों का मुक्त विवरण हो सकता है। यथा :—

संस्कृत : कोश्~कोष्
हिन्दी : ज्ञान~ज्यान्
ब्रजभाषा : रणवीर्~रनवीर्
सड़क्~सरक्
बँगला : पास्~पाश्

(ii) यदि व्याकरणीय अर्थ समान है तो भिन्न ध्वनिग्रामों से निर्मित पद एक ही पदग्राम के सहपदग्रामों के रूप में वर्गबद्ध किये जायेंगे।

(iii) यदि भिन्न ध्वनिग्रामों से निर्मित पदों में यत्किंचित् अर्थ-वैभिन्य भी प्राप्त हो तो पद सदैव व्यतिरेकी वितरण में आकर पृथक्-पृथक् पदग्रामों के सदस्य रूप में वितरित होंगे। यथा :—

हिन्दी : ।पानी।
।जल्।
ब्रजभाषा : ।बुहारना।
।सकेरना।

४१

भाषिक भूगोल अथवा बोली-विज्ञान

इस संसार में मानव ही एक ऐसा प्राणी है जो विचारों के आदान-प्रदान के लिये सार्थक एवं क्रमबद्ध ध्वनियों का स्वेच्छापूर्वक प्रयोग करता है। अपने सीमित तथा भाषाशास्त्रीय अर्थ में भाषा याहच्छिक (Arbitrary) एवं सार्थक ध्वनियों की प्रणाली है, जिसके द्वारा प्रत्येक भाषा-भाषी अपने-अपने भाषा-क्षेत्रों में अपनी-अपनी भाषा के द्वारा परस्पर विचारों का आदान-प्रदान करते हैं। इस प्रकार भाषा का सामाजिक दायित्व है और इस रूप में भाषा कोई प्राकृतिक वस्तु न होकर, एक सामाजिक समुदाय की अर्जित सम्पत्ति होती है।

इस विश्व में मानव ने अनेक वस्तुएँ अर्जित की हैं। मानव-जाति की प्राकृत प्रवृत्तियाँ कम, पूर्वजों की संचित ज्ञान-राशि का अनुकरण और स्वयं प्रयोग करने की प्रवृत्तियाँ अधिक होती हैं। मानव-जाति ने अपनी इन्हीं अनुकरण और प्रयोग की प्रवृत्तियों के कारण ही खाना बनाना और पकाना, घर बनाना और बसना, कपड़ा बनाना और पहनना सीखा। विश्व में प्रत्येक जाति के खाने, कपड़े और घर की अपनी निजी विशेषताएँ होती हैं किन्तु फिर भी हम उनसे वस्तुगत तादात्म्य कर सकते हैं। हमारा खाना दूसरे प्रकार का है

और किसी दूसरी मानव-जाति का खाना दूसरे प्रकार का है, किन्तु यदि हम चाहें तो एकदम, बिना किसी देरी के, दूसरी मानव-जति के खाने को अपने खाने के रूप में खा सकते हैं। यही बात आवास और परिधान सम्बन्धी भी है। किन्तु भाषा के सम्बन्ध में यह बात नहीं होती। मैं हिन्दी बोलता हूँ और दूसरा व्यक्ति तमिल बोलता है। ऐसी स्थिति में यदि मुझे पहले से तमिल-भाषा नहीं आती, तो न तो तमिल भाषा-भाषी का एक शब्द समझ ही सकता हूँ और न एकदम उसे सीख ही सकता हूँ। इस प्रकार भाषा का आधार अधिक मानसिक, अमूर्त और निजी होता है। यहाँ मैं 'जाति' शब्द का प्रयोग जाति, वंश, वर्ण, धर्म, पेशे आदि के आधार पर इतना नहीं कर रहा हूँ जितना प्रदेश के आधार पर कर रहा हूँ। भाषा-विभिन्नता का आधार प्रदेशगत ही अधिक होता है। एक वर्ण या एक धर्म के व्यक्ति यदि दो भिन्न भाषा-प्रदेशों में रहते हैं तो वे भिन्न ही भाषा बोलेंगे। इसके विपरीत दो भिन्न वर्णों या भिन्न धर्मों के व्यक्ति यदि एक ही भाषा-प्रदेश में रहते हैं तो उनके एक ही भाषा को बोलने की अधिक सम्भावनाएँ होती हैं। इस प्रकार जिस प्रदेश में जिस भाषा को विचारों के आदान-प्रदान के लिये व्यवहृत किया जाता है, वह प्रदेश उस विशिष्ट भाषा का भाषा-क्षेत्र कहलाता है। जिस सीमा पर एक प्रदेश के वासी दूसरे प्रदेश के वासियों को अपने कथ्य रूपों से विचारों का अवबोधन नहीं करा पाते हैं तथा उनके कथ्य रूपों से स्वयं विचार-आदान नहीं कर पाते हैं, उसी सीमा पर उन दो प्रदेश के वासियों को दो भिन्न भाषा-प्रदेश के भाषा-भाषी कहना चाहिए। यद्यपि हम ऐसी कोई निश्चित लकीर नहीं खींच सकते कि इस लकीर के इधर के भाषी इस भाषा के और लकीर के उधर के भाषी दूसरी भाषा के बोलने वाले हैं। इसका कारण यह है कि प्रत्येक दो भाषाओं के मध्य कुछ ऐसा क्षेत्र होता है, जिस क्षेत्र के रहने वाले उन दो भाषाओं के मिश्रित रूप को बोलते हैं और दोनों भाषाओं को किसी न किसी रूप में समझ भी लेते हैं। ऐसे क्षेत्र को 'संक्रान्ति-क्षेत्र' कहते हैं, जिसका विवरण आगे चल कर किया जायेगा। यहाँ यही कहना अभीष्ट है कि दो भाषाओं के मध्य का संक्रान्ति क्षेत्र ही वह सीमा होती है जिसे दो भाषाओं को पृथक् करने वाली लकीर माना जा सकता है।

भाषिक भूगोल अथवा बोली-विज्ञान के अन्तर्गत एक भाषा-प्रदेश के बारे में विचार किया जाता है। एक भाषा-क्षेत्र की भाषा उसके समस्त खंडों या क्षेत्रों में, कम या अधिक मात्रा में विचारों का अवबोधन कराती है। एक भाषा-प्रदेश के भिन्न-भिन्न खंडों या क्षेत्रों में भी कुछ भाषा-सम्बन्धी भिन्नतायें होती हैं जिन्हें क्षेत्रगत-भिन्नताओं के नाम से अभिहित किया जाता है। इसके

अतिरिक्त एक क्षेत्र में भी सामाजिक स्तर के अनुसार भाषा-रूप में भिन्नतायें होती हैं जिन्हें वर्गगत-विभिन्नताओं के नाम से पुकारा जाता है। भाषा की क्षेत्रगत एवं वर्गगत-विभिन्नताएँ ही क्रमशः क्षेत्रगत बोलियाँ एवं वर्गगत बोलियाँ हैं। इस प्रकार साधारणतः एक भाषा विभिन्न बोलियों का समूह होती है। इन बोलियों को बोलने वाले परस्पर एक-दूसरे की बोली को किसी न किसी मात्रा तक समझ अवश्य लेते हैं। इस प्रकार एक भाषा की विभिन्न बोलियों में यद्यपि शब्दावली, पदरूपों, ध्वनियों आदि विभिन्न बातों में भिन्नतायें होती हैं तथापि उन समस्त बोलियों में 'समान गठन की एक पद्धति' (Common Core of Structure) भी होती है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जिस रूप में मानव के शरीर, रंग, गठन आदि के आधार पर मानव-शास्त्र के अन्तर्गत जातिगत निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं, उस रूप में भाषा सम्बन्धी विवेचना नहीं की जा सकती है। तथ्य तो यह है कि भाषा की बोलीगत भिन्नतायें, जातियों के आधार पर नहीं, अपितु क्षेत्रगत सीमा और सांस्कृतिक स्तरों पर निर्धारित होती हैं। वस्तुतः भाषा सामाजिक वस्तु है, जातिगत अथवा वंशानुगत नहीं।

भाषाशास्त्र की उस शाखा को जो एक भाषा-क्षेत्र के अन्तर्गत पायी जाने वाली विभिन्नताओं का अध्ययन प्रस्तुत करती है, 'भाषिक भूगोल' (Linguistic Geography) अथवा 'बोली-विज्ञान' (Dialectology) कहते हैं। इस प्रकार किसी भाषा-क्षेत्र के अन्तर्गत उपलब्ध विभिन्न बोलियों को, उनकी विभिन्न पद्धतियों—ध्वन्यात्मक, ध्वनिग्रामिक, पदग्रामिक, वाक्यविन्यासीय, तथा शब्द-कोषीय आदि—की ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से व्याख्या प्रस्तुत करते हुए क्षेत्रगत एवं वर्गगत रूप में प्रस्तुत करना ही एक बोली-शास्त्री का मुख्य कार्य है। दूसरे शब्दों में, एक बोली-शास्त्री किसी विशिष्ट भाषा-क्षेत्र या भाषा प्रदेश में प्राप्त विभिन्न बोलियों का भौगोलिक वितरण प्रस्तुत करता है।

इस प्रकार की व्याख्या प्रस्तुत करना कोई सरल कार्य नहीं है। इसके लिए सर्वप्रथम बोली-शास्त्री उक्त भाषा-क्षेत्र की भाषा-सामग्री को ध्वन्यात्मक प्रतिलेखन में प्राप्त करता है। इस प्रकार से प्रस्तुत की गयी भाषा-सामग्री के आधार पर ही वह भाषा में प्राप्त भिन्नताओं का अध्ययन करता है और विभिन्न बोलियों के क्षेत्र निर्धारित करता है। बोली-विज्ञान में कार्य करने वाले किसी अनुसंधित्सु को अपने भाषा-क्षेत्र में निम्नलिखित रीति से कार्य सम्पन्न करना चाहिये—

(१) भाषा सामग्री के संकलनकर्ता को भाषा शास्त्र की पूर्व-पीठिका का उचित ज्ञान होना अत्यावश्यक है। इसके अतिरिक्त ध्वनिशास्त्र एवं ध्वनि-ग्राम शास्त्र का अच्छा ज्ञान होना अनिवार्य है। यहाँ इस सम्बन्ध में, ध्वनि-शास्त्र की महत्ता पर विचार कर लेना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में हेनरी स्वीट के निम्न वाक्य उल्लेखनीय हैं—

"भाषा के समस्त प्रकार के अध्ययनों के लिये, चाहे वह अध्ययन नितान्त सैद्धान्तिक हो अथवा प्रयोगभूत हो, ध्वनिशास्त्र का महत्व निर्विवाद, परमावश्यक एवं आधारभूत रूप में स्वीकार कर लिया गया है।·······बहुत सी भाषाएँ प्रथम बार लिपिबद्ध हो रही हैं, इस कारण सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक ध्वनिशास्त्र के अधिकाधिक ज्ञान की सर्वोच्च आवश्यकता अधिक से अधिक प्रकट हो रही है।"[१] ये विचार हेनरी स्वीट ने सन् १८७७ में व्यक्त किये थे। यद्यपि आज के अमेरिका के भाषा शास्त्री ध्वनिशास्त्र के अन्तर्गत नहीं अपितु उसकी स्पर्शती सीमा के रूप में मानते हैं, तथापि वे भी भाषाशास्त्र की पूर्व-पीठिका के रूप में, ध्वनिशास्त्र का ज्ञान होना अनिवार्य मानते हैं।

आलोच्य-प्रदेश का ऐतिहासिक और सांस्कृतिक ज्ञान भी उसके अध्ययन की गति को अग्रसर करने में सहायक सिद्ध हो सकता है।

(२) सामग्री-संकलन के लिए उसे विशिष्ट प्रकार की प्रश्नावली बना लेनी चाहिये। प्रश्नावली इस प्रकार से बनायी जानी चाहिये, जिससे उक्त भाषा क्षेत्र के भाषा-भाषियों की शब्दावली, उच्चारण तथा भाषा-गठन आदि का रूप समुचित ढंग से स्पष्ट हो जाए।

साधारणतः उसकी प्रश्नावली निम्न गुण-सम्पन्न होनी चाहिये—

(क) प्रश्नावली में उन्हीं संख्यातपदों (Items) को रखना चाहिये जिनसे उस क्षेत्र के अधिकांश व्यक्ति भली-भाँति परिचित हों। इस प्रकार के सख्यात पदों को बातचीत के मध्य सरलतापूर्वक पूछा जा सकता है।

(ख) प्रश्नावली में ऐसे भी संख्यातपद होने चाहिये जो प्रत्येक क्षेत्र एवं वर्ग में समझे जाते हों किन्तु उनके रूप क्षेत्र एवं वर्ग के अनुसार भिन्न-भिन्न मिलते हों।

(३) अनुसंधित्सु भाषा-सामग्री का संकलन उस क्षेत्र के किसी न किसी सूचक (Informant) के द्वारा ही प्राप्त करता है, इस कारण उसे इस प्रकार के सूचक चुनने चाहिये जो उक्त क्षेत्र के विभिन्न स्तरों के वासियों का प्रति-

---

१. हैण्ड बुक आफ फौनैटिक्स (भूमिका)—हेनरी स्वीट।

निधित्व करते हों। इस प्रकार कार्य करने से उसे लोक-वाणी एवं परिनिष्ठित वाणी के अनेक अन्तर सहज ही में उपलब्ध हो सकते हैं।

(४) अनुसंधित्सु को किसी क्षेत्र की सामग्री को ध्वन्यात्मक प्रतिलेखन में अंकित करते समय ध्वनिग्रामिक व्यतिरेकों को भी दृष्टि-पथ में रखना चाहिए।

(५) अनुसंधित्सु को भाषा-भाषियों से अत्यन्त सहज एवं स्वाभाविक रूप से वार्तालाप करते हुए भी सामग्री का संकलन करना चाहिये। उस भाषकों को अपना उद्देश्य स्पष्ट कर देना चाहिये। ऐसा न करने पर बहुधा भाषा-भाषी अनुसंधित्सु पर संदेह कर बैठते हैं। ऐसा अनुभव प्रस्तुत लेखक को भी अपने शोध प्रबन्ध के लिये भाषा-सामग्री एकत्रित करते समय हो चुका है। यदि एक बार कचहरी में मुकद्दमे के कार्य से आए व्यक्तियों ने प्रस्तुत लेखक को सी० आई० डी० का व्यक्ति जानकर कुछ भी बोलने एवं बताने से मना कर दिया तो कई बार ग्रामों में बसने वाले भोले-भाले वासियों के मस्तिष्क में ग्राम की बोली की उपादेयता ही समझ में न आ सकी और उनमें से कई व्यक्तियों ने बड़े सहज स्वर में पूछा कि, "गाम की बोली कौ का काम् पड़गौ है भइया।" एक हाई स्कूल पास विद्यार्थी ने परिनिष्ठित हिन्दी में ही उत्तर देना उचित समझा, ग्राम में बोली जाने वाली सहज बोली में नहीं, क्योंकि ऐसा करने से वह मूर्ख समझा जाता और गँवार की कोटि में आ जाता।

अस्तु, अनुसंधित्सु को अपना उद्देश्य स्पष्ट कर देना चाहिये और उसके बाद स्वाभाविक रूप से वार्तालाप करते हुए ही सामग्री का संकलन करना चाहिए। इस प्रकार से सामग्री देते समय सूचक अपने बलाघात एवं सुर लहर आदि का प्रयोग स्वाभाविक रीति से करेगा।

भाषा-सामग्री को प्राप्त करने के पश्चात् अनुसंधित्सु अपने वास्तविक कार्य में अग्रसर होता है। सर्वप्रथम वह भाषा रूप के प्रत्येक लक्षण को मान-चित्र में अंकित करता हुआ उनका वितरण ज्ञात करता है।

यहाँ पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या किसी भाषा-क्षेत्र में ऐसा सम्भव नहीं हो सकता कि उस क्षेत्र में किसी प्रकार का वैभिन्नय ही प्राप्त न हो? इस सम्बन्ध में भाषा-शास्त्र के तीन सिद्धान्त उल्लेखनीय हैं—

(१) एक भाषा के रूप थोड़ी दूर पर निश्चय ही बदल जाते हैं। जैसे-जैसे सीमा की दूरी बढ़ती जाती है, वैसे ही वैसे एक बोली क्षेत्र एवं दूसरे क्षेत्र की बोली में अन्तर भी अधिकाधिक बढ़ता जाता है।

"चार कोस पर बदले पानी आठ कोस पर बानी" कहावत बोली (बानी) की सीमागत विभिन्नताओं को ठीक रूप से अभिव्यक्त करती है।

(२) सीमागत दूरी के आधार पर ही बोलियाँ विकसित नहीं होतीं अपितु एक निश्चित क्षेत्रगत सीमा में, सामाजिक स्तर की विभिन्नताओं के कारण भी वर्गगत बोलियाँ विकसित हो जाती हैं।

(३) यदि एक ऐसे भाषा-क्षेत्र की कल्पना की जाये, जिसके अन्तर्गत भाषा-भाषियों के सामाजिक व सांस्कृतिक स्तर में किसी प्रकार की विषमता न हो तथा सब एक ही सीमित क्षेत्र में रहकर, परस्पर मिल-जुल कर वाणी द्वारा विचारों का आदान-प्रदान करते हों, तो निश्चित ही उक्त भाषा-क्षेत्र में एक ही बोली होगी। किन्तु भाषा शास्त्र का यह सिद्धान्त है कि समय एवं काल के अनुसार प्रत्येक भाषा में परिवर्तन होना अनिवार्य है। भाषा के इसी परिवर्तन को भाषाशास्त्री भाषा-विकास नाम से पुकारते हैं।

भाषा परिवर्तन प्रसंग में हम इस बात पर बल देना चाहते हैं कि किसी भाषा का विकास सम्पूर्ण भाषा-प्रदेश में एक ही रूप से नहीं होता अपितु यह भाषा परिवर्तन (विकास) अलग-अलग क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न प्रकार से होता है। विश्व के भाषा-इतिहास में ऐसा कोई भी उदाहरण प्राप्त नहीं है जिसमें कोई भाषा अपने सम्पूर्ण प्रदेश में एक प्रकार से ही परिवर्तित हुई हो। इसी कारण, किसी प्रदेश की भाषा के परिवर्तन का रूप निम्न तालिका के अनुरूप नहीं होगा क्योंकि इसमें सम्पूर्ण भाषा-प्रदेश में भाषा के परिवर्तन का रूप एक समान है—
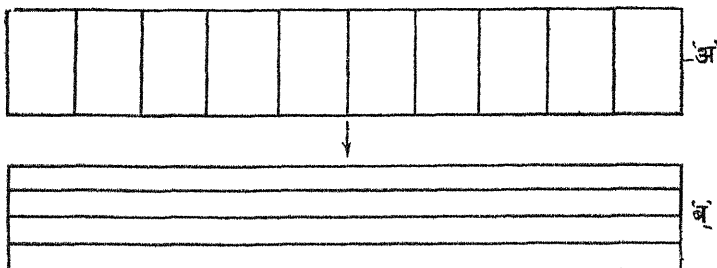
किसी भाषा-प्रदेश की भाषा के परिवर्तन की दिशाएँ निम्न तालिका के समान हो सकती हैं—
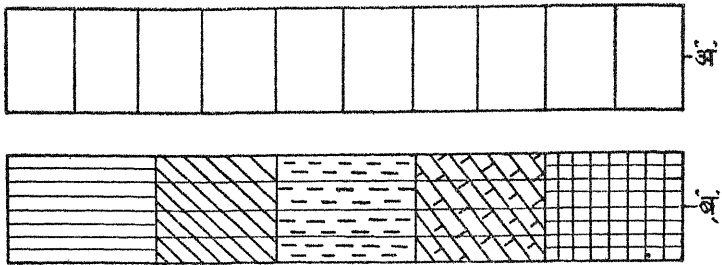
उपरोक्त तालिका में यह स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि एक विशिष्ट भाषा-प्रदेश के पृथक-पृथक क्षेत्रों में भाषा का परिवर्तन विभिन्न रूपों में हुआ है। भाषा-प्रदेश में प्राप्त विभिन्न भाषा रूप ही उक्त एक बोली रूप भाषा की कई बोलियाँ है जिनका समय एवं काल के कारण विकास हुआ है।

एक भाषा-प्रदेश में विभिन्न प्रकार की विभिन्नतायें पायी जाती हैं यथा—ध्वन्यात्मक, ध्वनिग्रामिक, पदग्रामिक, वाक्यविन्यासीय एवं शब्दकोषीय आदि। यह आवश्यक नहीं कि भाषा क्षेत्रों में जिस प्रकार की क्षेत्रगत विभिन्नताएँ ध्वन्यात्मक रूप में उपलब्ध हों, उसी प्रकार की निश्चित क्षेत्रगत विभिन्नताएँ ध्वनिग्रामिक अथवा पदग्रामिक रूपों में भी हों। यह भी आवश्यक नहीं कि एक रूप के एक लक्षण का जो क्षेत्रगत वितरण है, वही उस रूप के दूसरे लक्षण का भी हो। उदाहरणार्थ—किसी भाषा-क्षेत्र में श् एवं स् का जिस प्रकार का क्षेत्रगत वितरण है उसी प्रकार का ड् तथा ड़् का भी वितरण हो, यह आवश्यक नहीं है। इनका वितरण इस रूप में भी हो सकता है—

उपर्युक्त विभिन्नता का कारण यह है कि बोलियों की कोई प्राकृतिक सीमाएँ नहीं होतीं। बोलीगत विशेषताओं की सीमा को जो रेखा निर्धारित करती है उसको सम्बाक् रेखा कहते हैं। दूसरे शब्दों में सम्बाक् रेखा एक भाषा क्षेत्र के मानचित्र में अंकित वह कल्पित रेखा है जो किसी विशेष भाषीय-लक्षण के घटित होने की सीमा को निर्धारित करती है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि एक प्रकार की सम्वाक् रेखा के आधार पर ही किसी बोलीगत सीमा का निर्धारण नहीं किया जा सकता। बोलीगत सीमा विभिन्न प्रकार की अनेक सम्वाक् रेखाओं के वैभिन्नय के आधार पर ही निर्धारित की जा सकती है।

सम्वाक् रेखाओं की संख्या तथा उनके वितरण के आधार पर किसी भाषा-क्षेत्र की बोलीगत सीमाएँ तथा बोली क्षेत्रों के केन्द्र-प्रकारों का निर्धारण होता है।

भाषा क्षेत्र की बोलीगत सीमाएँ—दो भिन्न बोली एवं भाषा क्षेत्रों के मध्य के प्रदेश को संक्रान्ति क्षेत्र कहते हैं। वस्तुतः जैसा पहले कहा जा चुका है संक्रान्ति क्षेत्र दो भिन्न बोलियों की सीमाओं को निर्धारित करता है। इस क्षेत्र में सम्वाक रेखाओं का समूह घटित होता है। सम्वाक् रेखाओं के समूह से तात्पर्य विभिन्न प्रकार के भाषीय लक्षणों के वितरण को बतलाने वाली सम्वाक् रेखाओं से है जो प्रायः एक ही दिशा में आपस में कहीं सम्बद्ध तथा कहीं असम्बद्ध रूप में होकर घटित होती हैं। संक्रान्ति क्षेत्र को श्रेणी क्षेत्र (Gradation Area) भी कहते हैं। यह क्षेत्र अपनी विशेषताओं से एकदम शून्य होता है तथा साथ ही साथ अन्य दो या दो से अधिक क्षेत्रों की विशेषताओं को संजोए रहता है। यही कारण है कि इस क्षेत्र में अनेक रेखाएँ एकीभूत होती है अथवा किसी न किसी सीमा तक एक-दूसरे से सम्बद्ध होती हैं। इस क्षेत्र को निम्न चित्र द्वारा समझाया जा सकता है—
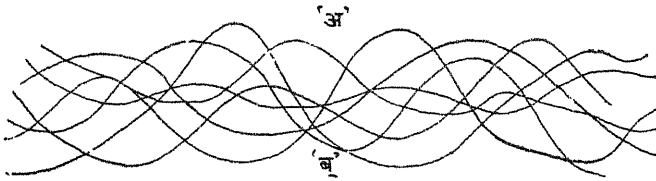
उपर्युक्त चित्र में 'अ्' एवं 'ब्' ऐसे क्षेत्र हैं जो सक्रान्ति क्षेत्र अर्थात् सम्वाक् रेखाओं के एकी भूत क्षेत्र से पृथक् हैं। इसी कारण 'अ' एवं 'ब्' दो निश्चित भिन्न बोली क्षेत्र हैं जिनमें भाषा के उन लक्षणों में विभिन्नताएँ मिलती हैं जिनकी विभिन्नताएँ सम्वाक् रेखाओं द्वारा प्रदर्शित हैं। 'अ' एवं 'ब्' बोली क्षेत्र का मध्य भाग जहाँ सम्वाक् रेखाएँ एकीभूत हो रही हैं, संक्रान्ति क्षेत्र है। इसमें कुछ लक्षण 'अ' क्षेत्र के हैं एवं कुछ 'ब्' क्षेत्र के। इस प्रकार यह संक्रान्ति क्षेत्र 'अ' एवं 'ब्' बोली क्षेत्रों के मध्य स्थित है एवं उनकी पृथक् बोली सीमाओं को निर्दिष्ट कर रहा है। इसी प्रकार दो भाषा क्षेत्रों के मध्य भी संक्रान्ति क्षेत्र होता है।

भाषा या बोली क्षेत्र के केन्द्र प्रकार

प्राय: प्रत्येक भाषा या बोली क्षेत्र के दो मुख्य प्रकार के केन्द्र होते हैं :—

(१) किरण केन्द्रीय क्षेत्र (Focal Area)

(२) अवशेष क्षेत्र (Relic Area)

१. **किरण केन्द्रीय क्षेत्र** : तात्पर्य ऐसे केन्द्र से है, जहाँ से बोलीगत प्रवर्तन (Innovation) होता है। यह क्षेत्र सामान्यत: वाणी का वह केन्द्र होता है जो राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक, साहित्यिक अथवा अन्य किसी प्रकार के सांस्कृतिक-गौरव से अभिभूत होता है। इस किरणकेन्द्रीय केन्द्र से सम्वाक् रेखाएँ शेष अन्य क्षेत्रों में फैलती हैं।

२. **अवशेष क्षेत्र** : तात्पर्य ऐसे केन्द्र से है जो अन्य क्षेत्रों से असम्बद्ध हो जाता है। यह क्षेत्र निश्चित रूप से किरणकेन्द्रीय क्षेत्र से दूर होता है। अन्य क्षेत्रों से इस क्षेत्र की असम्बद्धता का कारण आवागमन की असुविधाएँ अथवा सामाजिक बाधाएं ही होती हैं। अन्य क्षेत्रों से असम्बद्ध हो जाने के कारण इस क्षेत्र की बोली कम परिवर्तित होती है और इसी कारण यह क्षेत्र ऐसे भाषीय रूपों को संजोए रहता है जो अन्य क्षेत्रों में लुप्त हो जाते हैं।

बोलीशास्त्र का संक्षिप्त इतिहास

भौगोलिक आधार पर भाषा विभिन्नता का परिचय, भाषाविदों का काफी पहले से है। ग्रीक लोगों ने हैलेनटिक भाषा की विभिन्नताओं का अध्ययन किया था। भारत में भी प्राकृत व्याकरणों में क्षेत्रगत आधार पर शौरसनी, मागधी, अर्द्धमागधी एवं पैशाची प्राकृतों का उल्लेख किया गया है।

किन्तु जिस रूप में आज बोलिओं का भौगोलिक वितरण प्रस्तुत किया जाता है, उस रूप में भाषा-शास्त्र की अन्य शाखाओं की भाँति इस शाखा ने भी इधर हाल में ही अपनी अध्ययन पद्धतियाँ विकसित की हैं। आधुनिक भाषा शास्त्र के अन्तर्गत बोली विज्ञान का उद्‌भव सर्वप्रथम १८७६ ई० में जर्मनी में हुआ था। इसके अध्ययनकर्त्ताओं में जार्ज वेन्कर का नाम उल्लेखनीय है। फ्रांस में जूलस गिलियर्न ने १९०२ ई०-१९१० ई० के मध्य एक एटलस का निर्माण किया। तत्पश्चात् स्विस विद्वान जवर्ग तथा जुट ने इटली तथा दक्षिणी स्विट्‌ज़रलैण्ड के ग्रामीणवासी एवं नगरवासियों की वाणी को ध्यान में रखते हुए एक अन्य एटलस का निर्माण किया।

अमेरिका में भी बोली-विज्ञान से सम्बन्धित कई कार्य हुए हैं, जिनमें कुराठ एटलस सबसे अधिक श्रेष्ठ एवं वैज्ञानिक है।

अभी भी, इस क्षेत्र में प्रगति करने की अनेक सम्भावनाएँ निहित हैं।

४२
लिपि का उद्गम और विकास

●

आरम्भिक

मनुष्य ने लिखना कैसे सीखा, इसकी कहानी अत्यन्त मनोरंजक है। वस्तुतः लिखने की कला का आविष्कार मनुष्य की अन्यतम खोजों में से है। विद्वानों का विचार है कि इस कला की उत्पत्ति, भाषा की उत्पत्ति के बहुत बाद हुई। सहस्राब्दियों तक मनुष्य भाषा के माध्यम द्वारा अपने विचारों की अभिव्यक्ति करता रहा, किन्तु उसके संरक्षण का उसके पास कोई साधन न था। इसका एक परिणाम यह हुआ कि अनेक जातियाँ अपनी भाषाओं के साथ विश्व के रंग-मंच पर आईं और विलीन हो गईं। आज हम इनका नाम तक नहीं जानते। जब भाषा को लिखने की कला का साधन प्राप्त हुआ तब एक नवीन सृष्टि का आरम्भ हुआ। तब से मनुष्य अपने ज्ञान-विज्ञान के संचय और संरक्षण में प्रवृत्त हुआ, जिससे सभ्यता और संस्कृति का उत्तरोत्तर विकास हुआ। वास्तव में भाषा और लिखने की कला—ये दो ऐसी वस्तुएँ हैं जो मनुष्य को पशु से पृथक् करती है, और जिनके सहारे वह निरन्तर उन्नति के पथ पर अग्रसर होता जा रहा है।

लिखने की कला के द्वारा ही मनुष्य ने समय और दूरी पर विजय प्राप्त की है। यदि प्रियदर्शी अशोक की आज्ञाएँ स्तम्भों पर लिखित रूप में न

प्राप्त हुई होतीं तो आज हम उस समय का इतिहास कैसे जान पाते ? यही बात प्राचीन मुद्राओं द्वारा उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री के सम्बन्ध में भी है। इनकी सहायता से आज प्राचीन लुप्त इतिहास पर नवीन प्रकाश पड़ रहा है। विभिन्न युगों के हस्तलिखित ग्रन्थों एवं कागज-पत्रों से भी हमें प्राचीन इतिहास के संशोधन में प्रभूत सहायता मिली है। इसी प्रकार लिखने की कला के उद्‌भव के कारण ही आज हम घर बैठे विभिन्न प्रदेशों एवं देशों का समाचार प्रतिदिन प्रातःकाल, समाचार पत्रों के द्वारा जान लेते हैं।

मानव-जीवन में लिखने की कला का इतना अधिक महत्व होते हुए भी, कतिपय विशेषज्ञों को छोड़कर बहुत कम लोग इसके इतिहास में दिलचस्पी रखते हैं। अत्यधिक आलोडन-विलोड़न के पश्चात् विद्वान लोग इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि इसका इतिहास आज से साढ़े पाँच हजार वर्ष से अधिक पुराना नहीं है।

लिखने की कला की उत्पत्ति

यह सहज ही में कल्पना की जा सकती है कि भाषा की भाँति ही लिखने की कला की उत्पत्ति भी विचारों की अभिव्यक्ति के लिए ही हुई होगी। ऐसा प्रतीत होता है कि घटनाओं अथवा तथ्यों के संरक्षण की अपेक्षा अपने निकट की वस्तुओं से सहानुभूति प्रकट करने के लिए गुहामानव ने सर्वप्रथम चित्रों का अंकन किया था। उत्तर-पाषाणकाल के ऐसे अनेक चित्र विभिन्न-देशों की कन्दराओं की भित्तियों पर मिले हैं।

स्मरणार्थ—धोती अथवा रूमाल में गाँठ बाँधने की प्रथा आज भी प्रचलित है। बालकों के प्रत्येक जन्म दिन के शुभ अवसर पर गाँठ बाँधने की प्रथा आज से कुछ ही दिनों पूर्व यहाँ प्रचलित थी। इसीलिए जन्म-दिन के लिए 'वर्षगाँठ' शब्द का प्रयोग आज भी होता है। समाचार भेजने के लिए छड़ी पर चिन्ह बनाने की प्रथा भी, प्राचीन काल में उत्तरी अमेरिका, पश्चिमी, अफ्रीका, चीन, मंगोलिया, तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया में प्रचलित थी। संदेश-वाहक को इन चिन्हों का मर्म समझा दिया जाता था और तदुपरान्त वह उनकी सहायता से संदेश वहन करता था। हिन्द-चीन के खस जाति के लोग आज भी बाँस के छोटे-छोटे टुकड़ों की सहायता से आय-व्यय का लेखा रखते हैं, तथा संदेश भी भेजते हैं। इन बाँस के टुकड़ों पर आवश्यकतानुसार अति-निकट अथवा थोड़ी-थोड़ी दूर पर चिन्ह बने रहते हैं और यही वास्तविक अर्थ को व्यक्त करते हैं।

प्रतीकों के द्वारा

प्रतीकों के द्वारा संदेश भेजने की प्रथा भी अति प्राचीन काल से विभिन्न देशों में प्रचलित है। तिब्बत-चीन सीमा पर जब किसी के पास मुर्गा का कलेजा, उसकी चर्बी के तीन टुकड़ों एवं एक मिर्च के साथ लाल कागज में लपेट कर भेजा जाता है तो उसका अर्थ होता है कि युद्ध के लिए तैयार हो जाओ। यह प्रसिद्ध है कि महाराज शिवाजी के गुरु समर्थ रामदास ने आर्शीवाद के रूप में उनके पास थोड़ी घोड़े की लीद तथा कतिपय प्रस्तर के टुकड़े भेजे थे। इससे तात्पर्य यह था कि तुम अपने घोड़ों और दुर्गों को सुरक्षित रखो क्योंकि इनके बिना युद्ध में विजय प्राप्त न कर सकोगे।

चित्र-लिपि

लिखने की कला का अद्यरूप वास्तव में चित्र-लिपि ही है। इसके द्वारा किसी वस्तु का बोध कराने के लिए उसका चित्र बनाया जाता है। उदाहरण स्वरूप चित्र-लिपि में सूर्य को वृत रूप में तथा मनुष्य को उसके रेखा चित्र के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। उस प्रणाली से किसी आख्यान अथवा कहानी को भी अनेक चित्रों के रूप में अंकित किया जाता है। इन चित्रों को देखकर ही लोग उस आख्यान अथवा कहानी को समझ जाते हैं। इस प्रकार विचारों की अभिव्यक्ति तो चित्र-लिपि द्वारा हो जाती है, किन्तु इनमें जो प्रतीक अथवा चित्र प्रयुक्त होते हैं वे ध्वनि का बोध नहीं कर सकते। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि चित्र लिपि के द्वारा अर्थबोध हो जाता है किन्तु ध्वनि-बोध नहीं होता।

यहाँ चित्र तथा चित्र-लिपि के अन्तर को भी स्पष्टतया हृदयगंम कर लेना चाहिए। चित्र में मनुष्य का वास्तविक उद्देश्य किसी वस्तु का अंकन मात्र होता है, किन्तु चित्र-लिपि में उसका मुख्य उद्देश्य विचारों की अभिव्यक्ति तथा उनका संरक्षण होता है। इस प्रकार गुहामानव के चित्रों के बाद, अभिव्यक्ति के इस साधन का विकास करके, मनुष्य ने चित्र-लिपि का आविष्कार किया।

चित्र-लिपि का प्रयोग प्रायः प्रत्येक देश में पाया जाता है। प्राचीन युग के मानव ने ही इसका सर्वप्रथम प्रयोग किया था और यह लिपि मिश्र, मेसोपोटामिया, फोनेशिया, क्रीट, स्पेन, दक्षिणी फ्रांस तथा अन्य देशों में उपलब्ध हुई है। मध्य अफ्रीका, उत्तरी अमरीका तथा आस्ट्रेलिया के प्राचीन मानव ने भी इस लिपि का उपयोग किया था। विभिन्न देशों में भोजपत्र,

काष्ठपट्टिका, मृग तथा अन्य पशुओं के चर्म, अस्थि, हाथीदांत एवं समतल चट्टानों पर चित्र-लिपि के नमूने उपलब्ध हुए हैं।

भाव-लिपि

एक प्रकार से यह अत्यधिक समुन्नत चित्र-लिपि है। यह वास्तव में मनुष्य के हृदय के भावों का चित्रात्मक अंकन है। इस लिपि में जो चित्र बनाये जाते हैं वे वस्तुओं के प्रतिनिधि नहीं होते अपितु इन वस्तुओं से संबंधित भावों के द्योतक होते हैं। उदाहरणस्वरूप, भाव लिपि में एक वृत्त, केवल सूर्य का ही प्रतिनिधित्व नहीं करता, बल्कि वह उष्णता, प्रकाश अथवा सूर्य से सम्बन्धित देवता या दिन को द्योतित भी करता है। इसी प्रकार भावलिपि के द्वारा किसी पशु का बोध कराने के लिए उसके सम्पूर्ण शरीर का चित्र आवश्यक नहीं होता, केवल उसके शिर के चित्र भाव से ही उसकी अभिव्यक्ति हो जाती है। 'जाने' की क्रिया को भी, भावलिपि में, दो पैरों के प्रतिनिधि रूप, दो रेखाओं से ही द्योतित किया जाता है।

साधारणतया विभिन्न देशों की भाव-लिपियों में बहुत कम अन्तर मिलता है। उदाहरणस्वरूप दुःख के भाव का बोध कराने के लिए आँख का चित्र बनाकर अश्रुपात दिखलाना प्रायः अमेरिका के मूल निवासी, माया तथा एजटेक जातियों एवं प्राचीन चीन के लोगों की लिपियों में मिलता है। इसी प्रकार अस्वीकृत के लिए पीठ फेर लेना, युद्ध के लिए शस्त्र लेकर एक-दूसरे के सम्मुख डट जाना तथा प्रेम के लिए एक-दूसरे का आलिंगन करना भी विभिन्न देशों की भावलिपियों द्वारा सहज ही में प्रदर्शित किया जाता है।

विशुद्ध भाव-लिपि के नमूने उत्तरी अमेरिका के आदिवासियों तथा मध्य अफ्रीका के हब्शी लोगों से प्राप्त हुए हैं।

अन्तर्वर्ती लिपि

प्राचीन मेसोपोटामिया, मिश्र, क्रीट तथा हित्ती लोगों की लिपियों को भाव-लिपि की संज्ञा देना उचित नहीं प्रतीत होता। आगे इनके सम्बन्ध में जो लिखा जायगा उससे यह बात स्पष्ट हो जायगी। वास्तव में इन लिपियों को विशुद्ध भाव लिपि नहीं कहा जा सकता। बहुत सम्भव है कि इनमें से कतिपय लिपियाँ मूलतः भाव-लिपि रही हों, किन्तु इनके जो प्रत्नलेख (पुरालेख) उपलब्ध हुए हैं उनके अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनके प्रतीकों में चित्र अथवा भाव लिपि एवं ध्वन्यात्मक चिह्नों का विभिन्न रूपों में सम्मिश्रण हुआ है। ये लिपियाँ वस्तुतः विशुद्ध भाव-लिपि एवं ध्वनि-लिपि के बीच की

अवस्था को द्योतित करती हैं क्योंकि इनमें दोनों प्रणालियों का प्रयोग मिलता है।

ध्वन्यात्मक-लिपि

चित्र-लिपि तथा विशुद्ध भाव-लिपि में चित्रों अथवा प्रतीकों का उनके लिए उच्चारित ध्वनियों से कोई सम्बन्ध नहीं होता। चित्र अथवा प्रतीक किसी विशेष भाषा के होते भी नहीं। विभिन्न भाषाओं में उनका समान रूप से प्रयोग होता है। लिपि के इतिहास में ध्वन्यात्मक लिपि का स्थान सबसे ऊँचा है। वास्तव में आज ध्वन्यात्मक लिपि ही भाषा की प्रतिरूपा है और लिखने की इस प्रणाली में प्रत्येक तत्व भाषा की विशेष ध्वनियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस लिपि में चिह्न, वस्तुतः वस्तु अथवा भाव को नहीं द्योतित करते अपितु वे ध्वनि अथवा ध्वनि-समूहों को प्रकट करते हैं। संक्षेप में, इस प्रणाली में लिखित रूप, बोलने वाली भाषा का ही दूसरा रूप होता है। इस प्रणाली की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें लिपि तथा भाषा एक दूसरे का अंग बन जाती है और लिपि ही भाषा का प्रतिनिधित्व करने लगती है। यहाँ प्रतीक अथवा चिह्न स्वयं अर्थ द्योतन नहीं करते अपितु वे विभिन्न शब्दों की ध्वनियों के प्रतिरूप बन जाते हैं। इन पृथक चिह्नों के रूप का भी कुछ महत्व नहीं रह जाता तथा जिन वस्तुओं का वे प्रतिनिधित्व करते हैं उनके आकार से भी इनका कुछ सम्बन्ध नहीं रहता।

ध्वन्यात्मक-लिपि के भी दो भेद हैं : (१) अक्षरात्मक, (२) वर्णात्मक।[1]

१. अक्षरात्मक-लिपि

इस लिपि में स्वर-चिह्नों को व्यंजनों के साथ जोड़ने की रीति के कारण लेखन के मूल उपादान अक्षर हो गए हैं। उदाहरणस्वरूप संस्कृत के

---

१. हिन्दी में 'अक्षर' और 'वर्ण' शब्दों का बड़ी ढिलाई से उपयोग होता है। वास्तव में 'क' 'ख' 'ग' आदि, जिन्हें हम अक्षर भी कहते हैं वर्ण हैं। इसी कारण अ, आ, इ, ई, आदि तथा क, ख, ग, घ, आदि के क्रम को 'वर्णमाला' कहा जाता है। 'क्' का वास्तविक उच्चारण 'क' है। जब उसमें 'अ' मिलता है तब वह 'क' होता है। स्वर मिलने के बाद वर्ण को अक्षर कहते हैं। वर्ण की ध्वनि मौलिक है। अक्षर की ध्वनि वर्ण और स्वर के संयोग से बनी है। जब एक वर्ण के साथ स्वर का मेल हो जाता है तब उसे शास्त्रीय दृष्टि से 'अक्षर' और अंग्रेजी में 'सिलेबुल' कहते हैं। इसी से यहाँ 'वर्णात्मक' और 'अक्षरात्मक' भेद किये गए हैं।

'विराट' शब्द में 'व्', 'र्' तथा 'ट्' इन तीनों वर्णों के साथ क्रमशः इ, आ तथा अ स्वर जुड़े हुए हैं।

अक्षरात्मक लिपि का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसके द्वारा ध्वनि का विश्लेषण तनिक कठिनाई से होता है। नागरी लिपि वस्तुतः अर्द्ध अक्षरात्मक लिपि है। इसके द्वारा ध्वनि का विश्लेषण तो हो जाता है किन्तु यह विश्लेषण उतनी स्पष्टता से नहीं हो पाता जितना रोमन की वर्णात्मक लिपि द्वारा। उदाहरणस्वरूप 'विराट' की ध्वनियों का विश्लेषण नागरी लिपि के द्वारा व्—इ—र्—आ—ट्—अ होगा। यही विश्लेषण रोमन अक्षरों के रूप में होगा।

·······असीरिया की बाणमुख लिपि अक्षरात्मक ही थी। इसी प्रकार सीरिया तथा साइप्रस की प्राचीन लिपियाँ भी अक्षरात्मक ही थीं।

२. वर्णात्मक लिपि

लिपि विज्ञानियों के अनुसार लिपि के विकास में सबसे ऊँचा स्थान वर्णों का है। वास्तव में प्रत्येक वर्ण किसी ध्वनि का प्रतीक होता है। हमारी देवनागरी लिपि में (जिसमें अब वैदिक भाषा लिखी जाता है) कुल ५२ ध्वनि-प्रतीक अथवा वर्ण हैं। इसी प्रकार रोमन में कुल २६ वर्ण हैं। इन वर्णों को अल्प प्रयास से ही बच्चे सीख लेते हैं। इसकी तुलना में चीनी भाषा को सीखने के लिए कई सहस्र प्रतीकों को सीखना पड़ता है जिसमें अत्यधिक समय लगता है। वर्णात्मक-लिपि की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि किसी प्रकार की कठिनाई के बिना ही इसकी सहायता से अनेक भाषाएँ लिखी जा सकती हैं। उदाहरण स्वरूप, आज नागरी लिपि में ही हिन्दी, मराठी, नेपाली तथा मैथिली भाषाएँ लिखी जा रही हैं। इधर स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् निरन्तर इस बात का उद्योग किया जा रहा है कि भारत की अन्य भाषाएँ—बंगला, उड़िया असमिया, गुजराती, तमिल, तेलुगु, मलयालम, कन्नड़ आदि नागरी लिपि में लिखी जायँ। इसका एक परिणाम यह होगा कि लोग विविध लिपियों की कठिनाई से मुक्त हो जायेंगे।

योरोप में तो आज रोमन लिपि प्रायः सर्वमान्य हो रही है और अँग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, इटालीय, स्पेनीय, तुर्की, पोलिश, डच, चेक तथा हंगेरीय आदि भाषाएँ इसी में लिखी जाती हैं।

वर्णात्मक लिपि के आविष्कार से शिक्षा के प्रचार एवं प्रसार में अत्यधिक सहायता मिली है। इनकी सरलता का एक परिणाम यह हुआ है कि आज मुद्रण के अनेक यन्त्र बन गए हैं जिनसे तीव्र गति से साहित्य का उत्पादन एवं प्रकाशन हो रहा है।

परिशिष्ट

४३

महाकवि जायसी का प्रकृति-चित्रण और प्रेमतत्व

●

मलिक मुहम्मद जायसी प्रेमगाथा काव्य के श्रेष्ठ कवि हैं। काव्य और लोकतत्त्व का सुन्दर समन्वय उनकी निजी विशेषता है। प्रकृति मानव की चिरसंगिनी है। उसके परिवर्तनशील और नित नूतन रूप में जो आकर्षण और शान्ति प्रदान करने की क्षमता है वह अन्य किसी सौन्दर्यानुभूति में उस मात्रा में नहीं है। मानव को इस सहचरी से जितनी प्रेरणा मिली है और मस्तिष्क को एकटक चिन्तन के लिए जितना व्यापक विस्तार मिला है उतना सृष्टि के अन्य किसी पदार्थ से नहीं मिला है। मानव मन इस अनुभूति में जिस पावन भावना के दर्शन करता चला आया है उसकी एक सार्वभौम और प्राचीन परम्परा है। यही कारण है कि ऋग्वेद से पंत तक के साहित्य में किसी न किसी रूप में प्रकृति-चित्रण की एक अभंग परम्परा मिलती है।

जायसी मौलिक चिन्तन के रससिद्ध कवि थे। इसलिए उनका प्रकृति के सौन्दर्य से प्रभावित होना स्वाभाविक था और अपने काव्य में उसका चित्रण करना अनिवार्य। अब देखना यह है कि जायसी ने अपने पद्मावत में जिस प्रकृति का चित्रण किया है वह कितना प्रासंगिक, कितना लौकिक, कितना अनुभूतिपूर्ण और कितना सूक्ष्म है। प्रकृति का उपयोग इस कवि ने अपने

काव्य में अनेक प्रकार से किया है पर उन सभी स्थलों पर कवि की सूक्ष्म निरीक्षण और गहन परिचय की प्रवृत्ति एक अनोखे स्वाभाविक रूप में प्रगट हुई है। अपने विषय से जिस कवि की जितनी अधिक घनिष्टता होगी उसका वर्णन उतना ही हृदयग्राही होगा। जायसी का प्रकृति-चित्रण और उनकी प्रेमानुभूति दोनों इस बात के प्रमाण हैं कि कवि का चित्रण उसके अध्ययन की अपेक्षा अनुभूति का परिणाम अधिक है। जायसी की प्रकृति-चित्रण की परि-कल्पना का एक अत्यन्त मनोहर और स्वाभाविक आधार है। इस कवि का प्रकृति-चित्रण इस बात का प्रमाण है कि इसके पास एक व्यापक दृष्टि और दृष्टिकोण दोनों हैं और अपने प्रकृति-चित्रण में इसने इस देश की प्राचीन परम्परा से लेकर आधुनिकतम प्रचलित तत्कालीन आधारों का उपयोग किया है। इनके प्रकृति-वर्णन सम्बन्धी चित्रों में संस्कृत साहित्य की प्रचलित परम्परा और अपभ्रंश तथा भाषा के प्रचलित लोक गीतों, लोक उपमाओं का जीवन्त स्वरूप विद्यमान है। जायसी ने अपने बारहमासे के प्रकृति-चित्रण से उस लोक-परम्परा को साहित्यिक प्रतिष्ठा दी है जो जनकण्ठ से विरह गान और बारहमासे की पद्धति पर व्यापक प्रचार पा चुकी है। लोक भावना की इस समादरपूर्ण प्रतिष्ठा से पद्मावत का कार्य-सौन्दर्य एक अनोखे ढंग से आगे बढ़ा है।

जायसी का प्रकृति-वर्णन निम्नलिखित रूपों में मिलता है। प्रथम, वातावरण की निर्मित के लिए किया गया वर्णन, द्वितीय, आध्यात्मिक अभि-व्यक्ति और ईश्वरीय अभिव्यक्ति के लिए किया गया चित्रण; तीसरे, घटना-वर्णन के लिए किया गया चित्रण; चौथे, नीति और उपदेश देने के लिए उपमान रूप में अंकित वर्णन; पाँचवें, मानवीकरण सम्बन्धी तथा मानव के हर्ष विषाद की अभिव्यंजना के लिए किया गया प्रकृति-वर्णन; छठा, उपमानों के रूप में किया गया प्रकृति-चित्रण; सातवाँ, षट्ऋतु वर्णन; आठवाँ, बारहमासा।

वातावरण के निर्माण के लिए जब कवि ने प्रकृति-चित्रण का सहारा लिया है तब प्रकृति साधन के स्थान पर साध्य हो गई है। ऐसे स्थलों पर हमें शुद्ध प्रकृति-चित्रण मिलता है और प्रकृति का आलम्बन रूप ही प्रमुख है। सिंघल द्वीप का प्रकृति-वर्णन—

'घन अमराउ लाग चहुँ पासा। उठा भूमि हुत लाग अकासा॥
मलय समीर सोहावन छाँहा। जेठ जाड़ लागै तेहि मांहा॥
ओही छांह रैनि होइ आवै। हरियर सबै अकास दिखावै॥
फरे आँव अतिसघन सुहाए। औजस फरे अधिक सिर नाए॥
पुनि महुआ चुअ अधिक मिठासू। मधु जस मीठ, पुहुप जस बासू॥

अत्यन्त स्वाभाविक बन पड़ा है। जिन्होंने घने आम के बाग देखे हैं (और अवध में इनकी कमी न थी और न है) वे जानते हैं कि उन ऊँचे-ऊँचे वृक्षों की पंक्तियों में एक अपूर्व सौंदर्य है और जेठ में तपा हुआ व्यक्ति जब ऐसे घने आम्र-कानन में पहुँच जाता है तो उसे आम्र-मंजरी की सुगन्ध से सुगन्धित हवा तो मिलती ही है साथ ही वह शीतलता भी मिलती है जो अपूर्व सुख और शांति की देने वाली होती है। उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों और अवध में घने बागों की उपमा के लिए यह लोकोक्ति प्रसिद्ध ही है कि बाग ऐसा घना है कि उसमें दोपहर को अँधेरा रहता है और वहाँ जेठ की दुपहरी में भी शरीर में शीत के कारण कपकपी लगने लगती है। जायसी ने अपने इस प्रकृति-चित्रण में वास्तविकता से ही काम लिया है और जन-मानस की वीणा से उत्पन्न झंकार को काव्य में स्थान देकर उसकी मर्मस्पर्शी शक्ति को काव्य में सुरक्षित कर दिया है। जायसी की कवि दृष्टि बहुत पैनी है। वे सौंदर्य पर विश्राम लेकर उसके सूक्ष्म से सूक्ष्म सौंदर्य और रहस्य का उद्घाटन करके यथातथ्य रूप में चित्रित करना चाहते हैं। पहले वे एक स्थान पर लिख चुके हैं—'बौरे आम फरै अब लागै' अब 'फरे आम अति सघन सुहाए' में आम से लदे वृक्षों की शोभा देखते ही बनती है और उनके बोझ से डालें झुककर पृथ्वी को चूम रही हैं, फिर जायसी क्यों न लिखते 'औ जस फरे अधिक सिर नाए' अर्थात् जिस वृक्ष में जितने अधिक फल हैं वह उतना ही अधिक पृथ्वी की ओर झुका हुआ है। जायसी का यह वर्णन सोलह आने सत्य है और एक और लोकोक्ति का मूल है जिसके अनुसार सज्जन और नम्र पुरुष की तुलना प्रति दिन की बोल चाल में फले हुए आम से की जाती है। जायसी को अपने विषय पर पूर्ण अधिकार है इसलिए वे आगे लिख देते हैं 'जामुन पाक भँवर अस डीठी' और उनका प्रकृति-चित्रण सर्वथा सटीक हो जाता है। जायसी ने इस प्रकार के वर्णनों में स्वाभाविकता की अति कर दी है। जिसे कभी चैत में महुओं के वृक्षों के आस-पास से निकलने का भी अवसर मिला होगा उसे इस पंक्ति की यथार्थता का सहज बोध होने में कोई कठिनाई न होगी।

पुनि महुआ चुअ अधिक मिठासू। मधु जस मीठ पुहुप जस बासू॥

जहाँ महुए के एक दो पेड़ होते हैं उसके आस पास ऐसी भीनी महक छाई रहती है कि जिन्हें गम्भीर और गहरी सुगन्ध पसन्द नहीं होती वे घबड़ाने लगते हैं। ताजे फल के मिठास का तो कहना ही क्या? वह देवता का दाख या छुहारा है। जायसी के प्रकृति-चित्रण की सफलता का मूल कारण उनका ग्रामीण वातावरण का यथार्थ चित्रण है जिसमें सर्वत्र काव्यात्मक सौन्दर्य वर्तमान है।

अपने प्रकृति-चित्रण में जायसी ने वृक्षों के अतिरिक्त पक्षियों की भी एक लम्बी सूची दी है जिसे पढ़ पूज्य आचार्यचरण पं० रामचन्द्र शुक्ल जी को कुछ अरुचि सी हुई थी और वे लिख गए हैं : 'सूची मात्र देने का काम तो कोई बहेलिया भी कर सकता है।' पर यह सूचियाँ जायसी के प्रकृति-वर्णन का अभिन्न अंग हैं और उनका अपना स्थानीय महत्व है। इसके अतिरिक्त इनके सहारे एक परोक्ष सत्ता की ओर भी इंगित किया गया है जैसे 'बोलहिं पाण्डुक 'ऐकै तुही' 'तुहीं' 'तुही' कर गडुरी जीहा', 'दही, दही' करि महरि पुकारा' और 'कुहू कहू कर कोइल राखा' (यहाँ 'दही' 'दही' का अर्थ है विरह में जली जा रही हूँ)। अपने इस प्रकार के संश्लिष्ट वर्णन के अन्त में कवि स्वयं लिख देता है—

'जावत पंक्षी जगत के भरि बैठे अमराउँ।
आपनि आपनि भाषा लेहिं दई कर नाँउँ॥

ग्राम-श्री जायसी को प्रिय है और उनके इस प्रकार के प्रकृति-चित्रण का विषय है। गाँव की छोटी-छोटी तलैया भी कवि की दृष्टि से नहीं बच पाई हैं। उनमें फूले कुमुदों के सौंदर्य को उन्होंने अपनी प्रकृति-चित्रण-कुशलता से और भी स्वच्छ और स्थायी बना दिया है। वे लिखते हैं—

ताल तलाब बरनि नहिं जाहीं·······
फूले कुमुद सेत उजियारे·······
मानहुँ उए गगन महँ तारे।

तथा 'कुहुकहिं मोर सोहावन लागा' इत्यादि को पढ़ कर यह कहना ही पड़ता है कि उन जैसा लोकप्रिय और स्थानीय सौंदर्य का यथार्थ चित्रण करने वाला दूसरा कवि इस काल में कठिनाई से मिलेगा। उनके इस प्रकार के प्रकृति-चित्रण का एक फलक है और यथार्थ की पृष्ठभूमि में वे सब चित्र खरे और ठीक उतरते हैं।

इसी प्रसंग में जायसी के आध्यात्मिक अभिव्यक्ति और ईश्वरीय वैभव के स्पष्टीकरण के लिए किये गए प्रकृति-चित्रण पर विचार कर लेना आवश्यक है। प्रेमआख्यानक-काव्य-परम्परा के सभी कवियों ने इन प्रसंगों में प्रकृति के मूलभूत तत्वों और उसकी विभूतियों के माध्यम से एकेश्वरवाद का निर्देश किया है। इन भावना-प्रधान कवि-मनीषियों ने साधारण से साधारण और बड़ी से बड़ी—राई से लेकर पर्वत तक—प्रकृति की विभूतियों में स्रष्टा और नियामक की अलौकिकता को बल दिया है। स्तुति खण्ड में जायसी कहते हैं 'गगन अंतरिख राखा बाज खंभ बिनु टेक'। इसके अतिरिक्त जायसी ने अपने प्रकृति-चित्रण में प्रकृति के द्वारा मिलने वाली आध्यात्मिक शान्ति की ओर भी इंगित किया है। जैसे—

४४

सुमित्रानन्दन पंत की काव्य-दिशाएँ

•

श्री सुमित्रानन्दन पन्त के काव्य-सृजन ने समय की इतनी लम्बी यात्रा की है कि उस पर अनेक प्रकार के प्रभाव न पड़ें, यह संभव नहीं दीखता। द्विवेदी-युग जब अपने उत्कर्ष पर था, उस समय से ही अपने काव्य का आरम्भ कर वे छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद तथा नयी कविता के दौर तक सृजनरत रहे हैं। सम्भवतः मैथिलीशरण गुप्त का ही व्यक्तित्व ऐसा है जो बराबर एकरस बना रहा है और जिस पर काव्य-आन्दोलनों का प्रभाव नहीं पड़ा। उनके कतिपय भावुक गीत अपवाद ही कहे जायेंगे। पर पंतजी के समस्त सृजन पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी काव्य-दिशा समय के साथ बराबर मोड़ लेती गई है और विभिन्न आन्दोलनों ने उन पर सक्रिय प्रभाव डाला है। किसी कवि के सृजन को खण्डित करके देखना सम्भवतः बहुत प्रशंसनीय नहीं है क्योंकि जहाँ इससे उसकी रचना सम्बन्धी अनेकरूपता का परिचय मिलता है, वहीं यह भी आक्षेप किया जा सकता है कि इसमें कोई मेरुदण्ड अथवा मूल बिन्दु नहीं है। श्रेष्ठ रचनाकार अपने समय प्रवाह से इतने असम्पृक्त नहीं हो जाते कि उन पर अनेक प्रकार के प्रभाव न पड़ें, किन्तु उनके प्रभाव-ग्रहण की प्रक्रिया साधारण व्यक्तियों से नितान्त भिन्न

होती है। ग्रहणशीलता यदि एक ओर उदार जागरूक चेतन का गुण है तो नितान्त दुर्बल मानस का उससे अभिभूत हो जाना दूसरे पक्ष की ओर भी संकेत करता है।

पंत की परिवर्तित काव्य-दिशाओं का कारण---उनका कोमल संवेदन अथवा अतिरिक्त ग्रहणशीलता का भाव है। जहाँ तक प्रभाव-ग्रहण का प्रश्न है, रचनाकारों के कई वर्ग देखे जा सकते हैं। एक वर्ग वह होता है जो अपने चारों ओर एक ऐसे काल्पनिक जगत की सृष्टि कर लेता है कि उसमें किसी भी अन्य विचार का प्रवेश सम्भव नहीं होता। ऐसी रचना समाज से कटी हुई होती है और क्रमशः कलात्मकता की ओर अग्रसर होती जाती है। अधिक से अधिक उसमें एक सीमित जीवन के कुछ दृश्य देखने को मिल सकते हैं। इसमें कलात्मक उत्कर्ष के धरातल भी देखे जा सकते हैं, पर उसमें जीवन स्पन्दनों का संस्पर्श नहीं होता। इसके विपरीत रचनाकारों का एक ऐसा प्रकार होता है जो समय के प्रवाह में इतनी तीव्रता से प्रवाहित हो जाता है, जैसे उसका अपना कोई आधार ही न हो। ऐसी भूमि पर खड़े होने वाला सृजन कभी-कभी सामयिक बनकर रह जाता है और उसमें काव्य के स्थायी प्रतिमान नहीं मिलाते। प्रायः ऐसा भी होता है कि यह ग्रहणशीलता बतौर फैशन होती है और कवि की मूल चेतना से उसका अधिक गहन रागात्मक सम्बन्ध नहीं होता। स्वाभाविक है कि ऐसी कृतियों में एक बाह्यारोपण स्पष्ट दिखाई देता है। प्रगतिवाद युग में कई कवि क्रान्ति का नारा इसी प्रकार लगाने लगे थे, मानों उन्हें भरोसा था कि इस प्रकार उनके पापों का प्रायश्चित हो जायगा। पर श्रेष्ठ रचनाकार समय के प्रवाह से अभिभूत नहीं होते और न उससे आँख ही मूँद लेते हैं। वे इतिहास और युग के भीतर आँक लेने की सामर्थ्य रखते हैं और उन सूत्रों पर उनकी दृष्टि चली जाती है जो समय प्रवाह के मूलाधार हैं। अनुवीक्षण यन्त्र जैसी पारदर्शी चेतना उनके पास होती है। वे समस्त प्रभावों के मध्य एक ऐसे सृजन की योजना करते हैं जो केवल वर्तमान तक जीकर समाप्त नहीं हो जाती। उन्हें वर्तमान के साथ आगे की आग का भी अन्दाज रहता है। हिन्दी में महाकवि निराला में भाव और शिल्प का जितना वैविध्य है, उतना सम्भवतः किसी अन्य कवि में कठिनाई से प्राप्त होगा; किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वे खण्डित चेतना के रचनाकार हैं और उनके सृजन का कोई मेरुदण्ड नहीं है।

पंत का काव्य लगभग पाँच, छः दशकों तक से सम्बन्ध रखता है और हिन्दी कवियों में उन्होंने सर्वाधिक ग्रहणशीलता का परिचय दिया है। प्रश्न किया जा सकता है कि क्या पंत की यह परिवर्तित काव्य-दिशा उनके व्यक्तित्व

विकास का परिचायक है अथवा इससे उनके टूटते व्यक्तित्व की झाँकी मिलती है ? कुछ समीक्षक आज भी पंत के आरम्भिक काव्य को उनका सर्वोत्तम स्वर स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि आगे चलकर पंत जी कवि के बदले कलाकार अधिक हो गए हैं। किन्तु पंतजी के प्रशंसक उनके काव्य की विभिन्न परिवर्तित दिशाओं में एक निरन्तर विकासमान व्यक्तित्व का स्वरूप देखते हैं। पंत के समस्त काव्य-विकास की दिशाओं पर एक दृष्टि डालकर ही हम सम्भवतः यह जान सकेंगे कि सृजन का मूल स्वर क्या है ?

अधिकांश आधुनिक कवियों की भाँति पंत के काव्य का प्रारम्भ वैयक्तिक प्रेम-भावना मात्र से नहीं हुआ। प्रायः देखा जाता है कि वर्तमान युग में कवि आरम्भिक दौर में अपनी नितान्त वैयक्तिक अनुभूतियों का प्रकाशन करते हैं और क्रमशः इनका उन्नयन करते हुए, स्वयं को प्रसार देते हुए अन्य भूमियों पर आते हैं। पंत का जन्म कूर्मांचल प्रदेश में हुआ था और वे प्रकृति के नैसर्गिक वैभव के इतने समीप थे कि उनका प्रथम रागात्मक सम्बन्ध इसी से स्थापित हुआ। कवि की कोमल वृत्तियाँ प्रकृति सौन्दर्य में बार-बार रमती थीं और उसकी एकांतप्रियता ने प्राकृतिक दृश्यों के प्रति आश्चर्य, जिज्ञासा, कुतूहल के भावों का प्रवेश कराया। आगे चलकर जब पंत जी में रोमाण्टिक भावना आई तब यही प्रकृति सहचरी उनकी प्रिया बनी और इस प्रकृति-सुन्दरी को उन्होंने अपनी भावनाएँ अर्पित कीं। इस प्रकार पंत जी की आरम्भिक प्रकृति कविताओं में और उसके बाद लिखी हुई इसी प्रकार की रचनाओं में स्पष्ट अन्तर दिखाई देता है। १९१८ से १९२० तक की आरम्भिक रचनाओं का संकलन 'वीणा' है। 'वीणा' के प्रकृति-चित्र शिल्प की दृष्टि से भले ही समृद्ध और अलंकृत न हों किन्तु वे अधिक अकृत्रिम और शुद्ध हैं। वहाँ कवि का प्रकृति के प्रति जो विस्मय भाव है, इसके कारण प्राकृतिक दृश्यों में उसे एक रहस्यमय आध्यात्मिक छाया का भास भी होता है। एक प्रार्थना, उपासना भाव 'वीणा' की कविताओं में विद्यमान है, जिससे कवि की समर्पण भावना का पता चलता है। इन प्रयोगकालीन कविताओं का दौर शीघ्र समाप्त हो गया और पंत जी के सृजन की महत्वपूर्ण सूचना हमें १९२६ में प्रकाशित 'पल्लव' से प्राप्त होती है। इसकी भूमिका छायावादी काव्य का एक प्रभावशाली दस्तावेज है। इसे आधुनिक काव्य का घोषणा-पत्र कहा जा सकता है, जिसने अपने मन्तव्य को स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया। 'पल्लव' की कविताएँ अधिक मांसल भूमि पर प्रतिष्ठित हैं और वहाँ हमें प्रकृति सम्बन्धी भावनाएँ भी मिश्रित रूप में दिखाई देती हैं। इसके पूर्व 'ग्रन्थि' की रचना हो चुकी थी, जिससे कवि की वैयक्तिक प्रेम-भावना का पता चलता है। इस आत्मकथात्मक

वियोग-प्रधान कविता में जैसे पंत ने स्वयं के बहुत से भावोच्छ्वासों का निश्शेष कर दिया था और इसलिए आगामी कविताओं में वैयक्तिक प्रेम-भावना परोक्ष रूप से ही अधिक व्यक्त हुई है। 'पल्लव' की कविताओं में जीवन का संस्पर्श अधिक है और इसी कारण उसमें अनुभूतियों का मिश्रित स्वरूप हमें दिखाई देता है, जबकि इसके पूर्व कवि को हम मुख्यतया कल्याण की भूमियों पर और प्रकृति के परिवेश में विचरण करते देखते हैं। इस संकलन की भूमिका में जब पंतजी ने कहा कि 'कविता हमारे परिपूर्ण क्षणों की वाणी है' तब वे अपने भाव-जगत् को विस्तार देने की बात सोच रहे होंगे। 'पल्लव' की प्रकृति मानव-सापेक्ष्य होकर आई है और उसकी स्वतन्त्र सत्ता को व्यंजित करने की चेष्टा कवि ने अधिक नहीं की। इतना ही नहीं, आगे चलकर छायावादी काव्य में जिस जड़ता में चेतनता का आरोप कहीं-कहीं अतिरिक्त मात्रा में किया जाने लगा, उसका रागात्मक प्रयोग इन कविताओं में द्रष्टव्य है। प्रकृति के दृश्यों को जीवन्त और मांसल प्रतीकों, रूपकों में बदल देने का कार्य यहाँ प्रारम्भ हो गया है। यह प्रयास केवल उपमा अथवा अलंकरण तक सीमित नहीं है, उसको कवि ने जीवन से घनिष्ट रूप में सम्बद्ध कर लिया है। यह भी सच है कि आरम्भ में पंतजी की दृष्टि प्रकृति के मनोरम, कोमल पक्षों पर ही अधिक रही है, पर आगे चलकर जब पल्लव-काल में ही 'परिवर्तन' जैसी क्रान्ति समन्वित कविताओं की रचना हुई, तब हमें ज्ञात हुआ कि कवि की दृष्टि फूल के साथ अंगारों पर भी गई है। महाकवि निराला ने 'परिवर्तन' को 'पूर्ण कविता' कहकर सम्बोधित किया है, यह उसके लिए एक गौरवपूर्ण प्रशंसा-पत्र है। 'पल्लव' में हम पन्त के विकासमय व्यक्तित्व को प्रकाशित पाते हैं, क्योंकि एक साथ उसमें उच्छ्वास, आँसू जैसी करुण भावनाएँ तथा परिवर्तन के अग्निकण प्रस्तुत हैं। वास्तव में 'परिवर्तन' कविता से पंतजी के आगामी चरण का एक संकेत मिल जाता है, जहाँ वह जीवन की कोमल अनुभूतियों और कल्याण-जगत् को छोड़कर धरती के कठोर, वास्तविक यथार्थ का सम्पर्क करता है। 'पल्लव' पंत के प्रथम चरण की प्रतिनिधि कृति है, क्योंकि इसमें वे अपने व्यक्तित्व को समाहित अभिव्यक्ति देने में यत्नशील हैं। भाषा का परिमार्जन और अभिव्यक्ति की प्रौढ़ता भी यहाँ विद्यमान है। 'पल्लव' का ही विकास 'गुंजन' में हुआ जिसमें १९२६ के अनंतर लगभग पाँच-छः वर्षों की रचनाएँ संग्रहीत हैं। 'गुंजन' का कवि चिन्तन-मनन की ओर भी उन्मुख दिखाई देता है। उसके जो दृश्य देखे हैं, जो अनुभूतियाँ जुटाई हैं, जिस जीवन के सम्पर्क में आया है, उसका विश्लेषण आरम्भ करता है। सुख-दुःख में समन्वय कराने का उसका प्रयत्न एक 'मनोवांछित सुन्दर कल्पना' ही है। कविताओं में दर्शन का यह प्रवेश जहाँ पंत

के काव्य को एक वैचारिक आधार देता है, वहीं कुछ सुन्दर कविताएँ अन्त में आते-आते विचारों से बोझिल हो गई हैं। दृश्य-चित्रण की दृष्टि से 'नौका-विहार और 'एक तारा' श्रेष्ठ कविताएँ हैं। कवि की सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति अपनी कल्पना के साथ यहाँ सार्थक व्यंजना प्राप्त करती है, पर कविताओं की अन्तिम निष्कर्षवादी पंक्तियाँ वड्स्वर्थ को भी पीछे छोड़ जाती हैं। 'पल्लव' में कल्पना की प्रधानता थी यद्यपि कवि की दृष्टि यथार्थ जगत् की ओर जाने लगी थी किन्तु 'गुंजन' में कतिपय रोमाण्टिक कविताओं के होते हुए भी विचारणा की प्रमुखता हो गयी है। 'युगांत' (१९३४-३५) म आकर बौद्धिकता का भार काव्य पर कहीं-कहीं इतना बढ़ जाता है कि कवि अनुभूतियों और भावों के रसात्मक प्रकाशन के स्थान पर विचारों को छन्दबद्ध करने लगता है। गांधीवाद के प्रति पंतजी का जो आकर्षण है उसके कारण एक आदर्शवादी, आध्यात्मिक दृष्टि निर्मित होने लगती है। बापू को निवेदित पंक्तियाँ स्वयं इसका प्रमाण हैं। इस वैचारिक छन्द-योजना के होते हुए भी 'संध्या, तितली, बसंत, शुक्र' आदि के सरस चित्र हैं जो बताते हैं कि कवि आज भी अपने प्रकृति प्रेम को भूल नहीं पाया है। पर जीवन में ओर भी तो तकाजे होते हैं! इसीलिए 'युगांत' में सामाजिक यथार्थ के सम्पर्क के संकेत मिलते हैं, 'वीणा' और 'युगांत' के बीच 'ज्योत्सना' नामक जो नाटिका रची गई उसकापंत जी के वैचारिक विकास-जगत् में एक विशेष महत्व है। इससे शैली के 'प्रोमेथियस अन्बाउण्ड' का स्मरण हो आता है। 'ज्योत्सना' के पात्र अमूर्त विचारों, भावनाओं के प्रतिनिधि प्रतीक मात्र हैं। ये अशरीरी पात्र कवि की कल्पना और विचारणा के प्रकाशन मात्र के लिए निर्मित हुए हैं और उनमें नाटकीयता का गुण नहीं है। 'ज्योत्सना' में जिस 'यूटोपिया' आदर्श कल्याण राज्य का स्वप्न पन्त ने देखा है, उसे पुस्तकीय कहकर आगे बढ़ जाना होगा। इस प्रकार पन्त के काव्य के प्रथम चरण के समन्वित स्वरूप से ज्ञात होता है कि प्रारम्भ की प्रकृति-प्रेम भावना क्रमशः मानवीय सौन्दर्य की ओर उन्मुख होती है और अपनी अतिरिक्त कल्पना-प्रियता के कारण वे कुछ आदर्श विचारों से उलझते हैं। प्रशंसकों ने इसे उनका मानववाद कहा है, पर इसकी रेखाएँ इतनी काल्पनिक हैं कि हमारे समक्ष कोई मूर्त विधान उपस्थित नहीं होता। आरम्भिक काव्य-चरण के दो मुख्य केन्द्र हैं—प्रकृति और मानव।

पन्त के काव्य का द्वितीय चरण, 'युगवाणी' (१९३७-३८) के प्रकाशन से स्वीकार किया जाता है क्योंकि यहाँ सामाजिक यथार्थ का ग्रहण स्पष्टता प्राप्त करता है, जिसके प्रारम्भिक संकेत 'युगान्त' में दिखाई देते हैं। पन्त की कल्पना प्रिय वृत्तियाँ और कोमल संवेदन सामाजिक यथार्थ के इतना निकट

किस प्रकार आ सके, यह भी कभी-कभी आश्चर्यजनक प्रतीत होता है किन्तु यह उनकी ग्रहणशीलता ही है जो इस ओर चली आई—युग के आमंत्रण पर ! पंत के काव्य के जिस नये चरण का प्रकाशन 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' (१९३९-४०) में हुआ है, उसके भी दो पक्ष हैं। स्पष्ट है कि पंत जी के सामाजिक यथार्थ की दो सीमाएँ हैं, जिनका सम्बन्ध गांधी और मार्क्स के व्यक्तित्व से है। इसमें भी प्रमुखता गांधी-व्यक्तित्व की है। भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में गांधी का जो व्यक्तित्व रहा है, उससे भी अधिक व्यापक उनका जो सार्वभौमिक स्वरूप है, उस ओर कवि ने अधिक देखा है। गांधी पर लिखी गई कविताएँ—पंत की इस दृष्टि का परिचय देती हैं। यदि केवल गांधी के राष्ट्रीय व्यक्तित्व तक ही वह सीमित रहता तब सम्भव है कि केवल कुछ देश-प्रेम सम्बन्धी कविताएँ लिखकर वह सन्तुष्ट हो जाता। पर गांधी के माध्यम से पंतजी की दृष्टि ग्रामीण जीवन की ओर गई, यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है। ग्राम जीवन के जो चित्र कवि ने 'ग्राम्या' में खींचे हैं वे उनकी संवेदनशीलता के परिचायक हैं। ग्रामवधू, ग्रामनारी, वृद्ध के जो चित्र हैं उनमें कवि केवल वर्णनकर्त्ता नहीं है, वहाँ वह उन दयनीय दृश्यों के साथ एक तादात्म्य भाव स्थापित करता है। वहाँ कवि ने अपनी ममता और सहानुभूति इन धोबी, चमार, कहार पात्रों को दी है। पन्त के सामाजिक यथार्थ का पूरा पक्ष मार्क्स से सम्बन्ध रखता है। मेरा विचार है कि पन्तजी मार्क्स के व्यक्तित्व से प्रभावित थे, और उन्होंने इस महान् मनीषी को अपनी भावनाएँ भी निवेदित की हैं, पर मार्क्सवाद के प्रति उनका कोई विशेष आग्रह कभी नहीं रहा। मार्क्सवादी सामाजिक क्रांति के प्रति उनकी एक भावात्मक दिलचस्पी रही है, पर उसके समस्त जीवन-दर्शन को स्वीकार करना पंतजी जैसे कल्पना प्रिय व्यक्ति के लिए कठिन है। इसीलिए वे भौतिकवाद से पूर्ण सन्तुष्ट न होकर गांधीवाद से उसका एक गठबन्धन चाहते हैं। लोग इसे समन्वय मार्ग कह सकते हैं, पर इस प्रकार का, विरोधी जीवन-दृष्टियों का मिलन कितना कृत्रिम होता है, इसे बताने की आवश्यकता नहीं। मार्क्सवाद की वैज्ञानिक दृष्टि को समझे बिना जो लोग समाजवादी स्वर्ग के भावनामय स्वप्न देखने लगते हैं, वही इस प्रकार के अनमेल मिलन की बात कह सकते हैं। 'मार्क्सवाद' और 'गांधीवाद' दो पृथक्-पृथक् जीवन दृष्टियाँ हैं और उनके समन्वय की आकांक्षा जब पंतजी करते हैं, तब वे ऐसा समझौता चाहते हैं जो कल्पना की भूमि पर ही अधिक मनोरम लग सकता है।

स्थिति यह है कि पंतजी के व्यक्तित्व का निर्माण कुछ ऐसी संवेदनशील और कोमल रेखाओं से हुआ है कि उसमें सामाजिक यथार्थ के, विशेषतया

मार्क्सवादी जीवन-दृष्टि के पूर्ण प्रवेश की गुंजाइश ही नहीं है। उन्होंने इस प्रयास में भी मार्क्स से अधिक प्रेरणा गांधी से प्राप्त की है। उन्होंने तो जैसे युग के वातावरण से अभिभूत होकर अपनी सहानुभूति कुछ क्षणों के लिए सामाजिक जीवन को दे दी थी, बस! इसीलिए जब पंतजी 'स्वर्णकिरण' (१९४४-४५) के साथ कल्पना-लोक में चले गए और अरविंदवाद से अभिभूत हो गए, तब जैसे उनके काव्य की यह स्वाभाविकता परिणति थी। प्रगतिवादियों को भले अफसोस हुआ हो कि एक प्रतिभा उनके शिविर से चली गई, पर सामाजिक यह है कि पंतजी तो केवल कुछ समय के लिए भटक कर ही सामाजिक यथार्थ की पगडंडियों पर आ गए थे। जीवन की कठोर, कण्टकित भूमि पर उनके कोमल संवेदन के लिए स्थान कहाँ! सम्भवत: अतिरेक की विवशताएँ ही अन्य प्रकार की होती हैं। पंतजी अपनी कोमल अनुभूतियों और कल्पना मोह के कारण सामाजिक यथार्थ से दूर हटते गए और सामाजिक यथार्थ में पूरी तरह रमता हुआ भी निराला का परम विद्रोह स्वरूप किसी वाद का आग्रही न बन सका। आज जब हम पंतजी की सामाजिक यथार्थ सम्बन्धी कविताओं को देखते हैं तो लगता है जैसे ये दो चार लाल छींटे हैं जो उनकी श्वेत चादर पर पड़ गए हैं।

पंत के काव्य का तीसरा चरण सर्वाधिक विवाद का विषय रहा है, पर सबसे दीर्घकाल उसी ने पाया है। १९४४-४५ में कविताओं का संकलन 'स्वर्णकिरण' नाम से प्रकाशित हुआ, जिसने पंत को अरविन्दवाद से प्रभावित आध्यात्मिक चर्चा के कवि रूप में हमारे सामने रखा। पंत के व्यक्तित्व में जो भावप्रवणता थी, उसे देखकर उनका इस प्रकार पूर्ण अन्तर्मुखी हो जाना बहुत आश्चर्यजनक नहीं लगता, पर एक तथ्य और भी है जिसने कवि को इस ओर प्रेरित किया है। लम्बी बीमारी ने पंतजी को झकजोर दिया था, और उन्होंने राजरोग के क्षणों में जैसे मृत्यु का एक भावात्मक साक्षात्कार कर लिया था। इस अनुभव ने मानों एक प्रकार से कवि को अन्तर्मुखी कर दिया। ऐसे अवसर पर बिरले ही विद्रोही व्यक्तित्व होते हैं जो पराभव स्वीकार नहीं करते। मेरे विचार से पंत के नये काव्य-चरण ने उन्हें विचारणा और दर्शन की ऐसी भुल-भुलइयों में भटका दिया कि वे 'लोकायतन' के दीर्घ आकार में भी उससे मुक्त न हो सके। प्रबन्ध काव्य, और वह भी 'लोकायतन' जैसे वृद्धाकार ग्रन्थ में कवि के लिए अवसर था कि वह अपने समग्र व्यक्तित्व को समाहित रूप में वाणी देता। पर यहाँ भी कवि जैसे सूचना के लिए बहुतेरी बातें तो सुना गया है, पर वह सब उसकी अनुभूति के माध्यम से होकर नहीं आया है, उसने 'रसदशा' नहीं पाई है, वह 'आसव' बनकर रह गया है।

'लोकायतन' के पूर्व 'स्वर्णकिरण, 'स्वर्णधूलि', 'युगपथ', 'उत्तरा', 'रजतशिखर 'शिल्पी', 'सौवर्ण', 'अमिता', 'वाणी', 'कला और बूढ़ा चाँद' की लम्बी सूची है। इनमें 'कला और बूढ़ा' चाँद में थोड़ा नयापन अवश्य देखने मिल जाता है अन्यथा अन्य सभी की भावभूमि लगभग एक-सी है। 'स्वर्णकिरण' से लेकर 'वाणी' तक पंत के काव्य में समीक्षकों ने नव मानवतावाद, आध्यात्मवाद आदि की खोजकर उसे एक उच्च वैचारिक धरातल पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की है। पर ध्यान रखना होगा कि काव्य का मुख्य सम्बन्ध सर्वप्रथम भाव और अनुभूति-जगत से है, अन्य विषय बाद में आते हैं। छन्दबद्ध दर्शनग्रन्थ काव्य नहीं हो सकते। इधर कुछ लोग परिश्रम करके 'कामायनी' को भी एक दर्शनग्रन्थ प्रमाणित कर देना चाहते हैं, उनके लिए भी यह चेतावनी पर्याप्त है कि वह काव्य के रूप में ही पर्याप्त वैभवशाली है, उसे दर्शन के भारी अलंकरणों की अपेक्षा नहीं। जब काव्य की अपनी गरिमा में कहीं कोई अभाव होता है तभी उसके लिए बाह्यारोपण की अपेक्षा होती है।

पंत के आध्यात्मिक काव्य में 'ऊर्ध्व मानव-चेतना' की चर्चा सर्वाधिक हुई है। कवि जैसे जीवन-यथार्थ से असन्तुष्ट होकर किसी ऐसे कल्पना-लोक का निर्माण चाहता है, जहाँ सब कुछ आदर्श रूप में होगा, पर ऐसा भावी स्वप्न व्यवहार की भूमि पर नहीं उतारा जा सकता। गांधीवाद स्वयं अपनी जन्मभूमि में पराजित होता दिखाई दे रहा है—अतिरिक्त आदर्शवादिता के कारण! पंत की इस नवीन मानवतावादी दृष्टि की सूचना हमें 'ज्योत्सना' में ही मिल चुकी थी, पर 'स्वर्णकिरण' से 'वाणी' तथा 'कला और बूढ़ा चाँद' तक का समस्त सृजन तो इतना एकरस है कि सर्वत्र आध्यात्मिकता का रंग स्पष्ट दिखाई देता है। वास्तव में पंतजी ने अपने व्यक्तित्व के चारों ओर मकड़ी का एक ऐसा जाला बुन लिया है कि बार-बार उन्हें उसी की परिक्रमा करते देख सकते हैं। लगता है जैसे यथार्थ जगत् से उन्हें विरक्ति हो गई है, क्योंकि वह अपने वर्तमान स्वरूप में बड़ा भयावह है और इसीलिए उन्होंने एक 'स्वर्णिम जगत' की कल्पना कर ली है। इस काव्य में वस्तुजगत की अपेक्षा भावलोक की चर्चा अधिक है और यहाँ पंत कवि के स्थान पर विचारक अधिक हो गए हैं। पर दर्शन तर्क, विधान की प्रणालियों से चलकर अपना एक स्पष्ट रूप निर्मित करता है। उसके स्थिर प्रतिमान होते हैं। किन्तु यहाँ 'समन्वय' पर आग्रह इतना अधिक है कि कवि का अपना जीवन-दर्शन बहुत स्पष्ट स्वरूप नहीं ग्रहण कर पाता। हम अपने प्रतिभावान कवि की नेकनीयती की प्रशंसा करते हैं कि उसने मानवता के लिए अच्छी-अच्छी कल्पनाएँ की हैं, पर जहाँ तक काव्य, रसात्मक काव्य का सम्बन्ध है, हमारी निश्चित धारणा है कि वे काव्य के क्षेत्र से कुछ दूर चले गए

हैं। इसमें से बहुत-सा दर्शन गद्य में भी लिखा जा सकता है। पंत में आरम्भ से ही कल्पना का जो वैभव विद्यमान था, उसकी ऐसी अन्तर्मुखी परिणति देखकर थोड़ा अफसोस होता है। यह उनकी संवेदनशीलता और कल्पना की ही सामर्थ्य थी कि वे सामाजिक यथार्थ को भी अनुभूतिप्रवण ढंग से प्रस्तुत कर सके हैं। उनकी चेतना ने उन पात्रों और दृश्यों से साक्षात्कार किया है। 'उत्तरा' और 'चिदंबरा' की भूमिका में पंतजी ने अपने नवमानवतावाद अथवा उन्हीं के शब्दों में 'नवीन चेतना काव्य' की विस्तृत व्याख्या की है, पर जैसा कि हम कह चुके हैं यह दर्शन अधिक वायवी हो गया है।

'स्वर्ण किरण' से कवि में प्रवचन और भाषण की प्रवृत्ति बराबर विकसित होती गई है और 'वाणी' में तो जैसे वह वक्तव्यों को ही प्रचारित करना चाहता है। 'हाँ, 'उत्तरा' को कतिपय कविताओं में आज भी पंत जी के दृश्य, चित्रण की पूर्व परिचित क्षमता के संकेत मिल जाते हैं—जहाँ कवि प्रकृति के रूपों में रमता है। 'अतिमा' में संकलित 'कूर्माचल' कविता में अपनी जन्मभूमि और आरम्भिक प्रेरणास्रोत के प्राकृतिक सौन्दर्य के जो कुछ दृश्य अंकित हैं, वे मार्मिक हैं। पंतजी के नये काव्य को मैं मुख्य रूप से एक सांस्कृतिक दृष्टि का काव्य कह सकता हूँ, जिसमें भारत के अतीत गौरव, इतिहास और दर्शन का भी योग है। आश्चर्य तो यह देखकर होता है कि पंत जी अपने समय और समाज के अनेक प्रश्नों से परिचित हैं, और उनका संकेत भी कहीं-कहीं करते हैं, पर वे उनका चित्रण करने में नितांत संकोच करते हैं और उनके समाधान के लिए वे समाधिस्थ से हो जाते हैं। पाठकों को अपने प्रिय कवि के नवीनतम काव्य से निश्चित ही वह परितोष नहीं मिला, जो उसे पूर्ववर्ती काव्य ने दिया था। पर ऐसा नहीं है कि यह नया काव्य-चरण बिलकुल निषेध कर देने योग्य है। यहाँ आकर कवि में एक सांस्कृतिक दृष्टि विकसित हुई है। उसके भाव-जगत् का उन्नयन हुआ है। कल्पना को अतिरिक्त विस्तार मिला है। शब्दराशि और भी वैभवसम्पन्न हुई है। आज भी कहीं-कहीं मनोरम दृश्यावलियाँ देखने को मिल जाती हैं; और सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कवि नये शिल्प-विधान से भी परिचित होना चाहता है। 'कला और बूढ़ा चाँद' कम से कम अपने शीर्षक में नयी काव्य-प्रवृत्ति के समीप है। उसके शिल्प-विधान और कहीं-कहीं भाव-बोध पर भी नये काव्य की हल्की-सी छाया दिखाई देती है। छन्द का मोह यहाँ छूट गया है और कुछ नयी उपमाएँ भी देखने को मिल जाती हैं, जिनसे पूर्ववर्ती एक-रसता टूटती है। यह इस बात का प्रमाण है कि पंतजी साहित्य की नवीनतम चेतना से अपना सम्पर्क बनाए रखने की चेष्टा करते हैं। पंतजी के काव्य का एक ऐसा गुण है जो सर्वत्र उसमें

जागृत रहा है और वह है कि उनका मौलिक आग्रह। वे अपनी ग्रहणशीलता में किसी वस्तु से प्रभावित हो सकते हैं, अभिभूत भी हो सकते हैं, पर उसमें से वे उतना ही अंश ग्रहण करेंगे, जितना उन्हें रुचिकर होगा। इसीलिए वे समन्वय मार्ग के पक्षपाती हैं। शत-प्रतिशत अनुमोदन वे सम्भवतः नहीं कर पाते, क्योंकि उनकी चेतना अपनी कल्पना का आश्रय नहीं छोड़ पाती।

महाकाव्य का प्रणयन किसी भी यशस्वी कवि की आकांक्षा का स्वप्न हो सकता है, यद्यपि संसार के अनेक श्रेष्ठ कवियों ने महाकाव्यों का सृजन नहीं किया। पंतजी के 'लोकायतन' का आकार ही नहीं, उसका स्वरूप भी एक संकलनात्मक महाकाव्य के निकट दिखाई देता है। उसमें अपने युग का एक धारावाहिक चित्र तो है, पर वह इतना विवरणमय हो गया है कि उसमें रसात्मकता नहीं आ पाई है। हम दूर-दूर तक चले जाते हैं, पर काव्य का एक जो केन्द्रीय तत्व होता है, वह नहीं मिल पाता। गाँधी और अरविंद के व्यक्तित्व इसमें प्रमुखता प्राप्त करते हैं, जो किसी काव्य के लिए अतिरिक्त वैचारिक आरोपण ही कहे जाएँगे। मिल्टन के 'पैराडाइज लास्ट' पर भी यही दोष लगाया जाता है। आज का युग महाकाव्यों, विशेषतया दीर्घ आकार के महाकाव्यों के लिए बहुत उपयुक्त नहीं माना जाता। यदि हम युग-बोध के सहारे जीवन का चित्रण करना चाहते हैं तो हमें जीवन की जटिलताओं के भीतर प्रवेश करना ही होगा और प्रतीकात्मक, सांकेतिक रीति से ही उनकी व्यंजना हो सकेगी। पर 'लोकायतन' पाठक के धैर्य को पराजित करने की सामर्थ्य रखता है। स्वाभाविक है कि ऐसे दीर्घ आकारी काव्य में अनेक कथाओं के आकर्षण से पाठक बंध सकता है, पर जहाँ वह भी न हो, वहाँ तो वह ऊबने लगता है। यह काव्य बहुत बिखर गया है और अपनी संकलनात्मक प्रणाली के कारण इतिहास ग्रन्थ सा दिखाई देता है। वहाँ भी कवि ने समस्त समस्याओं का समाधान अपनी आध्यात्मिक रीति से ही प्राप्त किया है। महाकाव्य प्रायः वस्तुन्मुखी सृजन होता है और जल्दी से देख जाने पर 'लोकायतन' से दार्शनिक प्रवचनों को छोड़कर प्रायः हमें कवि की वैयक्तिकता नहीं दिखाई देती। पर ध्यान देने पर महाकवि निराला के विषय में लिखी गई पंक्तियाँ प्रशंसात्मक नहीं दिखाई देती वरन् उनमें आक्षेप है।

हम पंत के नवीनतम सृजन अथवा उनके समस्त काव्य का निरीक्षण नवीनतम समीक्षा-निष्कर्षों और काव्य की नव्यतम दिशाओं के आधार पर नहीं करना चाहते, किन्तु प्रश्न यह है कि स्वयं उनके समस्त सृजन के क्रम में उनके नवीन काव्य की स्थिति क्या है ? इस दिशा में हमारी दृष्टि छायावाद युग की वृहत्त्रयी पर जाती है। प्रसाद की आरम्भिक रचनाएँ शिथिल

हैं, पर उन्नयन करते हुए वे महत्तर ऊँचाइयों पर गए हैं। निराला में निसर्गजात प्रतिभा है और आदि से अंत तक वे काव्य के एक विशिष्ट धरातल का निर्वाह करते हैं। पर पंत का काव्य एक दृष्टि से निगति की ओर जाता दिखाई देता है, क्योंकि वे कवि के बदले विचारक हो गए हैं। पंत की काव्य-दिशाएँ इतने मोड़ लेते गई हैं, और उनमें ऐसे तीक्ष्ण परिवर्तन हुए हैं कि नयी धारा कहीं-कहीं पूर्ववर्ती धारा से कटी हुई नजर आती है। व्यक्तित्व की एक खण्डित-यात्रा सी दिखाई देती है, जिसमें रचनाकार बार-बार दिग्भ्रमित हो गया हो! लगता है जैसे अपने को विकास देने के प्रयत्न में कवि का व्यक्तित्व बिखर कर रह गया है, उसका समीकरण नहीं हो पाया है। उनके नये काव्य के केवल व्यक्तित्व विकास नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह तो स्पष्ट दिशा-परिवर्तन है। किन्तु इस खण्डित यात्रा के मध्य कतिपय ऐसे सूत्र कवि पंत के काव्य में सूक्ष्म रीति से संग्रथित दिखाई देते हैं, जिनके विषय में यह कहा जा सकता है कि वे उनके समस्त स्रजन में एकभाव से विद्यमान रहे हैं। कल्पनातत्व की चर्चा की चुकी है, और मेरा तो विश्वास है कि यदि पंतजी में कल्पना का यह आधिक्य न होता तो सम्भवतः उनकी यह दर्शनवादी, अन्तुर्मुखी परिणति न हुई होती। आज भी उनकी कल्पना की यह क्षमता स्वप्न जगत के निर्माण में दृष्टव्य है पंत आरम्भ से ही अन्तर्मुखी रहे हैं और दार्शनीकरण उनकी एक प्रवृत्ति है। प्रकृति से इसी कारण वे निष्कर्ष प्राप्त करते रहे हैं, पर आज यह आध्यात्मीकरण, दार्शनीकरण कुछ अतिवादी भूमि पर जा पहुँचा है। आरम्भ की रोमाण्टिक भावना आज भी जैसे इस रूप में सक्रिय है कि एक नए आदर्श लोक का निर्माण हो! पंत के नए काव्य को मैं अन्तरावलोकन का काव्य मानता हूँ, जिसमें कवि 'मनोमय कोष' को वाणी देने में यत्नशील है।

यह निर्विवाद है कि पंत जी एक प्रतिभावान कवि हैं और इसीलिए सम्भवतः उनके 'पल्लव' कालीन पाठक उनसे बड़ी-बड़ी आशाएँ रखते थे। चित्रांकन की जो क्षमता, शब्द-ध्वनि का जो ज्ञान पंत जी को रहा है, वह शिल्प की दिशा में उन्हें कभी शिथिल नहीं नहीं होने देता, पर हम उन्हें विचारक और सांस्कृतिक उपदेशक के रूप में नहीं, एक कवि के रूप में ही देखना चाहते थे। आज भी पंतजी जहाँ प्रकृति के दृश्यों का अंकन करने लगते हैं, उनका प्राचीन वैभव समक्ष आ उपस्थित होता है, और हमें चित्र पर चित्र देखने को मिल जाते है, पर ऐसे स्थल बहुत कम हैं। समय के साथ स्रजन की दिशाएँ बदलती हैं, एक ही स्रष्टा के कई चेहरे हमें देखने को मिलते हैं, किन्तु स्रजन के दौर में

उसे विकासात्मक रूप ही मिलना चाहिए। यदि इस यात्रा में रचनाकार किसी भी कारण लू लड़खड़ाकर टूट जाता है तो यह उसके व्यक्तित्व की पराजय है। कवि पंत ने हिन्दी कविता में सम्भावनाओं के जो द्वार खोले थे, उन्हें अधूरा छोड़कर दर्शन की दीवारें उठाने लगना कवि-धर्म के भी बहुत अनुकूल नहीं है। लोग कह सकते हैं कि पंतजी कथ्य के अभाव में, सम्भव है, इस बौद्धिक और वैचारिक क्षेत्र की ओर चले आये हों, पर मैं इसे स्वीकार करने को तत्पर नहीं हूँ। जो कवि प्रकृति के छोटे से छोटे दृश्य को भी पूर्ण विस्तार और पूरे संसार के साथ अंकित करने को सामर्थ्य रखता हो, जिसके पास संवेदन-शक्ति हो, जो उदार मानवीयकता से सम्पन्न हो, उसे कथ्य की कमी तभी पड़ सकती है, जब वह जीवन-जगत् से आँखें मूँदकर समाधिस्थ हो जाय।

हम समझते हैं कि कालान्तर में कवि पंत का आरम्भिक काव्य अपनी भाव-सम्पत्ति, रूपचित्रण, मनोरम कल्पना के गुण के लिए याद किया जायगा और परवर्ती काव्य में अनुसंधायक उनकी विचारणा के सूर खोजते रहेंगे। हमें इतना अवश्य कहना है कि समस्त विकासक्रम में पंतजी सदैव निष्ठावान रहे हैं और यह पवित्रण उनमें सर्वत्र देखी जा सकती है।

४५

नयी कविता

●

'नयी कविता' की परिभाषा ठीक-ठीक तब तक नहीं की जा सकती जब तक कि इसका सही-सही निर्णय न हो जाए कि कौन-सी नकली नयी कविता है और कौन कविता सही माने में है। 'नयी कविता' नाम कुछ भ्रामक जरूर है पर प्रयोग के बाद बन जाने पर यही नाम कुछ सुविधाजनक प्रतीत हुआ। वैसे इस नयी विशेषण की सार्थकता केवल इतनी है कि इस कविताधारा ने काव्यगत प्रतिमानों का पुनर्नवीनीकरण किया है।

स्वाधीनता के बाद इस भावधारा का अधिक विकास इस बात का द्योतक है कि इसके पीछे न केवल देश का बल्कि काल का भी एक अखंड बोध है, अपनी जमीन पर खड़े होने का अडिग विश्वास है और विश्व के साथ सामंजस्य होने का गहन दायित्व है। छायावाद एक रीति-विरोधी इतिवृत्तात्मक कविता की प्रतिक्रिया में प्रवृत्त हुआ। इस प्रकार वह एक प्रतिक्रिया को प्रतिक्रिया था और इसी कारण वह अपने ही पोषकों के द्वारा धारा में विसर्जित कर दिया गया। उसने कुछ गन्ध दी; कुछ रंग दिया, पर वह धारा इतनी अधिक अध्यारोपित धारा थी कि वह कोई आकार ग्रहण न कर सकी। उसकी प्रतिक्रिया के रूप में नहीं, बल्कि उसकी रिक्तता को भरने की विवशता से ही कविता नयी धारा की ओर अग्रसर हुई। यदि भाषा को कुछ घिसे बिम्बों,

या अज्ञेय की पंक्तियाँ—

भीतर ही भीतर झरे पत्तों के साथ गलता
और जीर्ण होता रहता हूँ
नये प्राण पाता हूँ—

नये कवि की उस आकांक्षा को सूचित करती हैं जो "वसंत से अब सन्तुष्ट नहीं रह सकता"।—(ववासीमोदो)

नयी कविता का दूसरा लक्षण है पार्थिव जगत की समग्रता का ग्रहण। केवल, यह हिन्दी कविता में इसलिए अधिक तीखा लगता है कि कुछ शताब्दियों तक पार्थिक जीवन के निशेध पर या उसके मात्र एक अंश के स्वीकार पर आवश्यकता से अधिक बल दिया जाता रहा है। उसमें जीवन रस का आचमन ओठों से नहीं हाथ से किया जा रहा है। जापानी साहित्य में भी ऐसी ही अवस्था थी। परिचय के सम्पर्क ने पार्थिक जीवन की तृषा बढ़ाई नहीं स्वयं परिचय का दर्शन पार्थिव आनन्द है, मसीही दर्शन पार्थिव आनन्द को आदिम अपराध मानता है। पर पश्चिम में दी है उद्योग प्रधान संस्कृति जिसके बन्धन के कसाव में पार्थिव आनन्द और अधिक सार्थक हो जाता है। नयी-कविता में इसीलिए लालित्य से उपेक्षा है, पर सुकुमारता की नहीं। नयी-कविता वर्ण्य विषय की सीमाओं को इसीलिए तोड़ सकी है। उसमें यह विश्वास है कि—

मेरी अन्तरात्मा को जराते ग्रस्त नहीं
दावों के मोह में अभी वह फँसी नहीं
मैं अपनी आवाज की ताकत से
कम्पित कर सकता हूँ अखिल विश्व……

और धरती फोड़ कर निकलने वाले अंकुर का निश्वास है—

मुझे लगता है, मेरा मैं मेरे लिए बहुत छोटा है,
इतने में मुझमें से शरीरी बरबर निकल पड़ता है।

—(मामरोवस्की)

नयी कविता यह अनुभव करती है कि—

वह नर जो नारी के देखते ही
हाथ को कँपाने और स्वर को भर्राने लगे,
अस्तित्व में नहीं रहा।

—(जापानी कविता : इसी कावा तकुनोकु)

समस्त ऐन्द्रियता में,
वही मैं हूँ।

नयी कविता में अपने को सेतु के रूप मे देखते हुए भी, नारायण की आँखों की व्यथा अपने आँखों में ले लेने का दुस्साहस, इस निजीवित का प्रमाण है। चूँकि इस सघनता की अभिव्यक्ति व्यक्ति में ही संभव है, इसलिए किसी हीरो या मुख्य नायक के निर्माण के लिए या किसी अपरूप अननुकाव्य साँचे के लिए मिट्टी का लोंदा बनने के लिए भी नहीं है, इसलिए व्यक्ति का उपयोग भी नहीं है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि कविता में अहँ का विस्फोट हो। वस्तुतः नयी कविता अनुभव की सबसे चरम कड़ी के रूप में अहं के विलयन का प्रकृष्ठतम माध्यम मानती है। इस माने में प्राचीन कविता के आदर्श से ही, वह प्रेरित है, क्योंकि वे प्राचीन कवि "अहं को विलीन करके ही लिखते थे, उनके लिए कविता स्वस्थ लाभ का साधन नहीं स्वस्थ व्यक्ति की आनन्द साधना थी। ठीक आदर्श वही है, यह मैं मानता हूँ। मेरी कविता उसकी अनुगामिनी नहीं है तो वह मेरी सीमा है।" (आत्मने पद) मनुष्य की देह को साधन धाम चाहे न माना हो पर नये कवियों ने मनुष्य के अनुभव को सामान्य से अधिक विशेष रूप में ग्रहण करने पर जो बल दिया है उसी के कारण वह क्षण का अग्रही जान पड़ता है। इस क्षण के आग्रह को नियत रूप से क्षणिकता का आग्रह मानना ठीक नहीं है और साथ ही इस क्षण की सार्थकता संवेदनशील के लिए है इतर के लिए नहीं। यह क्षण-भाव जीवन भी अखण्डता का प्रत्याख्यान नहीं समर्थन है। नयी कविता में मृत्यु का बिम्ब जो बार-बार आया है, सार्त्रवादियों के अतिशय से लेकर 'ओस बूँद की ऐसी ठुरकन तक जो झरते-झरते हर सिंगार का फूल बन जाय; मृत्यु जीवन की अभिव्यंजक बनकर ही आती है। यह मध्यकालीन भक्त कवियों की 'सूली की सेज' है, स्पेन के कवियों की 'अँधेरी रात', इसी में से आह्लाद का जीवन के ज्वाल का और आनन्द का उद्रेक होने पर सार्थक लगती है। लोर्का ने जिस 'दुएन्दे' की बात की है और इसे अन्तस से उद्भूत बतलाया है वह भी यही है। वस्तुतः नई कविता में मृत्यु का ही प्रत्याख्यान है। क्वासीमोदो जब यह कहता है—

मैं मृत्यु के लिए तैयारी क्यों करूँ क्योंकि
मैं जानता हूँ, जहाँ अथ है,
जानता हूँ इति वह सतह है
जिस पर मेरी छाया का लुटेरा चल रहा।
मैं छाया ही नहीं जानता,

शब्द की कुछ रुनझुनों और विषय को अरूप और अप्राप्य की मर्यादाओं से मुक्त करने के प्रयास को ही कोई प्रतिक्रिया कहना चाहे तो नयी कविता को कोई प्रतिक्रिया मानले, मुझे आपत्ति न होगी। नई कविता एक सहज विकास के क्रम में है और उसका उस कविता से प्रत्येक युग में संघर्ष रहा है जो लीक से बँधी होने के कारण दुर्वह हो जाती है। नयी कविता के ऊपर बाहरी प्रभाव नये कवियों की दीक्षा और संस्कार के अनुपात में है। जिन लोगों ने आलोचना के नाम पर कबीर का रहस्यवाद और कविता के नाम पर खड़ी बोली का काव्य संकलन पढ़ा था वे हरेक प्रभाव में बढ़े और उनको हर जगह अभिभूत करने वाली नवीनता ही नवीनता मिली। जिन लोगों ने अनुभव के रस को स्वयं नहीं पाया था उनके लिए कविता निश्चित रूप से वाद-विवाद प्रतियोगिता बनी। जिन लोगों ने लोक संस्कृति की प्रत्यग्रता को सजावट और नुमाइश की चीज समझा, उनके द्वारा नयी कविता या नयी कहानी आंचलिकता का नारा बन गयी। जिन लोगों ने लय की शक्ति के नये विस्तार को लय का विलय माना उनके हाथों में पड़कर नयी कविता शक्तिहीन गद्य की ठठरी मात्र रह गयी। पर ये सब चेहरे नकली हैं।

असली चेहरे की बात करते समय मैं यह पहले ही इंगित अवश्य कर देना चाहूँगा कि कभी-कभी असली कवियों ने भी स्वांग के लिए नकली चेहरे लगाने की आवश्यकता हिन्दी के सरग्राही आलोचक के तगादे से उठी है। क्योंकि वह आलोचक असली कविता में विशेष नहीं पाता, विशेष पाता है नकली कविता में, क्योंकि नकल में सब कुछ सतह पर रहता है और इसीलिए बहुत सुगमता से हाथ आ जाता है। तो असली नयी कविता के लक्षणों पर आऊँ। इसकी पहली विशेषता है जीवन के आस्वादन में विश्वास, यह विश्वास कविता के लिए नया नहीं है। कालिदास ने इस विश्वास के प्रतीक के रूप में आम्रमञ्जरी अपने काव्य के द्वारा पर टाँगी है। ब्राउनिंग में भी यही उत्साह है जब वे कहते हैं—

मैं बना हूँ जीवन की सघनता से
चैतन्य की विशदता से
अपने धर्मों से, रागों से, द्वेषों से
संवेदन और क्षमता से विविक्त अन्तः करण से,...
पर मुझमें ही जुड़ी है एक ऐसी विकलता
जो भर देना चाहती है सब कुछ,
पर लेना चाहती है सब कुछ,

उसे 'सूने न रहने की, रीते न रहने की बाँझ अनुकम्पा समाज की बोझल' हो गई है। इस तीक्ष्णता ने ही नयी कविता को नये बिम्ब दिये। प्रकृति से, किताबों की प्रकृति से नहीं बल्कि 'प्रकृति जो कानों को, आखों को त्वचा को, घ्राण को, और रसना को प्रतिक्षण छू रही है, रोजमर्रा की जिन्दगी से, शिष्टता की नकाब उतारे लोक-जीवन से और विज्ञान के द्वारा फैलाये गये विश्व के नये आयाम से। 'ऐसी मिट्टी का स्निग्ध धाम के धीरे-धीरे रिसना', 'सन्नाटे में बाँक नदी की जगी चमक का काँकती,' 'नीलाम चढ़ गई भीतर की किरण', 'मानव से भाप बनाकर सोखने वाला मानव का रचा हुआ सूरज', 'चिड़िया के उड़ जाने पर पत्ती का काँपना और फिर थिर हो जाना,' अज्ञेय की कविता में ये बिम्ब इसके उदाहरण हैं। दूसरे नये कवियों और अज्ञेय में अन्तर केवल इतना है कि अज्ञेय में पार्थिव आनन्द की सार्थकता उसका पार्थिवता के कारण नहीं बल्कि उसकी आनेदता के कारण है। वे आध्यात्म-वादी तो नहीं हैं और न हैं रहस्यवादी ही, पर आनन्द मात्र में जो वे पाना चाहते हैं, वह पार्थिव अपार्थिव दोनों एक साथ हैं। दूसरी विशेषता यह है कि उनका बिम्बनिधान कच्चे रेशम की स्थिति में नहीं है उसमें परिष्कार भी है। इस प्रवृत्ति से हो नई कविता में भारतीय अनुष्ठानों के मांगलिक उपादानों को जिस सरसता से ग्रहण किया है वैसा पूर्ववर्ती काव्य में महज कवि कर्म के वैशिष्ट्य के अभिमान में नहीं किया जा सका। दिन के आरम्भ को द्वार पर पड़े हल्दी रंगे पत्र के रूप में देखना, धरती को सवत्सा कामधेनु के रूप में देखना, साँझ के बादलों को कश और सिन्दूर की गाँठ के रूप में देखना, नदियों को रँभाती हुई धेनुओं के रूप में देखना, धूप को सूप में भरे कनक के दानों के रूप में देखना नयी कविता की ऐसी विशेषता है जिसे कोई अन्धा ही होगा तो स्वदेश और अपनी संस्कृति की अभिव्यक्ति न मानेगा। मैंने नयी कविता को अँग्रेजी में कविता में रूपान्तरित करने का प्रयत्न गत वर्ष किया। मेरे साथ कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय के कुछ अँग्रेजी के कवि थे। वस्तुतः अंतिम आकार देना उन्हीं का धर्म था। मैं मात्र माध्यम था। मैंने और मेरे मित्र कवियों ने यह अनुभव किया कि नयी कविता का विदेशी भाषा में अनुवाद करना सबसे कठिन है। यह प्रस्तुत करती है कि उसकी दृष्टि में विस्तृति है और उसके दृश्य पर संस्कृति के वैशिष्ट्य की मुहर लगी हुई है। जो लोग इतना भी नही जानते कि भारतीय संस्कृति की प्रतिमा भारत-भारत चिल्लाने से या बुद्ध और गाँधी के जयघोष से या सत्य, अहिंसा जैसे शब्दों की दुर्दशापूर्ण आवृत्ति से आकार नहीं ग्रहण करती, वह आकार ग्रहण करती है मूर्त अभिव्यंजनाओं से, उनके लिए नयी कविता में अभारतीयता यदि दिखती है तो यह नयी

कविता की विजय है। प्रभाव की बात जैसा कि अज्ञेय ने कहा है "बन्द घर में तो की जा सकती है पर खुले आकाश में इसकी बात करना अपने को हँसी का पात्र बनाना होगा। प्रभाव यदि है तो इतना ही है कि हमारे जीवन का कण-कण आज विश्व के कोने में होने वाली किसी भी घटना से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। प्रभाव की इस अनिवार्यता से आँख मूँद लेना उन्हीं के लिए संभव है जो रंगों के मोह में फँसे रहे हैं और उस मोह को मुक्ति का साधन मानते रहे हैं। नयी कविता और छायावादी कविता में अन्तर यही है कि छायावादी कविता में रंगों का भय है, रंगों की आशा है पर नयी कविता में केवल रंग हैं।"

नई कविता की तीसरी विशेषता है उसकी प्रश्नानुकूलता। स्वीकृत मानों के बारे में नई जिज्ञासा हरेक नये विचारक ने हरेक युग में की है, पर स्वीकृत मानों की स्वीकृति का जितना जीवन व्यापी प्रभाव आज है, उतना पहिले नहीं था। वे मान चाहे सदियों पुराने हों चाहे इसी सदी के हों, उनकी परिधि दर्शन की पोथी तक सीमित नहीं रह पाती। उनका उपयोग छापे की कृपा से और औसत समझ वालों के नेतृत्व से समूचे जीवन में होने लगता है। उस दशा में ये मान बौद्धिक चिन्तन से गहरे उतर कर संवेदन तक छूने लगते हैं। इसीलिए आज का कवि चाहे सशंक, चाहे प्रश्नकर्ता के रूप में, चाहे उपहासकर्ता के रूप में, चाहे उत्तरापेक्षी शिशु के रूप में या प्रचारकर्ता के रूप में, आये बिना नहीं रह सकता। मैं उन लोगों में नहीं हूँ जो मूल्यों के विघटन तक नयी कविता को बाँध रखना चाहते हैं। विघटन भी यदि अपने में एक मूल्य है तो उससे प्रश्न किये बिना नई कविता नहीं रह सकती। यह सही है कि हिन्दी के बहुत से आलोचकों और कवियों ने मानों के बारे में बात करते या अनुभव करते समय, बहुत हद तक यही मान लिया है कि जिस रूप में वे मान परिचय में स्वीकृत है उसी प्रकार भारत में भी। यह मान लेने के ही कारण नयी कविता में कभी-कभी ऐसा तत्व देखने में आ जाता है जो मगनी का ही सुख साज लगता है और कभी-कभी उसमें न रहते हुए भी आलोचकों द्वारा बीटनिक या पराजयवादी प्रकृति ढूँढ़ ली जाती है। प्रश्नानुकूलता का उद्देश्य मान कर नकार नहीं बल्कि मान का पुनर्मानांकन है। (मैं मूल्य शब्द का व्यवहार न करके मान की ही करना चाहता है क्योंकि मूल्य का सम्बन्ध आर्थिक व्यवहार से ही अधिक हैं) परिचय में यह प्रश्नाकुलता अन्तःसंघर्ष और अनिश्चय जन्य आशंका से मुक्ति दिलाने वाली आस्था को फिर से पाने के लिए है। पूर्व में यह प्रश्नाकुलता पश्चिम की दी हुई दुःख बद्ध-स्वाधीनता से मुक्ति दिलाने वाले स्वयं वरण किये गये, अपने नहीं पर दूसरों के दुःख को अपनाने के लिए है।

पश्चिम में संघर्ष ऐतिहासिकता की हो व्याख्याओं में है, मार्क्सिस्ट और मसीही। पूर्व में संघर्ष, या ठीक-ठीक कहें विरोध, तो संघर्ष और अ-संघर्ष में है। पश्चिमी विचारधारा मात्र में, मैं के विरोध में हम है। इस विरोध का समाधान चाहे मैं की प्रधानता में ढूँढ़ा जाय, या हम की प्रधानता में, पूर्व में विरोध मैं और हम की एकता और अनेकता में है। कुछ कवियों में पश्चिमी विरोध की स्थिति ही स्वीकार की गई है। अज्ञेय के आरम्भिक कृतित्व में भी हल्के रूप से उसी विरोध का आभास है। पर नयी कविता का जो सही रूप है उसमें मैं और हम के पुनर्आकलन की ही बात है। पूर्व की कविता में प्रश्न यह है कि "क्या दोगे ? कितना दे सकते हो ? यह नहीं कि क्यों दोगे।' इसीलिए 'व्यष्टि का अभिमान' पूर्व की दृष्टि में विश्व जन की अर्चना में बाधक नहीं है। हिन्दी की नयी कविता में 'क्षयग्रस्त नगर में यदि आग न भी जला सके तो कम से कम वनखण्डी में ही आग लगा देने का जो संकल्प है—जितना दूसरों को जलाने के लिए उससे अधिक अपने को ही जलाने के लिए है। पश्चिम की की तरह यान्त्रिक सभ्यता की सिरजाई समूह संस्कृति के विरुद्ध आक्रोश नयी कविता में भी तीव्र है, पर यह आक्रोश आदिम जीवन के अजियन्त्रिता और उद्दाम आमोद-प्रमोद की ओर ले जाने वाला नहीं, न श्मशान में घर बसा कर अघोरी बनाने वाला ही है, और न विकृतियों के बहाव में डुबोने वाला ही है। यह आक्रोश सनातन लोक जीवन की धूप को आमन्त्रित करने वाला है; ईश्वर भावित जीवन के पारावार को एक बिन्दु में छलकाने वाला है। वात्स्यायन अज्ञेय ने इसे 'व्यक्ति की खोज' की संज्ञा दी है और इसका उद्देश्य पश्चिम के प्रति सही रुख अपनाना तथा पूर्व की भावना की दृष्टि से सार्थक प्रतिमा से सम्बन्ध स्थापित करना बतलाया है। इसकी अभिव्यक्ति निचले स्तर पर सफाई के रूप में हुई है तथा ऊपर के स्तर पर आत्मिक अग्नि-परीक्षा के रूप में। इसका प्रारम्भ नवीन के काव्य से ही माना जा सकता है। कहना तो यह चाहिए कि नवीन जैसी जैतन्य दीपित प्रतिभा नयी कविता के लिए स्पृहा की बात है।

नयी कविता की चौथी विशेषता है अपनी भावसंकुलता के अनुरूप लय तथा भाषा का अन्वेषण। नयी कविता सब की सब मुक्त छंद में नहीं है और जो है भी वह भी लयबद्ध है। यदि नहीं है तो यह कवि की अपनी कमजोरी है। हिन्दी की गीत शैली ने विशेष रूप से कवि सम्मेलन के आलापों की अनुकृति शैली के लय को मन से ग्रहण करने की चीज न बनाकर कण्ठ से ग्रहण करने की चीज बना दिया और कण्ठ भी एक ही कोण पर लोचाय-मान। उसने लय की विविधता की गुंजाइश ही समाप्त कर दी और कवित्त-

सवैया युग से कहीं अधिक रूढ़िबद्धता प्रेम गीतों के उबाल ने दी। इस विषम परिस्थिति में अपनी लोकप्रियता को दाँव पर चढ़ाकर नये कवियों ने लोक धुनों से प्राचीनतम संस्कृत कविता से हिन्दी के प्रचलित छन्दों के सन्निवेश-विनिवेश में और यति तथा विचार के सामञ्जस्य में ढूँढ़ने के प्रयत्न अनवरत होते रहे हैं। कुछ लोगों ने कमिंग्स के दृश्य गुण को भी कविता में उतारने की कोशिश की। इन अनेक प्रकार के प्रयोगों में सभी सफल हुए हों—ऐसी बात नहीं, पर इनका स्वस्थ परिणाम यह हुआ है कि नयी कविता भी अकेले भी पढ़ी जा सकती है, वह सिर्फ प्लेटफार्म के क्रन्दन की चीज नहीं रही.। छन्द की यह परख निराला और पन्त से ही हुई है। निराला की 'राम की शक्ति-पूजा' और पन्त की 'परिवर्तन' शीर्षक कविता में लय को भाव के साथ जोड़ने का सफल प्रयत्न किया गया है। वह हिन्दी कविता में छायावाद युगीन एक विशेष उपलब्धि कही जा सकती है। चूँकि छन्द की परख कवि के आन्तरिक लय की परख है, इसीलिए उसकी कमजोरी और शक्ति का अन्दाज लगाया जा सकता है। कुछ कवि हैं जिनमें पहाड़ी नाले का दुर्निवार प्रवाह है जो उनके लोकाख्यानक गीतों पर अलमस्त जिन्दगी को व्यक्त करने में तो बहुत सशक्त हैं पर वही उस कवि के संशय को अभिव्यक्त करना चाहे तो वह प्रयत्न हास्यास्पद हो जाता है। कुछ कवि हैं जो अपने सौन्दर्य बोध के लिए या विशेष करके छोटे-छोटे काँच के टुकड़ों में गृहीत सौन्दर्यबोध के लिए सुख्यात हैं, उनके लय में भी ताल की लहरियों में चढ़ाव-उतार है। यह लय कई छोटे चित्र एक लड़ी से पिरो देने में तो समर्थ रहती है पर चित्र बना देने की बात जहाँ आती है वहाँ लड़खड़ा जाती है। कुछ कवि हैं जो बिना वक्तृता दिए नहीं रह सकते इसीलिए उनके छन्द में एक लम्बी खींच होती है जिसमें गुरु मात्राएँ लघु मात्राओं को आक्रान्त किए चलती हैं और उन्हें जब संक्षिप्त रूप में बात कहने के लिए लघु मात्राओं का उपयोग करना होता है तो वे फर्श हो जाते हैं। इसी तरह उर्दू की नाजुक खयाली का उपयोग अत्यन्त संक्षिप्त बिम्बों में किया जा सकता है, पर विराट चित्र को उपस्थित करने के लिए वह पंगु साबित होती है। उदाहरण और भी जोड़े जा सकते हैं, पर ध्यान से नयी कविता का यदि अध्ययन किया जाय तो छन्द के आधार पर ही नये कवियों के व्यक्तित्व की शोध की जा सकती है। जहाँ कि तक भाषा का सवाल है, यह मानकर चलना चाहिए कि "कला के माध्यमों में सबसे कमजोर माध्यम भाषा है, इसीलिए उसके दुरुपयोग की सम्भावनाएँ अधिक रहती हैं।"·········सही भाषा जब सहज भाषा हो जाय तभी वह वास्तव में सही है। इस सहजता की साधना हम हिन्दी लेखकों में यथेष्ट नहीं है।" द्विवेदी युग में भाषा के बारे

में सजगता थी, व्याकरण शुद्धि पर बल था पर भाषा के संस्कार या शब्द के संस्कार पर बल नहीं था। छायावाद के कुछ कवियों में शब्द के संस्कार पर बल मिलता है किन्तु इसके बाद दोनों की उपेक्षा कुछ न कुछ हद तक हुई। किसी भी कविता के सामने भाषा साध्य नहीं, सिद्ध रूप में आती है। इसलिए नयी कविता को जो भाषा मिली उसी में उसे नयी शक्ति डालनी थी। कुछ लोगों ने शक्ति आरोपित करनी चाही है और वे विफल रहे है। कुछ लोगों ने संस्कृत से शक्ति लेकर डालनी चाही है, लोक-भाषाओं से मुहावरे लेकर भाषा को जीवित बनाना चाहा है और घर की भाषा का संस्पर्श देकर आत्मीयता लानी चाही है। इन लोगों में वे तो सफल हुए हैं जिन्हें पहले से ही भाषा का संस्कार था और जो भाषा के साथ ही उनमें थे, उनके हाथों इन प्रयोगों की दुर्दशा हुई है।

लेखक-परिचय

१. **डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन'** एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्० दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा मद्रास	—'महाकवि 'निराला' की काव्य-भाषा। —'हिन्दी-उर्दू के छन्द शास्त्र की तुलना'
२. **डॉ० उदय नारायण तिवारी** एम० ए०, डी० लिट्० प्रोफेसर एवं अध्यक्ष 'हिन्दी विभाग' जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर (म० प्र०)	—'भाषा और भाषाशास्त्र' —'लिपि का उद्गम और विकास'
३. **डॉ० एस० एन० गणेशन** एम० ए०, पी-एच० डी० मद्रास विश्वविद्यालय, मद्रास—५	—'हिन्दी उपन्यासः प्रगति की दो दिशाएँ'
४. **श्री कमलकिशोर अग्रवाल** एम० ए० 'हिन्दी विगाग' दिल्ली कॉलेज, दिल्ली विश्व-विद्यालय, दिल्ली	—'दीपशिखा' की भावभूमि' —'समस्या नाटक और 'सिन्दूर की होली'
५. **डॉ० कृष्णचन्द्र शर्मा** एम० ए०, पी-एच० डी० हिन्दी विभाग मेरठ कॉलेज, मेरठ (उ० प्र०)	—'मध्ययुगीन साधना का स्वरूप'

लेखक	लेख
६. **डॉ० कृष्णदेव झारी** एम० ए०, पी-एच० डी० 'हिन्दी विभाग' डी० ए० वी० कॉलेज दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली	—'आचार्य शुक्ल : एक रसज्ञ आलोचक'
७. **डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया** एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्० हिन्दी विभाग मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ (उ० प्र०)	—'डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबन्धों की भाषा शैली'
८. **श्री गौतम सचदेव 'सुमन'** ए० ए० हिन्दी विभाग दयालसिंह कॉलेज दिल्ली, विश्वविद्यालय, दिल्ली	—'राम की शक्ति पूजा: कुछ विचार'
९. **डॉ० त्रिलोचन पाण्डेय** एम० ए०, पी-एच० डी०, हिन्दी विभाग गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर	'—साकेत की मानस से तुलना एवं मौलिकता' —'लोक साहित्य अथवा जन साहित्य'
१०. **श्री दर्शनलाल सेठी** एम० ए०, शोधछात्र दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली	—'तुलसी के काव्य सिद्धान्त'
११ **डॉ० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना** एम० ए०, पी-एच० डी० अध्यक्ष 'हिन्दी विभाग' एन० आर० ई० सी० कॉलेज, खुर्जा (उ० प्र०)।	—'प्रसाद साहित्य में भक्ति और दर्शन'
१२. **श्री पद्मचन्द्र अग्रवाल** एम० ए० रजिस्ट्रार, केन्द्रीय हिन्दी शिक्षण मंडल एवं केन्द्रीय हिन्दी संस्थान आगरा	—'योग दर्शन और कबीर' —'पृथ्वीराजरासो की प्रामाणिकता'

१३. **डॉ० पी० एल० शर्मा 'पलाश'** —'घनानन्द: एक विवेचन'
एम० ए०, पी-एच० डी०
हिन्दी विभाग
डी० ए० वी० कॉलेज
देहरादून (उ० प्र०)

१४. **डॉ० प्रेम स्वरूप** —'सुमित्रानन्दन पन्त की काव्य-दिशाएँ'
एम० ए०, पी-एच० डी०
हिन्दी विभाग
सागर विश्वविद्यालय, सागर

१५. **डॉ० बी० एल० कोतमिरे** —'हिन्दी गद्य-साहित्य के निर्माण में द्विवेदी युग की महत्ता'
एम० ए०, पी-एच० डी०
हिन्दी विभाग
लिंगराज कॉलेज, बेलगाँव
(मैसूर)

१६. **डॉ० भगवानदास तिवारी** —'गीतकाव्य परम्परा में मीरा'
एम० ए०, पी-एच० डी०
कुंज विहार, नेहरू नगर
धूलिया, (महाराष्ट्र)

१७ **डॉ० भीमसेन 'निर्मल'** —"तुलनात्मक अध्ययन की समस्याएँ"
एम० ए०, पी-एच० डी०
हिन्दी विभाग
उस्मानिया विश्वविद्यालय
नक्कल गुट्टा
हनमकोंडा
वारांगल (आं० प्र०)

१८. **श्री मथुरेश नन्दन कुलश्रेष्ठ** —"रस सिद्धान्त का विकास"
एम० ए०
मूक बधिर विद्यालय जयपुर,
(राजस्थान)

१९. **डॉ० महावीर सरन जैन**
एम० ए०, डी० फिल.
हिन्दी विभाग
जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर
(म० प्र०)

—'कामायनी में भाव एवं रस योजना'
—'महादेवी के काव्य की पीड़ा में निहित प्रेमतत्व'
—'नाट्य परम्पराएं एवं प्रसाद के नाटकों का वस्तु एवं शिल्प-स्तर'
—'ध्वनिग्राम शास्त्र तथा पदग्रामशास्त्र'
—'भाषिक भूगोल अथवा बोलीविज्ञान'

२०. **डॉ० महेशप्रसाद चतुर्वेदी**
एम० ए०, पी-एच० डी०
३, नया बाजार, दमोह (म० प्र०)

—'तुलसी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठ-भूमि'

२१. **श्री मानिकलाल गोविन्द दत्त चतुर्वेदी** एम० ए०
हिन्दी विभाग
म० स० विश्वविद्यालय
बड़ौदा

—'आलोक के कवि निराला'

२२. **श्री रमेशचन्द्र गुप्त,** एम० ए०
हिन्दी विभाग
डी० ए० वी० कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

—छायावाद पर पाश्चात्य प्रभाव'

२३. **डा० रमेशचन्द्र शर्मा**
एम० ए०, पी-एच० डी०
रीडर, हिन्दी विभाग
जम्मू-काश्मीर विश्वविद्यालय,
श्रीनगर

—'आलोचकों की दृष्टि में रीतकाल: एक अनुदृष्टि'
—'रीतिकाल को उत्तराधिकार में प्राप्त श्रृङ्गार-भावना'

२४. **डा० राजकिशोर पाण्डेय**
एम० ए०, पी-एच० डी०
रीडर, हिन्दी विभाग
उस्मानिया विश्वविद्यालय
हैदराबाद (आं० प्र०)

—'आधुनिक भारतीय भाषाओं का साहित्य: परिचय एवं प्रमुख प्रवृत्तियाँ

२५. डा० रामकिशोर 'मौर्य', क० मु० हिन्दी विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा	—भारतीय प्रेमाख्यानों की परम्परा'
२६. श्री रामस्वरूप शर्मा एम० ए०, शोधछात्र ४८, उत्तर विजयनगर कॉलोनी, आगरा	—'नन्ददास कृत रासपंचाध्यायी'
२७. डॉ० विद्यानिवास मिश्र, एम० ए०, पी-एच० डी० रीडर, संस्कृत विभाग गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर (उ० प्र०)	—'नयी कविता'
२८. डॉ० विश्वनाथ शुक्ल, एम० ए०, पी-एच० डी० हिन्दी विभाग, मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ (उ० प्र०)	—'मध्ययुगीन कृष्णभक्ति साहित्य को प्रभावित करने वाले श्रीमद् भागवत के सामान्य तत्व'
२९. डॉ० शंकरदेव अवतरे, एम० ए०, पी-एच० डी०, के० एन० गवर्नमेन्ट कॉलेज, ज्ञानपुर, (वाराणसी)	—'अलंकार और अलंकार्य के संम्प्रदाय'
३०. डॉ० शम्भुनाथ सिंह एम० ए०, पी-एच० डी० रीडर, हिन्दी विभाग संस्कृत वाराणसेय विश्वविद्यालय, वाराणसि	—'तुलसी साहित्य में सामाजिक विद्रोह की भावना'
३१. डॉ० शरण विहारी गोस्वामी, एम० ए०, पी-एच० डी० हिन्दी विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय ५६, प्रेमनगर, सब्जीमंडी दिल्ली-६	—'सूर की विकासात्मक भक्ति'

३२. **श्री सत्येन्द्र वर्मा**
एम० ए०, शोधछात्र,
पुराना कटरा, इलाहाबाद
—'प्रेमचन्द : जीवन दर्शन'

३३. **श्री सुरेश कुमार वर्मा**, एम० ए०
हिन्दी विभाग
गवर्नमेंट डिग्री कॉलेज,
दुर्ग (म० प्र०)
—'सन्त काव्य का पुनर्मूल्यांकन'

३४. **डॉ० हरिहरनाथ टण्डन**
एम० ए०, पी-एच० डी०
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
सेण्ट जॉन्स कॉलेज, आगरा
—'पृथ्वीराजरासो की प्रामाणिकता'
—'हिन्दी एकांकी'
—'महाकवि जायसी का प्रकृति-चित्रण एवं प्रेमतत्व'